प्रकाशक
स्वामी गम्भीरानन्द
अध्यक्ष अद्वैत आश्रम
मायावती अल्मोड़ा हिमालय

प्रथम संस्करण
5M3C—[illegible]

मूल्य छः रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग भारत

विषय-सूची

वार्त्ता एवं संलाप—२

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

स्वामी विवेकानन्द

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

प्रथम भाग

(१० नवम्बर, १८९६ ई० को लन्दन मे दिया हुआ व्याख्यान)

बहुत मे लोगो ने मुझसे व्यावहारिक जीवन मे वेदान्त दर्शन की उपयोगिता पर कुछ बोलने के लिए कहा है। मैं तुम लोगो से पहले ही कह चुका हूं, सिद्धान्त बिल्कुल ठीक होने पर भी उसे कार्यरूप मे परिणत करना एक समस्या हो जाती है। यदि उसे कार्य रूप मे परिणत नही किया जा सकता, तो बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नही। अतएव वेदान्त यदि धर्म के स्थान पर आरूढ होना चाहता है, तो उसे सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक होना चाहिए। हमे अपने जीवन की सभी अवस्थाओ मे उसे कार्य रूप मे परिणत कर सकना चाहिए। केवल यही नही, अपितु आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के बीच जो एक काल्पनिक भेद है, उसे भी मिट जाना चाहिए, क्योकि वेदान्त एक अखण्ड वस्तु के सम्बन्ध मे उपदेश देता है—वेदान्त कहता है कि एक ही प्राण सर्वत्र विद्यमान है। धर्म के आदर्शों को सम्पूर्ण जीवन को आविष्ट करना, हमारे प्रत्येक विचार के भीतर प्रवेश करना और कर्म को अधिकाधिक प्रभावित करना चाहिए। मैं व्यावहारिक पक्ष पर क्रमश प्रकाश डालूंगा। किन्तु ये व्याख्यान भावी व्याख्यानो की उपक्रमणिका के रूप मे हैं, अत पहले हमे वेदान्त-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करना होगा और यह समझना होगा कि ये सिद्धान्त किस प्रकार पर्वतो की गुफाओ और घने जगलो मे से निकलकर कोलाहलपूर्ण नगरो की व्यस्तताओ में भी कार्यान्वित हुए हैं। इन सिद्धान्तो मे एक विशेषता यह है कि इनमे से अधिकाश निर्जन अरण्यवास के फलस्वरूप प्राप्त नही हुए, किन्तु जिन व्यक्तियो को हम सबसे अधिक कर्मण्य मानते हैं, वे ही राज-सिहासन पर बैठनेवाले राज-राजर्षि इनके प्रणेता हैं।

श्वेतकेतु आरुणि ऋषि के पुत्र थे। ये ऋषि सम्भवत वानप्रस्थी थे। श्वेतकेतु का लालन-पालन वन मे ही हुआ, किन्तु वे पाचालो के नगर मे गये और राजा प्रवाहन जैवलि की राजसभा मे उपस्थित हुए। राजा ने उनसे पूछा,

'मरते समय प्राणी इस लोक से किस प्रकार गमन करता है, क्या यह तुम जानते हो?' — 'नहीं।' 'किस प्रकार यहाँ उसका पुनर्जन्म होता है, जानते हो?' — 'नहीं।' 'पितृयान और देवयान' के विषय में कुछ जानते हो?' — आदि आदि। इस प्रकार राजा ने और भी अनेक प्रश्न किये। श्वेतकेतु किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सका। तब राजा ने कहा, "तुम कुछ नहीं जानते।" बालक ने लौटकर पिता से सब हाल कह सुनाया। पिता ने कहा, "मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। अगर जानता तो क्या तुम्हें न सिखाता?" तब वह राजा के पास गया और उनसे इस गुप्त विषय की शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की। राजा ने कहा, "यह विद्या—यह ब्रह्मविद्या केवल राजाओं को ही ज्ञात थी, पुरोहितों को इसका कभी ज्ञान न था।" जो हो, इसके बारे में उसने जो कुछ जानना चाहा, वे उसकी शिक्षा देने लगे। इस प्रकार हम अनेक उपनिषदों में यही पाते हैं कि वेदान्त दर्शन केवल वन में ध्यान द्वारा ही नहीं पाया गया, किन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट भिन्न भिन्न अंश सांसारिक कर्मों में विशेष व्यस्त मनीषी लोगों द्वारा ही चिन्तित तथा प्रकाशित किये गये। लाखों मनुष्यों के निरंकुश शासक इन राजाओं की अपेक्षा अधिक कार्यव्यस्त और कौन हो सकता है? किन्तु साथ ही इन शासकों में से कोई कोई गम्भीर चिन्तक भी थे।

इन सब बातों से यही स्पष्ट होता है कि यह दर्शन व्यावहारिक है। परवर्ती काल की भगवद्गीता को तो शायद तुम लोगों में से बहुतों ने पढ़ा होगा। यह वेदान्त दर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यस्वरूप है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्राम-स्थल, जहाँ श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दिया है और गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर जो मत उज्ज्वल रूप से प्रकाशित है, वह है तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसीके बीच अनन्त शान्तभाव। इसी तत्त्व को कर्म-रहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। हम साधारणतया अकर्म का अर्थ करते हैं निश्चेष्टता, पर यह हमारा आदर्श नहीं हो सकता। यदि यही होता तो हमारे चारों ओर की दीवालें भी परमज्ञानी होतीं, वे भी तो निश्चेष्ट हैं। मिट्टी के ढेले और पेड़ों के तने भी जगत् के महातपस्वी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट हैं। और यह भी नहीं कि किसी भी तरह कामनायुक्त होकर किये जानेवाले कार्य कर्म कहलाये जा सकते। वेदान्त का आदर्श जो प्रकृत कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ संयुक्त है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती—चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नहीं होता। हम लोग भी बहुत कुछ देखने-सुनने के बाद यही समझ पाये हैं कि कार्य करने के लिए इस प्रकार की मनोवृत्ति ही सबसे अधिक उपयोगी होती है।

लोगो ने मुझसे यह प्रश्न अनेक बार किया है कि हम कार्य के लिए जो एक प्रकार का आवेग अनुभव करते हैं, यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे? मैं भी बहुत दिन पहले यही सोचता था, किन्तु जैसे जैसे मेरी आयु बढ रही है, जितना अनुभव बढता जा रहा है, उतना ही मैं देखता हूँ कि यह सत्य नही है। कार्य के भीतर आवेग जितना ही कम रहता है, उतना ही उत्कृष्ट वह होता है। हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं, उतना ही हम लोगो का आत्मकल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। जब हम लोग भावनाओ के अधीन हो जाते हैं, तब अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, अपने स्नायुसमूह को विकृत कर डालते हैं, मन को चचल बना डालते हैं, किन्तु काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप मे परिणत होना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र मे पर्यवसित होकर क्षय हो जाती है। जब मन अत्यत शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हम लोगो की समस्त शक्ति सत्कार्य मे व्यय होती है। यदि तुम जगत् के महान् कार्यकुशल व्यक्तियो की जीवनी कभी पढो, तो देखोगे कि वे अद्भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भग नही कर पाती थी। इसीलिए जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या किसी अन्य आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नही कर पाता, अपने को चूर चूर कर डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नही कर पाता। केवल शान्त, क्षमाशील, स्थिरचित्त व्यक्ति ही सबसे अधिक काम कर पाता है।

वेदान्त आदर्श का उपदेश देता है, और आदर्श वास्तविक की अपेक्षा कही अधिक उच्च होता है। हम लोगो के जीवन मे दो प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। एक है अपने आदर्श का सामजस्य जीवन से करना, और दूसरी है जीवन को आदर्श के अनुरूप उच्च बनाना। इन दोनो का भेद भली भाँति समझ लेना चाहिए—क्योकि पहली प्रवृत्ति हमारे जीवन का एक प्रमुख प्रलोभन है। मैं सोचता हूँ कि मैं कोई विशेष प्रकार का कार्य कर सकता हूँ—शायद उसका अधिकाश ही बुरा है और उसके पीछे शायद क्रोध, घृणा अथवा स्वार्थपरता का आवेग ही विद्यमान है। अब मानो किसी व्यक्ति ने मुझे किसी विशेष आदर्श के सम्बन्ध मे उपदेश दिया—निश्चय ही उसका पहला उपदेश यही होगा कि स्वार्थ-परता तथा आत्मसुख का त्याग करो। मैं सोचता हूँ कि यह करना तो असम्भव है। किन्तु यदि किसी एक ऐसे आदर्श के सम्बन्ध मे उपदेश दिया जो मेरी स्वार्थपरता और निम्न भावो का समर्थन करे, तो मैं उसी समय कह उठता हूँ, 'यही है मेरा आदर्श' और मैं उसी आदर्श का अनुसरण करने के लिए तत्पर हो जाता हूँ। इसी प्रकार 'शास्त्रीय' बात को लेकर लोग आपस मे झगडते रहते है

और कहते हैं कि जो मैं समझता हूँ, वही शास्त्रीय है, तथा जो तुम समझते हो वह अशास्त्रीय है। 'व्यवहार्य' (practical) शब्द को लेकर भी ऐसा ही अनर्थ होता रहता है। जिस बात को मैं कार्यरूप में परिणत करने योग्य समझता हूँ जगत् में एकमात्र वही व्यवहार्य है ऐसी मेरी धारणा होती है। उदाहरणार्थ यदि मैं एक दूकानदार हूँ तो सोचता हूँ कि संसार में दूकानदारी ही एकमात्र व्यावहारिक कर्म है। यदि मैं चोर हूँ तो चोरी के बारे में भी यही सोचता हूँ। तुम लोग जानते ही हो कि हम सब इस 'व्यवहार्य' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं कर्मों के लिए करते हैं जिनकी ओर हमारी प्रवृत्ति है और जो हमसे किये जा सकते हैं। इसी कारण मैं तुम लोगों को यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि वेदान्त पूर्ण रूप से व्यवहार्य है तथापि साधारण अर्थ में नहीं बल्कि आदर्श के दृष्टिकोण से। वेदान्त का आदर्श कितना ही उच्च क्यों न हो वह किसी असम्भव आदर्श को हमारे सामने नहीं रखता और वास्तव में यही आदर्श ठीक ठीक आदर्श है। एक शब्द में इसका उपदेश है 'तत्त्वमसि'--'तुम्हीं वह ब्रह्म हो' और इसके समुदय उपदेश की अन्तिम परिणति यही है।

समस्त बौद्धिक वाद-विवाद और विस्तार के पश्चात् तुम्हें इसमें यही सिद्धान्त मिलेगा कि मानवात्मा शुद्ध स्वभाव और सर्वज्ञ है। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म अथवा मृत्यु की बात करना भी कोरी विडम्बना मात्र है। आत्मा का न कभी जन्म होता है न मृत्यु मैं मरूँगा अथवा मरने में डर लगता है यह सब केवल कुसंस्कार मात्र है। और मैं यह कर सकता हूँ यह नहीं कर सकता ये सब भी कुसंस्कार हैं। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिए कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं। बहुत से लोगों के लिए यह एक भीषण विचार है इसमें कोई सन्देह नहीं और हममें अधिकांश सोचते हैं कि यह कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता किन्तु वेदान्त दृढ़ रूप से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसकी उपलब्धि में स्त्री-पुरुष बालक-बालिका जाति या लिंग आदि से सम्बद्ध किसी प्रकार का विभेद बाधक नहीं है—क्योंकि वेदान्त दिखा देता है कि वह सत्य पहले से ही सिद्ध है और पहले से ही विद्यमान है।

हममें ब्रह्माण्ड की समूची शक्ति पहले से ही है। हम लोग स्वयं ही अपने

नेत्रो पर हाथ रखकर 'अन्धकार' 'अन्धकार' कहकर चीत्कार करते हैं। जान लो कि तुम्हारे चारो ओर कोई अधकार नही है। हाथ हटाने पर ही तुम देखोगे कि वहाँ प्रकाश पहले से ही वर्तमान था। अन्धकार कभी था ही नही, दुर्बलता कभी नही थी, हम लोग मूर्ख होने के कारण ही चिल्लाते हैं कि हम दुर्बल हैं, मूर्खतावश ही चिल्लाते हैं कि हम अपवित्र है। इस प्रकार वेदान्त, 'आदर्श को कार्यान्वित किया जा सकता है', केवल यही नही कहता, किन्तु यह भी कहता है कि वह आदर्श हम लोगो को पहले से ही प्राप्त है, और जिसे हम अब आदर्श कहते हैं वही हमारी प्रकृत सत्ता है—वही हम लोगो का स्वरूप है। और जो कुछ हम देखते हैं, वह सम्पूर्ण मिथ्या है। जिस क्षण तुम कहते हो, 'मैं मर्त्य क्षुद्र जीव हूँ', तुम झूठ बोलते हो, तुम मानो सम्मोहन के द्वारा अपने को अधम, दुर्बल, अभागा बना डालते हो।

वेदान्त पाप स्वीकार नही करता, भ्रम स्वीकार करता है। और वेदान्त कहता है कि सबसे बडा भ्रम है—अपने को दुर्बल, पापी, हतभाग्य कहना—यह कहना कि मुझमे कुछ भी शक्ति नही है, मैं यह नही कर सकता आदि आदि। कारण, जब तुम इस प्रकार सोचने लगते हो, तभी तुम मानो बन्धन-शृखला मे एक कडी और जोड देते हो, अपनी आत्मा पर सम्मोहन की एक पर्त और जमा देते हो। अतएव जो कोई अपने को दुर्बल समझता है, वह भ्रान्त है, जो अपने को अपवित्र मानता है, वह भ्रान्त है, वह जगत् मे एक असत् विचार प्रवाहित करता है। हमे सदा याद रखना चाहिए कि वेदान्त मे हमारे इस प्रस्तुत सम्मोहित जीवन का—हमारे द्वारा स्वीकृत मिथ्या जीवन का, आदर्श के साथ समझौता कराने की कोई चेष्टा नही है। उसका तो परित्याग करने के लिए कहा गया है और ऐसा होने पर ही उसके पीछे जो सत्य-जीवन सदा वर्तमान है, वह प्रकाशित होगा, व्यक्त होगा। यह नही कि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक पवित्र हो जाता है, बात केवल अधिकाधिक अभिव्यक्ति की है। आवरण हटता जाता है और आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता प्रकाशित होने लगती है। यह अनन्त पवित्रता, मुक्त स्वभाव, प्रेम और ऐश्वर्य पहले से ही हममे हैं।

वेदान्त यह भी कहता है कि ऐसा नही कि यह केवल वन अथवा पहाडी गुफाओ मे उपलब्ध हो सकता हो, वरन् हम यह देख ही चुके हैं कि पहले जिन लोगो ने इस सत्यसमूह का आविष्कार किया था, वे वन अथवा पहाडी गुफाओ मे नही रहते थे, साथ ही वे सामान्य मनुष्य भी नही थे, वरन् वे लोग ऐसे थे (हम लोगो के इस विश्वास का विशेष कारण है), जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन विताते थे, जिन्हे सैन्य-सचालन करना पडता था, जिन्हे सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का

हानि लाभ देखना होता था। इसके अतिरिक्त उस समय राजागण ही सर्वेसर्वा थे—आजकल जैसे कठपुतली नहीं। फिर भी वे लोग इन सब तत्त्वों का चिन्तन करने तथा उनको जीवन में परिणत करने और मानव जाति को शिक्षा देने का समय निकाल लेते थे। अतएव उनकी अपेक्षा हम लोगों को इन सब तत्त्वों का अनुभव होना तो और भी सहज है क्योंकि हमारा जीवन उनकी तुलना में अवकाश का जीवन है। हम अपेक्षाकृत सारे समय खाली ही रहते हैं हमारे पास करने को बहुत कम रहता है अतः हमारे लिए उस सत्य का साक्षात्कार न कर सकना बड़ी लज्जाजनक बात है। पुरातन सर्वेसर्वा सम्राटों की आवश्यकताओं की तुलना में हमारी आवश्यकतायें तो कुछ भी नहीं है। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अवस्थित विराट सेना के परिचालक अर्जुन की जितनी आवश्यकता थी हमारी आवश्यकता उसकी तुलना में नगण्य है तब भी उस युद्ध-कोलाहल के बीच में भी वे उच्चतम दर्शन को सुनने और उसे कार्यान्वित करने का समय पा सके—इसलिए अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन आराममय जीवन में हमें उतना कर सकना चाहिए। हम लोग यदि ठीक प्रकार से समय बितायें तो हम देखेंगे कि हम जितना सोचते और समझते हैं उसकी अपेक्षा हमारे पास कहीं अधिक समय है। हम लोगों को जितना अवकाश है उसमें यदि हम सचमुच चाहें तो एक नहीं पचास आदर्शों का अनुसरण कर सकते हैं किन्तु आदर्श को हम कभी नीचा नहीं करना चाहिए। हमारे जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति की आशंका है ऐसे व्यक्तियों से जो हमारे व्यर्थ अभावों और वासनाओं के लिए अनेक प्रकार के वृथा कारण दिखाते हैं और हम लोग भी यही सोचते हैं कि हम लोगों का इससे बड़ा और कोई आदर्श नहीं हो सकता किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदान्त इस प्रकार की शिक्षा कभी नहीं देता। प्रत्यक्ष जीवन को आदर्श के साथ समन्वित करना पड़ेगा—वर्तमान जीवन को अनन्त जीवन के साथ एकरूप करना होगा।

क्योंकि तुम्हें सदा स्मरण रखना होगा कि वेदान्त का मूल सिद्धान्त यह एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। द्वित्व कहीं नहीं है दो प्रकार का जीवन अथवा जगत् भी नहीं है। तुम देखोगे कि वेद पहले स्वर्गादि के विषय में कहते हैं किन्तु अन्त में जब वे अपने दर्शन के उच्चतम आदर्शों पर आते हैं तो वे इन सब बातों को बिल्कुल त्याग देते हैं। एकमात्र जीवन है एकमात्र जगत् है एकमात्र सत् है। सब कुछ वही एक सत्तामात्र है भेद केवल परिमाण का है प्रकार का नहीं। हमारे जीवन में प्रकारगत भेद नहीं है। वेदान्त इस बात को बिल्कुल नहीं मानता कि पशु मनुष्य से एकदम पृथक् हैं और उन्हें ईश्वर ने हमारे भोज्यरूप में बनाया है।

कुछ व्यक्तियों ने वैज्ञानिक खोज के निमित्त चीरफाड़ करने के लिए मारे

जानेवाले पशुओ की हत्या का विरोध करने के लिए एक सस्था (Anti-vivisection Society) स्थापित की है। मैंने एक दिन इस सभा के एक सदस्य से पूछा, "भाई, आप भोजन के लिए पशुहत्या को पूर्णतया न्यायसगत मानते हैं, किन्तु वैज्ञानिक प्रयोगो के लिए दो-एक पशुओ की हत्या के इतने विरुद्ध क्यो है?" उसने उत्तर दिया, "जीवित की चीरफाड वहुत वीभत्स कार्य है, किन्तु पशु तो हमारे भोजनार्थ ही वनाये गये हैं।" पशु भी तो उसी अखण्ड सत्ता के अशरूप हैं। यदि मनुष्य का जीवन अनन्त है, तो पशु-जीवन भी उसी प्रकार है। प्रभेद केवल परिमाणगत है, प्रकारगत नही। देखने पर यह अमीवा और मैं एक ही हूँ, अतर परिमाण का है, और सर्वोच्च जीवन की दृष्टि से देखने पर सारे विभेद मिट जाते हैं। मनुष्य एक तिनके और पौवे मे वहुत अतर देख सकता है, किन्तु यदि तुम खूब ऊँचे चढकर देखो तो यह तिनका तथा एक वडा वृक्ष दोनो ही समान दिखेंगे। इसी प्रकार उस उच्चतम सत्ता के दृष्टिकोण से निम्नतम पशु और उच्चतम मनुष्य सभी समान हैं। और यदि तुम एक ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करते हो तो तुमको पशुओ से लेकर उच्चतम प्राणी तक समत्व मानना पडेगा। जो ईश्वर अपनी मनुष्य-सन्तान के प्रति पक्षपाती है और पशु नामक अपनी सन्तान के प्रति निर्दय है, वह तो फिर दानवो से भी अधम हुआ। इस प्रकार के ईश्वर की उपासना करने की अपेक्षा मुझे सैकडो वार मरना भी पसन्द है। मेरा समस्त जीवन इस प्रकार के ईश्वर के विरुद्ध युद्ध मे ही वीतेगा। किंतु ऐसा विभेद है ही नही, और जो लोग ऐसा कहते हैं, वे दायित्वहीन और हृदयहीन व्यक्ति है, उन्हे सत्य का ज्ञान नही है। यहाँ फिर 'व्यावहारिकता' शब्द गलत अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मैं स्वय एक कट्टर शाकाहारी न भी होऊँ, किन्तु मैं उस आदर्श को समझता हूँ। जब मैं मास खाता हूँ, तब जानता हूँ कि यह ठीक नही है। परिस्थितिवश उसे खाने को बाध्य होने पर भी मैं यह जानता हूँ कि यह क्रूरता है। आदर्श नीचा करके अपनी दुर्बलता का समर्थन मुझे नही करना चाहिए। आदर्श यही है—मास न खाया जाय, किसी भी प्राणी का अनिष्ट न किया जाय, क्योकि पशुगण भी हमारे भाई हैं। यदि उनको अपना भाई मान सकते हो, तो तुम मानव की बधुता की बात ही क्या, प्राणिमात्र के भातृभाव की ओर बहुत कुछ अग्रसर हो गये। यह तो बच्चो का खेल है। तुम ससार मे देखोगे कि इस प्रकार का उपदेश लोग पसन्द नही करते, क्योकि उनसे वह प्रस्तुत को छोडकर आदर्श की ओर जाने के लिए कहता है। किन्तु यदि तुम एक ऐसा सिद्धात उनके सामने रखो, जिससे उनके प्रस्तुत आचरण का समर्थन होता हो, तो वे उसे एकदम व्यावहारिक मान लेंगे।

मनुष्य स्वभाव मे पुरातनरक्षण की प्रवृत्ति वहुत होती है। हम लोग आगे

एक कदम भी नही बढ़ना चाहते। हिम मे जम गये व्यक्तियो के सम्बन्ध मे मैने जो कहा है वही मैं मनुष्य जाति के बारे मे भी सोचता हूँ। सुना जाता है कि इस अवस्था मे आदमी सोना चाहता है। यदि उसे कोई खीचकर उठाना चाहता है तो वह कहता है 'मुझे सोने दो—बर्फ मे सोने से बड़ा आराम मिलता है!'—और उसी दशा मे उसकी मृत्यु हो जाती है। हम लोगो का स्वभाव भी ऐसा ही है। हम लोग भी सारे जीवन यही करते रहते है—सिर से लेकर पैर तक बर्फ मे जमे जा रहे है तो भी हम लोग सोना चाहते है। अतएव आदर्श अवस्था मे पहुँचने के लिए सदा संघर्ष करते रहो और यदि कोई व्यक्ति आदर्श को तुम्हारे निम्न स्तर पर खीच लाये यदि कोई तुम्हे ऐसा धर्म सिखाये जो कि उच्चतम आदर्श की शिक्षा नही देता तो उसकी बात कान मे भी न पड़ने दो। मेरे लिए वह नितांत अव्यावहारिक धर्म होगा। किन्तु यदि कोई मुझे ऐसा धर्म सिखावे जो जीवन का सर्वोच्च आदर्श दर्शाता हो तो मैं उसकी बाते सुनने के लिए प्रस्तुत हूँ। जब कभी कोई व्यक्ति भोगपरक दुर्बलताओ और निस्सारताओ की वकालत करे तो उससे सावधान रहो। एक तो हम अपने को इन्द्रियजाल मे फँसाकर एकदम निकम्मे बन जाते है उस पर यदि कोई आकर हमे वैसी शिक्षा दे तो उसका अनुसरण करके हम कुछ भी उन्नति नही कर सकेगे। मैने ऐसी बातें बहुत देखी है, जगत् के सम्बन्ध मे मुझे कुछ ज्ञान है और मेरा देश ऐसा देश है जहाँ सम्प्रदाय कुकुरमुत्ता के समान बढ़ते रहते है। प्रति वर्ष नये नये सम्प्रदाय जन्म लेते है। किन्तु मैने यही देखा है कि जो सम्प्रदाय भोगाकांक्षी मानव का सत्याकांक्षी मानव से समझौता कराने की चेष्टा नही करते वे ही उन्नति करते है। जहाँ परमोच्च आदर्शों का झूठी सांसारिक वासनाओ के साथ सामंजस्य करने की—ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर खीच लाने की मिथ्या चेष्टा रहती है वही क्षय का आरंभ हो जाता है। मनुष्य को सांसारिक दासता के स्तर पर नही घसीट लाना चाहिए, उसे ईश्वर के स्तर तक उठाना चाहिए।

साथ ही इस प्रश्न का एक और पहलू है। हमे दूसरो को घृणा की दृष्टि से नही देखना चाहिए। हम सभी उसी एक लक्ष्य की ओर बढ़ रहे है। दुर्बलता और सबलता मे केवल परिमाणगत भेद है। प्रकाश और अन्धकार मे भेद केवल परिमाणगत—पाप और पुण्य के बीच भी भेद केवल परिमाणगत—जीवन और मृत्यु के बीच मे भेद केवल परिमाणगत एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद केवल परिमाणगत ही है प्रकारगत नही क्योकि वास्तव मे सभी वस्तुएँ वही एक अखण्ड वस्तुमात्र है। सब वही एक है जो अपने को विचार, जीवन आत्मा या देह के रूप मे अभिव्यक्त करता है, और उनमे अंतर केवल परिमाण का है। अतः जो किसी

कारणवश हमारे समान उन्नति नही कर पाये, उनके प्रति घृणा करने का अधिकार हमे नही है। किसीकी निन्दा मत करो। किसीकी सहायता कर सकते हो तो करो, नही कर सकते हो तो हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठे रहो, उन्हे आशीर्वाद दो, अपने रास्ते जाने दो। गाली देने अथवा निन्दा करने से कोई उन्नति नही होती। इस प्रकार से कभी कोई कार्य नही होता। दूसरे की निन्दा करने मे हम अपनी शक्ति लगाते है। आलोचना और निन्दा अपनी शक्ति खर्च करने का निस्सार उपाय है, क्योकि अन्त मे हम देखते है कि सभी लोग एक ही वस्तु देख रहे है, कम-वेश उसी आदर्श की ओर पहुँच रहे है और हम लोगो मे जो अतर है, वे केवल अभिव्यक्ति के है।

'पाप' की वात लो। मैं अभी वेदान्त के अनुसार पाप की धारणा तथा इस धारणा की कि मनुष्य पापी है, चर्चा कर रहा था। दोनो वास्तव मे एक ही हैं केवल एक सकारात्मक है, दूसरी नकारात्मक है। एक, मनुष्य को उसकी दुर्व-लता दिखा देती है और दूसरी, उसकी शक्ति। वेदात कहता है कि यदि दुर्वलता है, तो कोई चिता नही, हमे तो विकास करना है। जब मनुष्य पहले-पहल जन्मा, तभी उसका रोग क्या है, जान लिया गया। सभी अपना अपना रोग जानते है—किसी दूसरे को वतलाने की आवश्यकता नही होती। सारे समय—हम रोगी है—यह सोचते रहने से हम स्वस्थ नही हो सकते, उसके लिए औषध आवश्यक है। वाहर की हम सारी चीजें भूल जा सकते हैं, वाह्य जगत् के प्रति हम कपटाचारी हो सकते हैं, किंतु अपने मन के अतराल मे हम सव अपनी दुर्वलताओ को जानते हैं। वेदात कहता है कि फिर भी मनुष्य को सदैव उसकी दुर्वलता की याद कराते रहना अधिक सहायता नही करता, उसको वल प्रदान करो, और वल सदैव निर्व-लता का चिंतन करते रहने से नही प्राप्त होता। दुर्वलता का उपचार सदैव उसका चिंतन करते रहना नही है, वरन् वल का चिंतन करना है। मनुष्य मे जो शक्ति पहले से ही विद्यमान है, उसे उसकी याद दिला दो। मनुष्य को पापी न वतलाकर वेदान्त ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है, 'तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो, वह तुममे नही है।' जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है, अपनी आत्मा को उच्चतर भाव मे प्रकाशित करो। यह एक वात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और इसे हम सब कर सकते हैं। कभी 'नही' मत कहना, 'मैं नही कर सकता' यह कभी न कहना, क्योकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना मे देश-काल भी कुछ नही हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

ये नीतिशास्त्र के सिद्धान्त हैं अब हम नीचे उतरकर ब्योरों का निरूपण करना होगा। हमें देखना है कि किस प्रकार यह वेदान्त हमारे दैनिक जीवन में नागरिक जीवन में ग्राम्य जीवन में राष्ट्रीय जीवन में और प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में परिणत किया जा सकता है। कारण यदि धर्म मनुष्य को जहाँ भी और जिस स्थिति में भी वह है, सहायता नहीं दे सकता तो उसकी उपयोगिता अधिक नहीं—तब वह केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए कोरा सिद्धांत होकर रह जायगा। धर्म यदि मानवता का कल्याण करना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की सहायता उसकी प्रत्येक दशा में कर सकने में तत्पर और सक्षम हो—चाहे गुलामी हो या आजादी घोर पतन हो या अत्यन्त पवित्रता उसे सर्वत्र मानव की सहायता कर सकने में समर्थ होना चाहिए। केवल तभी वेदान्त के सिद्धान्त अथवा धर्म के आदर्श—उन्हें तुम किसी भी नाम से पुकारो—चरितार्थ हो सकेंगे।

आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितना दुःख और अशुभ है उसका अधिकांश गायब हो जाता। मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई महान् प्रेरणा सबसे अधिक सशक्त रही है तो वह है यही आत्मविश्वास। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी। मनुष्य कितनी ही अवनति की अवस्था में क्यों न पहुँच जाय एक समय ऐसा अवश्य आता है जब वह उससे बेहद आर्त होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और अपने में विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्मविश्वास सीखने के लिए इतने कटु अनुभव क्यों प्राप्त करें?

मनुष्य मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है यह सरलता से ही समझ में आ सकता है। इस आत्म-विश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने जीवन में ही इसका अनुभव किया है अब भी कर रहा हूँ और जैसे जैसे आयु बढ़ती जा रही है उतना ही यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं है वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है। किन्तु यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है क्योंकि वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है—सबके प्रति विश्वास क्योंकि

तुम सभी एक हो। अपने प्रति प्रेम का अर्थ है सव प्राणियो से प्रेम, समस्त पशु-पक्षियो से प्रेम, सव वस्तुओ से प्रेम—क्योकि तुम सव एक हो। यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा वना सकेगा। यही मेरा विश्वास है। वही सर्व श्रेष्ठ मनुष्य है, जो सचाई के साथ कह सकता है, "मैं अपने सम्वन्ध मे सव कुछ जानता हूं।" क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी इस देह के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ, कितने प्रकार के वल अव भी छिपे पडे है? मनुष्य मे जो है, उस सवका ज्ञान कौन सा वैज्ञानिक प्राप्त कर सकता है? लाखो वर्षो से मनुष्य पृथ्वी पर है, किन्तु अभी तक उसकी शक्ति का पारमाणविक अश मात्र ही प्रकाशित हुआ है। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्वल कहते हो? ऊपर से दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावना है, क्या तुम यह जानते हो? तुम्हारे अन्दर जो है, उसका थोडा सा तुम जानते हो। तुम्हारे पीछे है शक्ति और आनन्द का अपार सागर।

आत्मा वा अरे श्रोतव्य—इस आतमा के वारे मे पहले सुनना चाहिए। दिन-रात श्रवण करो कि तुम्ही वह आत्मा हो। दिन-रात यही भाव अपने मे व्याप्त किये रहो, यहाँ तक कि वह तुम्हारे रक्त के प्रत्येक बूंद मे और तुम्हारी नस नस मे समा जाय। सम्पूर्ण शरीर को इसी एक आदर्श के भाव से पूर्ण कर दो—'मैं अज, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हूँ'—दिन-रात यही चिन्तन करते रहो, जब तक कि यह भाव तुम्हारे जीवन का अविच्छेद्य अग नही बन जाता। इसीका ध्यान करते रहो—और इसीसे तुम कर्म करने मे समर्थ हो सकोगे। 'हृदय पूर्ण होने पर मुँह बात करता है—हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी काम करते हैं।' अतएव इस प्रकार को अवस्था मे ही यथार्थ कार्य सम्पूर्ण हो सकेगा। अपने को इस आदर्श के भाव से ओतप्रोत कर डालो—जो कुछ करो उसीका चिंतन करते रहो। तब इस विचार-शक्ति के प्रभाव से तुम्हारे सम्पूर्ण कर्म वृहत्, परिवर्तित और देवभावापन्न हो जायँगे। अगर 'जड' शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार से अपने जीवन को प्रेरित कर डालो, स्वय को अपनी तेजस्विता, सर्वशक्तिमत्ता और गरिमा के भाव से पूर्णत भर लो। ईश्वरेच्छा से काश कुसस्कारपूर्ण भाव तुम्हारे अन्दर प्रवेश न कर पाते! ईश्वरकृपा से काश हम लोग इस कुसस्कार के प्रभाव तथा दुर्वलता और नीचता के भाव से परिवेष्टित न होते! ईश्वरेच्छा से काश, मनुष्य अपेक्षाकृत सहज उपाय द्वारा उच्चतम, महत्तम सत्यो को प्राप्त कर सकता! किन्तु उसे इन सवमे से होकर ही जाना पडता है, जो लोग तुम्हारे पीछे आ रहे हैं, उनके लिए रास्ता अधिक दुर्गम न बनाओ।

कभी कभी इन सत्यों का उपदेश बड़ा भयानक होता है। मैं जानता हूँ बहुत से लोग ये उपदेश सुनकर भयभीत हो जाते हैं, किन्तु जो व्यावहारिक स्तर पर अभ्यास करना चाहते हैं, उनके लिए यही पहला पाठ है। अपने से अथवा किसी दूसरे से कभी यह न कहो कि तुम दुर्बल हो। यदि कर सको तो जगत् का कल्याण करो, पर उसका अनिष्ट न करो। अपने अन्तरतम से यह समझ लो कि तुम्हारे ये सीमित विचार एवं काल्पनिक पुरुषों के सामने घुटने टेककर तुम्हारा रोना या प्रार्थना करना केवल अन्धविश्वास है। मुझे एक ऐसा उदाहरण बताओ, जहाँ बाहर से इन प्रार्थनाओं का उत्तर मिला हो। जो भी उत्तर पाते हो, वह अपने हृदय से ही। तुम जानते हो कि भूत नहीं होते, किन्तु अन्धकार में जाते ही शरीर कुछ काँप सा जाता है। इसका कारण यह है कि बिल्कुल बचपन से ही हम लोगों के सिर में यह भय घुसा दिया गया है। किन्तु समाज के भय से, संसार के कहने सुनने के भय से, बन्धु-बान्धवों की घृणा के भय से अथवा अपने प्रिय कुसंस्कार के नष्ट होने के भय से यह सब हम दूसरों को न सिखायें। इन सबको जीत लो। धर्म के विषय में विश्व-ब्रह्माण्ड के एकत्व और आत्मविश्वास के अतिरिक्त और क्या शिक्षा आवश्यक है? शिक्षा केवल इतनी ही देनी है। सहस्रों वर्षों से मनुष्य इसी लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा करता आ रहा है और अभी भी कर रहा है। अब तुम्हारी बारी है और सत्य को तुम जानते हो। क्योंकि सब ओर से हम उसीकी शिक्षा पाते हैं। केवल दर्शन और मनोविज्ञान ही नहीं, भौतिक विज्ञान भी इसीकी घोषणा करते हैं। आज ऐसा वैज्ञानिक कहाँ है, जो जगत् के एकत्व के सत्य को स्वीकार करने से डरता हो? आज कौन अनेक जगतों की बातें कहने का साहस कर सकता है? यह सब अन्धविश्वास मात्र है। केवल एक ही जीवन है, एक ही जगत् है और वही हम लोगों के सामने अनेकवत् प्रतीत होता है। यह अनेकता एक स्वप्न सदृश है। स्वप्न देखते समय एक के बाद दूसरा स्वप्न आता है। स्वप्न में जो देखा जाता है वह सत्य तो नहीं है। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न दिखायी पड़ता है—विभिन्न दृश्य तुम्हारी आँखों के सामने उद्भासित होते रहते हैं। इसी प्रकार यह पन्द्रह आना दुःखरूप और एक आना सुखरूप जगत् जान पड़ता है। शायद कुछ दिन बाद ही यह पन्द्रह आने सुखरूप प्रतीत होगा—तब हम इसे स्वर्ग कहेंगे। किन्तु साधक को सिद्धावस्था प्राप्त होने पर एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें यह सब अन्तर्हित हो जाता है—यह जगत् और अपनी आत्मा साक्षात् ब्रह्मरूप अनुभव होती है। अतएव जगत् अनेक नहीं है, जीवन अनेक नहीं हैं। यह बहुत्व उस एकत्व की ही अभिव्यक्ति है। केवल वह 'एक' ही अपने को बहुरूप में—जड़ चेतन मन विचार अथवा अन्य विविध रूपों

मे व्यक्त कर रहा है। अतएव हम लोगो का प्रथम कर्तव्य है—इस तत्त्व की अपने को तथा दूसरो को शिक्षा देना।

जगत् इस महान् आदर्श की घोषणा से प्रतिध्वनित हो—सब कुसंस्कार दूर हो। दुर्बल मनुष्यो को यही सुनाते रहो—लगातार सुनाते रहो—'तुम शुद्धस्वरूप हो, उठो, जाग्रत हो जाओ। हे शक्तिमान, यह नीद तुम्हे शोभा नही देती। जागो, उठो, यह तुम्हे शोभा नही देता। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी मत समझो। हे सर्वशक्तिमान, उठो, जाग्रत होओ, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम अपने को पापी समझते हो, यह तुम्हे शोभा नही देता। तुम अपने को दुर्बल समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नही है।' जगत् से यही कहते रहो, अपने से यही कहते रहो—देखो, इसका क्या व्यावहारिक फल होता है, देखो, कैसे बिजली के प्रकाश से सभी वस्तुएँ प्रकाशित हो उठती हैं, और सब कुछ कैसे परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य जाति से यह बतलाओ और उसे उसकी शक्ति दिखा दो। तभी हम अपने दैनंदिन जीवन मे उसका प्रयोग करना सीख सकेंगे।

जिसे हम विवेक या सदसत् विचार कहते हैं, उसका अपने जीवन के प्रतिक्षण मे एव प्रत्येक कार्य मे उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए हमे सत्य की कसौटी जान लेनी चाहिए—और वह है पवित्रता तथा एकत्व का ज्ञान। जिससे एकत्व की प्राप्ति हो, वही सत्य है। प्रेम सत्य है, घृणा असत्य है, क्योकि वह अनेकत्व को जन्म देती है। घृणा ही मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है—अतएव वह गलत और मिथ्या है, यह एक विघटक शक्ति है, वह पृथक् करती है—नाश करती है।

प्रेम जोडता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं—माँ सन्तान के साथ, परिवार नगर के साथ, सम्पूर्ण जगत् पशु-पक्षियो के साथ एकीभूत हो जाता है, क्योकि प्रेम ही सत् है, प्रेम ही भगवान् है और यह सभी कुछ उसी एक प्रेम का ही न्यूनाधिक प्रस्फुटन है। प्रभेद केवल मात्रा के तारतम्य मे है, किन्तु वास्तव मे सभी कुछ उसी एक प्रेम की ही अभिव्यक्ति है। अतएव हम लोगो को यह देखना चाहिए कि हमारे कर्म अनेकत्व-विधायक है अथवा एकत्व-सम्पादक। यदि वे अनेकत्व-विधायक हैं, तो उनका त्याग करना होगा और यदि वे एकत्व-सम्पादक है, तो उन्हे सत्कर्म समझना चाहिए। इसी प्रकार विचारो के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए। देखना चाहिए कि उनसे विघटन या अनेकत्व उत्पन्न होता है या एकत्व, और वे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से मिलाकर एक महान् शक्ति उत्पन्न करते हैं या नही। यदि करते हैं, तो ऐसे विचारो को अगीकार करना चाहिए अन्यथा उन्हे अपराध मानकर त्याग देना चाहिए।

वेदान्त का नीति-शास्त्र किसी अज्ञेय तत्त्व पर आधारित नहीं है, यह किसी अज्ञात तत्त्व का उपदेश नहीं करता, वरन् उपनिषदों की भाषा में 'जिस ईश्वर की तुम एक अज्ञात ईश्वर के रूप में उपासना करते हो, मैं तुमको उसीका उपदेश कर रहा हूँ।' तुम जो कुछ जानते हो, आत्मा के द्वारा ही जानते हो। देखने से पहले मुझे अपने स्वयं का ज्ञान होता है, उसके बाद कुर्सी का। इस आत्मा में और उसके द्वारा ही इस कुर्सी का ज्ञान होता है। इस आत्मा में और उसके द्वारा ही मुझे तुम्हारा ज्ञान होता है, सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होता है। अतएव आत्मा को अज्ञात कहना केवल प्रलाप है। आत्मा को हटा लेने से सम्पूर्ण जगत् ही विलुप्त हो जाता है। आत्मा के द्वारा ही सम्पूर्ण ज्ञान होता है—अतएव यही सबसे अधिक ज्ञात है। यही यह 'तुम' हो, जिसको तुम 'मैं' कहते हो। तुम लोग यह सोचकर आश्चर्य करते हो कि मेरा 'मैं' भला तुम्हारा 'मैं' कैसे हो सकता है, तुम्हें आश्चर्य होता है कि यह सान्त 'मैं' किस प्रकार अनन्त असीमस्वरूप हो सकता है? किन्तु वास्तव में यही बात सत्य है। सान्त 'मैं' केवल भ्रम मात्र है, कल्पना मात्र है। उस अनन्त के ऊपर मानो एक आवरण पड़ा हुआ है और उसका कुछ अंश इस 'मैं' रूप में प्रकाशित हो रहा है, किन्तु वास्तव में यह उसी अनन्त का अंश है। यथार्थ में असीम कभी ससीम नहीं होता—'ससीम' केवल बात की बात है। अतएव यह आत्मा नर-नारी, बालक-बालिका, यहाँ तक कि पशु-पक्षी सभी को ज्ञात है। उसको बिना जाने हम क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकते। उस सर्वेश्वर प्रभु को बिना जाने हम लोग एक क्षण भी श्वास-प्रश्वास तक नहीं ले सकते, न गतिशील हो सकते, न अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। वेदान्त का ईश्वर सब चीजों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है, वह कल्पनाप्रसूत नहीं है।

यदि यह एक व्यावहारिक ईश्वर की शिक्षा नहीं है, तो फिर और किस प्रकार से तुम उसकी शिक्षा दे सकोगे? जो ईश्वर, सब प्राणियों में विराजमान है, हमारी इन्द्रियों से भी अधिक सत्य है, मैं जिसे सम्मुख देख रहा हूँ, उससे भी अधिक ईश्वर और व्यावहारिक क्या होगा? क्योंकि तुम्हीं वह सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान ईश्वर हो, और यदि यह कहूँ कि तुम वह नहीं हो, तो मैं झूठ बोलता हूँ। सारे समय में इसकी अनुभूति करें या न करें, सत्य यही है। वह एक अखण्ड वस्तुस्वरूप सर्व वस्तुओं की एकता, समस्त जीवन और समस्त अस्तित्व का सत्यस्वरूप है।

वेदान्त के नीति-शास्त्र के इन सभी विचारों को और भी विस्तृत रूप से कहना पड़ेगा। अतएव थोड़ा सा धैर्य रखना आवश्यक है। पहले ही कह चुका हूँ, हम लोगों को इसका विस्तृत निरूपण करना पड़ेगा—और यह भी देखना है कि किस प्रकार यह आदर्श निम्नतर आदर्शों से क्रमशः विकसित हुआ है

और किस प्रकार पूरा एकत्व का आदर्श धीरे धीरे विकसित होकर विश्व प्रेम मे परिणत हो गया है। खतरो से बचने के लिए इन सब तत्त्वो का अध्ययन आवश्यक है। दुनिया तो धीरे धीरे निम्नतम आदर्श से ऊपर उठने के लिए रुकी नही रह सकती, किन्तु हमारे ऊँचे सोपान पर चढने का फल ही क्या, यदि हम यह सत्य बाद मे आनेवाली पीढियो को न दे सकें? इसलिए इसकी आलोचना हमे विशेष रूप से विस्तारपूर्वक करनी होगी, और प्रथमत उसके बौद्धिक पक्ष को स्पष्ट करना परम आवश्यक है, यद्यपि हम जानते हैं कि बौद्धिकता का विशेष मूल्य नही, हृदय ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हृदय के द्वारा ही भगवत्साक्षात्कार होता है, बुद्धि के द्वारा नही। बुद्धि केवल जमादार के समान रास्ता साफ कर देती है—वह गौण सहायक है, पुलिस के समान है—किन्तु समाज के सुन्दर परिचालन के लिए पुलिस की सकारात्मक आवश्यकता नही होती। उसका कार्य उपद्रव रोकना और अन्याय निवारण करना है। बुद्धि का कार्य भी इतना ही है। जब बौद्धिक पुस्तके पढते हो, तब उन पर अधिकार कर लेने पर तुम यही सोचते हो कि 'ईश्वर को धन्यवाद है, मैं उनके वाहर निकल आया।' इसका कारण यह है कि बुद्धि अन्धी है, उसकी अपनी गति-शक्ति नही है, उसके हाथ-पैर नही है। भावना ही वास्तव मे कार्य करती है, उसकी गति बिजली अथवा उससे भी अधिक वेगवान पदार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है। अब प्रश्न यह है कि क्या तुम्हारे भावना है? यदि है तो तुम ईश्वर को देखोगे आज तुम्हारी जितनी भी भावना है, वही प्रबल होती जाएगी,—देवभावापन्न होती रहेगी, उच्चतम भूमिका मे प्रतिष्ठित होगी, और अतत वह हर वस्तु का अनुभव करेगी, हर वस्तु मे एकत्व, स्वय मे तथा हर अन्य वस्तु मे ईश्वर का अनुभव करने लगेगी। बुद्धि यह नही कर सकती। 'शब्दो के प्रयोग के विभिन्न तरीके, शास्त्र-व्याख्या की विभिन्न शैलियाँ केवल पण्डितो के लिए हैं, हमारे लिए नही, आत्मा की मुक्ति के लिए नही।'

तुम लोगो मे से जिन्होंने टॉमस-आ-केम्पिस की 'ईसा-अनुसरण' नामक पुस्तक पढी है, वे जानते हैं कि हर पृष्ठ पर किस प्रकार उन्होंने इस बात पर जोर दिया है, ससार के प्राय हर सत ने इसी पर जोर दिया है। बुद्धि आवश्यक है, क्योकि उसके विना हम अनेक भ्रमो मे पड जाते हैं और गलतियाँ करते है। विचार-शक्ति उसका निवारण करती है, इसके अतिरिक्त बुद्धि की नींव पर और कुछ निर्माण करने की चेष्टा न करना। वह केवल एक गौण सहायक मात्र है, निष्क्रिय है, वास्तविक सहायता भावना से, प्रेम से प्राप्त होती है। तुम क्या किसी दूसरे के लिए हृदय से अनुभव करते हो? यदि करते हो तो एक

के भाव मे तुम विकास कर रहे हो। यदि नही तो तुम भूतो न भविष्यति एक बौद्धिक दैत्य भले ही हो तुम कुछ हो नही सकोगे केवल शुष्क बुद्धि हो और वही बने रहोगे। यदि तुम हृदय से अनुभव करते हो तो एक भी पुस्तक न पढ सकने पर, कोई भाषा न जानने पर भी तुम ठीक रास्ते पर चल रहे हो। ईश्वर तुम्हारा है।

क्या विश्व के इतिहास मे तुम्हे पैगम्बरो की शक्ति के स्रोत का पता नही चला? बुद्धि मे? उनमे से क्या कोई दर्शन सम्बन्धी सुन्दर पुस्तक लिखकर छोड गया है अथवा न्याय के कूट विचार लेकर कोई पुस्तक लिख गया है? किसीने ऐसा नही किया। वे केवल कुछ थोडी सी बातें कह गये हैं। ईसा की भाँति भावना करो तुम भी ईसा हो जाओगे बुद्ध के समान भावना करो तुम भी बुद्ध बन जाओगे। भावना ही जीवन है, भावना ही बल है भावना ही तेज है—भावना के बिना कितनी ही बुद्धि क्यो न कमाओ ईश्वर-प्राप्ति नही होगी। बुद्धि चलनशक्ति-शून्य कल-मशीन के समान है। जब भावना उसे अनुप्राणित करके गतियुक्त करती है तभी वह दूसरे के हृदय को स्पर्श करती है। जगत् मे सदा से ऐसा ही होता आया है अतएव यह तुम्हे भली भाँति याद रखना चाहिए। वेदान्ती नीति-शास्त्र मे यह एक सर्वाधिक व्यावहारिक बात है क्योकि वेदान्त कहता है तुम सब पैगम्बर हो—तुम सबको पैगम्बर होना ही पडेगा। कोई ग्रन्थ तुम्हारे कार्यों का प्रमाण नही किन्तु तुम्ही ग्रन्थो के प्रमाणस्वरूप हो। कोई पुस्तक सत्य की ही शिक्षा देती है यह किस प्रकार जानते हो? क्योकि तुम सत्य हो और तुम भी ठीक वैसा ही अनुभव करते हो। वेदान्त यही शिक्षा देता है। जगत् के ईसा और बुद्धगणो का प्रमाण क्या है?—यही कि हम-तुम भी वैसा ही अनुभव करते हैं। इसी कारण हम-तुम समझते हैं कि ये सब सत्य हैं। हम लोगो की पैगम्बर आत्मा ही उन लोगो की पैगम्बर आत्मा का प्रमाण है यहाँ तक कि तुम्हारा ईश्वरत्व ही ईश्वर का भी प्रमाण है। यदि तुम वास्तविक महापुरुष नही हो, तो ईश्वर के सम्बन्ध मे भी कोई बात सत्य नही। तुम यदि ईश्वर नही हो तो कोई ईश्वर भी नही है और कभी होगा भी नही। वेदान्त कहता है, इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। हम लोगो मे से प्रत्येक को पैगम्बर बनना पडेगा—और तुम स्वरूपत नही हो। बस केवल यह 'जान लो'? यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है। ऐसा सोचना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो वह यह कहना है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

द्वितीय भाग

(१२ नवम्बर, १८९६ ई० को लन्दन मे दिया हुआ व्याख्यान)

मैं छान्दोग्य उपनिषद् से, एक बालक को किस प्रकार ज्ञान प्राप्त हुआ, इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त प्राचीन कहानी सुनाता हूँ। यद्यपि यह कहानी अनुत्कृष्ट शैली की है, फिर भी इसमे एक सार तत्त्व निहित है। एक छोटे बालक ने अपनी माता से कहा, "माँ, मैं वेद-शिक्षा पाने के लिये जाना चाहता हूँ, मेरे पिता का नाम और मेरा गोत्र क्या है, बताओ।" उसकी माँ विवाहिता स्त्री नही थी, और भारत मे अविवाहित स्त्री की सन्तान जाति वहिष्कृत मानी जाती है—समाज उसे अगीकार नही करता, और उसे वेदो के अध्ययन का अधिकार नही होता। अतएव वेचारी माँ ने कहा, "मैंने अनेक व्यक्तियो की सेवा की है, उसी अवस्था मे तुम्हारा जन्म हुआ, अतएव मैं तुम्हारे पिता का नाम एव तुम्हारा गोत्र क्या है, यह नही जानती, इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम।" बालक एक ऋषि के पास गया और उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे ब्रह्मचारी शिष्य के रूप मे ग्रहण करें। तब उन्होंने उससे पूछा, "तुम्हारे पिता का नाम और तुम्हारा गोत्र क्या है?" बालक ने जो उसकी माँ ने कह था वही दुहराया। यह सुनकर ऋषि ने तुरन्त ही कहा, "वत्स, एक ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई अपने सबध मे ऐसा लाछनकारी सत्य नही कह सकता था। तुम ब्राह्मण हो, मैं तुम्हे शिक्षा दूंगा। तुम सत्य से विचलित नही हुए।" यह कहकर वे उसे अपने निकट रखकर शिक्षा देने लगे।

अव हमे प्राचीन भारत मे प्रचलित शिक्षा-पद्धतियो के कुछ दृष्टान्त अवगत होंगे। गुरु ने सत्यकाम को चार सौ क्षीण और दुर्बल गायें देकर कहा, "इन्हे लेकर तुम वन मे चले जाओ, जव सब गायें एक हजार हो जायें, तव लौटकर चले आना।" उसने आज्ञा पालन की और वह गायें लेकर वन मे चला गया। कई साल वाद इस झुण्ड मे से एक प्रधान वृषभ ने सत्यकाम से कहा, "हम अब एक हज़ार हो गये हैं, हमे तुम अपने गुरु के पास ले चलो। मैं तुम्हे ब्रह्म के विपय मे कुछ शिक्षा दूंगा।" सत्यकाम ने कहा, "कहिये प्रभु।" वृषभ ने कहा, "उत्तर दिशा ब्रह्म

का एक अंश है उसी प्रकार पूर्व दिशा दक्षिण दिशा पश्चिम दिशा भी उसके एक एक अंश है। चारो दिशाएँ ब्रह्म के चार अंश हैं। अब अग्नि तुम्हें और कुछ शिक्षा देंगे। उस समय अग्नि की पूजा एक विशिष्ट प्रतीक-रूप मे होती थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी को अग्नि-चयन करके उसमे आहुति देनी पड़ती थी। अत अगले दिन सत्यकाम ने अपने गुरु के घर की ओर प्रस्थान किया और जब सन्ध्या समय वह स्नानादि करके अग्नि म होम कर उसके निकट बैठ गया तो उसे अग्नि से आती एक वाणी सुनायी पड़ी— 'सत्यकाम !" सत्यकाम ने कहा 'प्रभो आज्ञा ! (तुम लोगो को शायद याद हो कि बाइबिल के प्राचीन व्यवस्थान मे भी इसी प्रकार की एक कथा है। सेमुएल न ऐसी ही एक अद्भुत वाणी सुनी थी)। अग्नि ने कहा 'मैं तुम्हे ब्रह्म के सम्बन्ध मे कुछ शिक्षा देने आया हूँ। यह पृथ्वी ब्रह्म का एक अंश है अन्तरिक्ष एक अंश है स्वर्ग एक अंश है समुद्र एक अंश है। फिर अग्नि ने कहा 'अब एक पक्षी तुम्हे कुछ सिखा देगा।" सत्यकाम ने अपनी यात्रा जारी रखी और अगले दिन जब वह सान्ध्य अग्नि होम कर चुका था तब एक हंस उसके निकट आया और बोला "मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय मे कुछ शिक्षा दूँगा। हे सत्काम यह अग्नि जिसकी तुम उपासना करते हो ब्रह्म का एक अंश है सूर्य एक अंश है चन्द्र एक अंश है विद्युत भी एक अंश है। फिर हंस ने कहा "अब मद्गु नामक एक पक्षी भी तुम्हे कुछ सिखा देगा। निदान एक दिन वह पक्षी आकर सत्यकाम से बोला मैं तुम्हें ब्रह्म के सम्बन्ध म कुछ शिक्षा दूँगा। 'प्राण' उसका एक अंश है चक्षु एक अंश है श्रवण एक अंश एव मन एक अंश है। तदन्तर बालक अपने गुरु के पास पहुँचा गुरु न उसे देखते ही कहा "वत्स तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के समान चमक रहा है। तुम्हे किसने शिक्षा दी है। सत्यकाम ने उत्तर दिया 'मानवेतर प्राणियो ने किन्तु मैं चाहता हूँ कि आप मुझे उपदेश दें। क्योंकि आप जैसे मनीषियो से मैंने सुन रखा है कि गुरु से प्राप्त ज्ञान ही श्रेयस की ओर ले जाता है। तब ऋषि ने उसे उसी ज्ञान की शिक्षा दी जो उसे देवताओ से प्राप्त हो चुका था अब कुछ भी शेष नहीं रहा।

यहाँ यदि हम इन रूपको को थोड़ी देर के लिए हटा दें कि वृष ने क्या सिखाया अग्नि ने क्या सिखाया तथा अन्य सबने क्या सिखाया—और केवल केन्द्रीय तत्त्व की ओर ध्यान दें तो हमको तत्कालीन विचार धारा की दिशा का कुछ पता लग सकता है। हमे जिस महान् विचार का बीज यहाँ मिलता है, वह यह है कि ये सारी ध्वनियाँ हमारे अन्दर ही हैं। इन सत्यो को और अधिक समझने से अन्त मे हम यही तत्त्व पायेंगे कि यह वाणी वास्तव मे हम लोगो के हृदय मे से

ही उठी है। शिष्य सारे समय यही समझता रहा कि वह सत्य के सम्बन्ध मे उपदेश सुन रहा है, किन्तु उसका ऐसा समझना ठीक नही है। उसने इन वाणियो को बाह्य जगत् से आती हुई समझा, लेकिन वे सदा उसीके अन्दर थी। और भी एक तत्त्व इससे पाया जाता है, और वह है ब्रह्मज्ञान को व्यावहारिक बनाना। व्यावहारिक जीवन मे धर्म से क्या पाया जा सकता है, जगत् इस खोज मे सदा व्यस्त रहता है। और इन सब कथाओ मे हम यह भी पाते है कि दिन-प्रतिदिन किस प्रकार यह सत्य व्यवहारोपयोगी बनता जा रहा था। शिष्य को जिन समस्त वस्तुओ के ससर्ग मे आना पडता है, वे उन्हींसे ब्रह्मोपलब्धि करते हैं। अग्नि, जिसमे वे प्रतिदिन होम करते हैं, उसीमे वे ब्रह्म-साक्षात्कार कर रहे है। इसी प्रकार परिदृश्यमान् पृथ्वी को वे ब्रह्म के एक अश रूप मे अनुभव कर रहे हैं—इत्यादि इत्यादि।

इसके बाद एक कहानी इन सत्यकाम के एक शिष्य उपकोशल कमलायन के सम्बन्ध मे है। यह शिष्य सयत्काम से शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके पास कुछ दिन रहा था। सत्यकाम कार्यवश कही बाहर गये। इससे शिष्य को बहुत कष्ट हुआ। जब गुरु-पत्नी ने उसके समीप आकर पूछा, "वत्स, तुम खाते क्यो नही?" तब बालक ने कहा, "मेरा मन कुछ ठीक नही है, इसलिए कुछ खाना नही चाहता।" इसी समय वह जिस अग्नि मे हवन कर रहा था, उसमे से एक आवाज़ आयी, "प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, तुम ब्रह्म को जानो।" तब उसने उत्तर दिया, "प्राण ब्रह्म है, यह मैं जानता हूँ, किन्तु वे आकाश और सुखस्वरूप हैं, यह मैं नही जानता।" तब अग्नि ने समझाया कि आकाश और सुख, इन दो शब्दो का अर्थ वस्तुत एक ही है, यानी हृदय मे निवास करनेवाला चिदाकाश (अथवा विशुद्ध बुद्धि)। इस प्रकार अग्नि ने प्राण और चिदाकाश के रूप मे उसे ब्रह्म का उपदेश किया। तदुपरान्त अग्नि ने फिर उपदेश दिया "यह पृथ्वी, यह अन्न, यह सूर्य जिसकी तुम उपासना करते हो, सब ब्रह्म के ही रूप हैं। जो पुरुष सूर्य मे दिखलायी पडता है, वह मैं ही हूँ। जो यह जानते हैं और उस ब्रह्म का ध्यान करते है, उनके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वे दीर्घ जीवन प्राप्त करते और सुखी होते हैं। जो समस्त दिशाओ मे वास करता है, मैं भी वही हूँ। जो इस प्राण मे है, इस आकाश मे है, स्वर्गसमूह और विद्युत मे वसता है, मैं भी वही हूँ।" यहाँ भी हमे व्यवहारोपयोगी धर्म का उदाहरण मिलता है। अग्नि सूर्य, चन्द्र आदि जिन जिन वस्तुओ की वे उपासना करते थे, और वह वाणी जिससे वे परिचित थे, उन कथाओ का आधार है, जो उनकी व्याख्या करती है और उन्हे उच्चतर अर्थ प्रदान करती है। यही वेदान्त का सच्चा, व्यावहारिक

पना है। वेदान्त जगत् को उड़ा नहीं देता उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्ति को उड़ा नहीं देता—उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्तित्व को मिटाता नहीं वरन् वास्तविक व्यक्तित्व का स्वरूप सामने रख कर उसकी व्याख्या कर देता है। वह यह नहीं कहता कि जगत् वृथा है और उसका अस्तित्व नहीं है, किन्तु कहता है 'जगत् क्या है यह समझो जिससे वह तुम्हारा कोई अनिष्ट न कर सके। उस वाणी ने उपकोसल से यह नहीं कहा था कि सूर्य चन्द्र विद्युत अथवा और कुछ जिसकी वे उपासना करते थे वह एकदम भूल है किन्तु यही कहा कि जो चैतन्य सूर्य चन्द्र विद्युत अग्नि और पृथ्वी के भीतर है वही उनके अन्दर भी है। अतएव उपकोसल की दृष्टि में सभी मानो रूपान्तरित हो गया। जो अग्नि पहले केवल हवन करने की जड़ अग्नि-मात्र थी उसने एक नया रूप धारण कर लिया और वह ईश्वर हो गयी। पृथ्वी ने एक नया रूप धारण कर लिया प्राण सूर्य चन्द्र तारा विद्युत सभी ने एक नया रूप धारण कर लिया सब ब्रह्मभावापन्न हो गये और तभी उनका वास्तविक स्वरूप समझ में आया। वेदान्त का उद्देश्य ही इन सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना है उनका जो रूप मायाच्छन्न प्रतीत होता है वह न देखकर उनको उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है। तदनन्तर उपनिषदों में एक दूसरा उपदेश है जो आँखों में चमक रहा है, वह ब्रह्म है वह रमणीय और ज्योतिर्मय है। वह सम्पूर्ण जगत् में प्रकाशित हो रहा है। यहाँ भाष्यकार कहता है पवित्रात्मा पुरुषों की आँखों में जो एक विशेष प्रकार की ज्योति का आविर्भाव होता है वह वास्तव में अन्तःस्थ सर्वव्यापी आत्मा की ही ज्योति है। वह ज्योति ही ग्रहों सूर्य-चन्द्र और तारों में प्रकाशित हो रही है।

अब मैं तुम लोगों से जन्म-मृत्यु आदि के सम्बन्ध में इन प्राचीन उपनिषदों की कुछ अद्भुत कथाएँ कहूँगा। शायद वे तुमको अच्छी लगें। श्वेतकेतु पांचालराज के पास गया। राजा ने उससे पूछा "क्या तुम जानते हो मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य कहाँ जाते हैं? क्या जानते हो कि वे किस प्रकार फिर लौट आते हैं? क्या जानते हो कि परलोक एकदम भर क्यों नहीं जाता? बालक ने कहा 'नहीं मैं यह सब नहीं जानता। उसने अपने पिता से जाकर यही सब प्रश्न पूछे। पिता ने कहा 'इन सब प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर तो मुझे भी मालूम नहीं। तब वह राजा के पास लौट गया। राजा ने कहा यह ज्ञान ब्राह्मणों के पास कभी नहीं रहा केवल राजागण ही इसे जानते थे और इसी ज्ञान के बल पर राजागण पृथ्वी पर शासन करते रहे हैं। वह उस राजा के पास कुछ दिन रहा क्योंकि राजा ने शिक्षा देने का वचन दिया। राजा ने कहा "हे गौतम

परलोक अग्नि है। सूर्य ईंधन है। धूम्र किरणें हैं। दिन ज्वाला है। चन्द्रमा भस्म है। तारागण चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि मे देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं, जिससे राजा सोम की उत्पत्ति होती है।" इसी प्रकार वह कहता गया, "तुम्हारी इस क्षुद्र अग्नि मे होम करने का कोई प्रयोजन नही, सम्पूर्ण जगत् ही वह अग्नि है और दिन-रात उसमे होम हो रहा है। देवता, मनुष्य सभी दिन-रात उसीकी उपासना करते हैं। मनुष्य का शरीर ही अग्नि का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है।" हम यहाँ भी देखते हैं कि धर्म को व्यवहार मे परिणत किया जा रहा है, ब्रह्म को हर वस्तु मे देखा जा रहा है। इन सब रूपको मे यही एक तत्त्व निहित है कि आविष्कृत प्रतीक हितकारी और शुभ हो सकते हैं, किन्तु उनसे भी श्रेष्ठ प्रतीक पहले से ही विद्यमान हैं। यदि ईश्वरोपासना करने के लिए प्रतिमा आवश्यक है, तो उससे कही श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर निर्माण करना चाहते हो, तो करो, किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव देह रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है।

हम लोगो को याद रखना चाहिए कि वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। उपनिषदो के अभ्युदय-काल मे कर्म-काण्ड इतना जटिल और विस्तार-पूर्ण हो गया था कि उससे मुक्त होना असम्भव सा कार्य हो गया। उपनिषदो मे कर्मकाण्ड बिल्कुल छोड दिया गया है ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु धीरे धीरे, और प्रत्येक कर्मकाण्ड के अन्दर एक उच्चतर अर्थगाम्भीर्य दिखाने की चेष्टा की गयी है। अत्यन्त प्राचीन काल मे यह सब यज्ञादिक कर्मकाण्ड प्रचलित थे, किन्तु उपनिषद् काल मे ज्ञानियो का अभ्युदय हुआ। उन लोगो ने क्या किया? आधुनिक सुधारको के समान उन लोगो ने यज्ञादि के विरुद्ध प्रचार करके उसे एकदम मिथ्या या पाखण्ड कहकर उडा देने की चेष्टा नही की, किन्तु उन्हीका उच्चतर तात्पर्य समझाकर लोगो को एक ग्रहण करने योग्य वस्तु दी। उन्होंने कहा, 'अग्नि मे हवन करो, बहुत अच्छी बात है, किन्तु इस पृथ्वी पर दिन-रात हवन हो रहा है। यह क्षुद्र मन्दिर है, ठीक है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही हमारा मन्दिर है, हम कही भी उपासना कर सकते हैं। तुम लोग वेदी बनाते हो—किन्तु हम लोगो के मत मे, जीवित, चेतन मनुष्य देह रूपी वेदी वर्तमान है और इस मनुष्य देह रूपी वेदी पर की गयी पूजा, दूसरी अचेतन, मृतजड प्रतीक की पूजा की अपेक्षा श्रेयस्कर है।

अब मैं एक विचित्र सिद्धान्त की चर्चा करूँगा।

मैं स्वय ही इसका अधिकाश नही समझता। उपनिषद् का यह अश मैं पढता हूँ, तुम लोग इसे कुछ समझ सको तो समझो। जो व्यक्ति ध्यान-बल से

निवृत्तचित्त होकर ज्ञानलाभ कर चुका है वह जब मरता है तो पहले अर्चि उसके बाद दिन फिर क्रमशः शुक्लपक्ष मे और उत्तरायण षण्मास मे जाता है वहाँ से संवत्सर, संवत्सर से सूर्यलोक और सूर्यलोक से चन्द्रलोक तथा चन्द्रलोक से विद्युल्लोक मे जाता है। वहाँ से एक दिव्य पुरुष उसे ब्रह्मलोक मे ले जाते है। इसीका नाम देवयान है। जब साधु और ज्ञानियो की मृत्यु होती है तो वे इसी मार्ग द्वारा जाते है। और फिर वापस नही आते। इन मास संवत्सर आदि शब्दो का क्या अर्थ है यह कोई भी भली भाँति नही समझता। सभी अपने अपने मस्तिष्क से कल्पित अर्थ लगाते रहते है। बहुत से लोग यह भी कहते है कि ये बेकार की बाते है। इन चन्द्रलोक सूर्यलोक आदि मे जाने का क्या अर्थ है? और यह दिव्यपुरुष आकर विद्युल्लोक से ब्रह्मलोक मे ले जाता है इसका भी क्या अर्थ है? हिन्दुओ मे एक धारणा थी कि चन्द्रलोक मे जीवन है—इसके बाद हम लोग यह देखेंगे कि किस प्रकार चन्द्रलोक से पतित होकर मनुष्य पृथ्वी पर वापस आता है। जो ज्ञान प्राप्त नही करते है किन्तु इस जीवन मे शुभ कर्म कर चुके है वे जब मरते है तो पहले धूम मे जाते है फिर रात्रि मे तदन्तर कृष्ण-पक्ष फिर दक्षिणायन षण्मास और उसके बाद संवत्सर मे से होकर वे पितृलोक मे चले जाते है। वहाँ से आकाश मे और फिर वे चन्द्रलोक मे गमन करते है। वहाँ देवताओ के साथ रूप होकर देवजन्म ग्रहण करते है। जब तक उनका पुण्य क्षय नही होता तब तक वही रहते है। कर्मफल समाप्त होने पर फिर उन्हे पृथ्वी पर आना पड़ता है। वे पहले आकाश रूप मे परिणत होते है, फिर वायु रूप मे फिर धूम्र उसके बाद मेघ आदि के रूप मे परिणत होकर अन्त मे वृष्टिकण का आश्रय लेकर पृथ्वी पर गिर पड़ते है वहाँ धान्यक्षेत्र मे गिरकर धान्य-रूप मे परिणत होकर मनुष्य के खाद्य-रूप मे परिगृहीत होते है और अन्त मे उनकी सन्तानादि बन जाते है। जिन लोगो ने खूब सत्कर्म किये थे वे सद्वंश मे जन्म ग्रहण करते है और जिन लोगो ने अत्यन्त असत् कर्म किये थे उनका अत्यन्त नीच जन्म होता है यहाँ तक कि उनको कभी कभी पशु जन्म लेना पड़ता है। पशु बार बार जन्म ग्रहण करते रहते है तथा बार बार मृत्यु के मुँह मे पड़ते रहते है। इसी कारण पृथ्वी न तो एकदम सूनी होती है और न परिपूर्ण ही।

हम लोग इससे भी कुछ विचार प्राप्त कर सकते है और बाद मे शायद हम इसको अधिक समझ सकेंगे। अभी हम इसके अर्थ पर कुछ अटकल लगा सकते है। स्वर्ग मे जाकर जीव फिर से किस प्रकार लौट आते है। इससे सम्बन्ध रखनेवाला अंश पहले अंश की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु इन सब उक्तियो का सार तत्त्व यही जान पड़ता है कि ब्रह्मानुभूति के बिना

स्वर्गादि प्राप्ति स्थायी नही होती। ऐसे व्यक्ति जिन्हे अभी तक ब्रह्मानुभव नही हो सका, किन्तु इस लोक मे सत्कर्म कर चुके है और वह कर्म भी सकाम किया गया है, तो मृत्यु होने पर इधर उधर अनेक स्थानो मे घूम फिरकर स्वर्ग पहुँचते हैं और हम लोग जिस प्रकार पैदा होते हैं ठीक उसी प्रकार वे भी देवताओ की सन्तानरूप मे पैदा होते हैं, और जितने दिन उनके शुभ कर्मफल की समाप्ति नही होती, उतने दिन वे वहाँ रहते हैं। इसीसे वेदान्त का एक मूल तत्त्व यह पाया जाता है कि जिसका नाम-रूप है, वही नश्वर है। अतएव स्वर्ग भी नश्वर होगा, क्योकि उसका भी तो नाम-रूप है, अनन्त स्वर्ग स्वविरोधी वाक्य मात्र है, जिस प्रकार यह पृथ्वी अनन्त नही हो सकती, क्योकि जिस वस्तु का भी नाम-रूप है, उसीकी उत्पत्ति काल मे है, स्थिति काल मे है, विनाश काल मे है। वेदान्त का यह स्थिर सिद्धान्त है—अतएव अनन्त स्वर्ग की धारणा व्यर्थ है।

वेद के सहिता भाग मे चिरतन स्वर्ग का वर्णन है, जिस प्रकार मुसलमान और ईसाइयो के धर्म-ग्रन्थो मे हैं। मुसलमानो की स्वर्ग-धारणा और भी स्थूल है। वे लोग कहते हैं, स्वर्ग मे बाग-बगीचे हैं, उनके नीचे नदियाँ बह रही हैं। अरब-वासियो के रेगिस्तान मे जल एक बहुत ही वाछनीय पदार्थ है। इसीलिए मुसलमान सदा जलपूर्ण स्वर्ग की कल्पना करते हैं। मेरा जहाँ जन्म हुआ, वहाँ साल मे छ महीने जल बरसता रहता है। मैं स्वर्ग को कल्पना मे शायद शुष्क स्थान सोचूंगा, अँग्रेज भी यह सोचेंगे। सहिता का यह स्वर्ग अनन्त है, वहाँ मृत व्यक्ति जाकर रहते हैं। वे लोग वहाँ सुन्दर देह पाकर अपने पितृगण के साथ अत्यन्त सुख सहित चिर-काल तक रहते हैं, वहाँ उनके माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि भी आ मिलते हैं। और वे बहुत कुछ यही के समान रहते है, हाँ, उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखमय होता है। उन लोगो की स्वर्ग की धारणा भी यही है कि इस जीवन मे सुखप्राप्ति मे जो सब विघ्न-बाधाएँ हैं, वे सब मिट जायेंगी, केवल इसका जो सुखमय अश है, वही शेष रहेगा। स्वर्ग की यह धारणा हमे सुखकर भले ही प्रतीत हो, किन्तु सुखकर और सत्य ये दोनो पूर्ण रूप से भिन्न वस्तुएँ हैं। वास्तव मे चरम सीमा पर पहुँचे बिना सत्य कभी सुखकर नही होता। मनुष्य का स्वभाव बडा रूढिवादी है। मनुष्य कोई विशेष काम करता रहता है तो एक बार उसे शुरू करने पर फिर उसे छोडना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। मन कोई नया विचार नही ग्रहण करता, क्योकि वह बहुत कष्टकर होता है।

उपनिषदो मे हमें पूर्वप्रचलित धारणाओ की तुलना मे विराट अतर मिलता है। उपनिषदो मे कहा है, यह सब स्वर्ग जहाँ मनुष्य जाकर पितृगण के साथ रहता है, कभी नित्य नही हो सकता, क्योकि नाम-रूपात्मक सभी वस्तुएँ अनित्य हैं।

यदि स्वर्ग साकार है तो काल के अनुसार उस स्वर्ग का अवश्य नाश होगा। हो सकता है, वह लाखों वर्ष रहे, किन्तु अन्त में ऐसा एक समय अवश्य आयेगा कि उसका नाश होगा और अवश्य होगा। इसीके साथ एक और भी धारणा लोगों के मन में आयी और वह यह कि ये सब आत्माएँ दुबारा इसी पृथ्वी पर लौट आती हैं। स्वर्ग केवल उनके शुभ कर्मों के फलभोग का स्थान मात्र है फलभोग समाप्त होने पर वे फिर पृथ्वी पर ही जन्म ग्रहण करती हैं। एक बात इसीमें स्पष्ट प्रतीत होती है कि मनुष्य को अत्यन्त प्राचीन काल से ही कार्य-कारण-विज्ञान विदित था। बाद में हम लोग देखेंगे कि हमारे दार्शनिकों ने इसी तत्त्व का वर्णन दर्शन तथा न्याय की भाषा में किया है किन्तु इस स्थान में मानो एक शिशु की अस्पष्ट भाषा में इसे कहा गया है। इन ग्रन्थों का पाठ करते समय तुमको लगेगा कि ये सब तत्त्व आन्तरिक अनुभूति के फलस्वरूप हैं। यदि तुम यह पूछो कि ये सब कार्य रूप में परिणत हो सकते हैं या नहीं तो मैं कहूँगा कि पहले ये सब कार्य रूप में परिणत हुए हैं और बाद में दर्शन के रूप में आविर्भूत हुए हैं। तुमने देखा कि ये सब पहले अनुभूत हुए, बाद में लिखे गये। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राचीन ऋषियों के साथ मानो बातें करता था। पक्षिगण उनसे बोलते पशुगण भी उनसे बातचीत करते और चन्द्र-सूर्य से भी उनका सम्भाषण होता था। उन्होंने क्रमशः समस्त वस्तुओं का अनुभव किया और वे प्रकृति के अन्तस्तल में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने सत्य की उपलब्धि चिन्तन अथवा तर्क द्वारा या आजकल की प्रथा के अनुसार दूसरों के विचारों द्वारा रचित ग्रन्थों अथवा मैं आज जैसे उन्हींके एक ग्रन्थ को लेकर लम्बी-चौड़ी वक्तृता दे सकता हूँ ऐसी वक्तृताओं द्वारा नहीं की थी वरन् धैर्ययुक्त अनुसन्धान और आविष्कार द्वारा की थी। इसकी सारस्वरूप पद्धति थी साधना— और चिरकाल तक यही रहेगी। धर्म सदैव एक व्यावहारिक विज्ञान रहा है शास्त्र पर निर्भर रहनेवाला धर्म न कोई कभी हुआ है न होगा। पहले साधना उसके बाद ज्ञान। जीवगण यहाँ लौट आते हैं यह धारणा मैं पहले से ही विद्यमान पाता हूँ। जो फल की कामना से कुछ सत्कर्म करते हैं, उन्हें उस सत्कर्म का फल प्राप्त होता है किन्तु यह फल नित्य नहीं होता। कार्य-कारणवाद यहाँ बहुत सुन्दर रूप में वर्णित हुआ है क्योंकि कहा गया है कि कार्य कारण के अनुसार ही होता है। जैसा कारण है कार्य भी वैसा ही होगा कारण जब अनित्य है तो कार्य भी अनित्य है। कारण नित्य होने पर कार्य भी नित्य होगा। किन्तु सत्कर्म रूपी ये कारण ससीम हैं अतएव उनका फल भी कभी असीम नहीं हो सकता।

इस तत्त्व का एक और पहलू देखने से यह भली भाँति समझ में आ जायगा कि जिस कारण चिरंतन स्वर्ग नहीं हो सकता उसी कारण चिरंतन नरक भी नहीं

हो सकता। मान लो, मैं एक बहुत दुष्ट आदमी हूँ और समस्त जीवन अन्याय-पूर्ण कर्म करता रहा हूँ, तो भी यह सारा जीवन अनन्त जीवन के साथ तुलना करने पर कुछ भी नही है। यदि दण्ड अनन्त हो, तो इसका यह अर्थ होगा कि ससीम कारण से असीम फल की उत्पत्ति हुई। इस जीवन के ससीम कार्य रूप कारण द्वारा असीम फल की उत्पत्ति हुई। यह नही हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि समस्त जीवनपर्यन्त सत्कर्म करते रहने पर अनन्त स्वर्ग लाभ होता है, तो भी यह दोष बना रहेगा। किन्तु उन लोगो के लिए, जिन्होने सत्य को जान लिया है, और भी एक तीसरा मार्ग है। मायावरण से बाहर निकलने का यही एकमात्र मार्ग है—'सत्य का अनुभव करना।' और सब उपनिषद्, यह सत्यानुभव किसे कहते हैं, यही समझाते हैं।

अच्छा बुरा कुछ न देखो, सभी वस्तुएँ और सभी कार्य आत्मा से उत्पन्न होते हैं, यही विचार करो। आत्मा सभी मे है। यही कहो कि जगत् नामक कोई चीज़ नही है। बाह्य दृष्टि बन्द करो, उसी प्रभु की स्वर्ग और नरक मे, मृत्यु और जीवन मे सर्वत्र उसी की उपलब्धि करो। मैंने पहले जो तुम्हे पढकर सुनाया है, उसमे भी यही भाव है—यह पृथ्वी उसी भगवान् का एक प्रतीक है, आकाश भी भगवान् का एक दूसरा प्रतीक है, इत्यादि इत्यादि। ये सब ब्रह्म हैं। परन्तु यह देखना पडेगा, अनुभव करना पडेगा, इस विषय की केवल आलोचना अथवा चिन्ता करने से कुछ नही होगा। मान लो, जब आत्मा ने जगत् की प्रत्येक वस्तु का स्वरूप समझ लिया और उसे यह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक वस्तु ही ब्रह्ममय है, तब वह स्वर्ग मे जाय अथवा नरक मे, या अन्यत्र और कही चली जाय, तो इससे कुछ बनता बिगडता नही। मैं पृथ्वी पर जन्मूँ अथवा स्वर्ग मे जाऊँ, इससे कोई अन्तर नही होता। मेरे लिए ये सब निरर्थक हैं, क्योकि मेरे लिए सभी स्थान समान हैं, सभी स्थान भगवान् के मन्दिर हैं, सभी स्थान पवित्र हैं, कारण स्वर्ग, नरक अथवा अन्यत्र मैं केवल भगवत्सत्ता का ही अनुभव कर रहा हूँ। भला-बुरा अथवा जीवन-मरण मुझे कुछ नही दिखायी देते, एकमात्र ब्रह्म का अस्तित्व है। वेदान्त-मत मे मनुष्य जब ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है और वेदान्त कहता है, केवल वही व्यक्ति ससार मे रहने योग्य है, दूसरा नही। जो व्यक्ति जगत् मे केवल अशुभ देखता है, वह भला ससार मे कैसे वास कर सकता है? उसका जीवन तो सर्वदा दुःखमय होगा। जो व्यक्ति यहाँ अनेकानेक विघ्न-बाधाओ तथा विपत्तियो को देखता है, मृत्यु देखता है, उसका जीवन तो दुःखमय होगा ही, परन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु मे उसी सत्यस्वरूप को देखता है, वही ससार मे रहने योग्य है, वही यह कह सकता है कि मैं इस जीवन का उपभोग कर रहा हूँ,

मैं इस जीवन में खूब सुखी हूँ। यहाँ मैं यह कह देना चाहता हूँ कि वेद में कहीं भी नरक का उल्लेख नहीं है। वेद के बहुत परवर्ती काल में रचित पुराणों में यह नरक-प्रसग दिया गया है। वेद में सबसे बड़ा दण्ड है—पुनर्जन्म अर्थात् इस जगत् में एक बार और आना यहाँ एक दूसरा अवसर पाना। हम देखते हैं कि पहले से ही यह निर्गुण भाव चलता आ रहा है। पुरस्कार और दण्ड का भाव बहुत ही जड भावात्मक है और यह भाव केवल मनुष्य के समान सगुण ईश्वरवाद में ही सम्भव है—जो ईश्वर हमारे समान एक को प्रेम करते हैं दूसरे को नहीं। इस प्रकार की ईश्वर-धारणा के साथ ही पुरस्कार और दण्ड का भाव सगत हो सकता है। सहिताओं में ईश्वर का वर्णन इसी प्रकार दिया गया है। वहाँ इस धारणा के साथ भय भी मिला हुआ था किन्तु उपनिषदों में यह भय-भाव बिल्कुल नहीं मिलता इसके साथ ही उपनिषदों में हम निर्गुण की धारणा पाते हैं—और प्रत्येक दशा में यह निर्गुण की धारणा ही विशेष कठिन होती है। मनुष्य सर्वदा ही सगुण से चिपका रहना चाहता है। बहुत बड़े बड़े विचारक भी कम से कम ससार जिन्हें बहुत बड़े विचारक मानता है इस निर्गुण ईश्वर से सहमत नहीं हैं। किन्तु देहधारी ईश्वर की कल्पना मुझे अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती है। उच्चतर भाव कौन सा है—जीवित ईश्वर या मृत ईश्वर ?—जिस ईश्वर को कोई देख नहीं सकता जान नहीं पाता—अथवा जो ईश्वर हमारे सम्मुख चारो ओर प्रकट एव ज्ञात है ?

निर्गुण ईश्वर जीवित ईश्वर है यह एक तत्त्व मात्र है। सगुण-निर्गुण के बीच में भेद यही है कि सगुण ईश्वर मानवविशेष मात्र है और निर्गुण ईश्वर है मनुष्य पशु, देवता तथा कुछ और अधिक जो हम नहीं देख पाते हैं क्योंकि सगुण निर्गुण के अन्तर्गत है और निर्गुण सगुण व्यष्टि समष्टि एव उसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। 'जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में भिन्न भिन्न रूप में प्रकाशित होती है और उसके अतिरिक्त भी अग्नि का अस्तित्व है, इसी प्रकार निर्गुण भी है। हम जीवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नहीं देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पड़ता है उसके बाद उसीमें और उसके माध्यम से कुर्सी को देखना पड़ता है। वह दिन-रात जगत् में रहकर प्रतिक्षण 'मैं हूँ' मैं हूँ' कह रहा है। जिस क्षण तुम बोलते हो 'मैं हूँ' उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो। तुम ईश्वर को कहाँ ढूँढने जाओगे यदि तुम उसे अपने हृदय में हर प्राणी में नहीं देख पाते ? त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुख ॥—'तुम स्त्री तुम पुरुष तुम कुमार, तुम कुमारी हो तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी के सहारे चल रहे हो तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् में भिन्न भिन्न रूपों में

प्रकट हुए हो। तुम्ही यह सब हो।' कितना अद्भुत 'जीवित ईश्वर' है—ससार मे वह ही एक मात्र सत्य है। यह धारणा अनेक लोगो को उस परपरीण ईश्वर से घोर विरोधात्मक लगती है, जो किसी विशेष स्थान मे किसी पर्दे के पीछे छिपा बैठा है, और जिसे कोई कभी नही देख सकता। पुरोहित लोग हमे केवल यही आश्वासन देते है कि यदि हम लोग उनका अनुसरण करें, उनकी भर्त्सना सुनते रहे, और उनके द्वारा निर्दिष्ट लीक पर चलते रहे, तो मरते समय वे हमे एक मुक्ति-पत्र देगे और तव हम ईश्वर-दर्शन कर सकेंगे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारा स्वर्गवाद इस अनर्गल पुरोहित-प्रपच के विविध रूपो के अतिरिक्त और कुछ नही है।

निर्गुणवाद निस्सन्देह अनेक चीज़ें नष्ट कर डालता है, वह पुरोहितो, धर्मसघो और मन्दिरो के हाथ से सारा व्यवसाय छीन लेता है। भारत मे इस समय दुर्भिक्ष है, किन्तु वहाँ ऐसे बहुत से मन्दिर है, जिनमे से प्रत्येक में एक राजा को भी खरीद लेने योग्य बहुमूल्य रत्नो की राशि सुरक्षित है। यदि पुरोहित लोग इस निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा दें, तो उनका व्यवसाय छिन जायगा। किन्तु हमे उसकी शिक्षा नि स्वार्थ भाव से, बिना पुरोहित-प्रपच के देनी होगी। तुम भी ईश्वर, मैं भी वही—तब कौन किसकी आज्ञा पालन करे? कौन किसकी उपासना करे? तुम्ही ईश्वर के सर्व-श्रेष्ठ मन्दिर हो, मैं किसी मन्दिर, किसी प्रतिमा या किसी बाइबिल की उपासना न कर तुम्हारी ही उपासना करूँगा। लोग इतना परस्पर विरोधी विचार क्यों करते हैं? लोग कहते है, हम ठेठ प्रत्यक्षवादी हैं, ठीक बात है, किन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? मैं तुम्हे देख रहा हूँ, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो। मुसलमान कहते हैं, अल्लाह् के सिवाय और कोई ईश्वर नही है, किन्तु वेदान्त कहता है, ऐसा कुछ है ही नही जो ईश्वर न हो। यह सुनकर तुममे से बहुतो को भय हो सकता है, किन्तु तुम लोग धीरे धीरे यह समझ जाओगे। जीवित ईश्वर तुम लोगो के भीतर रहते है, तब भी तुम मन्दिर, गिरजाघर आदि बनाते हो और सब प्रकार की काल्पनिक झूठी चीज़ो मे विश्वास करते हो। मनुष्य-देह मे स्थित मानव-आत्मा ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। पशु भी भगवान् के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है—ताजमहल जैसा। यदि मैं उसकी उपासना नही कर सका, तो अन्य किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नही होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देहरूपी मन्दिर मे उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खडा हो सकूँगा और वास्तव मे उनमे ईश्वर देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जायगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण

बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा—बाँधनेवाले पदार्थ छूट जायँगे और मैं मुक्त हो जाऊँगा।

यही सबसे अधिक व्यावहारिक उपासना है। मत-मतान्तर से इसका कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु यह बात कहने से अनेक लोग डर जाते हैं। वे कहते हैं यह ठीक नहीं है। उनके पितामह आदि ने उन्हें जो यह बतला दिया था कि स्वर्ग के किसी स्थान पर बैठे हुए एक ईश्वर ने किसी व्यक्ति से कहा—मैं ईश्वर हूँ और वे उसीके सम्बन्ध में बौद्धिक माथापच्ची किये चले आ रहे हैं। उसी समय से केवल मत-मतान्तरों की आलोचना ही चल रही है। उनके मत में यही व्यावहारिक बात है—और हम लोगों का मत व्यावहारिक नहीं है। वेदान्त कहता है सब अपने अपने मार्ग पर चलें कोई हरज नहीं किन्तु मार्ग ही गन्तव्य नहीं है। किसी स्वर्गस्थ ईश्वर की उपासना करना आदि बुरा नहीं किन्तु ये सब केवल सत्य की दिशा में सोपान मात्र हैं साध्य सत्य नहीं। ये सब सुन्दर एवं शुभ हैं इनमें कुछ अद्भुत भाव हैं किन्तु वेदान्त पग पग पर कहता है बन्धु, तुम जिसको अज्ञात कहकर उपासना करते हो उसकी उपासना मैं तुम्हारे रूप में करता हूँ। जिसकी उपासना तुम अज्ञात कह कर करते हो और जिसकी खोज विश्व भर में कर रहे हो वह सदैव तुम्हारे पास ही रहा है। तुम उसीसे जीवित हो वह जगत् का नित्यसाक्षी है। 'सम्पूर्ण वेद जिसकी उपासना करते हैं' केवल यही नहीं जो नित्य 'मैं' में सदा वर्तमान है वह ही है उसके होने से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी है। वा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रकाश और प्राण है। यदि (वह) 'मैं' तुम्हारे भीतर न होते तुम सूर्य को भी न देख पाते सभी कुछ तुम्हारे लिए अन्धकारमय जड़राशि—शून्य के समान प्रतीत होता। वह प्रकाशमान है इसीलिए तुम जगत् को देख पाते हो।

इस विषय में साधारणतया एक प्रश्न पूछा जाता है और वह यह है कि इस विचार-धारा से बहुत गड़बड़ी हो जाने की सम्भावना है। हम सभी यह सोचेंगे कि मैं ईश्वर हूँ—जो कुछ मैं सोचता हूँ या करता हूँ वही अच्छा है—क्योंकि ईश्वर को भला पाप क्या? इसका उत्तर यह है कि पहले यदि इस प्रकार की विपरीत व्याख्याजन्य आपदा की सम्भावना मान भी ली जाय तब भी क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि दूसरे पक्ष में भी यही आपदा नहीं उत्पन्न होगी? लोग अपने से पृथक् स्वर्गस्थित ईश्वर की उपासना करते हैं उससे खूब डरते भी हैं। लोग भय से काँपते रहते हैं और सारा जीवन इसी प्रकार काँपते हुए बिता देते हैं। तो क्या दुनिया ऐसा मान लेने पर भी पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हो गयी है? तुम भी दूसरे से यही पूछ रहे न। विचार करो कि जो ईश्वर को सगुण मानकर उसकी उपासना करते हैं और जो उसे निर्गुण मान कर उसकी उपासना

करते है, इन दोनो मे से किसके सम्प्रदाय मे ससार के बडे बडे महापुरुष हो गये है? महान् कर्मयोगी—महा चरित्रवान्! निश्चय ही ऐसे महापुरुष निर्गुण साधको के बीच ही हुए है। भय से तुम नैतिकता के प्रस्फुटन की सभावना कैसे मान सकते हो? नही, कभी नही। "जहाँ एक दूसरे को देखता है, जहाँ एक दूसरे को सुनता है, वही माया है। जहाँ एक दूसरे को नही देखता, एक दूसरे को सुनता नही, जहाँ सर्व आत्ममय हो जाता है, वहाँ कौन किसे देखेगा, कौन किसे सुनेगा?" तब सभी 'वह' अथवा सभी 'मैं' हो जाता है। तब आत्मा पवित्र हो जाती है। तभी—और केवल तभी हम प्रेम किसे कहते हैं, यह समझ सकते है। डर मे क्या प्रेम हो सकता है? प्रेम की भित्ति है, स्वाधीनता। स्वाधीनता—मुक्तस्वभाव होने पर ही प्रेम होता है। जब हम लोग वास्तव मे जगत् को स्नेह करना प्रारम्भ करते हैं, तभी विश्वबन्धुत्व का अर्थ समझते हैं—अन्यथा नही।

इसलिए यह कहना उचित नही है कि इस निर्गुण मत से समस्त ससार मे भयानक पाप-धारा बह उठेगी, जैसे दूसरे मत से दुनिया कभी अन्याय की ओर गयी ही नही अथवा वह सारी दुनिया को रक्त से आप्लावित तथा मनुष्य को परस्पर टुकडे टुकडे कर डालनेवाली साम्प्रदायिकता की ओर कभी ले ही नही गया। वे कहते हैं, मेरा ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रमाण? आओ, हम दोनो लड ले—यही प्रमाण है। द्वैतवाद से यही गडबडी सारी दुनिया मे फैल गयी है। क्षुद्र और सकीर्ण रास्तो मे न जाकर प्रशान्त उज्ज्वल दिन के प्रकाश मे आओ। महान् अनन्त आत्मा सकीर्ण भावो मे कैसे बँधी रह सकती है? हमारे सम्मुख यह प्रकाशमय ब्रह्माण्ड है, इसकी प्रत्येक वस्तु हमारी है। अपनी बाहें फैलाकर सम्पूर्ण जगत् का प्रेमालिगन करने की चेष्टा करो। यदि कभी ऐसा करने की इच्छा हो, तभी समझो कि तुम्हे ईश्वर का अनुभव हुआ है।

बुद्धदेव के उपदेश का वह अश तुमको स्मरण होगा कि वे किस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे सर्वत्र ही प्रेम की भावना प्रवाहित कर देते थे, यहाँ तक कि चारो ओर वही महान् अनन्त प्रेम सम्पूर्ण विश्व मे छा जाता था। इसी प्रकार जब तुम लोगो का भी यही भाव होगा, तब तुम्हारा भी यथार्थ व्यक्तित्व प्रकट होगा। तभी सम्पूर्ण जगत् एक व्यक्ति बन जायगा—क्षुद्र वस्तुओ की ओर फिर मन नही जायगा। इस अनन्त सुख के लिए छोटी छोटी वस्तुओ का परित्याग कर दो। इन सब क्षुद्र सुखो से तुम्हे क्या लाभ होगा? और वास्तव मे तो तुम्हे इन छोटे छोटे सुखो को भी छोडना नही पडता, कारण, तुम लोगो को याद होगा कि सगुण निर्गुण के अन्तर्गत है, जो मैं पहले ही कह चुका हूँ। अतएव ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनो ही है। मनुष्य—अनन्तस्वरूप निर्गुण मनुष्य भी—अपने

को सगुण रूप मे व्यक्ति रूप मे देख रहा है मानो हम अनन्तस्वरूप होकर भी अपने को क्षुद्र रूपो मे सीमाबद्ध बना डालते है। वेदान्त कहता है असीमता ही हमारा सच्चा स्वरूप है वह कभी लुप्त नही हो सकती सदा रहेगी। किन्तु हम अपने कर्म द्वारा अपने को सीमाबद्ध कर डालते है और उसीने मानो हमारे गले मे शृखला डालकर हमें आबद्ध कर रखा है। शृखला तोड डालो और मुक्त हो जाओ। नियम को पैरो तले कुचल डालो। मनुष्य के प्रकृतस्वरूप मे कोई विधि नही कोई दैव नही कोई अदृष्ट नही। अनन्त मे विधान या नियम कैसे रह सकते है? स्वाधीनता ही इसका मूलमन्त्र है, स्वाधीनता ही इसका स्वरूप है—इसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पहले मुक्त बनो तब फिर जितने व्यक्तित्व रखना चाहो रखो। तब हम लोग रगमच पर अभिनेताओ के समान अभिनय करेंगे जैसे अभिनेता भिखारी का अभिनय करता है। उसकी तुलना गलियो मे भटकनेवाले वास्तविक भिखारी से करो। यद्यपि दृश्य दोनो ओर एक है वर्णन करने मे भी एक सा है किन्तु दोनो मे कितना भेद है! एक व्यक्ति भिक्षुक का अभिनय कर आनन्द ले रहा है और दूसरा सचमुच दु ख-कष्ट से पीडित है। ऐसा भेद क्यो होता है? कारण एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। अभिनेता जानता है कि उसका यह भिखारीपन सत्य नही है उसने यह केवल अभिनय के लिए स्वीकार किया है, किन्तु यथार्थ भिक्षुक जानता है कि यह उसकी चिरपरिचित अवस्था है एव उसकी इच्छा हो या न हो उसे यह कष्ट सहना ही पडेगा। उसके लिए यह अभेद्य नियम के समान है और इसीलिए उसे कष्ट उठाना ही पडता है। हम जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नही कर लेते तब तक हम लोग केवल भिक्षुक है, प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु ने ही हमे दास बना रखा है। हम सम्पूर्ण जगत् मे सहायता के लिए चीत्कार करते फिरते है—अन्त मे काल्पनिक सत्ताओ से भी हम सहायता मांगते है पर सहायता कभी नही मिलती तो भी हम सोचते है कि इस बार सहायता मिलेगी। इस प्रकार हम सर्वदा आशा लगाये बैठ रहते है। बस इसी बीच एक जीवन रोते कलपते आशा की लौ लगाये बीत जाता है और फिर वही खेल चलने लगता है।

स्वाधीन होओ किसी दूसरे से कुछ आशा न करो। मै यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएँ याद करो तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरो से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे किन्तु कभी पा नही सके जो कुछ सहायता मिली वह तुम्हारे अपने अन्दर से ही आयी थी। तुम स्वय जिसके लिए चेष्टा करते हो उसे ही फलरूप मे पाते हो तथापि कितना आश्चर्य है कि तुम सदैव ही दूसरे से सहायता की भीख मांगते रहते हो! धनियो की बैठक

सदा भरी ही रहती है, किन्तु यदि ध्यान दो तो देखोगे, सदा वे ही लोग वहाँ दिखायी नही पडेंगे। वे लोग सदैव आशा लगाये रहते है कि धनियो के पास से कुछ माँग कर लायेंगे, किन्तु ऐसा कर नही पाते। हमारा जीवन भी उसी प्रकार का है, हम केवल आशाएँ किये चले जा रहे हैं, उनका अन्त नही। वेदान्त कहता है, इसी आशा का परित्याग करो। क्यो आशा करते हो? तुम्हारे पास सब कुछ है। तुम्ही सब कुछ हो। तुम आत्मा हो, तुम सम्राटस्वरूप हो, तुम भला किसकी आशा करते हो? यदि राजा पागल होकर अपने देश मे 'राजा कहाँ है, राजा कहाँ है' कहकर खोजता फिरे, तो वह कभी राजा को नही पा सकता, क्योकि वह स्वय ही राजा है। वह अपने राज्य के प्रत्येक ग्राम मे, प्रत्येक नगर मे—यहाँ तक कि प्रत्येक घर मे खोज करे, खूब रोए-चिल्लाए फिर भी राजा का पता नही लग सकता, क्योकि वह व्यक्ति स्वय ही राजा है। इसी प्रकार हम लोग यदि जान सके कि हम ईश्वर है और इस अन्वेषणरूपी व्यर्थ चेष्टा को छोड सकें, तो बहुत ही अच्छा हो। इस प्रकार अपने को ईश्वरस्वरूप जान लेने पर ही हम सन्तुष्ट और सुखी हो सकते है। यह सब पागलो जैसी चेष्टा छोडकर जगत्‌रूपी मच पर एक अभिनेता के समान कार्य करते चलो।

इस प्रकार की अवस्था आने से हम लोगो की सम्पूर्ण दृष्टि परिवर्तित हो जाती है। अनन्त कारागारस्वरूप न होकर यह जगत् खेलने का स्थान बन जाता है। प्रतियोगिता की जगह न बनकर यह भौरो के गुजन से परिपूर्ण वसन्त काल का रूप धारण कर लेता है। पहले जो जगत् नरककुण्ड जैसा लगता था, वही अब स्वर्ग बन जाता है। बद्ध जीव की दृष्टि मे यह एक महायत्रणा का स्थान है, किन्तु मुक्त व्यक्ति की दृष्टि मे यही स्वर्ग है, स्वर्ग अन्यत्र नही है। एक ही प्राण सर्वत्र विराजित है। पुनर्जन्म आदि जो कुछ है, सब यही होता है। देवतागण सब यही हैं—वे मनुष्य के आदर्श के अनुसार कल्पित है। देवताओ ने मनुष्यो को अपने आदर्श के अनुसार नही बनाया, किन्तु मनुष्यो ने ही देवताओ की सृष्टि की है। इन्द्र, वरुण और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवता सब यही हैं। तुम्ही लोग अपने एक अश को बाहर प्रक्षिप्त करते हो, किन्तु वास्तव मे तुम्ही असली वस्तु हो—तुम्ही प्रकृत उपास्य देवता हो। यही वेदान्त का मत है और यही यथार्थ मे व्यावहारिक है। मुक्त होने पर उन्मत्त होकर समाज त्याग करने और जगलों अथवा गुफाओ मे जाकर मर जाने की आवश्यकता नही। तुम जहाँ हो वही रहोगे, किन्तु भेद इतना ही होगा कि तुम सम्पूर्ण जगत् का रहस्य समझ जाओगे। पहले देखी हुई समस्त वस्तुएँ जैसी की तैसी ही रहेगी, किन्तु उनका एक नवीन अर्थ समझने लगोगे। तुम अभी जगत् का स्वरूप नही जानते हो, केवल

मुक्त होने पर ही इसका स्वरूप जान सकोगे। तुम देखोगे कि यह तथाकथित विधि दैव या अदृष्ट हम लोगों की प्रकृति का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश मात्र है। यह हम लोगों की प्रकृति का केवल एक पहलू मात्र है, दूसरी दिशा में मुक्ति सदा विद्यमान रही है और हम लोग शिकारी द्वारा पीछा किये गये खरगोश के समान मिट्टी में अपना सिर छिपाकर अपने को अशुभ से बचाने की चेष्टा करते रहे हैं।

हम भ्रमवश अपना स्वरूप भूलने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वह एकदम भूला नहीं जा सकता—सदैव ही वह किसी न किसी रूप में हमारे सामने आता ही है। हम जिन देवता, ईश्वर आदि का अनुसन्धान करते हैं, बाह्य जगत् में स्वाधीनता पाने के लिए हम जो प्राणपण से चेष्टा करते रहते हैं, वह सब और कुछ नहीं—हम लोगों की मुक्त प्रकृति ही मानो किसी न किसी रूप में अपने को प्रकाशित करने का यत्न कर रही है। कहाँ से यह आवाज आ रही है, यह जानने में हम लोगों ने भूल की है। हम लोग पहले सोचते हैं, यह आवाज अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा अथवा *किसी देवता से आती है—अन्त में हम लोग देखते हैं कि यह तो हम लोगों के अन्दर* ही है। यह वही अनन्त वाणी अनन्त मुक्ति का समाचार देती है। यह संगीत अनन्त काल से चला आ रहा है। आत्म-संगीत का कुछ अंश इस नियमाबद्ध ब्रह्माण्ड, इस पृथ्वी के रूप में परिणत हुआ है, किन्तु यथार्थतः हम लोग आत्मस्वरूप हैं और चिरकाल तक आत्मस्वरूप ही रहेंगे। एक शब्द में वेदान्त का आदर्श है—मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप में जानना, और उसका सन्देश है कि यदि तुम अपने भाई मनुष्य की, व्यक्त ईश्वर की उपासना नहीं कर सकते, तो उस ईश्वर की कल्पना कैसे कर सकोगे जो अव्यक्त है?

क्या तुम लोगों को बाइबिल का वह कथन याद नहीं है, यदि तुम अपने भाई को, जिसे तुम देख रहे हो, प्यार नहीं कर सकते, तो ईश्वर को, जिसे तुमने कभी नहीं देखा, भला कैसे प्यार कर सकोगे? यदि तुम ईश्वर को मनुष्य के मुख में नहीं देख सकते, तो उसे मेघ अथवा अन्य किसी मृत जड़ पदार्थ में अथवा अपने मस्तिष्क की कल्पित कथाओं में कैसे देखोगे? जिस दिन से तुम नर-नारियों में ईश्वर देखने लगोगे, उसी दिन से मैं तुम्हें धार्मिक कहूँगा, और तभी तुम लोग समझोगे कि दाहिने गाल पर थप्पड़ मारने पर मारनेवाले के सामने बायाँ गाल फिराने का क्या अर्थ है। जब तुम मनुष्य को ईश्वररूप में देखोगे, तब सभी वस्तुओं का, यहाँ तक कि यदि तुम्हारे पास बाघ तक आ जाय तो उसका भी तुम स्वागत करोगे। जो कुछ तुम्हारे पास आता है, वह सब अनन्त आनन्दमय प्रभु का भिन्न भिन्न रूप ही है—वे ही हमारे माता, पिता, बन्धु और सन्तान हैं। वे हमारी अपनी आत्मा ही हैं, जो हमारे साथ खेल रही है।

जिस तरह इस प्रकार मनुष्य के साथ हमारे सम्बन्धो को ईश्वरभावापन्न बनाया जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वर से हमारा सम्बन्ध भी इनमे से कोई रूप ले सकता है और हम उसे अपना पिता, माता, मित्र, प्रियतम कुछ भी मान सकते हैं। भगवान् को पिता कहने की अपेक्षा एक और उच्चतर भाव है—उन्हे 'माता' कहना। फिर इससे भी एक पवित्रतर भाव है—उन्हे 'सखा' कहना। उसकी अपेक्षा एक और श्रेष्ठ भाव है—उन्हे अपना प्रेमास्पद कहना। प्रेम और प्रेमास्पद मे कुछ भेद न देखना ही सर्वोच्च भाव है। तुम लोगो को वह प्राचीन फारसी कहानी याद होगी। एक प्रेमी ने आकर अपने प्रेमास्पद के घर का दरवाजा खटखटाया। प्रश्न हुआ, "कौन है?" वह बोला, "मैं"। द्वार नही खुला। दुबारा फिर उसने कहा, "मैं आया हूँ", पर द्वार फिर भी न खुला। तीसरी बार वह फिर आया, प्रश्न हुआ, "कौन है?" तब उसने कहा, "प्रेमास्पद, मैं तुम हूँ", तब द्वार खुल गया। भगवान् और हमारे बीच सम्बन्ध भी ठीक ऐसा ही है, वे सब मे हैं और वे ही सब कुछ हैं। प्रत्येक नरनारी ही वही प्रत्यक्ष जीवन्त आनन्दमय एकमात्र ईश्वर है। कौन कहता है, ईश्वर अज्ञात है, कौन कहता है उसे खोजना पडेगा? हमने उसे अनन्त काल के लिए पाया है। हम उसीमे अनन्त काल तक रहते हैं—वह सर्वत्र अनन्त काल के लिए ज्ञात है और वही अनन्त काल से उपासित हो रहा है।

एक और बात इसी प्रसग मे जाननी होगी। वेदान्त कहता है—दूसरे प्रकार की उपासनाएँ भी भ्रमात्मक नही हैं। यह कभी न भूलना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड द्वारा भगवत्-उपासना करते हैं—हम इन कर्मों को चाहे कितना ही अनुपयोगी क्यो न मानें—वे लोग वास्तव मे भ्रान्त नही हैं, क्योकि लोग सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर आगे बढते हैं। अन्धकार कहने से समझना चाहिए, स्वल्प प्रकाश, बुरा कहने से समझना चाहिए, थोडा अच्छा, अपवित्रता कहने से समझना चाहिए, स्वल्प पवित्रता। अतएव हमे दूसरो को प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। हम लोग जिस रास्ते पर चल आये हैं, वे भी उसी रास्ते से चल रहे हैं। यदि तुम वास्तव मे मुक्त हो, तो तुम्हे अवश्य ही यह समझना चाहिए कि वे भी आगे-पीछे मुक्त होगे। और जब तुम मुक्त ही हो गये, तो फिर जो अनित्य है, उसे तुम किस प्रकार देख पाओगे? यदि तुम वास्तव मे पवित्र हो, तो तुम्हे अपवित्रता कैसे दिखायी दे सकती है? क्योकि जो भीतर है, वही बाहर दीख पडता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त की यह भी एक साधना है। आशा है, हम लोग सभी जीवन मे इसको व्यवहार मे लाने की

चेष्टा करेंगे। इसका अभ्यास करने के लिए सारा जीवन पड़ा है किन्तु इन सब विचारो की आलोचना से हमे यह ज्ञात हुआ है कि अशान्ति और असन्तोष के बदले हम शान्ति और सन्तोष के साथ कार्य करें क्योंकि हमने जान लिया है कि सत्य हमारे अन्दर है—यह हमारा जन्मजात अधिकार है। हमारे लिए आवश्यक है केवल उसको प्रकाशित करना प्रत्यक्ष बनाना और अनुभव करना।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

तृतीय भाग

(१७ नवम्बर, १८९६ ई० को लन्दन मे दिया हुआ व्याख्यान)

छान्दोग्य उपनिपद् मे हम पढते है कि देवर्षि नारद ने एक समय सनत्कुमार के पास आकर अनेक प्रश्न पूछे, जिनमे एक यह था कि वस्तुएँ जैसी है, क्या उसका कारण धर्म है? सनत्कुमार उन्हे सोपानारोहण न्याय के अनुसार धीरे धीरे पृथ्वी आदि तत्त्वो से ले जाते हुए अन्त मे आकाश तत्त्व पर जा पहुँचे। 'आकाश तेज से भी श्रेष्ठ है, कारण, आकाश मे ही चन्द्र, सूर्य, विद्युत, नक्षत्र आदि सभी कुछ वर्तमान हैं। आकाश मे ही हम जीवन धारण करते है, आकाश मे ही मरते है।' अब प्रश्न यह है कि क्या आकाश से भी कुछ श्रेष्ठ है? सनत्कुमार ने कहा, 'प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है।' वेदान्त मत मे यह प्राण ही जीवन का मूल तत्त्व है। आकाश के समान यह भी एक सर्वव्यापी तत्त्व है, और हमारे शरीर मे अथवा अन्यत्र जो भी गति दिखायी पडती है, वह सभी प्राण का कार्य है। प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है। प्राण के द्वारा ही सभी वस्तुएँ जीवित रहती है, प्राण माता मे, प्राण पिता मे, प्राण भगिनी मे, प्राण आचार्य मे है, और प्राण ही ज्ञाता है।

मैं इसी उपनिषद् मे से एक अश और पढूँगा। श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि से सत्य के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है। पिता ने उसे अनेक विपयो की शिक्षा देकर अन्त मे कहा, "इन सब वस्तुओ का जो सूक्ष्म कारण है, उसीसे ये सब बनी है, यही सब कुछ है, यही सत्य है, हे श्वेतकेतु, तुम भी वही हो।" तदनन्तर उन्होंने अनेक उदाहरण दिये, "हे श्वेतकेतु, जिस प्रकार मधुमक्षिका विभिन्न पुष्पो से मधु सचय कर एकत्र करती है एव ये विभिन्न मधुकण जिस प्रकार यह नही जानते कि वे किस वृक्ष और किस पुष्प से आये हैं, उसी प्रकार हम सब उसी सत् से आकर भी उसे भूल गये हैं। जो सब का सूक्ष्म सार-तत्त्व है, उसीमे समस्त सत्तावान् पदार्थो की आत्मा है। वही सत् है। वही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु, तुम वही हो। जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ समुद्र मे मिल जाने के बाद नही जान पाती कि वे कभी विभिन्न नदियाँ थी, वैसे ही हम सब उसी सत्स्वरूप से आकर भी यह नही जानते कि हम वही हैं। हे श्वेतकेतु, तुम वही हो।" इस प्रकार पिता ने पुत्र को उपदेश दिया।

सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो मूल सूत्र है। एक सूत्र तो यह है कि विशेष को सामान्य से और सामान्य को सर्वव्यापी तत्त्व की पृष्ठभूमि में जानना। दूसरा सूत्र यह है कि यदि किसी वस्तु की व्याख्या करनी हो तो जहाँ तक हो सके उसी वस्तु के स्वरूप से उसकी व्याख्या करना। पहले सूत्र के आधार पर हम देखते है कि हमारा सारा ज्ञान वास्तव में उच्च से उच्चतर होनेवाला वर्गीकरण मात्र है। जब कोई घटना अकेली घटती है तो मानो हम असन्तुष्ट रहते हैं। जब यह दिखा दिया जाता है कि वही एक घटना बार बार घटती है, तब हम सन्तुष्ट होते हैं और उसे 'नियम' कहते है। जब हम एक पत्थर या सेब को जमीन पर गिरते देखते है तब हम कोस असन्तुष्ट रहते है। किन्तु जब जानते हैं कि सभी सेब गिरते हैं, तो हम उसे गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं और सन्तुष्ट हो जाते है। हम विशेष से सामान्य का अनुमान करते है।

धर्म का अनुशीलन करने में हमें इसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। वही सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है, और तथ्य यह है कि इसी पद्धति का उपयोग सर्वदा होता आया है। इन उपनिषदों में भी, जिनका अनुवाद मैं तुमको सुनाता रहा हूँ, मुझे विशेष से सामान्य की ओर जाने का सिद्धान्त सर्वप्रथम मिलता है। हम इनमें देखते है कि किस प्रकार देवगण क्रमशः एक ही तत्त्व में विलीन हो जाते है; समग्र विश्व की धारणा में भी ये प्राचीन विचारक क्रमशः उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर होते हैं—वे सूक्ष्म तत्त्वों से सूक्ष्मतर तथा अधिक व्यापक तत्त्वों की ओर बढ़ते है, इन विशेषों से अन्त में एक सर्वव्यापी आकाश तत्त्व प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से भी आगे बढ़कर वे प्राण नामक सर्वव्यापिनी शक्ति में आ जाते हैं और इन सभी में सर्वत्र यह सिद्धान्त विद्यमान रहता है कि कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुओं से अलग नहीं है। आकाश ही सूक्ष्मतर रूप में प्राण है और प्राण ही स्थूल बनकर आकाश होता है तथा आकाश स्थूल से स्थूलतर हो जाता है, इत्यादि इत्यादि।

सगुण ईश्वर का सामान्यीकरण भी इसी मूल सूत्र का एक अन्य उदाहरण है। हमने अभी ही देखा है कि सगुण ईश्वर के सामान्य भाव की प्राप्ति किस प्रकार हुई और उसे सम्पूर्ण ज्ञान का समष्टि-स्वरूप समझा गया। किन्तु उसमें एक बाधा उठती है कि यह तो पर्याप्त सामान्यीकरण नहीं हुआ। हमने प्राकृतिक घटनाओं की एक दिशा अर्थात् ज्ञान की दिशा लेकर ही सामान्यीकरण किया और सगुण ईश्वर तक आ पहुँचे, किन्तु शेष प्रकृति तो छूट ही गयी। अतएव पहले तो यह सामान्यीकरण ही अपूर्ण हुआ। दूसरे, इसमें एक और भी अपूर्णता है, जिसका सम्बन्ध दूसरे सूत्र से है। प्रत्येक वस्तु की उसके स्वरूप ही से व्याख्या करनी चाहिए। एक समय लोग मानते थे कि जमीन पर गेंद या कोई भूत खींच लेता है, किन्तु

वास्तव मे यह शक्ति गुरुत्वाकर्षण की है। और यद्यपि हम यह जानते है कि केवल यही इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नही है, पर यह निश्चित है कि यह पहली व्याख्या मे श्रेष्ठ है, कारण पहली व्याख्या वस्तु के बाहर एक कारण की स्थापना करती है, और दूसरी उसके स्वभाव से सिद्ध होती है। इस प्रकार हम लोगो के सारे ज्ञान के सम्बन्ध मे जो व्याख्या वस्तु के स्वभाव से सिद्ध है, वह वैज्ञानिक है और जो व्याख्या वस्तु के बाहर स्थित कारण से सिद्ध होती है, वह अवैज्ञानिक है।

अत जगत् के सृष्टिकर्ता के रूप मे सगुण ईश्वर की व्याख्या की भी परीक्षा इस सूत्र से होनी चाहिए। यदि यह ईश्वर प्रकृति के बाहर है और प्रकृति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है तथा यदि यह प्रकृति शून्य मे से, उस ईश्वर की आज्ञा से बनती है, तब तो यह मत अत्यन्त अवैज्ञानिक हुआ, और यह प्रत्येक सगुण ईश्वरवादी धर्म का एक दुर्बल स्थल प्रत्येक युग मे रहा है। ये दोनो दोष हमे सामान्यतया एकेश्वरवादी कहे जानेवाले सिद्धान्त से मिलते हैं, इसके अनुसार सगुण ईश्वर मे मनुष्य के ही सारे गुण—परिमाण मे बहुत गुने—होते है, इस ईश्वर ने जगत् की सृष्टि शून्य से अपने सकल्प द्वारा की, और वह जगत् से फिर भी पृथक् है। इसीसे ये दो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि एक तो यह पर्याप्त सामान्यीकरण नही है, दूसरे, यह वस्तु की स्वभावसिद्ध व्याख्या भी नही है। यह कार्य को कारण से भिन्न बताता है। किन्तु मनुष्य का सारा ज्ञान यही बतलाता है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है। आधुनिक विज्ञान के सम्पूर्ण आविष्कार इसी ओर सकेत करते है और सर्वत्र स्वीकृत विकासवाद का तात्पर्य भी यही है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है, कारण का ही पुनर्समायोजन है और कारण ही कार्य का रूप ले लेता है। आधुनिक वैज्ञानिक तो शून्य से सृष्टि-रचना के सिद्धान्त की हँसी उड़ाते है।

धर्म क्या पूर्वोक्त दोनो परीक्षाओ मे सफल हो सकता है? यदि कोई धार्मिक सिद्धान्त इन दो परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हो जाय, तो उसीको आधुनिक विचारशील मानस ग्राह्य मान सकेगा। यदि पुरोहित, चर्च अथवा किसी शास्त्र के प्रमाण के बल पर किसी मत मे विश्वास करने के लिए कहा जाय, तो आजकल के लोग उसमे विश्वास नही कर सकते, इसका फल होगा—घोर अविश्वास। जो बाहर से देखने पर पूर्ण विश्वासी मालूम पड़ते हैं, वे अन्दर से देखने पर घोर अविश्वासी निकलते हैं। शेष लोग धर्म को एकदम छोड़ देते हैं, उससे दूर भागते है, उसे पुरोहितो का प्रपच मात्र समझते हैं।

धर्म भी अब एक राष्ट्रीय रूप मे अपगत हो गया है। 'वह हमारे प्राचीन समाज का एक महान उत्तराधिकार है, अतएव उसे रहने दो।' लेकिन आज के

सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के दो मूल सूत्र हैं। एक सूत्र तो यह है कि विशेष को सामान्य से और सामान्य को सर्वव्यापी तत्त्व की पृष्ठभूमि में जानना। दूसरा सूत्र यह है कि यदि किसी वस्तु की व्याख्या करनी हो तो जहाँ तक हो सके उसी वस्तु के स्वरूप से उसकी व्याख्या करना। पहले सूत्र के आधार पर हम देखते हैं कि हमारा सारा ज्ञान वास्तव में उच्च से उच्चतर होनेवाला वर्गीकरण मात्र है। जब कोई घटना अकेली घटती है तो मानो हम असन्तुष्ट रहते हैं। जब यह दिखा दिया जाता है कि वही एक घटना बार बार घटती है तब हम सन्तुष्ट होते हैं और उसे 'नियम' कहते हैं। जब हम एक पत्थर या सेब को जमीन पर गिरते देखते हैं तब हम लोग असन्तुष्ट रहते हैं। किन्तु जब देखते हैं कि सभी सेब गिरते हैं तो हम उसे गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं और सन्तुष्ट हो जाते हैं। हम विशेष से सामान्य का अनुमान करते हैं।

धर्म का अनुशीलन करने में हमें इसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना चाहिए। वही सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है और तथ्य यह है कि इसी पद्धति का उपयोग सर्वदा होता आया है। इन उपनिषदों में भी जिनका अनुवाद मैं तुमको सुनाता रहा हूँ मुझे विशेष से सामान्य की ओर जाने का सिद्धान्त सर्वप्रथम मिलता है। हम इनमें देखते हैं कि किस प्रकार देवगण क्रमशः एक ही तत्त्व में विलीन हो जाते हैं समग्र विश्व की धारणा में भी ये प्राचीन विचार क्रमशः उच्च से उच्चतर की ओर अग्रसर होते हैं—वे सूक्ष्म तत्त्वों से सूक्ष्मतर तथा अधिक व्यापक तत्त्वों की ओर बढ़ते हैं इन विशेषों से अन्त में एक सर्वव्यापी आकाश तत्त्व प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से भी आगे बढ़कर वे प्राण नामक सर्वव्यापिनी शक्ति में आ जाते हैं और इन सभी में सर्वत्र यह सिद्धान्त विद्यमान रहता है कि कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुओं से अलग नहीं है। आकाश ही सूक्ष्मतर रूप में प्राण है और प्राण ही स्थूल बनकर आकाश होता है तथा आकाश स्थूल से स्थूलतर हो जाता है, इत्यादि इत्यादि।

सगुण ईश्वर का सामान्यीकरण भी इसी मूल सूत्र का एक अन्य उदाहरण है। हमने पहले ही देखा है कि सगुण ईश्वर के सामान्य भाव की प्राप्ति किस प्रकार हुई और उस सम्पूर्ण ज्ञान का समष्टि-स्वरूप समझा गया। किन्तु उसमें एक बाधा उठती है कि यह तो पर्याप्त सामान्यीकरण नहीं हुआ। हमने प्राकृतिक घटनाओं की एक दिशा अर्थात् ज्ञान की दिशा लेकर यह सामान्यीकरण किया और सगुण ईश्वर तक आ पहुँचे किन्तु शेष प्रकृति तो छूट ही गयी। अतएव पहले तो यह सामान्यीकरण ही अपूर्ण हुआ दूसरे, इसमें एक और भी अधूरापन है जिसका सम्बन्ध दूसरे सूत्र से है। प्रत्येक वस्तु की उसके स्वरूप ही से व्याख्या करनी चाहिए। एक समय लोग सोचते थे कि जमीन पर सेब का कोई भूत नीचे खींच लेता है किन्तु

एक ही है। वह एक ही वस्तु इन सब विविध रूपो मे प्रतीत होती है। अद्वैतवादियो की चिरपरिचित उपमा रज्जु के ही सर्पाकार प्रतीत होने की लो। अन्धेरे से अथवा अन्य किसी कारणवश लोग रस्सी को ही साँप समझ लेते है, किन्तु ज्ञानोदय होने पर सर्प-भ्रम नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही दिखायी पडती है। इस उदाहरण द्वारा हम यह भली भाँति समझ सकते हैं कि मन मे जब सर्पज्ञान रहता है, तव रज्जुज्ञान नही रहता और जव रज्जुज्ञान रहता है, तब सर्पज्ञान नही टिकता। जब हम व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, तब पारमार्थिक सत्ता नही रहती और जब हम उस अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता को देखते हैं, तो निश्चय ही फिर व्यावहारिक सत्ता प्रतीत नही होती। अब हम प्रत्यक्षवादी और विज्ञानवादी (idealist)—इन दोनो के मत खूब स्पष्ट रूप से समझ रहे है। प्रत्यक्षवादी केवल व्यावहारिक सत्ता देखता है और विज्ञानवादी पारमार्थिक सत्ता देखने की चेष्टा करता है। प्रकृत विज्ञानवादियो के लिए, जो अपरिणामी सत्ता का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, फिर परिणामशील जगत् का अस्तित्व नही रह जाता। उन्हीको यह कहने का अधिकार है कि समस्त जगत् मिथ्या है और परिणाम नामक कोई चीज नही है। किन्तु प्रत्यक्षवादी केवल परिणामशील की ओर ही दृष्टि रखते हैं। उनके लिए अपरिणामी सत्ता नाम की कोई वस्तु है ही नही, अतएव उन्हे जगत् को सत्य कहने का अधिकार है।

इस विचार का फल क्या हुआ? फल यही हुआ कि ईश्वर के विषय मे सगुण धारणा करना ही पर्याप्त नही। हम लोगो की और भी उच्चतर धारणा अर्थात् निर्गुण की धारणा करनी चाहिए। यही तर्कसगत सोपान है, जिस पर हम आगे वढ सकते हैं। उसके द्वारा सगुण धारणा नष्ट हो जायगी, ऐसी वात नही। हमने यह नही प्रमाणित किया कि सगुण ईश्वर नही है, वरन् हमने यही दिखाया है कि सगुण की व्याख्या के लिए हमे निर्गुण को स्वीकार करना ही पडेगा, क्योकि निर्गुण सगुण की अपेक्षा अधिक व्यापक-सामान्य है। केवल निर्गुण ही असीम हो सकता है, सगुण ससीम है। इस प्रकार हम सगुण को सुरक्षित रखते हैं, उसे नष्ट नही करते। वहुधा हमे यह शका होती है कि निर्गुण ईश्वर मानने पर सगुण भाव नष्ट हो जायगा, निर्गुण जीवात्मा मानने पर सगुण जीवात्मा का भाव नष्ट हो जायगा। किन्तु वेदान्त से वास्तव मे व्यक्ति का विनाश न होकर उसकी सच्ची रक्षा होती है। हम उस अनन्त सामान्य से सम्वन्ध जोडे विना, यह सिद्ध किये विना कि यह व्यक्ति वस्तुत अनन्त है, व्यक्ति के अस्तित्व को किसी प्रकार भी प्रमाणित नही कर सकते। यदि हम व्यक्ति को सम्पूर्ण जगत् से पृथक् मानकर सोचने की चेष्टा करें, तो उसकी स्थिति क्षण भर के लिए भी नही हो सकती। ऐसी कोई वस्तु कभी हुई ही नही।

मानव के पूरक उसके प्रति जिस सच्ची आवश्यकता का अनुभव करते थे वह नष्ट हो गयी। लोगो को अब यह बुद्धि-सगत नहीं जान पड़ता। इस प्रकार की सगुण ईश्वर और सृष्टि की धारणा जिसे द्वैत धर्म म एकेश्वरवाद कहते हैं अब चल नहीं सकती। भारत में बौद्ध धर्म के प्रभाव स यह अधिक बढ़ा भी नहीं और इसी विषय म बौद्धा न प्राचीन काल म अपनी विजय-श्री उपलब्ध की थी। बौद्धो ने यह प्रमाणित कर दिखाया था कि यदि प्रकृति को अनन्त शक्तिसम्पन्न मान लिया जाय और यदि प्रकृति अपने अभावो की पूर्ति स्वयं ही कर सकती है, तो प्रकृति के अतीत और भी कुछ है, यह मानना अनावश्यक है। आत्मा के अस्तित्व को मानने का भी कोई प्रयोजन नहीं है।

द्रव्य और गुण के विषय पर प्राचीन काल से ही वाद-विवाद चलता आ रहा है। इस समय भी वही प्राचीन अन्धविश्वास चला आ रहा है। मध्यकालीन यूरोप मे यहाँ तक कि मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है उसके बहुत दिनों बाद भी यही एक विशेष विचारणीय विषय था कि गुण द्रव्याश्रित है अथवा द्रव्य गुणाश्रित? लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्या जड़ पदार्थ नामक द्रव्यविशेष के आश्रित हैं? और इन गुणा क न रहने पर भी द्रव्य का अस्तित्व रहता है या नहीं? बौद्ध लोग कहते हैं कि इस प्रकार के किसी द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है केवल इन गुणा का ही अस्तित्व है। इन गुणो के अतिरिक्त तुम और कुछ नहीं देख पाते। *अधिकांश आधुनिक अज्ञेयवादियो का भी यही मत है, क्योंकि इसी द्रव्य* गुण-विचार को कुछ और ऊँचा ले जाओ तो यही विवाद व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता का विवाद बन जाता है। हमारे सम्मुख यह दृश्य जगत्—नित्य परिणामशील जगत् है और इसीके साथ ऐसी कोई वस्तु है, जिसमे कभी परिणाम नहीं होता। कुछ लोग इन दो सत्ताओ को सत्य मानते हैं। किन्तु अन्य लोग अधिक प्रमाण के साथ कहते हैं कि हमें इन दोनो पदार्थों के मानने का कोई अधिकार नहीं क्योंकि हम जो कुछ देखते हैं अनुभव करते हैं अथवा सोचते हैं वह केवल दृश्य जगत् है। दृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के मानने का तुम्हें अधिकार नहीं। इस तर्क का उत्तर कोई भी नहीं है। केवल वेदान्त का अद्वैतवाद ही हमें इसका उत्तर देता है। यह सत्य है कि एक ही वस्तु का अस्तित्व है और वह या तो पारमार्थिक है, या व्यावहारिक। वह दृश्य के रूप में प्रकाशित होती है। यह कहना ठीक नहीं कि सत्ताएँ दो हैं—एक परिणामशील वस्तु, और उसीके अन्दर अपरिणामी वस्तु। वरन् वही एक वस्तु है, जो परिणामशील प्रतीत होती है, लेकिन वास्तव म अपरिणामी है।

हम लोग देह, मन आत्मा आदि को अनेक मान लेते हैं, किन्तु वास्तव मे सत्ता

आज प्रधानत यूरोप मे यह जितना स्पष्ट देखा जाता है, उतना और कहीं भी नही।

इन प्रतिभाशाली व्यक्तियो को अपने मे रखने के लिए धर्म का उदार भावापन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म जो भी दावा करता है, तर्क की कसौटी पर उन सबकी परीक्षा करना आवश्यक है। धर्म यह दावा क्यो करता है कि वह तर्क द्वारा परीक्षित होना नही चाहता, यह कोई नही बतला सकता। तर्क के मानदण्ड के बिना किसी भी प्रकार का यथार्थ निर्णय—धर्म के सबध मे भी—नही दिया जा सकता। धर्म कुछ बीभत्स करने की आज्ञा दे सकता है। जैसे, इसलाम मुसलमानो को विधर्मियो की हत्या करने की आज्ञा देता है। कुरान मे स्पष्ट लिखा है, 'यदि विधर्मी इसलाम ग्रहण न करें, तो उन्हे मार डालो। उन्हे तलवार और आग के घाट उतार दो।' अब यदि हम किसी मुसलमान से कहे कि यह गलत है, तो वह स्वभावत पूछेगा, "तुम कैसे जानते हो कि यह अच्छा है या बुरा ? हमारा शास्त्र कहता है कि यह सत्कार्य है।" यदि तुम कहो कि हमारा शास्त्र प्राचीन है, तो बौद्ध लोग कहेगे कि उनका शास्त्र तुम्हारे से भी पुराना है और हिन्दू कहेगे कि उनका शास्त्र सभी की अपेक्षा प्राचीनतम है। अतएव शास्त्र की दुहाई देने से काम नही चल सकता। वह प्रतिमान कहाँ है, जिमसे तुम अन्य सबकी तुलना कर सको ? तुम कहोगे, ईसा का 'शैलोपदेश' देखो, मुसलमान कहेगे, 'कुरान का नीतिशास्त्र' देखो। मुसलमान कहेगे, इन दोनो मे कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय कौन करेगा, कौन मध्यस्थ बनेगा ? बाइबिल और कुरान मे जब विवाद हो, तो यह निश्चय है कि उन दोनो मे से तो कोई मध्यस्थ नही बन सकता। कोई स्वतत्र व्यक्ति उनका मध्यस्थ हो तो अच्छा हो। यह कार्य किसी ग्रन्थ द्वारा नही हो सकता, किसी सार्वभौमिक तत्त्व द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि से अधिक सार्वभौमिक पदार्थ और कोई नही है। कहा जाता है, बुद्धि पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न नही है, इससे सत्य की प्राप्ति मे सदैव सहायता नही मिलती। प्राय वह भूलें करती है, अत हमे किसी न किसी धर्मसघ की प्रामाणिकता मे विश्वास करना चाहिए। ऐसा मुझसे एकबार एक रोमन कैथलिक ने कहा था। किंतु मेरी समझ मे यह युक्ति नही आयी। मैं कहूँगा कि यदि बुद्धि दुर्बल है, तो पुरोहित-सम्प्रदाय और भी दुर्बल होगे। मैं उन लोगो की बात सुनने की अपेक्षा बुद्धि की बात सुनना अधिक पसन्द करूँगा, क्योकि, बुद्धि मे चाहे जितना दोष क्यो न हो, उससे कुछ न कुछ सत्यलाभ की सम्भावना तो है, किन्तु दूसरी ओर तो किसी सत्य को पाने की आशा ही नही है।

अतएव हम लोगो को बुद्धि का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगो से

दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त द्वितीय तत्त्व के फलस्वरूप हम और भी साहसिक और दुर्बोध्य तत्त्व-विचार में पड़ जाते हैं। और वह इससे किंचित भी कम नहीं है कि यदि समस्त वस्तुओं की व्याख्या उनके स्वरूप से की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वही निर्गुण पुरुष—हमारा सर्वोच्च सामान्य—हम लोगों के अन्दर ही है और वास्तव में हम वही हैं। हे श्वेतकेतो तत्त्वमसि—तुम वही हो। तुम्ही वह निर्गुण पुरुष हो तुम्ही वह ईश्वर हो जिसे तुम समस्त जगत् में ढूँढ़ते फिरे हो, तुम स्वयं हो। किन्तु 'तुम' यहाँ 'व्यक्ति' के अर्थ में नहीं वरन् निर्गुण के अर्थ में प्रयुक्त है। जिस मनुष्य को हम जानते हैं जिसे हम व्यक्त देख रहे हैं, वह व्यष्टीकृत है किन्तु उसकी वास्तविकता निर्गुण है। इस सगुण को हमें निर्गुण के द्वारा समझना होगा विशेष को सामान्य के द्वारा जानना होगा। वह निर्गुण सत्ता ही सत्य है—वही मनुष्य की आत्मा है।

इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठेंगे। मैं क्रमशः उनका उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। बहुत सी कठिनाइयाँ भी उठेंगी किन्तु उनकी मीमांसा करने के पहले आओ हम अद्वैतवाद की स्थिति समझ लेने का प्रयत्न करें। अद्वैतवाद कहता है कि व्यक्त जीवरूप में हम मानो अलग अलग होकर रहते हैं किन्तु वास्तव में हम सब एक ही सत्यस्वरूप हैं और हम अपने को उससे जितना कम पृथक समझेंगे उतना ही हमारा कल्याण होगा। इसके विपरीत हम लोग इस समष्टि से अपने को जितना अलग समझते हैं उतना ही दु:खी होते हैं। इसी अद्वैतवादी सिद्धान्त से हमें नैतिकता का आधार मिलता है और मेरा यह दावा है कि और किसी मत से हमें कोई भी नैतिकता नहीं मिलती। हम जानते हैं कि नैतिकता की सबसे पुरानी धारणा यह थी कि किसी पुरुषविशेष अथवा कुछ विशिष्ट पुरुषों की जो इच्छा हो वही नैतिकता है। अब इसे मानने को कोई भी तैयार नहीं क्योंकि वह आंशिक व्याख्या मात्र है। हिन्दू कहते हैं अमुक कार्य करना ठीक नहीं क्योंकि वेदों में उसका निषेध है किन्तु ईसाई वेदों का प्रमाण क्यों मानेंगे? ईसाई लोग कहते हैं, यह मत करो वह मत करो क्योंकि बाइबिल में यह सब करना मना है। जो बाइबिल नहीं मानते वे इसका अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं है। अत हम लोगों को एक ऐसा तत्त्व खोजना पड़ेगा जो इन अनेक प्रकार के भावों का समन्वय कर सके। जैसे लाखों व्यक्ति सगुण सृष्टिकर्ता में विश्वास करने को तैयार है, वैसे ही इस दुनिया में हजारों ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी है, जिन्हें ये सब धारणाएँ पर्याप्त नहीं जान पड़ती वे इससे कुछ ऊँची वस्तु चाहते हैं और जब जब धर्म इन मनीषियों को अपने में समाहित कर सकने की सीमा तक उदार नहीं रहा तब तब समाज के ये उज्ज्वलतम रत्न धर्म के बाहर ही रहे। और

दायक। लोगो को धर्म तो सान्त्वना देनेवाला चाहिए, और हम लोग भी समझ सकते हैं कि उनके लिए इसकी ज़रूरत है। बहुत कम लोग सत्य का निर्मल प्रकाश सहन कर सकते हैं, उसके अनुसार जीवन बिताना तो बहुत दूर की बात है। अतएव इस सान्त्वना देनेवाले धर्म की भी आवश्यकता है, समय आने पर यही बहुतो को उच्चतर धर्मलाभ मे सहायता करता है। उन अल्पबुद्धि लोगो के निर्माण के लिए, जिनका विचार-क्षेत्र अत्यत सकुचित है, और जो विचार-जगत् मे ऊँची उडानें भरने का साहस नही कर सकते, ऐसी छोटी छोटी वस्तुएँ आवश्यक हैं। उन लोगो के लिए छोटे छोटे देवताओ और प्रतीको की धारणाएँ उत्तम और उपकारी हैं। किन्तु तुम्हे निर्गुणवाद भी समझना होगा, क्योकि इस निर्गुणवाद के आलोक मे ही अन्य सिद्धातो को समझा जा सकता है। सगुणवाद को ही उदाहरणस्वरूप लो। जॉन स्टुअर्ट मिल ईश्वर का निर्गुणवाद समझते हैं और उसमे विश्वास भी करते हैं—वे कहते हैं, सगुण ईश्वर को प्रमाणित नही किया जा सकता, वह असभव है। मैं इस विषय मे उनके साथ एकमत हूँ, फिर भी, मैं कहता हूँ कि मनुष्य-बुद्धि से निर्गुण की जितनी दूर तक धारणा की जा सके, वही सगुण ईश्वर है। और वास्तव मे निर्गुण की इन विभिन्न धारणाओ के सिवा यह जगत् है ही क्या? वह मानो हम लोगो के सामने एक खुली पुस्तक है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उसका पाठ कर रहा है और प्रत्येक को स्वय ही उसका पाठ करना पडता है। सभी मनुष्यो की बुद्धि मे कुछ बातें समान हैं, इसीलिए मानवता की बुद्धि को कुछ वस्तुएँ एकरूप सी जान पडती हैं। हम तुम दोनो ही एक कुर्सी देख रहे हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि हम दोनो के मन मे कोई एक व्यापक घटक है। मान लो, दूसरे प्रकार की इन्द्रियो-वाला कोई प्राणी आ जाय, वह हम लोगो की अनुभूत कुर्सी नही देखेगा, किन्तु जितने लोग एक ही प्रकार सरचित हैं, वे सब उन्ही वस्तुओ को देखेंगे। अतएव स्वय यह जगत् ही निरपेक्ष अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता है, और व्यावहारिक सत्ता केवल उसके देखे हुए विविध रूप हैं। इसका कारण, पहले तो यह है कि व्यावहारिक सत्ता सदा ससीम होती है। हम जानते हैं कि हम जिस भी व्याव-हारिक सत्ता को देखते, अनुभव करते अथवा विचार करते हैं, वह हमारे ज्ञान के द्वारा सीमित होती है, और सगुण ईश्वर के सम्बन्ध मे हमारी जैसी धारणा है, उसमे वह ईश्वर भी व्यावहारिक मात्र है। कार्य-कारण भाव केवल व्यावहारिक जगत् मे ही सम्भव है और ईश्वर को जब मैं जगत् का कारण मानता हूँ, तो अवश्य ही उसे ससीम जैसा मानना पडेगा। किन्तु फिर भी वह वही निर्गुण ब्रह्म है। हम लोगो ने पहले ही देखा है कि यह जगत् भी हमारी बुद्धि द्वारा देखा गया

सहानुभूति करना चाहिए, जो बुद्धि का अनुसरण कर किसी विश्वास को अपना नहीं पाते। आप्त वचनों के आधार पर भयों की तरह बीस लाख देवताओं में विश्वास करने की अपेक्षा बुद्धि का अनुसरण करके नास्तिक होना अच्छा है। हम चाहते हैं उन्नति विकास और सत्य का साक्षात्कार। किसी मत का अवलम्बन करके ही मनुष्य आज तक कभी ऊँचा नहीं उठा। करोड़ों शास्त्र भी हम लोगों को पवित्र करने में सहायता नहीं कर सकते। कर सकने की शक्ति एकमात्र सत्य के साक्षात्कार में है जो स्वयं हमारे भीतर है और उसकी प्राप्ति विचार से होती है। मनुष्य विचार करे। मिट्टी का ढेला कभी विचार नहीं कर सकता वह सदा मिट्टी का ढेला ही रह जाता है। मनुष्य की गरिमा उसकी विचारशीलता के कारण है पशुओं से हम इसी बात में भिन्न हैं। मैं बुद्धि में विश्वास करता हूँ और बुद्धि का ही अनुसरण करता हूँ। केवल आप्त वचनों में विश्वास करने से क्या अनिष्ट होता है यह मैं विशेष रूप से देख चुका हूँ क्योंकि मैं जिस देश में पैदा हुआ हूँ वहाँ आप्त वचनों में विश्वास करने की पराकाष्ठा है।

हिन्दू लोग विश्वास करते हैं कि वेदों से सृष्टि हुई है। उदाहरणार्थ एक गाय है यह कैसे जाना? उत्तर है 'गो' शब्द वेद में है इसलिए। इसी प्रकार मनुष्य है यह कैसे जाना? उत्तर आता है कि वेदों में 'मनुष्य' शब्द आया है। यदि यह शब्द उनमें न होता तो बाहर मनुष्य भी नहीं होता। वे यही कहते हैं। आप्त वचनों में विश्वास की पराकाष्ठा! मैंने इसका जिस प्रकार अध्ययन किया है उस प्रकार इसका अध्ययन नहीं होता। कुछ परम तीक्ष्ण बुद्धि व्यक्तियों ने इसको लेकर कुछ अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्तों का जाल उसके आसपास बुन डाला है। उन्होंने उसके लिए युक्तियाँ दी हैं और वह एक परिपूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है और हजारों वर्षों से हजारों प्रखर बुद्धि विद्वान् इस सिद्धान्त की पुष्टि में लगे रहे हैं। आप्त वचनों में विश्वास में जितनी शक्ति है उसमें खतरा भी उतना ही है। वह मनुष्य जाति की उन्नति रोक देता है। और हम लोगों को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उन्नति करना ही हमारा लक्ष्य है। सम्पूर्ण आपेक्षिक सत्यानुसन्धान में भी सत्य की अपेक्षा हमारे मन की क्रियाशीलता ही अधिक आवश्यक है। यही हमारा जीवन है।

अद्वैत मत में यही गुण है कि सभी समाज धार्मिक परिकल्पनाओं में वह सर्वाधिक बुद्धिसंगत है। अन्य सब परिकल्पनाएँ—ईश्वर की आंशिक और सगुण धारणाएँ युक्तियुक्त नहीं हैं। तथापि उसको यह गौरव प्राप्त है कि वह इन आंशिक धारणाओं को बहुतों के लिए आवश्यक स्वीकार करता है। अनेक लोग कहते रहते हैं कि यह सगुणवाद अयौक्तिक है। किन्तु वह है बड़ा सान्त्वना

अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द हमारे हैं। हम लोगो को उन्हे उपार्जित नही करना है, वे सब हममे हैं, हमे तो उन्हे केवल प्रकाशित मात्र करना है।

अद्वैतवाद से यही एक महासत्य प्राप्त होता है और इसको समझना बहुत कठिन है। मैं बचपन से देखता आ रहा हूँ कि सभी दुर्बलता की शिक्षा देते रहे हैं, जन्म से ही मैं सुनता आ रहा हूँ कि मैं दुर्बल हूँ। अब मेरे लिए अपने भीतर निहित शक्ति का ज्ञान कठिन हो गया है, किन्तु विश्लेषण और विचार द्वारा अपनी शक्ति का ज्ञान होता है, और फिर मैं उसे प्राप्त कर लेता हूँ। इस ससार मे जितना भी ज्ञान है, वह कहाँ से आया? वह ज्ञान हमारे भीतर ही है। क्या बाहर कोई ज्ञान है? नही। ज्ञान कभी जड मे नही था, वह सदा मनुष्य के भीतर ही था। किसीने कभी भी ज्ञान की सृष्टि नही की। मनुष्य उसको भीतर से बाहर लाता है। वह वही वर्तमान है। यह जो एक कोस तक फैला हुआ विशाल वटवृक्ष है, वह सरसो के बीज के अष्टमाश के समान उस छोटे से बीज मे ही था। उसी बीज मे ऊर्जा की वह विपुल राशि सन्निहित थी। हम जानते हैं कि एक जीवाणु-कोष के भीतर विराट् बुद्धि अप्रकट रूप मे विद्यमान है, फिर अनन्त शक्ति उसमे क्यो न रह सकेगी? हम जानते हैं यह सत्य है। विरोधाभासी लगने पर भी यह सत्य है। हम सभी एक जीवाणु-कोष से उत्पन्न हुए हैं और हम लोगो मे जो कुछ भी शक्ति है, वह उसीमे कुण्डलीरूप मे बैठी थी। तुम लोग यह नही कह सकते कि वह खाद्य मे से आयी है, ढेर की ढेर खाद्य-सामग्री लेकर एक पर्वत बना डालो, किन्तु देखोगे उसमे से कोई शक्ति नही निकलती। हम लोगो के भीतर शक्ति पहले से ही अव्यक्त भाव मे निहित थी, और वह थी अवश्य। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति भरी पडी है, मनुष्य को उसका ज्ञान हो या न हो। उसे केवल जानने की ही अपेक्षा है। धीरे धीरे मानो वह अनन्त शक्तिमान दैत्य जाग्रत होकर अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त कर रहा है और जैसे जैसे वह सचेतन होता जाता है, वैसे वैसे एक के बाद एक उसके बन्धन टूटते जाते हैं, शृखलाएँ छिन्न-भिन्न होती जाती हैं, और वह दिन अवश्य ही आयगा, जब वह अपनी अनत शक्ति के पूर्ण ज्ञान के साथ अपने पैरो पर उठ खडा होगा। आओ, हम सब लोग उस महिमामयी निष्पत्ति को शीघ्र लाने मे सहायता करें।

वही निर्गुण ब्रह्म मात्र है। यथार्थ में जगत् वही निर्गुण पुरुष मात्र है और हम लोगों की बुद्धि द्वारा उसको नाम-रूप दिये गये हैं। इस मेज में जितना सत्य है वह वही सत् है और इस मेज की आकृति तथा जो कुछ अन्य बातें हैं, वे सब हमारी मानव-बुद्धि द्वारा ऊपर से जोड़ी गयी हैं।

उदाहरणस्वरूप गति का विषय लो। व्यावहारिक सत्ता की वह नित्य सहचरी है। किन्तु वह सार्वभौमिक पारमार्थिक सत्ता के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रत्येक क्षुद्र खण्ड जगत् के अन्तर्गत प्रत्येक परमाणु, सर्वदा ही परिवर्तनशील तथा गतिशील है किन्तु समष्टि रूप से जगत् पदार्थ अपरिणामी है क्योंकि गति या परिणाम सापेक्षिक पदार्थ मात्र है। केवल गतिहीन पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही हम गतिशील पदार्थ की बात सोच सकते हैं। गति समझने के लिए दो पदार्थ आवश्यक हैं। सम्पूर्ण जगत् की समष्टि एक इकाई के रूप में गतिशील नहीं हो सकती। किसके साथ यह गतिशील होगी? उसमें परिवर्तन होता है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि किसकी तुलना में उसका परिणाम हो सकता? अतएव वह समष्टि निरपेक्ष सत्ता ही है किन्तु उसके भीतर का प्रत्येक अणु निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील है। वह परिणामी और साथ ही साथ अपरिणामी है सगुण है और निर्गुण भी है। जगत्, गति एवं ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोगों की यही धारणा है और तत्त्वमसि का भी यही अर्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण सगुण का उच्छेद करके निरपेक्ष सापेक्ष को नष्ट करने के स्थान पर हमारे हृदय और मस्तिष्क को पूर्ण सतोष प्रदान करके केवल उसकी व्याख्या मात्र करता है। सगुण ईश्वर तथा इस विश्व में जो कुछ है सब हमारे मन के द्वारा उपलब्ध निर्गुण सत् ही है। अपने मन एवं क्षुद्र व्यक्तित्व से रहित होने पर हम उस सत् के साथ एक हो जायेंगे। तत्त्वमसि का यही अर्थ है। हम अपना सच्चा स्वरूप—ब्रह्म—जानना है।

ससीम व्यक्ति मनुष्य अपना उत्पत्ति-स्थान भूल जाता है और अपने को नितान्त पृथक् समझने लगता है। व्यक्तीकृत और विभक्तीकृत सत्ताओं के रूप में हम अपना स्वरूप भूल जाते हैं। पर अद्वैतवाद हम विभेदीकरण को त्याग देने की शिक्षा नहीं देता वरन् उसके रूप को समझ लेने को कहता है। हम वास्तव में अनन्त पुरुष हैं। हमारे व्यक्तित्व मानो उन धाराओं के सदृश हैं जिनके द्वारा अनन्त सत्ता अपने को अभिव्यक्त कर रही है और यह समस्त परिवर्तन-समष्टि जिसे हम 'क्रमविकास' कहते हैं आत्मा अपनी शक्ति का अधिक अधिक प्रकाश करने के प्रयत्न के द्वारा सम्पादित होती है। किन्तु हम अनन्त के इस पार कहीं रुक नहीं सकते हमारे भीतर और अधिक शक्ति को प्रकट होना ही है। अनन्त सत्ता

तथा दूसरी ओर आधुनिक प्रत्यक्षवादी (realist), अज्ञेयवादी (agnostic) तथा भाववादी (positivist) विचारको मे यही विवाद चल रहा है। एक दल का विश्वास है कि कुछ अपरिवर्तनशील पदार्थ है (हर्बर्ट स्पेन्सर इसके नवीनतम प्रतिनिधि हैं) और हमे मानो किसी अपरिणामी पदार्थ का आभास होता है। दूसरे दल के प्रतिनिधि हैं कांते (Comte) के आधुनिक शिष्य तथा आधुनिक अज्ञेयवादी। तुम लोगो मे से जिन व्यक्तियो ने कुछ साल पहले फ्रैडरिक हैरिसन और हर्बर्ट स्पेन्सर के बीच का वाद-विवाद ध्यानपूर्वक पढा होगा, वे लोग जानते होंगे कि इसमे भी यही कठिनाई मौजूद है। एक पक्ष कहता है कि हम बिना किसी अपरिणामी या अपरिवर्तनशील सत्ता की कल्पना किये परिणाम या परिवर्तन की कल्पना ही नही कर सकते। दूसरा पक्ष यह युक्ति पेश करता है कि ऐसा मानने की कोई जरूरत नही, हम केवल परिणामशील पदार्थ की ही धारणा कर सकते हैं, और जहाँ तक अपरिणामी सत्ता की बात है, उसे न हम समझ सकते है और न अनुभव या प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं।

भारत मे इस महान् समस्या का समाधान अतीव प्राचीन काल मे नही मिला था, क्योकि हमने देखा है कि गुणो के पीछे अवस्थित, गुणो से भिन्न पदार्थ की सत्ता कभी प्रमाणित नही की जा सकती। केवल यही नही, आत्मा के अस्तित्व का 'अह-सारूप्य'-गत प्रमाण, स्मृति से आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी युवित—कल जो 'मैं' था, आज भी 'मैं' वही हूँ, क्योकि मुझे यह स्मरण है, अतएव मैं सतत रहनेवाला 'कुछ' हूँ,—यह युक्ति सिद्ध नही की जा सकती। और एक युक्ति का आभास, जो साधारणत दर्शाया जाता है, वह भी केवल शब्दो का जोड-तोड है। 'मैं जाता हूँ', 'मैं खाता हूँ', 'मैं स्वप्न देखता हूँ', 'मैं सो रहा हूँ', 'मैं चलता हूँ' आदि कितने ही वाक्य लेकर वे कहते हैं कि करना, खाना, जाना, स्वप्न देखना, ये सब विभिन्न परिवर्तन भले ही हो, किन्तु उनके बीच मे 'मैं-पन' नित्य भाव से वर्तमान है और इस प्रकार वे इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि यह 'मैं' नित्य और स्वय एक व्यक्ति है तथा ये सब परिवर्तन शरीर के धर्म हैं। यह युक्ति सुनने मे खूब उपादेय तथा स्पष्ट जान पडती है, किन्तु वास्तव मे यह केवल शब्दो का खेल है। यह 'मैं' और करना, जाना, स्वप्न देखना आदि लिखने मे भले ही अलग लगे, किन्तु मन मे कोई भी उन्हे अलग नही कर सकता।

जब मैं खाता हूँ, तो खाते हुए रूप मे अपना विचार करता हूँ। तब खाने की क्रिया के साथ मेरा तादात्म्य हो जाता है। जब मैं दौडता रहता हूँ, तब मैं और दौडना, ये दो अलग अलग बाते नही होती। अतएव व्यक्तिगत तादात्म्य

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

चतुर्थ भाग

(१८ नवम्बर १८९६ ई. को लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

हमने अभी तक समष्टि या सामान्य पर ही अधिक विचार किया है। इस प्रातःकाल मैं तुम लोगों के सम्मुख व्यष्टि या विशेष के साथ समष्टि के सम्बन्ध पर वेदान्त का मत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा। जैसा हम देख चुके हैं वेदों के दर्शन के द्वैतवादी प्रारम्भिक रूपों में प्रत्येक जीव की एक निर्दिष्ट सीमाविशिष्ट आत्मा स्वीकार की गयी है। प्रत्येक जीव में अवस्थित इस विशेष आत्मा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतवाद प्रचलित हैं। किन्तु प्राचीन बौद्धों और प्राचीन वेदान्तियों के मध्य ही इस विषय पर प्रमुख विवाद चला। प्राचीन वेदान्ती एक स्वयं में पूर्ण जीवात्मा मानते थे और बौद्ध लोग इस प्रकार के जीवात्मा के अस्तित्व को नितान्त अस्वीकृत करते थे। जैसा मैंने कल कहा था यूरोप में भी ठीक ऐसा ही विवाद द्रव्य और गुण पर चल रहा है। एक दल यह मानता है कि गुणों के पीछे द्रव्य रूप कोई वस्तु है जिस पर गुण आधारित हैं और दूसरे दल के मत में द्रव्य को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, गुण स्वयं ही रह सकते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन मत 'अहं-सातत्य'-मत युक्ति के ऊपर स्थापित है। 'अहं-सातत्य' युक्ति का मर्म है कल का 'मैं' ही आज का 'मैं' है और आज का 'मैं' आगामी कल का 'मैं' रहेगा। शरीर में जो भी परिवर्तन हो मैं विश्वास करता हूँ कि मैं वही 'मैं' हूँ। जान पड़ता है कि जो सीमित पर स्वयंपूर्ण जीवात्मा मानते थे उनकी प्रधान युक्ति यही थी।

दूसरी ओर प्राचीन बौद्ध ऐसी जीवात्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। उनकी यह युक्ति थी कि हम केवल इन परिवर्तनों को ही जानते हैं एवं इन परिवर्तनों के अतिरिक्त और कुछ भी जानना हम लोगों के लिए असम्भव है। एक अपरिवर्तनीय और अपरिवर्तनशील द्रव्य को स्वीकार करना अनावश्यक है और वास्तव में यदि इस प्रकार की कोई अपरिणामी वस्तु हो भी तो हम उसे कभी समझ नहीं सकेंगे और न उसे किसी भी तरह प्रत्यक्ष ही कर सकेंगे। आजकल यूरोप में भी एक ओर धर्म और विज्ञानवादियों (idealist)

तथा दूसरी ओर आधुनिक प्रत्यक्षवादी (realist), अज्ञेयवादी (agnostic) तथा भाववादी (positivist) विचारको मे यही विवाद चल रहा है। एक दल का विश्वास है कि कुछ अपरिवर्तनशील पदार्थ है (हर्बर्ट स्पेन्सर इसके नवीनतम प्रतिनिधि हैं) और हमे मानो किसी अपरिणामी पदार्थ का आभास होता है। दूसरे दल के प्रतिनिधि है काँते (Comte) के आधुनिक शिष्य तथा आधुनिक अज्ञेयवादी। तुम लोगो मे से जिन व्यक्तियो ने कुछ साल पहले फ्रैडरिक हैरिसन और हर्बर्ट स्पेन्सर के बीच का वाद-विवाद ध्यानपूर्वक पढा होगा, वे लोग जानते होंगे कि इसमे भी यही कठिनाई मौजूद है। एक पक्ष कहता है कि हम बिना किसी अपरिणामी या अपरिवर्तनशील सत्ता की कल्पना किये परिणाम या परिवर्तन की कल्पना ही नही कर सकते। दूसरा पक्ष यह युक्ति पेश करता है कि ऐसा मानने की कोई ज़रूरत नही, हम केवल परिणामशील पदार्थ की ही धारणा कर सकते हैं, और जहाँ तक अपरिणामी सत्ता की बात है, उसे न हम समझ सकते हैं और न अनुभव या प्रत्यक्ष ही कर सकते है।

भारत मे इस महान् समस्या का समाधान अतीव प्राचीन काल मे नही मिला था, क्योकि हमने देखा है कि गुणो के पीछे अवस्थित, गुणो से भिन्न पदार्थ की सत्ता कभी प्रमाणित नही की जा सकती। केवल यही नही, आत्मा के अस्तित्व का 'अह-सारूप्य'-गत प्रमाण, स्मृति से आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी युक्ति—कल जो 'मैं' था, आज भी 'मैं' वही हूँ, क्योकि मुझे यह स्मरण है, अतएव मैं सतत रहनेवाला 'कुछ' हूँ,—यह युक्ति सिद्ध नही की जा सकती। और एक युक्ति का आभास, जो साधारणत दर्शाया जाता है, वह भी केवल शब्दो का जोड-तोड है। 'मैं जाता हूँ', 'मैं खाता हूँ', 'मैं स्वप्न देखता हूँ', 'मैं सो रहा हूँ', 'मैं चलता हूँ' आदि कितने ही वाक्य लेकर वे कहते हैं कि करना, खाना, जाना, स्वप्न देखना, ये सब विभिन्न परिवर्तन भले ही हो, किन्तु उनके बीच मे 'मैं-पन' नित्य भाव से वर्तमान है और इस प्रकार वे इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि यह 'मैं' नित्य और स्वय एक व्यक्ति है तथा ये सब परिवर्तन शरीर के धर्म हैं। यह युक्ति सुनने मे खूब उपादेय तथा स्पष्ट जान पडती है, किन्तु वास्तव मे यह केवल शब्दो का खेल है। यह 'मैं' और करना, जाना, स्वप्न देखना आदि लिखने मे भले ही अलग लगें, किन्तु मन मे कोई भी उन्हे अलग नही कर सकता।

जब मैं खाता हूँ, तो खाते हुए रूप मे अपना विचार करता हूँ। तब खाने की क्रिया के साथ मेरा तादात्म्य हो जाता है। जब मैं दौडता रहता हूँ, तब मैं और दौडना, ये दो अलग अलग बाते नही होती। अतएव व्यक्तिगत तादात्म्य

पर आधारित यह युक्ति कुछ अधिक सबल नहीं जान पड़ती। स्मृतिवाला दूसरा तर्क भी निर्बल है। यदि मेरे अस्तित्व का तादात्म्य मुझे अपनी स्मृति द्वारा प्रमाणित करना पड़े तो अपनी जो सब अवस्थाएँ मैं भूल गया हूँ उनमें मैं था ही नहीं यह मानना पड़ेगा। और हम यह भी जानते हैं कि कुछ विशेष अवस्थाओं में अनेक लोग पिछला अपना सब कुछ पूर्ण रूप से भूल जाते हैं। अनेक पागल व्यक्ति अपने को काँचनिर्मित अथवा कोई पशु मानते देखे जाते हैं। यदि केवल स्मृति पर ही उस व्यक्ति का अस्तित्व निर्भर होता है, तो वह काँच हो गया नहीं मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता अतः यह अहं-तादात्म्य स्मृति जैसी नगण्य युक्ति पर आधारित नहीं हो सकता। तब क्या निष्कर्ष निकला? यही कि ससीम तथापि सम्पूर्ण और अविच्छिन्न तादात्म्य गुणसमूह से पृथक् रूप में स्थापित नहीं हो सकता। हम ऐसी कोई संकीर्ण सीमाबद्ध सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते जिसके साथ गुणों का एक गुच्छ संयुक्त हो।

दूसरे पक्ष में प्राचीन बौद्धों का यह मत *कि गुणसमूह के पीछे अवस्थित किसी* वस्तु के विषय में हम न कुछ जानते हैं और न जान सकते हैं अधिक दृढ़ भित्ति पर स्थापित जान पड़ता है। उनके मतानुसार संवेदनाओं और भावनाओं आदि कुछ गुणों का समाहार ही आत्मा है। यह गुणराशि ही आत्मा है और यह निरंतर परिवर्तित होती रहती है।

अद्वैत द्वारा इन दोनों मतों में सामंजस्य होता है। अद्वैतवाद का सिद्धान्त यह है कि हम वस्तु को गुण से अलग नहीं मान सकते यह सत्य है। हम परिणाम और अपरिणाम दोनों को एक साथ नहीं सोच सकते। इस प्रकार सोचना भी असम्भव है। किन्तु जिसे द्रव्य कहा जाता है वही गुणस्वरूप है। द्रव्य और गुण पृथक नहीं हैं। अपरिणामी वस्तु ही परिणाम-रूप में प्रतीत होती है यह अपरिणामी सत्ता परिणामी जगत् से पृथक नहीं है। पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता से पूर्णतया पृथक वस्तु नहीं है किन्तु यह पारमार्थिक सत्ता ही व्यावहारिक सत्ता बन जाती है। अपरिणामी आत्मा है, और हम जिसे अनुभूति भाव आदि कहते हैं केवल वे ही नहीं अपितु यह शरीर भी एक अन्य दृष्टिकोण से देखी हुई वही आत्मा है। हम लोगों ने शरीर है, आत्मा है आदि इस प्रकार सोचने का हमें अभ्यास हो गया है किन्तु वास्तव में केवल एक ही सत्ता है।

जब मैं अपने को शरीर सोचता हूँ तब मैं केवल शरीर हूँ मैं इसके अतिरिक्त और कुछ हूँ यह कहना बेकार की बात है। जब मैं अपने को आत्मा मानता हूँ तब देह तो नहीं उड़ जाती है देहानुभूति ही नहीं रहती। देह ज्ञान लुप्त हुए

बिना कभी आत्मानुभूति होती ही नही। गुण की अनुभूति लुप्त न होने तक द्रव्य का अनुभव कभी किसीको नही हो सकता।

इसको और अधिक अच्छी तरह समझने के लिए अद्वैतवादियो का रज्जु-सर्प का उदाहरण लिया जा सकता है। जब मनुष्य रस्सी को साँप समझकर भूल करता है, तब उसके लिए रस्सी नही रहती और जब वह उसे वास्तविक रस्सी समझता है, तब उसका सर्प-ज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही बच रहती है। अपूर्ण सामग्री के आधार पर विचार करने के कारण हमे द्वित्व या त्रित्व की अनुभूति होती है। ये सब बातें हम पुस्तको मे पढते अथवा सुनते आते हैं, और अतत हम इस भ्रम मे पड जाते हैं कि मानो सचमुच ही हमे आत्मा और देह का द्वैध अनुभव हो रहा है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। एक समय मे या तो केवल देह का ही अनुभव होता है या आत्मा का ही। इसको प्रमाणित करने के लिए किसी युक्ति की ज़रूरत नही। अपने मन से ही तुम इसका सत्यापन कर सकते हो।

तुम अपने को आत्मा या कुछ देहरहित मानकर सोचने का प्रयत्न करो, तो प्रतीत होगा कि यह असम्भव सा है, और जो इने-गिने लोग इसमे सफल होते हैं, वे देखेंगे कि जब वे अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करते हैं, तब उन्हे देह ज्ञान नही रहता। तुमने ऐसे व्यक्तियो के विषय मे सुना होगा और शायद देखा भी होगा, जो कभी कभी प्रखर ध्यान, आत्मसम्मोहन, हिस्टीरिया या मादक द्रव्यो के प्रभाव से विशेष अवस्था मे आ जाते हैं। उन लोगो की इन अनुभूतियो से तुमको पता चलेगा कि जब वे भीतर ही भीतर अनुभव कर रहे थे, तब उनका बाह्य ज्ञान एकदम लुप्त हो गया था, बिल्कुल नही रह गया था। इसीसे जान पडता है कि अस्तित्व एक ही है, दो नही। वह एक ही अनेक रूपो मे जान पडता है और इन्ही सारे रूपो से कार्य-कारण का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध का अर्थ है परिणाम, एक का दूसरे मे बदल जाना। समय समय पर मानो कारण अन्तर्हित हो जाता है, केवल उसके बदले कार्य रह जाता है। यदि आत्मा देह का कारण है, तो मानो कुछ देर के लिए वह अन्तर्हित हो जाती है और उसके वदले देह रह जाती है, और जब शरीर अन्तर्हित हो जाता है, तो आत्मा अवशिष्ट रहती है। इस मत से बौद्धो का मत खण्डित हो जाता है। बौद्ध आत्मा और शरीर—इन दोनो को पृथक् मानने के अनुमान के विरुद्ध तर्क करते थे। अव अद्वैतवाद के द्वारा इस द्वैतभाव को मिटाने और द्रव्य तथा गुण एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं, यह प्रदर्शित करने से उनका मत भी खण्डित हो गया।

हम लोगो ने यह भी देखा कि अपरिणामित्व केवल समष्टि के सम्वन्ध मे ही सत्य हो सकता है, व्यष्टि के सम्बन्ध मे नही। परिणाम और गति, इन भावो के

पर आधारित यह युक्ति कुछ अधिक सबल नहीं जान पड़ती। स्मृतिवाला दूसरा तर्क भी निर्बल है। यदि मेरे अस्तित्व का साक्ष्य मुझे अपनी स्मृति द्वारा प्रमाणित करना पड़े तो अपनी जो सब अवस्थाएँ मैं भूल गया हूँ उनमें मैं था ही नहीं यह मानना पड़ेगा। और हम यह भी जानते हैं कि कुछ विशेष अवस्थाओं में अनेक लोग पिछला अपना सब कुछ पूर्ण रूप से भूल जाते हैं। अनेक पागल व्यक्ति अपने को काँचनिर्मित अथवा कोई पशु मानते देखे जाते हैं। यदि केवल स्मृति पर ही उस व्यक्ति का अस्तित्व निर्भर होता है, तो वह काँच हो गया यही मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता अत यह अहं-साक्ष्य स्मृति जैसी असम्य युक्ति पर आधारित नहीं हो सकता। तब क्या निष्कर्ष निकला? यही कि ससीम तथापि सम्पूर्ण और अविच्छिन्न तादात्म्य गुणसमूह से पृथक रूप में स्थापित नहीं हो सकता। हम ऐसी कोई सकीर्ण सीमाबद्ध सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते जिसके साथ गुणों का एक गुच्छ सयुक्त हो।

दूसरे पक्ष में प्राचीन बौद्धों का यह मत कि गुणसमूह के पीछे अवस्थित किसी वस्तु के विषय में हम न कुछ जानते हैं और न जान सकते हैं अधिक दृढ़ भित्ति पर स्थापित जान पड़ता है। उनके मतानुसार सवेदनाओं और भावनाओं आदि कुछ गुणों का सघात ही आत्मा है। यह गुणराशि ही आत्मा है और वह निरतर परिवर्तित होती रहती है।

अद्वैत द्वारा इन दोनों मतों में सामजस्य होता है। अद्वैतवाद का सिद्धान्त यह है कि हम वस्तु को गुण से अलग नहीं मान सकते यह सत्य है। हम परिणाम और अपरिणाम दोनों को एक साथ नहीं सोच सकते। इस प्रकार सोचना भी असम्भव है। किन्तु जिसे द्रव्य कहा जाता है वही गुणस्वरूप है। द्रव्य और गुण पृथक नहीं हैं। अपरिणामी वस्तु ही परिणाम-रूप में प्रतीत होती है यह अपरिणामी सत्ता परिणामी जगत् से पृथक नहीं है। पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता से पूर्णतया पृथक वस्तु नहीं है, किन्तु यह पारमार्थिक सत्ता ही व्यावहारिक सत्ता बन जाती है। अपरिणामी आत्मा है, और हम जिसे अनुभूति भाव आदि कहते हैं, केवल वे ही नहीं अपितु यह शरीर भी एक अन्य दृष्टिकोण से देखी हुई वही आत्मा है। हम लोगों के शरीर हैं आत्मा है आदि इस प्रकार सोचने का हमें अभ्यास हो गया है, किन्तु वास्तव में केवल एक ही सत्ता है।

जब मैं अपने को 'शरीर' सोचता हूँ तब मैं केवल शरीर हूँ मैं इसके अतिरिक्त और कुछ हूँ यह कहना बेकार की बात है। जब मैं अपने को आत्मा मानता हूँ तब देह तो कहीं उड़ जाती है देहानुभूति ही नहीं रहती। देह-ज्ञान लुप्त हुए

बिना कभी आत्मानुभूति होती ही नही। गुण की अनुभूति लुप्त न होने तक द्रव्य का अनुभव कभी किसीको नही हो सकता।

इसको और अधिक अच्छी तरह समझने के लिए अद्वैतवादियो का रज्जु-सर्प का उदाहरण लिया जा सकता है। जब मनुष्य रस्सी को साँप समझकर भूल करता है, तब उसके लिए रस्सी नही रहती और जब वह उसे वास्तविक रस्सी समझता है, तब उसका सर्प-ज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही बच रहती है। अपूर्ण सामग्री के आधार पर विचार करने के कारण हमे द्वित्व या त्रित्व की अनुभूति होती है। ये सब बातें हम पुस्तको मे पढते अथवा सुनते आते हैं, और अतत हम इस भ्रम मे पड जाते हैं कि मानो सचमुच ही हमे आत्मा और देह का द्वैध अनुभव हो रहा है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। एक समय मे या तो केवल देह का ही अनुभव होता है या आत्मा का ही। इसको प्रमाणित करने के लिए किसी युक्ति की जरूरत नही। अपने मन से ही तुम इसका सत्यापन कर सकते हो।

तुम अपने को आत्मा या कुछ देहरहित मानकर सोचने का प्रयत्न करो, तो प्रतीत होगा कि यह असम्भव सा है, और जो इने-गिने लोग इसमे सफल होते हैं, वे देखेंगे कि जब वे अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करते हैं, तब उन्हे देह ज्ञान नही रहता। तुमने ऐसे व्यक्तियो के विषय मे सुना होगा और शायद देखा भी होगा, जो कभी कभी प्रखर ध्यान, आत्मसम्मोहन, हिस्टीरिया या मादक द्रव्यो के प्रभाव से विशेष अवस्था मे आ जाते हैं। उन लोगो की इन अनुभूतियो से तुमको पता चलेगा कि जब वे भीतर ही भीतर अनुभव कर रहे थे, तब उनका बाह्य ज्ञान एकदम लुप्त हो गया था, बिल्कुल नही रह गया था। इसीसे जान पडता है कि अस्तित्व एक ही है, दो नही। वह एक ही अनेक रूपो मे जान पडता है और इन्ही सारे रूपो से कार्य-कारण का सम्बन्ध उत्पन्न होता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध का अर्थ है परिणाम, एक का दूसरे मे बदल जाना। समय समय पर मानो कारण अन्तर्हित हो जाता है, केवल उसके बदले कार्य रह जाता है। यदि आत्मा देह का कारण है, तो मानो कुछ देर के लिए वह अन्तर्हित हो जाती है और उसके बदले देह रह जाती है, और जब शरीर अन्तर्हित हो जाता है, तो आत्मा अवशिष्ट रहती है। इस मत से बौद्धो का मत खण्डित हो जाता है। बौद्ध आत्मा और शरीर—इन दोनो को पृथक् मानने के अनुमान के विरुद्ध तर्क करते थे। अब अद्वैतवाद के द्वारा इस द्वैतभाव को मिटाने और द्रव्य तथा गुण एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं, यह प्रदर्शित करने से उनका मत भी खण्डित हो गया।

हम लोगो ने यह भी देखा कि अपरिणामित्व केवल समष्टि के सम्बन्ध मे ही सत्य हो सकता है, व्यष्टि के सम्बन्ध मे नही। परिणाम और गति, इन भावो के

साथ व्याप्ति की धारणा जड़ित है। हर ससीम विषय को हम जान और समझ सकते हैं, क्योंकि वह परिणामी होती है किन्तु पूर्ण का अपरिणामी होना अनिवार्य है क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं जिसके सन्दर्भ में उसमें कोई परिवर्तन हो सके। परिणाम केवल दूसरे किसी अल्पपरिणामी अथवा पूर्ण रूप से अपरिणामी पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही जाना जा सकता है।

अतएव अद्वैतवाद के अनुसार, सर्वव्यापी अपरिणामी अमर आत्मा के अस्तित्व का विषय भी यथासम्भव प्रमाणित किया जा सकता है। व्यष्टि के सिद्ध करने के बारे में ही कठिनाई होगी। तो फिर हमारे सब प्राचीन द्वैतवादी विश्वासों का जिनका हमारे ऊपर इतना प्रबल प्रभाव है और ससीम क्षुद्र, व्यक्तिगत आत्मा में उन विश्वासों का क्या होगा जिनमें होकर हम सबको गुजरना होता है।

हमने देखा कि समष्टि भाव से हम लोग अमर हैं, किन्तु समस्या यही है कि हम क्षुद्र व्यक्ति के रूप में भी अमर होने के इच्छुक हैं इसका क्या अर्थ है? हमने देखा कि हम अनन्त हैं और वही हमारा यथार्थ व्यक्तित्व है। किन्तु हम इन क्षुद्र आत्माओं को व्यक्ति बनाना चाहते हैं। उस क्षुद्र व्यक्तित्व का क्या होगा? किंतु दैनंदिन जीवन में हम देखते हैं कि उनका व्यक्तित्व है किन्तु वह व्यक्तित्व है निरंतर विकासशील। वे एक हैं और फिर भी एक नहीं हैं। कल का 'मैं' आज का 'मैं' है भी और साथ ही नहीं भी है क्योंकि वह थोड़ा परिवर्तित हो जाता है। इस द्वैतभावात्मक धारणा अर्थात् समस्त परिणाम के भीतर कुछ ऐसा है जो परिवर्तित नहीं होता—इस मत के परित्याग और नितान्त आधुनिक भाव अर्थात् विकासवाद को स्वीकार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह 'मैं' एक सतत परिवर्तनशील और विकासशील सत्ता है।

यदि यह सत्य है कि मनुष्य मांसल जन्तुविशेष (mollusc) का परिणाम मात्र है तो वह जन्तु और मनुष्य एक ही पदार्थ हुए, भेद केवल यही हुआ कि मनुष्य उस जन्तुविशेष का बहु-परिणामात्मक विकास मात्र है। वही क्रमशः विकसित होते होते अनन्त की ओर जा रहा है और अब उसने मनुष्य का रूप धारण किया है। इसलिए सीमाबद्ध जीवात्मा को ऐसा व्यक्ति कहा जा सकता है जो क्रमशः पूर्ण व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहा है। पूर्ण व्यक्तित्व तभी प्राप्त होगा जब वह अनन्त में पहुँचेगा किन्तु इस अवस्था में पहुँचने से पहले ही उसके व्यक्तित्व का लगातार परिणाम हो रहा है और साथ ही साथ विकास भी। अद्वैत वेदान्त का प्रधान वैशिष्ट्य है—पूर्ववर्ती मतों में सामंजस्य स्थापित करना। इससे दर्शन को अनेक अवसरों पर बहुत लाभ भी हुआ पर कभी कभी उसने हानि भी पहुँचायी। जिसे आज हम विकासवाद कहते हैं, अर्थात् विकास धीरे धीरे क्रमबद्ध होता

है—इस सिद्धात को हमारे प्राचीन दार्शनिक जानते थे और इसीकी सहायता से वे समस्त पूर्ववर्ती दर्शनो का सामजस्य करने मे सफल हुए। अतएव पूर्ववर्ती कोई भी मत 'परित्यक्त' नही हुआ। बौद्धमत का दोष यह था कि उसमे विकास-वाद का ज्ञान नही था और न उसको समझने की क्षमता। अतएव उन्होने आदर्श मे पहुँचने की पूर्ववर्ती सीढियो के साथ अपने मत का सामजस्य करने का कोई प्रयत्न नही किया, वरन् उन्हे निरर्थक और अनिष्टकारी कहकर उनका परित्याग कर दिया।

धर्म की यह प्रवृत्ति अत्यन्त अनिष्टकारक है। किसी व्यक्ति को एक नूतन और श्रेष्ठतर भाव मिला, तो वह अपने पुराने भावो के प्रति यह निर्णय कर लेता है कि वे सब अनावश्यक तथा हानिकारक थे। वह यह कभी नही सोचता कि उसकी आज की दृष्टि से वे कितने ही निरर्थक क्यो न हो, एक समय वह भी तो था, जब वे ही उसके लिए उपयोगी और उसकी वर्तमान अवस्था तक उसे पहुँचाने के लिए आवश्यक थे। तथा हममे से प्रत्येक को उसी प्रकार से आत्म-विकास करना पडेगा, पहले स्थूल भावो को अपनाना होगा, और उनसे लाभान्वित होकर एक उच्चतर मानदड तक पहुँचना होगा। इसलिए अद्वैतवाद प्राचीनतम मतो से मित्र भाव रखता है। द्वैतवाद तथा अपने पूर्वगामी अन्य मतो को अद्वैतवाद एक सरक्षक की दृष्टि से नही, वरन् यह मान कर अगीकार कर लेता है कि वे भी एक ही सत्य की सच्ची अभिव्यक्तियाँ है और अद्वैतवाद जिन सिद्धान्तो पर पहुँचा है, वे भी उन्ही सिद्धान्तो पर पहुँचाते हैं।

अतएव मनुष्य को जिन सब सीढियो पर चढकर ऊपर जाना है, उनके प्रति कठोर वचन न कहकर उनको आशीर्वाद देते हुए उनकी रक्षा करनी चाहिए। इसीलिए वेदान्त मे इन द्वैतवादी सिद्धातो की उचित रक्षा की गयी है, उनका परि-त्याग नही किया गया, और इसीलिए ससीम, व्यक्तितायुक्त, किंतु फिर भी अपने मे पूर्ण आत्मा की परिकल्पना ने वेदान्त मे स्थान पाया है।

द्वैत मत के अनुसार मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य अन्यान्य लोको मे जाता है इत्यादि, ये सब भाव अद्वैतवाद मे सम्पूर्ण रूप से रक्षित है। क्योकि अद्वैत मे विकास की प्रक्रिया स्वीकार करने पर, इन विविध सिद्धातो को अपना उचित स्थान मिल जाता है, वे सत्य के आशिक वर्णन मात्र हैं।

द्वैतवाद की दृष्टि से इस जगत् को केवल भौतिक द्रव्य या शक्ति की सृष्टि के रूप मे ही देखा जा सकता है, उसे किसी विशेष इच्छा-शक्ति की क्रीडा के रूप मे ही सोचा जा सकता है और उस इच्छा-शक्ति को जगत् से पृथक् ही सोचना सम्भव है। इस दृष्टि से मनुष्य अपने को आत्मा और देह दोनो की समष्टि के रूप

मे सोच सकता है और यह आत्मा ससीम होने पर भी स्वयं मे पूर्ण है। इस प्रकार के व्यक्ति की अमरत्व और भावी जीवन की धारणाएँ उसकी आत्मा सम्बन्धी धारणाओ के अनुसार ही होती है। वेदान्त मे इन सब अवस्थाओ को सुरक्षित रखा गया है और इसलिए द्वैतवाद की कुछ लोकप्रिय धारणाओ का परिचय तुमको देना आवश्यक है।

इस मत के अनुसार हमारा यह शरीर तो है ही इस स्थूल शरीर के पीछे एक सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक द्रव्य से बना है। वह हमारे सम्पूर्ण कर्मों और सस्कारो का आश्रय है। कर्म और सस्कार सूक्ष्म रूप मे व्यक्त होने के लिए प्रस्तुत रहते है। हमारा प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है मानो बीज बन जाता है सूक्ष्म शरीर मे अव्यक्त रूप से रहता है और कुछ समय बाद आविर्भूत होकर अपना फल देता है। कर्म-फलो का यही समूह मनुष्य के जीवन को निर्धारित करता है। वह अपना जीवन स्वयं ही बनाता है। मनुष्य अपने लिए जिन नियमो की रचना करता है उसके अतिरिक्त वह और किसी भी नियम से बद्ध नही है। हमारे विचार, शब्द और कर्म हमारे शुभ या अशुभ बन्धन-जाल के सूत है। एक बार किसी शक्ति को चलायमान कर देने पर उसका पूर्ण फल हमे भोगना पड़ता है। यही कर्मविधान है। इस सूक्ष्म शरीर के पीछे जीव या मनुष्य की व्यष्टिगत आत्मा है। इस जीवात्मा के रूप और आकार को लेकर अनेक वाद-विवाद हुए है। किसीके मत मे वह अणु जैसा लघु है, तो किसीके मत मे वह इतना लघु नही है और दूसरो के मत मे बहुत बड़ा है, आदि। यह जीव उस विश्वव्याप्त द्रव्य का एक अंश है और वह शाश्वत है। वह अनादि और अनन्त है। अपना प्रकृतस्वरूप पवित्रता को प्रकाशित करने के लिए वह अनेक प्रकार की देहो मे से होकर आगे बढ़ रहा है। जो कर्म इस प्रकाश की अभिव्यक्ति मे बाधा उपस्थित करता है उसे असत् कर्म कहते है ऐसा ही विचारो के सम्बन्ध मे भी है और जिस कार्य अथवा विचार द्वारा उसके स्वरूप प्रकाशन मे सहायता मिलती है, उसे सत्कार्य अथवा सद्विचार कहते है। किन्तु भारत के निम्नतम द्वैतवादी और अत्यन्त उन्नत अद्वैतवादी सभी का यह सामान्य मत है कि आत्मा की समस्त शक्ति और सम्भावना उसीके भीतर है—वे किसी बाह्य स्रोत से नही आती। वे आत्मा मे ही अव्यक्त रूप से रहती है और जीवन का सारा कार्य केवल उनके उस अव्यक्त शक्ति-समूह को व्यक्त करना मात्र है।

वे पुनर्जन्म के सिद्धात को भी मानते है जिसके अनुसार इस देह के नष्ट होने पर जीव फिर एक देह धारण करेगा और उस देह मे नाश होने पर फिर एक दूसरी

देह, तथा इसी प्रकार आगे भी क्रम चलता रहेगा। जीवात्मा इसी पृथ्वी पर जन्म ले अथवा अन्य किसी लोक मे, किन्तु इसी पृथ्वी को श्रेष्ठतर बताया गया है, क्योकि उनके मत मे हमारे सम्पूर्ण प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्यान्य लोको मे दु ख-कष्ट यद्यपि बहुत कम अवश्य है, किन्तु इसी कारण वहाँ उच्चतम विचार करने के लिए अवसर ही नही मिलता। इस जगत् मे घोर दु ख भी है और कुछ सुख भी। अतएव जीव को मोह-निद्रा यहाँ कभी न कभी टूटती ही है, कभी न कभी उसकी इच्छा मुक्ति पाने की होती ही है। किन्तु जैसे इस लोक मे बहुत धनी व्यक्ति के लिए उच्चतर वस्तुओ पर विचार करने का सयोग अल्पतम ही होता है, ठीक उसी प्रकार जीव यदि स्वर्ग मे जाता है, तो उसकी भी आत्मोन्नति की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। कारण यह है कि उसकी दशा यहाँ के धनी व्यक्ति की भाँति हो जाती है, वरन् यहाँ की अपेक्षा और भी अधिक प्रखर। उसको वहाँ जो सूक्ष्म देह प्राप्त होती है, वह रोगमुक्त होती है, उसमे कोई खाने पीने की आवश्यकता नही रह जाती और सब कामनाएँ भी पूर्ण होती रहती हैं। जीव वहाँ सुख पर सुख भोगता है, परन्तु इसीलिए वह अपना स्वरूप बिल्कुल भूल जाता है। फिर भी कुछ उच्चतर लोक ऐसे भी है, जहाँ सब भोगो के रहते हुए भी और आगे विकास कर सकना सभव है। कुछ द्वैतवादी उच्चतम स्वर्ग को ही चरम लक्ष्य मानते है—उनके मतानुसार जीवात्माएँ वहाँ जाकर चिरकाल तक भगवान् के साथ रहती है। वे वहाँ दिव्य देह प्राप्त करती हैं—उन्हे रोग, शोक, मृत्यु अथवा अन्य कोई अशुभ नही सताता। उनकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। समय समय पर उनमे से कोई कोई पृथ्वी पर आकर, देह धारण कर मनुष्य को ईश्वर के मार्ग का उपदेश देती हैं, और जगत् के सभी महान् उपदेशक ऐसे व्यक्ति ही हैं। वे पहले ही मुक्त होकर भगवान् के साथ उच्चतम लोक मे वास करते है, किन्तु दु खार्त मनुष्यो के प्रति उनकी इतनी प्रीति और अनुकपा होती है कि वे यहाँ आकर पुन देह धारण कर लोगो को स्वर्ग-पथ के सम्बन्ध मे उपदेश देते है।

अद्वैतवाद की इस मान्यता से तो हम परिचित हैं कि यह हमारा चरम लक्ष्य कभी नही हो सकता। हमारा लक्ष्य होना चाहिए सम्पूर्ण विदेह मुक्ति। आदर्श कभी ससीम नही हो सकता। अनन्त से घट कर और कुछ भी हमारा चरम लक्ष्य नही हो सकता, किन्तु देह तो कभी अनन्त नही होती। यह होना असम्भव है, क्योकि ससीमता से शरीर की उत्पत्ति है। विचार अनन्त नही हो सकता, क्योकि विचार भी ससीम से उत्पन्न होता है। अद्वैतवादी कहता है, हमे देह और विचार के परे जाना होगा। और हमने अद्वैतवादियो की यह धारणा भी देखी है कि मुक्ति

कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है वह तो सदा तुम्हारी अपनी है। केवल हम लोग उसे भूल जाते हैं और उसे अस्वीकार करते हैं। पूर्णता हम प्राप्त करता नहीं है वह तो सदैव ही हमारे भीतर वर्तमान है। यह अमरत्व यह आनन्द हमें अर्जित करना नहीं है वह तो सदा से ही हमें प्राप्त है।

यदि तुम साहस के साथ यह कह सको कि 'मैं मुक्त हूँ' तो इसी क्षण तुम मुक्त हो। यदि तुम कहो 'मैं बद्ध हूँ' तो तुम बद्ध ही रहोगे। जो हो द्वैतवादियों के विभिन्न मत मैंने तुमको बता दिये हैं इनमें से तुम जिसे चाहो ग्रहण करो।

वेदान्त की यह बात समझना बहुत कठिन है और लोग सदा इस पर विवाद करते रहते हैं। सबसे अधिक मुश्किल तो यही है कि जो किसी एक मत को ले लेता है वह दूसरे मत को बिल्कुल अस्वीकार कर उस मतावलम्बी के साथ वाद विवाद करने मे प्रवृत्त हो जाता है। तुम्हारे लिए जो उपयुक्त हो उसे तुम ग्रहण करो और दूसरे को जो उपयुक्त लगे उसे वह ग्रहण करने दो। यदि तुम अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व को इस ससीम मानवत्व को रखने के लिए इतने इच्छुक हो तो उसे अनायास ही रख सकते हो तुम्हारी सभी वासनाएँ रह सकती हैं और तुम उनसे सन्तुष्ट भी रह सकते हो। यदि मनुष्य भाव मे रहने का आनन्द तुम्हें इतना सुन्दर और मधुर लगता है तो तुम जितने दिन इच्छा हो उसको रख सकते हो क्योंकि तुम जानते हो कि तुम्ही अपने भाग्य के निर्माता हो। जबरदस्ती तुमसे कोई कुछ भी नहीं करा सकता। तुम्हारी जब तक इच्छा हो मनुष्य बने रहो कोई भी तुम्हें रोक नहीं सकता। यदि देवता होने की इच्छा करो तो देवता हो जाओगे। असल बात यह है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, जो देवता भी नहीं बनना चाहते। उनसे यह कहने का तुम्हारा क्या अधिकार है कि यह बड़ी भयंकर बात है? तुम्हें सौ रुपये खो जाने से दुःख हो सकता है किन्तु ऐसे भी अनेक लोग हैं जिनका यदि सर्वस्व नष्ट हो जाय तो भी उन्हें किंचित् कष्ट नहीं होगा। ऐसे लोग प्राचीन काल मे भी थे और आज भी हैं। तुम उन्हें अपने आदर्श के पैमाने से क्यों नापते हो? तुम अपने इन क्षुद्र सीमित भावों से चिपके रहो ये लौकिक विचार तुम्हारे सर्वोच्च आदर्श बने रहें। जैसा चाहोगे वैसा ही पाओगे। किन्तु ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिन्हें सत्य का दर्शन हुआ है—वे इन सीमाओं में सन्तुष्ट नहीं रह सकते वे इनके पार जाना चाहते हैं। जगत् और उसका सम्पूर्ण भोग उन्हें गोष्पद से अधिक नहीं जान पड़ता। तुम उन्हें अपने विचारों मे क्यों फँसाकर रखना चाहते हो? इस प्रवृत्ति को बिल्कुल छोड़ना पड़ेगा। प्रत्येक को उसका स्थान दो।

बहुत दिन पहले मैंने पत्रो मे एक समाचार पढा था। कुछ जहाज[1] प्रशान्त महासागर के एक द्वीपपुज के निकट तूफान मे फँस गये। सचित्र लदन समाचार (Illustrated London News) पत्रिका मे इस घटना का एक चित्र भी आया था। तूफान मे केवल एक ब्रिटिश जहाज़ को छोडकर अन्य सब भग्न होकर डूब गये। वह ब्रिटिश जहाज़ तूफान पार कर चला आया। चित्र मे यह दिखाया है कि जहाज़ डूबे जा रहे हैं, उनके डूबते हुए यात्री डेक के ऊपर खडे होकर तूफान के मध्य बच जानेवाले यात्रियो को प्रोत्साहित कर रहे है। इसी प्रकार हमे वीर, उदार होना चाहिए। दूसरो को नीचे खीचकर अपनी भूमि पर मत लाओ। लोग मूर्ख के समान एक और मत की पुष्टि किया करते है कि यदि हमारा यह क्षुद्र व्यक्तित्व चला जायगा, तो जगत् मे किसी प्रकार की नीतिपरायणता नही रहेगी, मनुष्य जाति की आशा उच्छिन्न हो जायगी। मानो जो ऐसा कहते हैं, वे समग्र मानव जाति के लिए सदा प्राणोत्सर्ग ही करने के लिए तैयार हैं! ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे! यदि हर देश मे केवल दो सौ नर-नारी देश के सच्चे हितैषी हो, तो पाँच दिन मे सत्ययुग आ सकता है। हम जानते हैं कि हम मनुष्य जाति के उपकार के लिए किस प्रकार आत्मोत्सर्ग करना चाहते है! ये सब लम्बी-चौडी बातें हैं—और कुछ नही। विश्व के इतिहास से यह स्पष्ट है कि जिन्होने अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व को एकदम भुला दिया था, वे ही मानव जाति के सर्वोत्तम हितैषी हैं, और स्त्री या पुरुष जितना ही अधिक अपने सबध मे सोचते हैं, वे दूसरो के लिए उतना ही कम कर पाते हैं। उनमे से एक मे नि स्वार्थपरता है और दूसरो मे स्वार्थ-परता। इन छोटे छोटे भोग-सुखो मे आसक्त रहना और उनकी निरतरता तथा पुनरावृत्ति चाहना घोर स्वार्थ है। ऐसी मनोवृत्ति सत्यानुराग अथवा दूसरो के प्रति दयालु भाव के कारण नही होती—इसकी उत्पत्ति का एकमात्र कारण है घोर स्वार्थपरता। दूसरे किसीकी ओर दृष्टि न रखकर केवल अपनी ही भोगवृत्ति के भाव से इसका जन्म होता है। कम से कम मुझे तो यही जान पडता है। ससार मे मैं प्राचीन पैगम्बरो और महात्माओ के समान चरित्रबलशाली व्यक्ति और देखना चाहता हूँ—वे एक क्षुद्र पशु तक के उपकारार्थ सौ सौ जीवन त्यागने के लिए तैयार थे। नीति और परोपकार की क्या बात करते हो? यह तो आजकल की बेकार की बातें हैं।

मैं गौतम बुद्ध के समान नैतिकतायुक्त लोग देखना चाहता हूँ। वे सगुण ईश्वर

---

१ प्रशान्त महासागर के समोआ द्वीपपुज के पास ब्रिटिश जहाज़ 'कैलिओपी' और अमेरिका के कुछ युद्ध जहाज़।

अथवा व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास नहीं करते थे, उस विषय में कभी प्रश्न ही नहीं करते थे, उस विषय में पूर्ण अज्ञेयवादी थे, किन्तु जो सबके लिए अपने प्राण तक देने को प्रस्तुत थे—आजन्म दूसरों का उपकार करने में रत रहते तथा सदैव इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि दूसरों का उपकार किस प्रकार हो। उनके जीवन-चरित लिखनेवालों ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने 'बहुजनहिताय बहुजन सुखाय' जन्म ग्रहण किया था। वे अपनी निजी मुक्ति के लिए वन में तप करने नहीं गये। दुनिया जली जा रही है—और इसे बचाने का कोई उपाय मुझे अवश्य निकालना चाहिए। उनके समस्त जीवन में यही एक चिन्ता थी कि जगत् में इतना दुःख क्यों है? तुम लोग क्या यह समझते हो कि हम सब उनके समान नैतिकतापरायण हैं?

मनुष्य जितना ही स्वार्थी होता है, उतना ही अनैतिक भी होता है। यही बात जातियों के सम्बन्ध में सत्य है। स्वयं अपने से ही विजड़ित रहनेवाली जाति ही समग्र संसार में सबसे अधिक क्रूर और पातकी सिद्ध हुई है। अरब के पैगम्बर द्वारा प्रवर्तित धर्म से बढ़कर द्वैतवाद से चिपकनेवाला कोई दूसरा धर्म आज तक नहीं हुआ और इतना रक्त बहानेवाला तथा दूसरों के प्रति इतना निर्मम धर्म भी कोई दूसरा नहीं हुआ। कुरान का यह आदेश है कि जो मनुष्य इन शिक्षाओं को न माने, उसको मार डालना चाहिए, उसकी हत्या कर डालना ही उस पर दया करना है! और सुन्दर हूरों तथा सभी प्रकार के भोगों से युक्त स्वर्ग को प्राप्त करने का सबसे विश्वस्त रास्ता है, काफिरों की हत्या करना। ऐसे कुविश्वासों के फलस्वरूप जितना रक्तपात हुआ है, उसकी कल्पना कर लो।

ईसा मसीह ने जिस धर्म का प्रचार किया, उसमें ऐसी भद्दी बातें नहीं थीं। विशुद्ध ईसाई धर्म और वेदान्त धर्म में बहुत कम अन्तर है। उन्होंने अद्वैतवाद का भी प्रचार किया और जनसाधारण को सन्तुष्ट रखने के लिए, उस उच्चतम आदर्श की धारणा कराने के लिए सोपान रूप से द्वैतवाद के आदर्श की भी शिक्षा दी। जिन्होंने 'मेरे स्वर्गस्थ पिता' कहकर प्रार्थना करने का उपदेश दिया था, उन्होंने यह भी कहा था, 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वे यह भी जानते थे कि इस स्वर्गस्थ पितारूप द्वैतभाव की उपासना करते करते ही अभेद बुद्धि आ जाती है। उस समय ईसाई धर्म केवल प्रेम और आशीर्वादपूर्ण था, किन्तु उसमें जैसे ही असत्कार आ घुसे, यह च्युत होकर अरब के पैगम्बर के धर्म के स्तर पर आ टिका। यह जो क्षुद्र 'मैं' के लिए मारकाट, 'मैं' के प्रति घोर आसक्ति और केवल इसी जीवन में नहीं बल्कि मृत्यु के बाद भी इस क्षुद्र 'मैं' तथा इस क्षुद्र व्यक्तित्व को ही लेकर रहने की इच्छा, यह सब असत्कार ही तो है। वे इसीको

नि स्वार्थपरता और नैतिकता की आधार-शिला कहते है। यही अगर नैतिकता की आधार-शिला हो, तो भगवान् हमारी रक्षा करें! और आश्चर्य की बात यह है कि जिन सब नर-नारियो से हम अधिक ज्ञान की अपेक्षा करते है ,उन्हे यह डर लगता है कि इस क्षुद्र 'मैं' के मिटने पर सारी नैतिकता बिल्कुल नष्ट हो जायगी। यह कहने से कि इस क्षुद्र 'मैं' के विनाश पर ही यथार्थ नैतिकता अवलम्बित है, इनका कलेजा मुँह मे आ जाता है। सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मगल का मूलमन्त्र 'मैं' नही, 'तुम' है। स्वर्ग और नरक है या नही, आत्मा है या नही, कोई अनश्वर सत्ता है या नही, इसकी चिन्ता कौन करता है? हमारे सामने यह ससार है और वह दु ख से पूर्ण है। बुद्ध के समान इस ससार-सागर मे गोता लगाकर या तो इस ससार के दु ख को दूर करो या इस प्रयत्न मे प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ, आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी ही हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान—प्रत्येक के लिए यही प्रथम पाठ है। और जो पाठ सबको स्पष्ट है, वह है तुच्छ अह का उन्मूलन और वास्तविक आत्मा का विकास।

दो शक्तियाँ सदा समानान्तर रेखाओ मे एक दूसरे के साथ कार्य कर रही हैं। एक कहती है "मैं" और दूसरी कहती है "मैं नही"। उनकी अभिव्यक्ति केवल मनुष्यो मे ही नही, किन्तु पशुओ मे भी देखी जाती है—केवल पशुओ मे ही नही क्षुद्रतम कीटाणुओ मे भी। नर-रक्त की प्यासी लपलपाती जीभवाली बाघिन भी अपने बच्चे की रक्षा के लिए जान देने को प्रस्तुत रहती है। अत्यन्त बुरा आदमी, जो अनायास ही अपने भाई का गला काट सकता है—वह भी भूख से मरती हुई अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चो के लिए अपने प्राण निस्सकोच दे देता है। सृष्टि के भीतर ये दोनो शक्तियाँ पास पास ही काम कर रही हैं—जहाँ एक शक्ति देखोगे, वहाँ दूसरी भी दीख पडेगी। एक स्वार्थपरता है, और दूसरी नि स्वार्थपरता। एक है ग्रहण, दूसरी त्याग। एक लेती है, दूसरी देती है। क्षुद्रतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक समस्त ब्रह्माण्ड इन्ही दोनो शक्तियो का लीलाक्षेत्र है। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही—यह स्वत प्रमाण है।

समाज के एक अश के लोगो को जगत् के समस्त क्रियाकलाप और विकास को इन दो मे से केवल एक—प्रतियोगिता और सघर्ष—घटक पर आधारित कर देने का क्या अधिकार है? विश्व के सारे व्यापारो को राग-द्वेष, युद्ध, प्रतियोगिता और सघर्ष पर अधिष्ठित मानने का उन्हे क्या अधिकार है? उनके अस्तित्व को हम अस्वीकार नहीं करते। किन्तु उन्हे दूसरी शक्ति की

स्थिया को बिल्कुल न मानने का क्या अधिकार है? क्या कोई मनुष्य यह अस्वीकार कर सकता है कि यह प्रेम महत्तृप्यता अथवा त्याग ही जगत् की एकमात्र धनात्मक शक्ति है? दूसरी शक्ति इस प्रेम-शक्ति का ही असम्यक प्रयोग है, प्रेम से ही प्रतिद्वन्द्विता की उत्पत्ति होती है प्रेम ही प्रतियोगिता का मूल है। निःस्वार्थपरता ही अशुभ की माता है। शुभ ही अशुभ का जनक है और अशुभ का परिणाम भी शुभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक व्यक्ति जो दूसरे की हत्या करता है वह भी प्रायः अपने पुत्रादि के प्रति स्नेह की प्रेरणा से ही एवं उनके लालन-पालन के लिए उसका प्रेम संसार के अन्य लाखों व्यक्तियों से हटकर केवल अपने शिशु में सीमित हो जाता है किन्तु ससीम हो या असीम वह मूलतः है प्रेम ही।

अतएव समग्र जगत् की परिचालक जगत् में एक मात्र प्रकृत और जीवन्त शक्ति वही एक अद्भुत वस्तु है—वह किसी भी आकार में व्यक्त क्यों न हो और वह है प्रेम निःस्वार्थपरता तथा त्याग। इसीलिए वेदान्त अद्वैत पर जोर देता है। हम भी इसी व्याख्या पर आग्रह कर रहे हैं, क्योंकि हम जगत् के दो कारण स्वीकार नहीं कर सकते। यहाँ यदि हम यह स्वीकार कर लें कि वही एक अपूर्व सुन्दर प्रेम सीमित होकर ही असत् रूप में प्रतीत होता है तो एक ही प्रेमशक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या हो जाती है। नहीं तो हमें जगत् के दो कारण मानने पड़ेंगे—एक शुभ दूसरा अशुभ—एक प्रेम दूसरा घृणा। इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में कौन अधिक न्याय-संगत है?—निश्चय ही शक्ति को माननेवाला सिद्धान्त।

मैं अब ऐसी बातों की चर्चा करूँगा जो सम्भवतः द्वैतवाद से सम्बन्ध नहीं रखती। मैं द्वैतवाद की इस आलोचना में और अधिक समय नहीं दूँगा। मेरा उद्देश्य यहाँ यह दिखलाना है कि नैतिकता और निःस्वार्थपरता के उच्चतम आदर्श उच्चतम दार्शनिक धारणा के साथ असंगत नहीं है, नैतिकता और नीतिशास्त्र की उपलब्धि के लिए तुमको अपनी दार्शनिक धारणा को नीचा नहीं करना पड़ेगा वरन् नैतिकता और नीतिशास्त्र को ठोस आधार देने के लिए तुमको उच्चतम दार्शनिक और वैज्ञानिक धारणाएँ स्वीकार करनी होंगी। मनुष्य का ज्ञान मनुष्य के मंगल का विरोधी नहीं है वरन् जीवन के प्रत्येक विभाग में ज्ञान हमारी रक्षा करता है। ज्ञान ही उपासना है। हम जितना ज्ञान करें उतीमें हमारा मंगल है। वेदान्ती कहते हैं इस समस्त प्रतीयमान अशुभ का कारण है—असीम का सीमाबद्ध हो जाना। जो प्रेम सीमाबद्ध होकर क्षुद्र भावापन्न हो जाता है तथा अशुभ प्रतीत होता है वही फिर अपनी चरमावस्था में स्वय

को ईश्वर रूप मे प्रकाशित करता है। वेदान्त यह भी कहता है कि इस आपात-प्रतीयमान् सम्पूर्ण अशुभ का कारण हमारे भीतर ही है। किसी लोकोत्तर पुरुष को दोष न दो, न निराश या विषण्ण होओ, न यह सोचो कि तुम गर्त के बीच मे पडे हो और जब तक कोई दूसरा आकर तुम्हारी सहायता नही करता, तब तक तुम इससे निकल नही सकते। वेदान्त कहता है, दूसरे की सहायता से हमारा कुछ नही हो सकता। हम रेशम के कीडे के समान है। अपने ही शरीर से अपने आप जाल बनाकर उसीमे आबद्ध हो गये है। किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिए नही है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकलकर मुक्त हो जायंगे। हम लोग अपने चारो ओर इस कर्मजाल को लगा देते हैं और अज्ञानवश सोचने लगते है कि हम बद्ध हैं और सहायता के लिए रोते-चिल्लाते है। किन्तु बाहर से कोई सहायता नही मिलती, सहायता मिलनी है भीतर से। दुनिया के सारे देवताओ के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त मे देखा कि मुझे सहायता मिल रही है, किन्तु यह सहायता भीतर से मिली। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक प्रकार के काम करता रहा, उस भ्रान्ति को मुझे दूर करना पडा। यही एकमात्र उपाय है। मैंने स्वय अपने को जिस जाल मे फँसा रखा है, वह मुझे ही काटना पडेगा और उसे काटने की शक्ति भी मुझमे ही है। इस विषय मे निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे जीवन की सदसत् कोई भी प्रवृत्ति व्यर्थ नही गयी—मैं उसी अतीत शुभाशुभ दोनो प्रकार के कर्मो का समष्टिस्वरूप हूँ। मैंने जीवन मे बहुत सी भूलें की है, किन्तु इनको किये बिना आज जो मैं हूँ वह कभी न होता। मैं अब अपने जीवन से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। पर मेरे कहने का यह मतलब नही कि तुम घर जाकर चाहे जितना अन्याय करते रहो। मेरी बात का गलत मतलब न समझ लेना। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि कुछ भूल-चूक हो गयी है, इसलिए एकदम हाथ पर हाथ रखकर मत बैठे रहो, किन्तु यह समझ रखो कि अन्त मे फल सबका शुभ ही होता है। इसके विपरीत और कुछ कभी नही हो सकता, क्योकि शिवत्व और विशुद्धत्व हमारा स्वाभाविक धर्म है। उसका किसी भी प्रकार नाश नही हो सकता। हम लोगो का यथार्थ स्वरूप सदा ही एकरूप रहता है।

हमे जो समझ लेना है, वह यह है कि जिन्हे हम भूलें या अशुभ कहते हैं, वह हम दुर्बल होने के कारण करते हैं, और हम दुर्बल अज्ञानी होने के कारण हैं। मैं पाप शब्द के बजाय भूल शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझता हूँ। पाप शब्द यद्यपि मूलत एक बडा अच्छा शब्द था, किन्तु अब उसमे जो व्यजना आ गयी है, उससे मुझे भय लगता है। हमे किसने अज्ञानी बनाया है?

स्वयं हमने। हम लोग स्वयं अपनी आँखों पर हाथ रखकर 'अँधेरा अँधेरा' चिल्लाते हैं। हाथ हटा लो और प्रकाश हो जायगा। देखोगे कि मानव की प्रकाशस्वरूप आत्मा के रूप में प्रकाश सदा विद्यमान रहता है। तुम्हारे आधुनिक वैज्ञानिक क्या कहते हैं यह क्यों नहीं देखते? इस विकास का क्या कारण है?—वासना-इच्छा। पशु कुछ करना चाहता है किन्तु परिवेश को अनुकूल नहीं पाता और इसलिए वह एक नूतन शरीर धारण कर लेता है। तुम निम्नतम जीवाणु अमीबा से विकसित हुए हो। अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करते रहो और भी अधिक उन्नत हो जाओगे। इच्छा सर्वशक्तिमान है। तुम कहोगे यदि इच्छा सर्वशक्तिमान है तो मैं हर बात क्यों नहीं कर पाता? उत्तर यह है कि तुम जब ऐसी बातें करते हो उस समय केवल अपने क्षुद्र 'मैं' की ओर देखते हो। सोचकर देखो तुम क्षुद्र जीवाणु से इतने बड़े मनुष्य हो गये। किसने तुम्हें मनुष्य बनाया? तुम्हारी अपनी इच्छा-शक्ति ने ही। यह इच्छा-शक्ति सर्वशक्तिमान है—तुम क्या यह अस्वीकार कर सकते हो? जिसने तुम्हें इतना उन्नत बना दिया वह तुम्हें और भी अधिक उन्नत कर सकती है। तुमको आवश्यकता है चरित्र की और इच्छा-शक्ति को सबल बनाने की।

अतएव यदि मैं तुम्हें यह उपदेश दूँ कि तुम्हारी प्रकृति असत् है और यह कहूँ कि तुमने कुछ भूलें की हैं इसलिए अब तुम अपना जीवन केवल पश्चात्ताप करने तथा रोने-धोने में ही बिताओ, तो इससे तुम्हारा कुछ भी उपकार न होगा वरन् उससे और भी दुर्बल हो जाओगे। ऐसा करना तुम्हें सत्पथ के बजाय असत्पथ दिखाना होगा। यदि हजारों साल इस कमरे में अँधेरा रहे और तुम कमरे में आकर 'हाय! बड़ा अँधेरा है! बड़ा अँधेरा है!' यह कहकर रोते रहो तो क्या अँधेरा चला जायगा? कभी नहीं। एक दियासलाई जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा। अतएव जीवन भर 'मैंने बहुत दोष किये हैं, मैंने बहुत अन्याय किया है' यह सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा? हममें बहुत से दोष हैं यह किसीको बतलाना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षण में सब अशुभ चला जायगा। अपने प्रकृत स्वरूप को पहचानो, प्रकृत 'मैं' को—उसी ज्योतिर्मय उज्ज्वल नित्यशुद्ध 'मैं' को प्रकाशित करो—प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जायँ कि अति जघन्य पुरुष को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात न करें बल्कि उसके हृदय में रहनेवाले भगवान् का दर्शन करें। और उसकी निन्दा न कर यह कह उठें, "हे स्वयंप्रकाश ज्योतिर्मय उठो! हे सदा शुद्धस्वरूप उठो! हे अज अविनाशी सर्वशक्तिमान उठो! आत्मस्वरूप

प्रकाशित करो। तुम जिन क्षुद्र भावो मे आवद्ध पडे हो, वे तुम्हे सोहते नही।' अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना का उपदेश देता है। निजस्वरूप स्मरण, सदा उसी अन्त स्थ ईश्वर का स्मरण, उसीको सदा अनन्त, सर्वशक्तिमान, सदाशिव, निष्काम कहकर उसका स्मरण—यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र 'मैं' उसमे नही रहता, क्षुद्र वन्धन उसे नही बाँध सकते। और वह अकाम है, इसीलिए अभय और ओजस्वरूप है, क्योकि कामना तथा स्वार्थ से ही भय की उत्पत्ति होती है। जिसे अपने लिए कोई कामना नही, वह किससे डरेगा? कौन सी वस्तु उसे डरा सकती है? क्या उसे मृत्यु डरा सकती है? अशुभ, विपत्ति डरा सकती है? कभी नही। अतएव यदि हम अद्वैतवादी है, तो हमे यह मानना होगा कि हमारा 'मैं-पन' इसी क्षण से मृत है। फिर मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, अमुक अमुक हूँ, यह सव भाव नही रह जाता, ये अधविश्वास मात्र थे, और शेप रहता है वही नित्य शुद्ध, नित्य ओजस्वरूप, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञस्वरूप, और तव हमारा सारा भय चला जाता है। कौन इस सर्वव्यापी 'मैं' का अनिष्ट कर सकता है? इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण दुर्वलता चली जाती है। तब दूसरो मे भी उसी शक्ति को उद्दीप्त करना हमारा एकमात्र कार्य हो जाता है। हम देखते हैं, वे भी यही आत्मास्वरूप हैं, किन्तु वे यह जानते नही। अतएव हमे उन्हे सिखाना होगा—उनके इस अनन्तस्वरूप के प्रकाशनार्थ हमे उनकी सहायता करनी पडेगी। मैं देखता हूँ कि जगत् मे इसीके प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता है। ये सब मत अत्यन्त पुराने है, बहुतेरे पर्वतो से भी पुराने। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नही है। कोई भी जाति, कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सम्पत्ति कहने का दावा नही कर सकता। सत्य ही सब आत्माओ का यथार्थस्वरूप है। किसी भी व्यक्तिविशेष का उस पर विशेष अधिकार नही है। किन्तु हमे उसे व्यावहारिक और सरल बनाना होगा, (क्योकि उच्चतम सत्य अत्यन्त सहज और सरल होते हैं) जिससे वह समाज के हर रध्र मे व्याप्त हो जाय, उच्चतम मस्तिष्क से लेकर अत्यन्त साधारण मन द्वारा भी समझा जा सके, तथा आबाल-वृद्ध-वनिता सभी उसे जान सकें। ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमासाएँ, ये सव मतवाद और क्रिया-काण्ड—इन सबने किसी समय भले ही उपकार किया हो, किन्तु आओ, हम सब आज से—इसी क्षण से धर्म को सहज बनाने की चेष्टा करें और उस सत्ययुग के पुनरागमन में सहायता करें, जव प्रत्येक व्यक्ति उपासक होगा और उसका अन्त स्थ सत्य ही उसकी उपासना का विषय होगा।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप – ७

(आत्मा, ईश्वर और प्रकृति)

आत्मा का मुक्त स्वभाव

(१८९६ ई० मे न्यूयार्क मे दिया हुआ व्याख्यान)

हमने देखा है, साख्य का विश्लेषण द्वैतवाद—प्रकृति और आत्माओ मे पर्यवसित होता है। आत्माओ की सख्या अनन्त है, तथा अमिश्र होने के कारण आत्मा का विनाश नही हो सकता, इसलिए वह प्रकृति से स्वतन्त्र है। प्रकृति का परिणाम होता है तथा वह यह समग्र प्रपच प्रकाशित करती है। साख्य के मत के अनुसार आत्मा निष्क्रिय है। वह अमिश्र है, तथा प्रकृति आत्मा के अपवर्ग अथवा उसकी मुक्ति साधित करने के लिए ही इस समग्र प्रपचजाल का विस्तार करती है, तथा आत्मा जब समझ पाती है कि वह प्रकृति नही है, तभी उसकी मुक्ति होती है। दूसरी ओर यह भी हमने देखा है कि साख्यवादियो को बाध्य होकर स्वीकार करना पडा था कि प्रत्येक आत्मा सर्वव्यापी है। आत्मा जब अमिश्र पदार्थ है, तब वह ससीम हो नही सकती, क्योकि समग्र सीमाबद्ध भाव देश, काल अथवा निमित्त के द्वारा बना होता है। आत्मा जब सम्पूर्ण रूप से इन सबसे अतीत है, तब उसमे ससीम भाव कुछ रह नही सकता। ससीम होने पर उसे देश के भीतर रहना होगा, और इसका अर्थ है, उसकी एक देह अवश्य ही रहेगी, तथा जिसकी देह है, वह अवश्य प्रकृति के अन्तर्गत है। यदि आत्मा का आकार होता, तब तो आत्मा प्रकृति से अभिन्न होती। अतएव आत्मा निराकार है, तथा जो निराकार है, वह यहाँ, वहाँ अथवा और कही है, यह नही कहा जाता। वह अवश्य ही सर्वव्यापी होगी। साख्य दर्शन इससे आगे और अधिक नही गया।

साख्यवादियो के इस मत के विरुद्ध वेदान्तवादियो की प्रथम आपत्ति यह है कि साख्य का यह विश्लेपण सम्पूर्ण नही है। यदि प्रकृति एक निरपेक्ष वस्तु है एव आत्मा भी यदि निरपेक्ष वस्तु है, तो दो निरपेक्ष वस्तुएं हुई और जिन सब युक्तियो से आत्मा का सर्वव्यापी होना प्रमाणित होगा, वे युक्तियाँ प्रकृति के पक्ष मे भी प्रयुक्त हो सकेंगी, इसलिए वह भी समग्र देश-काल-निमित्त के अतीत होगी। प्रकृति यदि इस प्रकार की ही हो, तो उसका किसी प्रकार का परिणाम अथवा विकास नही होगा। इससे निष्कर्ष निकला कि दो निरपेक्ष अथवा पूर्ण वस्तुएं स्वीकार करनी होती हैं और यह असम्भव है। वेदान्तवादी का इस सम्बन्ध मे

क्या समाधान है? उसका समाधान यह है कि स्थूल जड़ से महत् अथवा बुद्धि तत्त्व तक प्रकृति का समग्र विकार जब अचेतन है, तब जिससे मन चिन्ता कर सके एवं प्रकृति काम कर सके, उसके लिए, उनके परे उनके परिचालक शक्तिस्वरूप एक चैतन्यवान पुरुष का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। वेदान्ती कहते हैं, समग्र ब्रह्माण्ड के पश्चात् यह चैतन्यवान पुरुष विद्यमान है, उसे ही हम ईश्वर कहते हैं इसलिए यह जगत् उससे पृथक् नहीं है। वह जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है, वरन् उपादान कारण भी है। कार्य कारण का ही रूपान्तर मात्र है। यह तो हम प्रतिदिन ही देख रहे हैं। अतएव यह ईश्वर ही प्रकृति का कारण स्वरूप है। द्वैत विशिष्टाद्वैत अथवा अद्वैत—वेदान्त के जितने विभिन्न रूप अथवा विभाग हैं उनका यही प्रथम सिद्धान्त है कि ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है वह इसका उपादान कारण भी है, जो कुछ जगत् में है, सब वही है। वेदान्त की दूसरी सीढ़ी यह है कि ये जो आत्माएँ हैं, ये भी ईश्वर के अंश-स्वरूप हैं उसी अनन्त वह्नि के एक एक स्फुलिंग मात्र अर्थात् 'जैसे एक बृहत् अग्नि राशि से सहस्र सहस्र अग्निकण निकलते हैं, उसी प्रकार उस पुरातन पुरुष से ये सब आत्माएँ बहिर्गत हुई हैं।[1] यहाँ तक तो ठीक हुआ किन्तु इस सिद्धान्त से भी तृप्ति नहीं होती है। अनन्त का अंश—इन शब्दों का अर्थ क्या है? अनन्त तो अवि-भाज्य है। अनन्त का कदापि अंश हो नहीं सकता। पूर्ण वस्तु कदापि विभक्त हो नहीं सकती। तो फिर यह जो कहा गया आत्मासमूह उससे स्फुलिंग के समान निकले हैं—इन शब्दों का तात्पर्य क्या है? अद्वैत वेदान्ती इस समस्या की इस प्रकार मीमांसा करते हैं कि वास्तव में पूर्ण का अंश नहीं होता। प्रत्येक आत्मा यथार्थ में ब्रह्म का अंश नहीं है वास्तव में वह अनन्त ब्रह्मस्वरूप है। तब इतनी आत्माएँ किस प्रकार आयीं? लाख लाख जलकणों पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़कर लाख लाख सूर्य के समान दिखायी पड़ रहा है तथा प्रत्येक जलकण में ही क्षुद्र आकार में सूर्य की मूर्ति विद्यमान है। इसी प्रकार ये सब आत्माएँ प्रतिबिम्ब रूप हैं, सत्य नहीं हैं। ये वह वास्तविक 'मैं' नहीं हैं जो इस जगत् का ईश्वर है, ब्रह्माण्ड का अविभक्त सत्तास्वरूप है। अतएव ये सब विभिन्न प्राणी मनुष्य पशु इत्यादि सब प्रतिबिम्ब रूप हैं सत्य नहीं हैं। ये प्रकृति के ऊपर प्रतिफलित मायामय प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जगत् में अनन्त पुरुष केवल एक है तथा वही पुरुष 'तुम' 'हम' इत्यादि रूप में प्रतीय

---

1 यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:।
तथाक्षराद् विविधा: सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषद् ॥२।१।१॥

मान हो रहा है, किन्तु यह भेद-प्रतीति मिथ्या के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। वह विभक्त नही होता, विभक्त हुआ ऐसा बोध मात्र होता है। देश-काल-निमित्त के जाल के भीतर से उसे देखने के कारण यह आपातप्रतीयमान विभाग अथवा भेद हुआ है। हम जब ईश्वर को देश-काल-निमित्त के जाल के भीतर से देखते है, तब हम उसको जड जगत् के रूप मे देखते है। जब और कुछ उच्चतर भूमि से, किन्तु उसी जाल के भीतर से उसे देखते है, तब उसे पशु के रूप मे—और कुछ उच्चतर भूमि से मनुष्य के रूप मे—और ऊंचे जाने पर देव के रूप मे देखते है। किन्तु वह ब्रह्माण्ड की एक अनन्त सत्ता है एव वही सत्तास्वरूप हम भी है। हम ही वह है, तुम भी वह हो—उसके अश नही, समग्र वही। 'वह अनन्त ज्ञातारूप मे समग्र प्रपच के परे खडा है, तथा वह स्वय समग्र प्रपचस्वरूप है।' वह विषय, विषयी—दोनो ही है। वह 'हम', वही 'तुम' है। यह किस प्रकार हुआ? ज्ञाता को किस प्रकार जाना जायगा?[1] ज्ञाता अपने को कदापि जान नही सकता। मैं सब कुछ देखता हूँ, किन्तु अपने को देख नही पाता। वह आत्मा—जो ज्ञाता और सबका प्रभु है, जो प्रकृत वस्तु है—वही जगत् की समग्र दृष्टि का कारण है, किन्तु अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त अपने को देख अथवा अपने को जान सकना उसके लिए असम्भव है। तुम दर्पण के अतिरिक्त अपना मुंह देख नही पाते। इसी प्रकार आत्मा भी प्रतिबिम्बित हुए बिना अपना स्वरूप देख नही पाती। इसलिए यह समग्र ब्रह्माण्ड ही आत्मा का निज की उपलब्धि का यत्नस्वरूप है। जीविसार (protoplasm) मे उसका प्रथम प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसके पश्चात् उद्भिद, पशु आदि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रतिबिम्बको से, और अत मे सर्वोत्कृष्ट प्रतिबिम्ब प्रदान करनेवाला माध्यम—मनुष्य प्राप्त होता है, जैसे कोई मनुष्य अपना मुंह देखने की इच्छा से एक क्षुद्र कीचड से युक्त जलाशय मे देखने का प्रयत्न करके मुंह की आकृतिमात्र देख पाता है। उसके पश्चात् वह कुछ अधिक निर्मल जल मे कुछ अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देखता है, उसके पश्चात् उज्ज्वल धातु मे उसकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब देखता है। अन्त मे दर्पण मे देखने पर वह स्वत ठीक जैसा है, ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब देखता है। अतएव विषय और विषयी उभयस्वरूप उसी पुरुष का सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है—'पूर्ण मानव'। तुम अब समझ सकोगे कि मानव स्वभाववश ही क्यो सब वस्तुओ की उपासना किया करता है, तथा सब देशो मे पूर्ण मानव क्यो स्वभावत ईश्वर के रूप मे पूजे जाते हैं। तुम जो भी क्यो न कहो, इनकी उपासना अवश्य होती रहेगी। इसीलिए लोग ईसा

---

१ विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृहदारण्यकोपनिषद्॥५।१५॥

मसीह अथवा बुद्ध आदि अवतारो की उपासना किया करते है। वे अनन्त आत्मा के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशस्वरूप है। तुम-तुम ईश्वर के सम्बन्ध मे चाहे जो धारणा क्यो न करे, वे उसकी अपेक्षा उच्चतर है। एक पूर्ण मानव इन सब धारणाओ की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। उसमे ही वृत्त सम्पूर्ण होता है—विषय और विषयी एक हो जाते है। उसका सब भ्रम और मोह चला जाता है। इनके स्थान पर उसे यह अनुभूति होती है कि वह चिरकाल से वही पूर्ण पुरुष के रूप मे विद्यमान है। तो फिर यह बन्धन किस प्रकार आया ? इस पूर्ण पुरुष का पक्ष मे अवनत होकर अपूर्ण-स्वभाव हुआ किस प्रकार सम्भव हुआ ? मुक्त के पक्ष मे बद्ध होना किस प्रकार सम्भव हुआ ? अद्वैतवादी कहते है वह किसी काल मे बद्ध नही होता वह नित्य मुक्त है। आकाश मे नाना वर्ण के नाना मेघ आ रहे है। वे मुहूर्त भर वहाँ ठहरकर चले जा रहे है। किन्तु वह एक नील आकाश बराबर समान भाव से विद्यमान है। आकाश का कदापि परिवर्तन नही होता मेघ का परिवर्तन हो रहा है। इसी प्रकार तुम सब भी पहले से पूर्ण हो अनन्त काल से पूर्ण हो। कुछ भी तुम्हारी प्रकृति को कदापि परिवर्तित कर नही सकता कभी करेगा भी नही। यह जो सब धारणा है कि हम अपूर्ण है हम नर है हम नारी है हम पापी है हम मन है हमने विचार किया है और करेंगे—यह सब भ्रम मात्र है। तुम कदापि विचार नही करते तुम्हारी किसी काल मे देह नही थी तुम किसी काल मे अपूर्ण नही थे। तुम इस ब्रह्माण्ड के आनन्दमय प्रभु हो। जो कुछ है या होगा तुम उस सबके सर्वशक्तिमान नियन्ता हो—इस सूर्य चन्द्र तारा पृथ्वी उद्भिद, इस हमारे जगत् के प्रत्येक अंश के—महान् शास्ता हो। तुम्हारी ही शक्ति से सूर्य किरण दे रहा है तारागण अपनी प्रभा विकीर्ण कर रहे है पृथ्वी सुन्दर हुई है। तुम्हारे आनन्द की शक्ति से ही सब परस्पर परस्पर से प्रेम कर रहे है और परस्पर के प्रति आकृष्ट हो रहे है। तुम्ही सबके मध्य विद्यमान हो तुम्ही सर्वस्वरूप हो। किसे त्याग करोगे अथवा किसको ही ग्रहण करोगे ?—तुम्ही समग्र हो। जब इस ज्ञान का उदय होता है तब माया मोह उसी क्षण उड जाता है।

मैं एक बार भारत की मरुभूमि मे भ्रमण कर रहा था। मैंने एक महीने से अधिक भ्रमण किया था और प्रतिदिन अपने सम्मुख अतिशय मनोरम दृश्यसमूह—अति सुन्दर सुन्दर वृक्ष सरोवर आदि—देखने को पाता था। एक दिन मैंने प्यास से विह्वल होकर एक सरोवर मे जल पान करने की इच्छा की। किन्तु ज्यो ही मैं सरोवर की ओर अग्रसर हुआ त्यो ही वह अन्तर्हित हो गया। उसी क्षण मेरे मस्तिष्क मे मानो प्रबल आघात के सहित यह ज्ञान आया कि सारे जीवन मैं जिस मरीचिका की कथा पढता आ रहा हूँ यह वही मरीचिका है। तब मैं अपनी यह

निर्बुद्धिता स्मरण करके हँसने लगा कि गत एक मास से मैं जो ये सब सुन्दर दृश्य और सरोवर आदि देख रहा था, वे मरीचिका के अतिरिक्त और कुछ भी नही थे, पर मैं तब यह विवेक न कर सका। दूसरे दिन सवेरे मैं फिर चलने लगा—वही सरोवर और सब दृश्य फिर से दिखायी पडे, किन्तु उसके साथ साथ उसी क्षण मुझे यह ज्ञान भी हुआ कि वह मरीचिका मात्र है। एक बार जान सकने पर उसकी भ्रम उत्पन्न करनेवाली शक्ति नष्ट हो गयी थी। इसी प्रकार यह जगद्भ्रान्ति एक दिन हटेगी। यह समग्र ब्रह्माण्ड एक दिन हमारे सामने से अन्तर्हित होगा। इसका नाम ही प्रत्यक्षानुभूति है। दर्शन, केवल बात करने की बात अथवा तमाशा नही है। वह प्रत्यक्ष अनुभूत होगा। यह शरीर उड जायगा, यह पृथ्वी एव और जो कुछ है, सब उड जायगा—हम देह अथवा हम मन हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह कुछ क्षण के लिए चला जायगा अथवा यदि कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाय, तो एकदम चला जायगा, फिर लौटकर नही आयेगा, तथा यदि कर्म का कुछ अश शेष रहे, तो जैसा कुम्हार का चाक है—हाँडी बन जाने पर भी पूर्ण वेग से कुछ क्षण घूमता रहता है, उसी प्रकार माया-मोह सम्पूर्ण रूप से दूर हो जाने पर भी यह देह कुछ दिन रह जायगी। यह जगत्—नर-नारी, प्राणी—सब ही फिर आयेंगे—जैसे दूसरे दिन भी मरीचिका दिखायी पडी थी। किन्तु पहले के समान वे सब, शक्ति-विस्तार नही कर सकेंगे, कारण साथ साथ यह ज्ञान भी आयेगा कि हमने उनका स्वरूप जान लिया है, तब वे फिर बद्ध नही कर सकेंगे, किसी प्रकार का दु ख, कष्ट, शोक फिर आ नही सकेगा। जब दु खकर विषय कुछ आयेगा, मन उससे कह सकेगा कि हम जानते है, तुम भ्रम मात्र हो। जब मानव यह अवस्था लाभ करता है, तो उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त का अर्थ है, जीवित अवस्था मे ही जो मुक्त है। ज्ञानयोगी के जीवन का उद्देश्य यही जीवन्मुक्त होना है। वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत् मे अनासक्त होकर वास कर सकते हैं। वे जल के पद्म-पत्र के समान रहते हैं—जैसे जल मे रहने पर भी जल उसे कदापि भिगो नही सकता, उसी प्रकार वे जगत् मे निर्लिप्त भाव से रहते हैं। वे मनुष्य जाति मे सर्वश्रेष्ठ है, केवल इतना ही क्यो, सकल प्राणियो मे सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि उन्होने उस पूर्ण पुरुष के सहित अभेद भाव उपलब्ध किया है, उन्होंने उपलब्धि की है कि वे भगवान् के सहित अभिन्न हैं। जितने दिन तुम्हारा ज्ञान रहता है कि भगवान् के साथ तुम्हारा अति सामान्य भेद भी है, उतने दिन तुम्हारा भय रहेगा। किन्तु जब जानोगे कि तुम्ही वे हो, उनमे और तुममे कोई भेद नही है, उनका समग्र ही तुम हो, तब सब भय दूर हो जाता है। 'वहाँ कौन किसको देखता है? कौन किसकी उपासना करता है? जहाँ एक व्यक्ति अन्य को देखता है, एक व्यक्ति अन्य से बात करता है, एक व्यक्ति अन्य की बात

सुनता है, वह नियम का राज्य है। जहाँ कोई किसी अन्य को नहीं देखता, कोई किसी अन्य से बात नहीं करता, वही सर्वश्रेष्ठ है, वही भूमा है, वही ब्रह्म है।"[1] तुम्ही वह हो एवं सर्वदा ही वह हो। तब जगत् का क्या होगा, हम जगत् का क्या उपकार कर सकेंगे—इस प्रकार के प्रश्न ही वहाँ उचित नहीं होते। यह उस शिशु के प्रश्न के समान है—हमारे बड़े होने पर हमारी मिठाई का क्या होगा? बालक भी कहा करता है, हमारे बड़े होने पर हमारे संगमरमर के टुकड़ों की क्या दशा होगी, तो हम बड़े नहीं होंगे! छोटा बच्चा भी कहता है, हमारे बड़े होने पर हमारे पुतले-पुतलियों की क्या दशा होगी?—इस जगत् के सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रश्नावलियाँ भी उसी प्रकार हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीन कालों में ही जगत् का अस्तित्व नहीं है। यदि हम आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान पायें, यदि हम जान पायें कि इस आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और जो कुछ है सब स्वप्न मात्र है, उसका वास्तव में अस्तित्व नहीं है, तो इस जगत् का दुःख, दारिद्र्य, पाप-पुण्य—कुछ भी हमको चंचल नहीं कर सकेगा। यदि उन सबका अस्तित्व ही न रहे, तो किसके लिए और क्यों हम कष्ट करेंगे? ज्ञानयोगी यही शिक्षा देते हैं। अतएव साहस का अवलम्बन करके मुक्त होओ, तुम्हारी चिन्ता-शक्ति तुमको जितनी दूर तक ले जा सके, साहसपूर्वक उतनी दूर आगे बढ़ो एवं उसे जीवन में परिणत करो। यह ज्ञान लाभ करना बड़ा कठिन है। यह महा साहसी का कार्य है। जो सब पुतलियाँ फोड़कर फेंक देने का साहस करता है—केवल मानसिक पुतलियाँ ही नहीं, इन्द्रियों के द्वारा भोग्य विषय समूहरूपी पुतलियों को भी जो फोड़ कर फेंक दे सकता है—यह उसका ही कार्य है। यह शरीर हम नहीं हैं, इसका नाश अवश्यम्भावी है—यही तो हुआ उपदेश। किन्तु इस उपदेश की दुहाई देकर लोग अद्भुत व्यापार किया करते हैं। कोई उठकर कह सकता है, 'हम देह नहीं हैं, अतएव हमारे माथे की पीड़ा ठीक हो जाय।' किन्तु उसके सिर की पीड़ा यदि उसकी देह में न रहे, तो फिर कहाँ हो? सहस्र सहस्र सिर की पीड़ाएँ और सहस्र सहस्र देह आवें जायँ—उससे हमारा क्या है? "मेरा जन्म भी नहीं है, मेरी मृत्यु भी नहीं है, मेरे पिता भी नहीं हैं, माता भी नहीं हैं, मेरा शत्रु भी नहीं है, मित्र भी नहीं है, क्योंकि वे सब मैं ही हूँ। मैं ही अपना बन्धु हूँ, मैं ही अपना शत्रु हूँ, मैं ही अखण्ड सच्चिदानन्द हूँ, मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ।"[2]

---

१ द्र. छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद्।

२ न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥
—निर्वाणषट्क॥५॥

यदि मैं सहस्र देहो मे ज्वर और अन्यान्य रोग भोग करता हूँ, तो और लक्ष लक्ष देहो मे मैं स्वास्थ्य सम्भोग कर रहा हूं। यदि सहस्र सहस्र देह मे मैं भूखो मर रहा हूँ, तो अन्य सहस्र देहो मे दावतें खा रहा हूँ। यदि सहस्र देहो मे मैं दु खभोग करता रहा हूँ, तो सहस्र देहो मे मैं सुखभोग कर रहा हूँ। कौन किसकी निन्दा करेगा ? कौन किसकी स्तुति करेगा ? किसे चाहेगा, किसे छोडेगा ? मैं किसीको चाहता भी नही हूँ, किसीका त्याग भी नही करता, क्योकि मैं समग्र ब्रह्माण्डस्वरूप हूँ। मैं ही अपनी स्तुति कर रहा हूँ, मैं ही अपनी निन्दा कर रहा हूँ। मैं अपने ही कारण कष्ट पा रहा हूं और अपनी ही इच्छा से सुखी हूं। मैं स्वाधीन हूं। यही ज्ञानी का भाव है, वह महा साहसी और निर्भीक होता है। समग्र ब्रह्माण्ड नष्ट क्यो न हो जाय, वह हंसकर कहता है, उसका कभी अस्तित्व ही नही था, वह केवल माया और भ्रम मात्र है। इसी प्रकार वह अपनी आँखो के समक्ष जगत्‌ब्रह्माण्ड को वास्तव मे अन्तर्हित होते देखता है और विस्मय के सहित प्रश्न करता है—'यह जगत् कहाँ था ? और कहाँ विलीन हो गया ?'[1]

इस ज्ञान की साधना के सम्बन्ध मे विचार करने के पहले हम और एक अन्य बौद्धिक प्रश्न के समाधान का यत्न करेंगे। अभी तक तर्कशास्त्र का कठोर अनुशासन मानकर चला गया है। यदि कोई भी व्यक्ति विचार मे प्रवृत्त हो, तो जब तक वह इस सिद्धान्त पर न पहुँचे कि सत्ता केवल एक ही है, और सब कुछ भी नही है, तब तक उसके ठहरने का उपाय नही है। विचारशील मानव जाति के लिए इस सिद्धान्त का अवलम्बन करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। किन्तु इस क्षण प्रश्न यह है, जो असीम, सदा पूर्ण, सदानन्दमय, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह इन सब भ्रमो के अधीन किस प्रकार हुआ ? यह प्रश्न जगत् मे सब कही सदैव किया जाता रहा है। इस प्रश्न का ग्राम्य रूप यह है—इस जगत् मे पाप किस प्रकार आया ? प्रश्न का यही ग्राम्य और व्यावहारिक रूप है। तथा दूसरा उसका सर्वाधिक दार्शनिक रूप है। किन्तु दोनो एक ही हैं। विविध शैलियो मे, विविध स्वरो से यही प्रश्न पूछा जाता रहा है। किन्तु निम्नतर रूपो से प्रश्न करने पर उसकी ठीक मीमासा नही हो पाती, क्योकि सेब, साँप और नारी की कहानी[2]

---

१ क्व गत केन वा नीत कुत्र लीनमिद जगत्। विवेकचूडामणि ॥४८५॥

२ यह कहानी बाइबिल के प्राचीन व्यवस्थान मे है। ईश्वर ने आदि नर आदम और आदि नारी ईव का सर्जन करके उन्हें ईडन के सुरम्य उद्यान में स्थापित किया और उस उद्यान के ज्ञानवृक्ष का फल खाने से मना कर दिया। किन्तु शैतान ने साँप का रूप धारण करके पहले ईव को प्रलोभित किया, उसके पश्चात् आदम को उस

मे उसका उत्तर नहीं मिलता। इस स्तर पर प्रश्न शिशुस्तरीय रह जाता है और उसका उत्तर भी उसी प्रकार है। किन्तु अब इस प्रश्न ने अत्यन्त गुरुतर रूप धारण किया है— यह भ्रम किस प्रकार आया? तथा उत्तर भी उसके अनुसार ही गम्भीर है। उत्तर यह है कि असम्भव प्रश्न के उत्तर की आशा मत करो। इस प्रश्न के अन्तर्गत वाक्य परस्पर विरोधी है, अतः प्रश्न ही असम्भव है। क्या पूर्णता शब्द से किसका बोध होता है? जो देश-काल-निमित्त के अतीत है वह ही पूर्ण है। उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो पूर्ण किस प्रकार अपूर्ण हुआ? तर्कशास्त्र की भाषा मे निबद्ध करने पर प्रश्न इस प्रकार होगा 'जो वस्तु कार्य कारण-सम्बन्ध के अतीत है वह किस प्रकार कार्यरूप मे परिणत होती है? यहाँ तो तुम अपना ही खण्डन कर रहे हो। तुमने पहले ही मान लिया है वह कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो किस प्रकार वह कार्य मे परिणत हुआ। कार्य-कारण-सम्बन्ध की सीमा के भीतर ही केवल प्रश्न पूछा जा सकता है जिस सीमा तक देश-काल-निमित्त का अधिकार है, उसी सीमा तक यह प्रश्न पूछा जा सकता है। किन्तु उसके परे की वस्तु के सम्बन्ध मे प्रश्न करना ही निरर्थक है क्योकि प्रश्न न्यायशास्त्र के विरुद्ध हो जाता है। देश-काल-निमित्त की सीमा रेखा के भीतर किसी काल मे उसका उत्तर दिया नहीं जा सकता तथा उसके अतीत प्रदेश मे जाने पर क्या उत्तर प्राप्त होगा यह वहाँ जाने पर ही जाना जा सकता है। इसीलिए विज्ञ व्यक्ति इस प्रश्न को रहने देते हैं। जब कोई व्यक्ति बीमार होता है तब उस रोग की उत्पत्ति के विषय म पहले जानने का हठ न करके रोग दूर करने का वह यत्न करता है।

यह प्रश्न एक और रूप मे पूछा जाता है। यह अपेक्षाकृत निम्न स्तर का तो है किन्तु अधिक व्यावहारिक है। प्रश्न यह है—इस भ्रम को किसने उत्पन्न किया? कोई सत्य क्या कभी भ्रम उत्पन्न कर सकता है? कदापि नहीं। तुम देखते हो, एक भ्रम ही एक अन्य भ्रम को उत्पन्न करता रहता है यह फिर एक अन्य भ्रम की सृष्टि करता है इसी प्रकार चलता रहता है। रोग ही रोग-प्रसव करता रहता है स्वास्थ्य कभी रोग-प्रसव नहीं करता। जल और जल की तरंग मे कोई भेद नहीं है— कार्य कारण का ही दूसरा एक रूप मात्र है। कार्य जब भ्रम है तब उसका कारण भी अवश्य भ्रम होगा। यह भ्रम किसने उत्पन्न किया? अवश्य और एक भ्रम ने। इसी प्रकार तर्क करने पर तर्क का फिर अन्त नहीं होगा—भ्रम का फिर आदि प्राप्त

वृक्ष का फल खाने के लिए प्रलोभित किया। इससे ही उन्हें भले-बुरे का ज्ञान हुआ और बाद मे उनके पृथ्वी मे प्रवेश किया।

नही होगा। अब तुम्हारा एक प्रश्न केवल शेष रहेगा कि 'भ्रम का अनादित्व स्वीकार करने पर क्या तुम्हारा अद्वैतवाद खण्डित नही होता? क्योकि, तुम जगत् मे दो सत्ताएँ स्वीकार कर रहे हो — एक तुम और एक वह भ्रम।' इसका उत्तर यह है कि भ्रम को सत्ता कहा नही जा सकता। तुम जीवन मे सहस्रो स्वप्न देखते हो, किन्तु वे सब तुम्हारे जीवन के अशस्वरूप नही है। स्वप्न आता है और चला जाता है। उसका कोई अस्तित्व नही है। भ्रम को एक सत्ता कहना केवल एक वितडा है। अतएव जगत् मे नित्यमुक्त और नित्यानन्दस्वरूप एकमात्र सत्ता है, और वही तुम हो। अद्वैतवादियो का यही चरम सिद्धान्त है।

इस क्षण प्रश्न किया जा सकता है, इन विभिन्न उपासना-प्रणालियो का क्या होगा? वे सब रहेगी। वे केवल अन्धकार मे आलोक के लिए यत्न करना मात्र है और इस प्रकार यत्न करते करते आलोक आयेगा। हम अभी देख चुके है कि आत्मा अपने को देख नही सकती। हमारा समग्र ज्ञान माया (मिथ्या) के जाल मे अवस्थित है, मुक्ति उसके बाहर है, इस जाल मे दासत्व है, इसका सब कुछ ही नियमाधीन है। उसके बाहर और कोई नियम नही है। यह ब्रह्माण्ड जितनी दूर तक है, उतनी दूर तक सत्ता नियमाधीन है, मुक्ति उसके बाहर है। जितने दिन तुम देश-काल-निमित्त के जाल मे विद्यमान हो, उतने दिन तक तुम मुक्त हो—यह बात करना निरर्थक है, क्योकि सब कुछ इस जाल मे, कठोर नियम मे, कार्य-कारण-शृखला मे बद्ध हैं। तुम जो भी विचार करते हो, वह पूर्वगामी कारण का कार्य है, प्रत्येक भावना कारण-प्रसूत है। इच्छा को स्वाधीन कहना एकदम निरर्थक है। ज्यो ही वह अनन्त सत्ता मानो इस मायाजाल के भीतर पडती है, त्यो ही वह इच्छा का आकार धारण करती है। इच्छा मायाजाल मे आबद्ध उस पुरुष का किंचित् अश मात्र है। इसलिए 'स्वाधीन इच्छा' शब्द एक कुनाम है। स्वाधीनता अथवा मुक्ति के सम्बन्ध मे यह सब वागाडम्बर और वृथा है। माया के भीतर स्वाधीनता नही है।

प्रत्येक व्यक्ति ही विचार, मन और कार्य मे एक पत्थर के टुकडे अथवा उस मेज के समान बद्ध है। मैं तुम लोगो के सम्मुख व्याख्यान दे रहा हूँ, और तुम सब मेरी बात सुन रहे हो, यह दोनो तथ्य कठोर कार्य-कारण-नियम के अधीन हैं। माया से जितने दिन तुम बाहर नही जाते, उतने दिनो स्वाधीनता अथवा मुक्ति नही है। वह मायातीत अवस्था आत्मा की यथार्थ स्वाधीनता है। किन्तु मनुष्य कितने ही तीक्ष्णबुद्धि क्यो न हो और उनको इस युक्ति की सत्यता या बल कितने ही अधिक स्पष्ट रूप से क्यो न दिखे कि यहाँ की कोई भी वस्तु स्वाधीन या मुक्त नही हो सकती, फिर भी सबको बाध्य होकर अपने को स्वाधीन मानना पडता है, ऐसा किये

में उसका उत्तर नहीं मिलता। इस स्तर पर प्रश्न मिथ्यास्तरीय रह जाता है और उसका उत्तर भी उसी प्रकार है। किन्तु अब इस प्रश्न ने अत्यन्त गुरुतर रूप धारण किया है—यह भ्रम किस प्रकार आया? तथा उत्तर भी उसके अनुसार ही गम्भीर है। उत्तर यह है कि असम्भव प्रश्न के उत्तर की आशा मत करो। इस प्रश्न के अन्तर्गत वाक्य परस्पर विरोधी है, अत प्रश्न ही असम्भव है। क्या पूर्णता शब्द से किसका बोध होता है? जो देश-काल-निमित्त के अतीत है, वह ही पूर्ण है। उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो पूर्ण किस प्रकार अपूर्ण हुआ? तर्कशास्त्र की भाषा में निबद्ध करने पर प्रश्न इस प्रकार होगा 'जो वस्तु कार्य कारण-सम्बन्ध के अतीत है वह किस प्रकार कार्यरूप म परिणत होती है?' यहाँ तो तुम अपना ही खण्डन कर रहे हो। तुमने पहले ही मान लिया है वह कार्य-कारण-सम्बन्ध के अतीत है उसके पश्चात् तुम जिज्ञासा कर रहे हो किस प्रकार वह कार्य में परिणत हुआ। कार्य-कारण-सम्बन्ध की सीमा के भीतर ही केवल प्रश्न पूछा जा सकता है जिस सीमा तक देश काल-निमित्त का अधिकार है उसी सीमा तक यह प्रश्न पूछा जा सकता है। किन्तु उसके परे की वस्तु के सम्बन्ध में प्रश्न करना ही निरर्थक है, क्योंकि प्रश्न न्यायशास्त्र के विरुद्ध हो जाता है। देश-काल-निमित्त की सीमा रेखा के भीतर किसी काल में उसका उत्तर दिया नहीं जा सकता तथा उसके अतीत प्रदेश में जाने पर क्या उत्तर प्राप्त होगा यह वहाँ जाने पर ही जाना जा सकता है। इसीलिए विज्ञ व्यक्ति इस प्रश्न को रहने देते हैं। जब कोई व्यक्ति बीमार होता है तब उस रोग की उत्पत्ति के विषय में पहले जानने का हठ न करके रोग दूर करने का यह यत्न करता है।

यह प्रश्न एक और रूप में पूछा जाता है। यह अपेक्षाकृत निम्न स्तर का तो है किन्तु अधिक व्यावहारिक है। प्रश्न यह है—इस भ्रम को किसने उत्पन्न किया? कोई सत्य क्या कभी भ्रम उत्पन्न कर सकता है? कदापि नहीं। हम देखते हैं, एक भ्रम ही एक अन्य भ्रम को उत्पन्न करता रहता है यह फिर एक अन्य भ्रम की सृष्टि करता है इसी प्रकार चलता रहता है। रोग ही रोग-प्रसव करता रहता है स्वास्थ्य कभी रोग-प्रसव नहीं करता। जल और जल की तरंग में कोई भेद नहीं है—कार्य कारण का ही दूसरा एक रूप मात्र है। कार्य जब भ्रम है, तब उसका कारण भी अवश्य भ्रम होगा। यह भ्रम किसने उत्पन्न किया? अवश्य और एक भ्रम ने। इसी प्रकार तर्क करने पर तर्क का फिर अन्त नहीं होगा—भ्रम का फिर आदि प्राप्त

वृक्ष का फल खाने के लिए प्रलोभित किया। इससे ही उन्हें भले-बुरे का ज्ञान हुआ और पाप ने पहले पृथ्वी में प्रवेश किया।

अभी तक बौद्धिक दृष्टि से सब स्पष्ट है, किन्तु अब साधना की बात आ रही है। सच्चा कार्य तो साधना है। इस एकत्व की उपलब्धि के लिए क्या किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता है ? निश्चित रूप से है। साधना के द्वारा तुम लोगो को ब्रह्म बनना होगा, यह बात नही है, वह तो तुम पहले से ही हो। तुम लोगो को ईश्वर वनना होगा अथवा पूर्ण बनना होगा, यह बात सत्य नही है। तुम सदैव पूर्णस्वरूप हो और जिस क्षण ही तुम सोचते हो, तुम पूर्ण नही हो, वह एक भ्रम होता है। यह भ्रम—जिसके कारण तुम लोग अपने को अमुक पुरुष, अमुक नारी समझते हो—अन्य एक भ्रम के द्वारा दूर हो सकता है, और साधना अथवा अभ्यास ही वह अन्य भ्रम है। आग आग को खा जायगी—तुम एक भ्रम को नष्ट करने के लिए दूसरे भ्रम की सहायता ले सकते हो। मेघ का एक खण्ड आकर मेघ के दूसरे खण्ड को हटा देगा, अन्त मे दोनो ही चले जायँगे। तो ये साधनाएँ क्या हैं ? हमे सर्वदा ही स्मरण रखना होगा कि, हम मुक्त होगे, यह बात नही है, हम सदा ही मुक्त हैं। हम बद्ध है, इस प्रकार की भावना मात्र ही भ्रम है, हम सुखी हैं अथवा हम असुखी हैं, इस प्रकार की भावना मात्र ही गुरुतर भ्रम है, और एक भ्रम आयगा कि हमे मुक्त होने के लिए साधना, उपासना और चेष्टा करनी होगी, यह भ्रम आकर पहले भ्रम को भगा देगा, तब दोनो भ्रम ही दूर हो जायँगे।

मुसलमान और हिन्दू लोमडी को अत्यन्त अपवित्र मानते हैं। यदि कुत्ता भोजन छू ले तो उसे फेंक देना पडता है, उमे फिर कोई नही खाता। किसी मुसलमान के घर मे एक लोमडी प्रवेश करके मेज़ से कुछ खाना लेकर भाग गयी। वह व्यक्ति बडा ही दरिद्र था। उसने अपने लिए उस दिन अत्यन्त उत्तम भोज का आयोजन किया था और वह सबका सब लोमडी के स्पर्श से अपवित्र हो गया! इस कारण उसने एक मुल्ला के पास जाकर निवेदन किया—"साहव, एक लोमडी आकर हमारे खाने मे से कुछ खा गयी है, अव उसका कोई उपाय कीजिये। हमने सव वस्तुएँ अत्यन्त स्वादिष्ट तैयार करायी थी। हमारी बडी इच्छा थी कि परम तृप्ति के सहित हम वह भोजन करें। इतने मे नीच लोमडी ने आकर सव नष्ट कर दिया। आप इसकी जो भी हो, एक व्यवस्था कर दीजिये।" मुल्ला ने मुहूर्त भर कुछ सोचा, उसके पश्चात् उसने उसका एकमात्र समाधान स्थिर करके कहा, "इसका एकमात्र उपाय—एक कुत्ता लाकर, जिस थाल को लोमडी जूठा कर गयी है, उसी थाल से उसे कुछ खिलाना है। कुत्ते और लोमडी सदा लडते रहते हैं। जव लोमडी की जूठन भी तुम्हारे पेट मे जायगी, कुत्ते की जूठन भी जायगी, ये दोनो जूठनें परस्पर वहाँ झगडा करेंगी, तव सव शुद्ध हो जायगा!" हम लोग भी वहुत कुछ इसी प्रकार की समस्या मे पड गये हैं। हम अपूर्ण हैं, यह एक भ्रम है, हमने उसे दूर करने के

जिया रहा ही नहीं जा सकता। जब तक हम न कहें कि हम स्वाधीन हैं, तब तक कोई काम ही नहीं चल सकता। इसका तात्पर्य यह है कि हम जिस स्वाधीनता की बात करते हैं, वह मेघराशि के भीतर से निर्मल नीलाकाश की झलक मात्र है और नीलाकाशरूप वास्तविक स्वाधीनता उसके बाहर है। यथार्थ स्वाधीनता इसी भ्रम में, इसी मिथ्या में, इसी व्यर्थ के संसार में, इन्द्रिय-मन-देह से समन्वित इस ब्रह्माण्ड में रह नहीं सकती। ये समस्त अनादि अनन्त स्वप्न—जो हमारे वश में नहीं हैं, जिन्हें वश में लाया भी नहीं जा सकता, जो अव्यवस्थित हैं, भग्न और असाम जस्यमय हैं—उन्हीं समग्र स्वप्नों को लेकर हमारा यह जगत् है। तुम जब स्वप्न में देखते हो कि बीस सिरवाला एक दैत्य तुमको पकड़ने के लिए आ रहा है और तुम उससे भाग रहे हो, तुम उसे विचित्र नहीं समझते। तुम मानते हो, यह तो ठीक ही हो रहा है। हम जिसे नियम कहते हैं, वह भी उसी प्रकार का है। जो कुछ तुम नियम के रूप में निर्दिष्ट करते हो, वह सब केवल आकस्मिक घटना मात्र है, इसका कोई अर्थ नहीं है। इस स्वप्न की अवस्था में तुम उसे नियम कहकर अभिहित करते हो। माया के भीतर जहाँ तक यह देश-काल निमित्त का नियम विद्यमान है, वहाँ तक स्वाधीनता अथवा मुक्ति नहीं है और ये उपासना की विविध पद्धतियाँ इस माया के अन्तर्गत हैं। ईश्वर की धारणा एवं पशु और मनुष्य की धारणा सब इस माया के भीतर हैं, इसलिए सब समभाव से भ्रमात्मक हैं, सब स्वप्नमात्र हैं। आजकल हमें जगत् में अतिबुद्धि विस्मय देखने को मिलते हैं। तुम उनके समान तर्क न कर बैठना, इस विषय में सावधान हो जाओ। वे कहते हैं, ईश्वर धारणा भ्रमात्मक है, किन्तु इस जगत् की धारणा सत्य है। वास्तव में ये दोनों धारणाएँ ही एक तर्क पर प्रतिष्ठित हैं। उन्हें केवल यथार्थतः नास्तिक होने का अधिकार है, जो इह जगत् और पर जगत् दोनों ही अस्वीकार करते हैं। दोनों ही एक ही युक्ति पर प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर से लेकर क्षुद्रतम जीव तक, घास की पत्ती से लेकर ब्रह्मा तक, उसी एक माया का राजत्व है। एक ही प्रकार से उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा अथवा अस्तित्वहीनता सिद्ध होती है। जिस व्यक्ति को ईश्वर-धारणा भ्रमात्मक लगती है, उसको अपनी देह और मन की धारणा भी भ्रमात्मक लगना उचित है। जब ईश्वर उड़ जाता है, तब देह और मन भी उड़ जाता है और जब दोनों का ही लोप होता है, तब वही जो यथार्थ सत्ता है, वह चिरकाल के लिए रह जाती है। 'वहाँ आँखें जा नहीं सकतीं, वाणी नहीं जा सकती, मन भी नहीं। हम उसे देख नहीं पाते और जान भी नहीं पाते।'[1]

---

१ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः। केनोपनिषद् ॥१।३॥

अभी तक बौद्धिक दृष्टि से सब स्पष्ट है, किन्तु अब साधना की बात आ रही है। सच्चा कार्य तो साधना है। इस एकत्व की उपलब्धि के लिए क्या किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता है? निश्चित रूप से है। साधना के द्वारा तुम लोगों को ब्रह्म बनना होगा, यह बात नही है, वह तो तुम पहले से ही हो। तुम लोगों को ईश्वर बनना होगा अथवा पूर्ण बनना होगा, यह बात सत्य नही है। तुम सदैव पूर्णस्वरूप हो और जिस क्षण ही तुम सोचते हो, तुम पूर्ण नही हो, वह एक भ्रम होता है। यह भ्रम—जिसके कारण तुम लोग अपने को अमुक पुरुष, अमुक नारी समझते हो—अन्य एक भ्रम के द्वारा दूर हो सकता है, और साधना अथवा अभ्यास ही वह अन्य भ्रम है। आग आग को खा जायगी—तुम एक भ्रम को नष्ट करने के लिए दूसरे भ्रम की सहायता ले सकते हो। मेघ का एक खण्ड आकर मेघ के दूसरे खण्ड को हटा देगा, अन्त मे दोनो ही चले जायेंगे। तो ये साधनाएँ क्या है? हमे सर्वदा ही स्मरण रखना होगा कि, हम मुक्त होगे, यह बात नही है, हम सदा ही मुक्त हैं। हम बद्ध है, इस प्रकार की भावना मात्र ही भ्रम है, हम सुखी हैं अथवा हम असुखी है, इस प्रकार की भावना मात्र ही गुरुतर भ्रम है, और एक भ्रम आयगा कि हमे मुक्त होने के लिए साधना, उपासना और चेष्टा करनी होगी, यह भ्रम आकर पहले भ्रम को भगा देगा, तब दोनो भ्रम ही दूर हो जायेंगे।

मुसलमान और हिन्दू लोमडी को अत्यन्त अपवित्र मानते हैं। यदि कुत्ता भोजन छू ले तो उसे फेंक देना पडता है, उसे फिर कोई नही खाता। किसी मुसलमान के घर मे एक लोमडी प्रवेश करके मेज़ से कुछ खाना लेकर भाग गयी। वह व्यक्ति बडा ही दरिद्र था। उसने अपने लिए उस दिन अत्यन्त उत्तम भोज का आयोजन किया था और वह सबका सब लोमडी के स्पर्श से अपवित्र हो गया। इस कारण उसने एक मुल्ला के पास जाकर निवेदन किया—"साहब, एक लोमडी आकर हमारे खाने मे से कुछ खा गयी है, अब उसका कोई उपाय कीजिये। हमने सब वस्तुएँ अत्यन्त स्वादिष्ट तैयार करायी थी। हमारी बडी इच्छा थी कि परम तृप्ति के सहित हम वह भोजन करें। इतने मे नीच लोमडी ने आकर सब नष्ट कर दिया। आप इसकी जो भी हो, एक व्यवस्था कर दीजिये।" मुल्ला ने मुहूर्त भर कुछ सोचा, उसके पश्चात् उसने उसका एकमात्र समाधान स्थिर करके कहा, "इसका एकमात्र उपाय—एक कुत्ता लाकर, जिस थाल को लोमडी जूठा कर गयी है, उसी थाल से उसे कुछ खिलाना है। कुत्ते और लोमडी सदा लडते रहते है। जब लोमडी की जूठन भी तुम्हारे पेट मे जायगी, कुत्ते की जूठन भी जायगी, ये दोनो जूठनें परस्पर वहाँ झगडा करेंगी, तब सब शुद्ध हो जायगा।" हम लोग भी बहुत कुछ इसी प्रकार की समस्या मे पड गये हैं। हम अपूर्ण हैं, यह एक भ्रम है, हमने उसे दूर करने के

लिए और एक भ्रम की सहायता ली कि पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें साधना करनी होगी। इस क्षण एक भ्रम दूसरे भ्रम को दूर कर देगा जैसे हम एक काँटा निकालने के लिए दूसरे काँटे की सहायता लेते हैं और अन्त में दोनो ही काँटे फेंक देते हैं। ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं, जिनको एक बार 'तत्त्वमसि' सुनने पर ही तत्क्षण ज्ञान का उदय होता है। क्षणमात्र मे यह जगत् उड जाता है तथा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो जाता है किन्तु और सबको इस बन्धन की धारणा दूर करने के लिए कठोर यत्न करना होता है।

प्रथम प्रश्न यह है ज्ञानयोगी होने के अधिकारी कौन हैं ? वे ही जिनमे निम्न-लिखित साधन-सम्पत्तियाँ हैं

प्रथमत इहामुत्रफलभोगविराग—इस जीवन मे अथवा पर जीवन में सब प्रकार के कर्मफल और सब प्रकार की भोगवासना का त्याग है। यदि तुम ही इस जगत् के स्रष्टा हो तो तुम जो इच्छा करोगे वही पाओगे क्योंकि तुम यह अपने भोग के लिए सर्जन करोगे। केवल किसीको शीघ्र अथवा किसीको विलम्ब से यह फलकाम होता है। कोई कोई तत्क्षण उसे प्राप्त करते हैं अन्य के पक्ष मे उनके समस्त भूतसंस्कार उनकी वासना-पूर्ति में बाधा डालते रहते हैं। हम इह जन्म अथवा पर जन्म की भोगवासना को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया करते हैं। इह जन्म अथवा पर जन्म अथवा तुम्हारा किसी प्रकार का जन्म है यह नितान्त अस्वीकार करो क्योंकि जीवन मृत्यु का ही नामान्तर मात्र है। तुम जो जीवनसम्पन्न प्राणी हो यह भी अस्वीकार करो जीवन के लिए कौन व्यस्त है ? जीवन एक भ्रम मात्र है मृत्यु उसका एक और पक्ष मात्र है। सुख इस भ्रम का ही एक पक्ष है और दुःख दूसरा पक्ष है। सब विषय इसी प्रकार है। जीवन अथवा मृत्यु को लेकर तुम्हारा क्या हुआ ? यह सब तो मन की सृष्टि मात्र है। इसे ही इहामुत्रफलभोगविराग कहते हैं।

इसके पश्चात् शम अथवा मन के संयम की आवश्यकता है। मन को ऐसा शान्त करना होगा कि वह फिर तरंगो में भग्न होकर सब प्रकार की वासनाओं का क्रीडाक्षेत्र न बने। मन को स्थिर रखना होगा बाहर के अथवा भीतर के किसी कारण से उसमें जिससे तरंग न उठे—केवल इच्छा-शक्ति के द्वारा मन को सम्पूर्ण रूप से संयत करना होगा। ज्ञानयोगी शारीरिक अथवा मानसिक किसी प्रकार की सहायता नहीं लेते। वे केवल दार्शनिक विचार, ज्ञान और इच्छा-शक्ति—इन सब साधनो मे ही विश्वास करते हैं। उसके पश्चात् तितिक्षा—किसी प्रकार का विलाप किये बिना सब दुःखों का सहन है। जब तुम्हारा किसी प्रकार का अनिष्ट घटित हो उस ओर ध्यान न दो। यदि सामने बाघ आये स्थिर होकर खड़े रहो। भागेगा कौन ? अनेक व्यक्ति हैं जो तितिक्षा का अभ्यास करते हैं और उसमे

कृतकार्य होते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेक है, जो भारत मे ग्रीष्म ऋतु मे प्रखर मध्याह्न-सूर्य के ताप मे गगातीर पर सोये रहते हैं और शीतकाल मे गगाजल मे सारे दिन डूबे रहते हैं। उसकी कुछ परवाह नही करते। अनेक व्यक्ति हिमालय की तुषारराशि मे बैठे रहते है, किसी प्रकार के वस्त्र आदि की चिन्ता नही करते। ग्रीष्म ही अन्तत. क्या है ? शीत ही अन्तत क्या है ? यह सब आये जाये—हमारा उसमे क्या है ? 'हम' तो शरीर नही हैं। पाश्चात्य देशो मे इस पर विश्वास कर पाना कठिन है, किन्तु इस प्रकार लोग किया करते हैं, यह जान लेना अच्छा है। जिस प्रकार तुम्हारे देश के लोग तोप के मुँह मे अथवा युद्धक्षेत्र के बीच मे कूद पडने मे साहस दिखाया करते हैं, हमारे देश के लोग विचार द्वारा अपने दर्शन को खोज लेने, तथा उसे कार्यरूप मे परिणत करने मे साहसी हैं। वे इसके लिए प्राण दिया करते हैं। हम सच्चिदानन्दस्वरूप हैं—**सोऽहं, सोऽहं**। प्रतिदिन के कर्म-जीवन मे विलासिता को बनाये रखना जिस प्रकार पाश्चात्य आदर्श है, उसी प्रकार हमारा आदर्श कर्म जीवन मे सर्वोच्च मूल्य के आध्यात्मिक भाव की रक्षा करना है। हम इसके द्वारा यही प्रमाणित करना चाहते हैं कि धर्म केवल वाग्जाल नही है, किन्तु इस जीवन मे ही धर्म को सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण रूप से कार्य मे परिणत किया जा सकता है। यही तितिक्षा है—सब कुछ सहन करना—किसी विषय मे असन्तोष प्रकाशित न करना। हमने स्वत ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जो कहते हैं, 'हम आत्मा हैं—हमारे निकट ब्रह्माण्ड का भी गौरव क्या है ! सुख, दु ख, पाप, पुण्य, शीत, उष्ण, ये सब हमारे लिए कुछ भी नही हैं।' यही तितिक्षा है—देह के भोगसुख के लिए न दौडना। धर्म क्या है ? धर्म का अर्थ क्या इस प्रकार प्रार्थना करना है, "हमे यह दो, वह दो ?" धर्म के सम्बन्ध मे ये सब धारणाएँ प्रमाद हैं। जो धर्म को इस प्रकार का मानते हैं, उनमे ईश्वर और आत्मा की यथार्थ धारणा नही है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, 'गीध बहुत ऊँचे उडते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि रहती है जानवरो के शव की ओर।' जो हो, तुममे धर्म के सम्बन्ध मे जो सब धारणाएँ हैं, उनका फल क्या है, बताओ तो सही। मार्ग स्वच्छ करना और उत्तम प्रकार का अन्न-वस्त्र एकत्र करना ? अन्न-वस्त्र के लिए कौन चिन्ता करता है ? प्रति मुहूर्त लाखो व्यक्ति आ रहे हैं, लाखो जा रहे हैं—कौन परवाह करता है ? इस क्षुद्र जगत् के सुख-दु ख को ग्राह्य मानते ही क्यो हो ? यदि साहस हो, उनके बाहर चले जाओ। सब नियमो के बाहर चले जाओ, समग्र जगत् उड जाय—तुम अकेले आकर खडे होओ। 'हम परम सत् हैं, परम चित् और परम आनन्दस्वरूप—**सोऽहं, सोऽहं**।'

आत्मा और विश्व

प्रकृति मे प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म बीज रूप से प्रारम्भ होकर अधिकाधिक स्थूल रूप धारण करती है। कुछ समय तक उसकी स्थिति रहती है और फिर प्रारम्भ वाले सूक्ष्म बीज मे ही उसका लय हो जाता है। उदाहरणार्थ यह हमारी पृथ्वी एक नीहारिका-सदृश पदार्थ से उत्पन्न हुई, और ठंडी होते होते उसने यह ठोस यह रूप धारण कर लिया जिस पर हम रहते हैं। भविष्य मे पुन इसके टुकडे टुकडे हो जायँगे और यह आदिम नीहारिका की दशा को वापस चली जायगी। विश्व मे अनादि काल से यही हो रहा है। मनुष्य प्रकृति और जीवन का यही सम्पूर्ण इतिहास है।

प्रत्येक विकास (evolution) के पहले एक अन्तर्भाव या सकोच (involution) रहता है प्रत्येक व्यक्त दशा के पहले उसकी अव्यक्त दशा रहती है। समूचा वृक्ष सूक्ष्म रूप से अपने कारण बीज मे निहित रहता है। समूचा मनुष्य सूक्ष्म रूप से उस एक जीवसार (protoplasm) मे विद्यमान रहता है। यह समूचा विश्व मूल अव्याकृत प्रकृत मे निहित रहता है। प्रत्येक वस्तु सूक्ष्म रूप से अपने कारण मे उपस्थित रहती है। यह विकास अर्थात्—स्थूल से स्थूलतर रूपो की क्रमिक अभिव्यक्ति सत्य है पर साथ ही यह भी सत्य है कि इसके प्रत्येक स्तर के पूर्व उसका सकोच विद्यमान है। यह समग्र व्यक्त जगत् पहले अपनी अन्तर्भूत अवस्था मे विद्यमान था जो इन विविध रूपो मे अभिव्यक्त हुआ और फिर से यह अपनी उसी अन्तर्भूत दशा को प्राप्त हो जायगा। उदाहरणार्थ एक छोटे पौधे का जीवन लो। हम देखते हैं कि उसकी एकता दो वस्तुओ से मिलकर बनी है—उसका विकास या वृद्धि और ह्रास या मृत्यु। इससे एक इकाई बनती है—पौधे का जीवन। जीवन की शृखला मे पौधे के जीवन को एक कडी समझकर हम पूरी जीवन-शृखला पर विचार कर सकते हैं। जीवसार से प्रारम्भ होकर वही एक जीवन 'पूर्ण' मनुष्य मे परिणत होता है। मनुष्य इस शृखला की एक कडी है और विविध जीव-जन्तु तथा पेड पौधे इसकी अन्य कडियाँ हैं। अब इनके मूल अथवा उद्गम की ओर चलो—उन सूक्ष्माणुओ की ओर, जिनसे इनका प्रारम्भ हुआ है और पूरी शृखला को एक ही जीवन मानो तो देखोगे कि यहाँ का प्रत्येक विकास किसी न किसी पहले से अवस्थित वस्तु का ही विकास है।

जहाँ से यह प्रारम्भ होता है, वही इसका अन्त भी होता है। इस जगत् की परि-समाप्ति कहाँ है?—बुद्धि मे। सोचो, क्या ऐसा नही है? विकासवादियो के मतानुसार सृष्टि-क्रम मे बुद्धि ही का विकास सबसे अन्त मे हुआ। अतएव सृष्टि का प्रारम्भ या कारण भी बुद्धि ही होना चाहिये। प्रारम्भ मे यह बुद्धि अव्यक्त अवस्था मे रहती है और क्रमश वही व्यक्त रूप मे प्रकट होती है। अत विश्व मे पायी जानेवाली समस्त बुद्धियो की समष्टि ही वह अव्यक्त विश्व-बुद्धि है, जो उन विभिन्न रूपो मे प्रकाशित हो रही है, और जिसे शास्त्रो ने 'ईश्वर' की सज्ञा दी है। शास्त्र कहते हैं कि हम ईश्वर से ही आते हैं और फिर वही लौट जाते हैं। उसे चाहे किसी भी नाम से पुकारो, पर यह तुम अस्वीकार नही कर सकते कि प्रारम्भ मे वह अनन्त विश्व बुद्धि ही कारणरूप मे विद्यमान रहती है।

सम्मिश्रण कैसे बनता है? सम्मिश्रण वह है जिसमे कई कारण मिलकर कार्यरूप मे परिणत हो जाते हैं। अत ये सम्मिश्रण केवल कार्य-कारण वृत्त के अन्दर ही सीमित रहते है। जहाँ तक कार्य और कारण के नियमो की पहुंच है, वही तक सम्मिश्रण सम्भव है। उसके आगे, सम्मिश्रण की बात करना ही असम्भव है, क्योकि वहाँ तो कोई नियम लागू हो ही नही सकता। नियम केवल उस जगत् मे ही लागू होता है, जहाँ हम देख, सुन, अनुभव और कल्पना कर सकते हैं। उसके आगे हम किसी नियम की कल्पना ही नही कर सकते। वही हमारा जगत् है जिसका ज्ञान हमे इन्द्रियो या अनुमान द्वारा होता है। इन्द्रियो से हम वे बातें जानते है, जो उनकी पहुंच के भीतर है, और जो बातें हमारे मन में हैं, उन्हे हम अनुमान द्वारा जानते हैं। जो कुछ शरीर से परे है, वह इन्द्रियगम्य नही है, और जो मन से परे हैं, वह अनुमान या विचार के अतीत है, अत वह हमारे जगत् से बाहर की वस्तु है और इसीलिए वह कार्यकारण-नियम के भी अतीत है। मनुष्य की आत्मा कार्य-कारण-नियम से परे होने के कारण सम्मिश्रण नही है, किसी कारण का परिणाम नही है, अतएव वह नित्य मुक्त है और नियम के भीतर जो कुछ सीमित है, उस सबका शासनकर्ता है। चूंकि वह सम्मिश्रण नही है, इसलिए उसकी मृत्यु कभी न होगी, क्योकि मृत्यु का अर्थ है उन सब उपादानो मे परिणत हो जाना, जिनसे वस्तु निर्मित हुई है, विनाश का अर्थ है कार्य का अपने कारण मे वापस चला जाना। जब आत्मा की मृत्यु नही हो सकती तो, उसका जन्म भी नही हो सकता, क्योकि जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु की दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है। अतएव आत्मा जन्म और मृत्यु से परे है। तुम्हारा जन्म कभी हुआ ही नही, और मृत्यु भी कभी नही होगी। जन्म और मृत्यु तो केवल शरीर के धर्म है।

अद्वैतवाद कहता है कि 'अस्तित्व' रखनेवाली सभी वस्तुओ की समष्टि ही

का नाम विश्व है। स्थूल या सूक्ष्म जो कुछ भी है वह यही है। कारण और कार्य दोनों यही हैं सभी का स्पष्टीकरण और समाधान भी यही है। जिसे हम 'व्यष्टि' कहते हैं, वह 'समष्टि' ही की अभिव्यक्ति मात्र है। अपनी आत्मा के भीतर से ही हमें विश्व की धारणा होती है और यह बहिर्जगत् उसी अन्तर्जगत् का प्रकाश मात्र है। स्वर्ग इत्यादि लोकों की बातें यदि सच भी हों तो वे सब इस विश्व में ही हैं। वे सब मिलकर इस 'इकाई' का निर्माण करते हैं। अत प्रथम धारणा है एक 'समष्टि' की एक 'इकाई' की जो कि नानाविध छोटे छोटे अणुओं से बनी हुई है, और हममें से प्रत्येक ही मानो इस 'इकाई' का एक एक अंश है। प्रकट रूप में हम भले ही अलग अलग प्रतीत होते हों पर यथार्थ में हैं एक ही। हम जितना ही अपने को इस समष्टि से अलग समझते हैं उतना ही अधिक दुखी होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत ही नीति-शास्त्र का आधार है।

ईश्वर और ब्रह्म

स्वामी विवेकानन्द जब यूरोप मे थे, तब उनसे एक प्रश्न किया गया था कि वेदान्त दर्शन मे ईश्वर का क्या स्थान है। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था

ईश्वर व्यष्टियो की समष्टि है, और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव-शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओ (cells) रूपी अनेक व्यष्टियो की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है, और व्यष्टि ही जीव है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का कोशिकाओ पर, और इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार, जीव और ईश्वर सह-अस्तित्वमान है, यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का होगा ही। और चूंकि, हमारी इस धरती को छोडकर अन्य सब उच्चतर लोको मे अच्छाई या शुभ की मात्रा बुराई या अशुभ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, हम इन सबकी समष्टि—ईश्वर—को सर्वशुभ कह सकते है। समष्टिस्वरूप होने के कारण, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण है, इन्हे सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नही। ब्रह्म इन दोनो से परे है और निर्विकार है। ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है, जो अन्य इकाइयो की समष्टि नही—वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणु से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतो मे व्याप्त है, उसके बिना किसीका अस्तित्व सम्भव नही, और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्म ही है। जब मैं सोचता हूं अहं **ब्रह्मास्मि**, तब केवल मैं ही वर्तमान रहता हूं, मेरे अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व नही रह जाता। यही बात औरो के विषय मे भी है। अतएव, प्रत्येक ही वही पूर्ण ब्रह्मतत्त्व है।

आत्मा प्रकृति तथा ईश्वर

वेदान्त दर्शन के अनुसार मनुष्य को तीन तत्त्वों से बना हुआ मान सकते हैं। उसका बाह्यतम अंश शरीर है अर्थात् मनुष्य का स्थूल रूप जिसमें आँख नाक, कान आदि संवेदन के साधन हैं। यह आँख ही दृष्टि का कारण नहीं है यह केवल यन्त्र भर है। इसके पीछे इन्द्रिय है। इसी प्रकार कान श्रोत्रेन्द्रिय नहीं हैं वे केवल साधन हैं उनके पीछे इन्द्रिय है अथवा वह जिसे आधुनिक शरीर-शास्त्र की भाषा में केन्द्र कहते हैं। अवयवों को संस्कृत में इन्द्रिय कहते हैं। यदि आँखों को नियन्त्रित करनेवाले केन्द्र नष्ट हो जायें तो आँखें देख न सकेंगी। यही बात हमारी सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में है। फिर इन्द्रियाँ जब तक अन्य 'कुछ' किसी एक दूसरी वस्तु से संलग्न नहीं तब तक वे स्वयं किसी चीज के संवेदन में समर्थ नहीं हो पातीं। वह 'कुछ' है मन। तुमने अनेक बार देखा होगा कि जब तुम किसी चिन्तन में तल्लीन थे तुमने घड़ी की टिक्-टिक् को नहीं सुना। क्या? तुम्हारे कान अपने स्थान पर थे तरंगों का उनमें प्रवेश भी हुआ वे मस्तिष्क की ओर परिचालित भी हुईं, फिर भी तुमने नहीं सुना क्योंकि तुम्हारी इन्द्रिय के साथ तुम्हारा मन संयुक्त नहीं था। बाह्य वस्तुओं की प्रतिमाएँ इन्द्रियों के ऊपर पड़ती हैं और जब इन्द्रियों से मन जुड़ जाता है तब वह उस प्रतिमा को ग्रहण करता है और वह उसे जो रूप-रंग प्रदान करता है उसे अहंता अथवा 'मैं' कहते हैं। एक उदाहरण लो मैं किसी कार्य में व्यस्त हूँ और एक मच्छर मेरी अँगुली में काट रहा है। मैं इसका अनुभव नहीं करता क्योंकि मेरा मन किसी दूसरी वस्तु में लगा हुआ है। बाद में जब मेरा मन इन्द्रियों से प्रेषित प्रतिमाओं से संयुक्त हो जाता है तब प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मैं मच्छर की उपस्थिति के प्रति सचेत हो जाता हूँ। इसी प्रकार केवल मन का इन्द्रिय से संयुक्त हो जाना पर्याप्त नहीं है, इच्छा के रूप में प्रतिक्रिया का होना भी आवश्यक है। यह शक्ति जहाँ से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जो ज्ञान और निश्चय करने की शक्ति है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। प्रथम बाह्य साधन फिर इन्द्रिय और फिर मन का इन्द्रिय से संयुक्त होना और इसके बाद बुद्धि की प्रतिक्रिया अत्यावश्यक है और जब ये सब बातें पूरी हो जाती हैं तब तुरन्त 'मैं' और बाह्य वस्तु का विचार तत्काल स्फुरित होता है। तभी प्रत्यक्ष प्रत्यय और ज्ञान की निष्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रिय जो साधन मात्र है शरीर का अवयव है और

उसके पीछे ज्ञानेन्द्रिय है जो उससे सूक्ष्मतर है, तब क्रमश मन, बुद्धि और अहकार है। वह अहकार कहता है 'मैं'—मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ इत्यादि। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया जिन शक्तियो द्वारा परिचालित होती है, उन्हे तुम जीवनी-शक्तियाँ कह सकते हो, सस्कृत मे उन्हे 'प्राण' कहते हैं। मनुष्य का यह स्थूल रूप, यह शरीर, जिसमे बाह्य साधन है, सस्कृत मे 'स्थूल शरीर' कहा गया है। इसके पीछे इन्द्रिय से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि तथा अहकार का सिलसिला है। ये तथा प्राण मिलकर जो यौगिक घटक बनाते है, उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। ये शक्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वो से निर्मित हैं, इतने सूक्ष्म कि शरीर पर लगनेवाला बडा से बड़ा आघात भी उन्हे नष्ट नही कर सकता। शरीर के ऊपर पडनेवाली किसी भी चोट के बाद वे जीवित रहते हैं। हम देखते है कि स्थूल शरीर स्थूल तत्त्वो से बना हुआ है और इसीलिए वह हमेशा नूतन होता, और निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। किन्तु मन, बुद्धि और अहकार आदि आभ्यतर इन्द्रिय सूक्ष्मतम तत्त्वो से निर्मित हैं, इतने सूक्ष्म कि वे युग युग तक चलते रहते हैं। वे इतने सूक्ष्म है कि कोई भी वस्तु उनका प्रतिरोध नही कर सकती, वे किसी भी अवरोध को पार कर सकते है। स्थूल शरीर बुद्धि-शून्य है, और वह सूक्ष्मतर पदार्थ से बना होने के कारण सूक्ष्म भी है। यद्यपि एक भाग मन, दूसरा बुद्धि तथा तीसरा अहकार कहा जाता है, पर एक ही दृष्टि मे हमे विदित हो जाता है कि इनमे से किसीको भी 'ज्ञाता' नही कहा जा सकता। इनमे से कोई भी प्रत्यक्षकर्ता, साक्षी, कार्य का भोक्ता अथवा क्रिया को देखनेवाला नही है। मन की ये समस्त गतियाँ, बुद्धि तत्त्व अथवा अहकार अवश्य ही किसी दूसरे के लिए है। सूक्ष्म भौतिक द्रव्य से निर्मित होने के कारण ये स्वय प्रकाशक नहीं हो सकतीं। उनका प्रकाशक तत्त्व उन्हीमे अन्तर्निहित नही हो सकता। उदाहरणार्थ इस मेज़ की अभिव्यक्ति किसी भौतिक वस्तु के कारण नही हो सकती। अत उन सबके पीछे कोई न कोई अवश्य है, जो वास्तविक प्रकाशक, वास्तविक दर्शक और वास्तविक भोक्ता है, जिसे सस्कृत मे 'आत्मा' कहते है—मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का वास्तविक 'स्व'। वस्तुओ का असली देखनेवाला यही है। बाह्य साधन तथा इन्द्रियाँ प्रभावो को ग्रहण करती हैं, उन्हे मन तक पहुँचाती हैं, मन उन्हे बुद्धि तक ले जाता है, बुद्धि उन्हे दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित करती है और इन सबका आधार आत्मा है, जो उनकी देखभाल करता है तथा अपनी आज्ञाएँ तथा निर्देश प्रदान करता है। वह इन सभी यन्त्रो का शासक है, घर का स्वामी तथा शरीर का सिंहासनारूढ राजा है। अहकार, बुद्धि और चिन्तन की शक्तियाँ, इन्द्रियाँ, उनके यन्त्र, शरीर और ये सब उसकी आज्ञा का पालन करते है। इन सबको प्रकाशित करनेवाला वही है। यह मनुष्य की आत्मा है। इसी प्रकार, हम देख सकते

है कि जो विश्व के एक छोटे से अंश के सम्बन्ध में सत्य है वही सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। यदि समानुरूपता विश्व का नियम है तो विश्व का प्रत्येक अंश उसी योजना के अनुसार बना हुआ होना चाहिए, जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व बना हुआ है। इसलिए हमारा यह सोचना स्वाभाविक है कि विश्व कहे जानेवाले इस स्थूल भौतिक रूप के पीछे एक सूक्ष्मतर तत्त्वों का विश्व अवश्य होगा जिसे हम विचार कहते हैं और उसके पीछे एक 'आत्मा' होगी जो इस समस्त विचार को सम्भव बनाती है जो आज्ञा देती है और जो इस विश्व की सिंहासनारूढ़ राज्ञी है। वह आत्मा जो प्रत्येक मन और शरीर के पीछे है 'प्रत्यगात्मा' अथवा व्यक्तिगत आत्मा कही जाती है और जो आत्मा विश्व के पीछे उसकी पथप्रदर्शक नियामक और शासक है, वह ईश्वर है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ये सभी वस्तुएँ कहाँ से आयीं। उत्तर है आने का क्या अर्थ है? यदि यह अर्थ है कि शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है, तो यह असम्भव है। यह सारी सृष्टि यह समस्त अभिव्यक्ति शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। बिना कारण कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और कार्य कारण के पुनरुत्पादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहाँ यह शीशे का गिलास है। मान लो इसके हम टुकड़े टुकड़े कर दें, इसे पीस डालें और रासायनिक पदार्थों की मदद से इसका प्रायः उन्मूलन सा कर दें, तो क्या इस सबसे यह शून्य में वापस जा सकता है? कदापि नहीं। आकार नष्ट हो जायगा किन्तु जिन परमाणुओं से यह निर्मित है वे बने रहेंगे वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों से परे भले ही हो जायँ परन्तु वे बने रहते हैं और यह नितान्त सम्भव है कि इन्हीं पदार्थों से एक दूसरा गिलास भी बन सके। यदि यह बात एक दृष्टान्त के सम्बन्ध में सत्य है, तो प्रत्येक उदाहरण में भी सत्य होगी। कोई वस्तु शून्य से नहीं बनायी जा सकती। न कोई वस्तु शून्य में पुनः परिवर्तित की जा सकती है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, और फिर स्थूल से स्थूलतर रूप ग्रहण कर सकती है। वर्षा की बूँद समुद्र से निकलकर भाप के रूप में ऊपर उठती है और वायु द्वारा पहाड़ों की ओर परिचालित होती है वहाँ वह पुनः जल में बदल जाती है और सैकड़ों मील बहकर फिर अपने जनक समुद्र में मिल जाती है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। वृक्ष मर जाता है और केवल बीज छोड़ जाता है। वह पुनः दूसरे वृक्ष के रूप में उत्पन्न होता है जिसका पुनः बीज के रूप में अन्त होता है और यही क्रम चलता है। एक पक्षी का दृष्टान्त लो कैसे वह अण्डे से निकलता है एक सुन्दर पक्षी बनता है अपना जीवन पूरा करता है और अन्त में मर जाता है। वह केवल भविष्य के बीज रखनेवाले कुछ अण्डों को ही छोड़ जाता है। यही बात जानवरों के सम्बन्ध में सत्य है और यही मनुष्यों के सम्बन्ध में भी। अपना

है कि प्रत्येक वस्तु, कुछ वीजो से, कुछ प्रारम्भिक तत्त्वो से अथवा कुछ सूक्ष्म रूपो से उत्पन्न होती है और जैसे जैसे वह विकसित होती है, स्थूलतर होती जाती है, और फिर अपने सूक्ष्म रूप को ग्रहण करके शान्त पड जाती है। समस्त विश्व इसी क्रम से चल रहा है। एक ऐसा भी समय आता है, जब यह सम्पूर्ण विश्व गल कर सूक्ष्म हो जाता है, अन्त मे मानो पूर्णतया विलुप्त जैसा हो जाता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थ के रूप मे विद्यमान रहता है। आधुनिक विज्ञान एव गणित ज्योतिष (खगोल विद्या) से हमे विदित होता है कि यह पृथ्वी शीतल होती जा रही है और कालान्तर मे यह अत्यन्त शीतल हो जायगी, और तब यह खण्ड खण्ड होकर अधिकाधिक सूक्ष्म होती हुई पुन आकाश के रूप मे परिवर्तित हो जायगी। किन्तु उस सामग्री की रचना के निमित्त, जिससे दूसरी पृथ्वी प्रक्षिप्त होगी, परमाणु विद्यमान रहेगे। यह प्रक्षिप्त पृथ्वी भी विलुप्त होगी, और फिर दूसरी आविर्भूत होगी। इस प्रकार यह जगत् अपने मूल कारणो मे प्रत्यावर्तन करेगा, और उसकी सामग्री सघटित होकर—अवरोह, आरोह करती, आकार ग्रहण करती लहर के सदृश—पुन आकार ग्रहण करेगी। कारण मे बदल कर लौट जाने और फिर पुन बाहर निकल आने की प्रक्रिया को सस्कृत मे क्रमश 'सकोच' और 'विकास' कहते है, जिनका अर्थ सिकुडना और फैलना होता है। इस प्रकार समस्त विश्व सकुचित होता और प्रसार जैसा करता है। आधुनिक विज्ञान के अधिक मान्य शब्दो का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि वह अन्तर्भूत (सन्निहित) और विकसित होता है। तुम विकास के सम्बन्ध मे सुनते हो कि किस प्रकार सभी आकार निम्नतर आकारो से विकसित होते हैं और धीरे धीरे आधिकाधिक विकसित होते रहते हैं। यह बिल्कुल ठीक है, लेकिन प्रत्येक विकास के पहले अन्तर्भाव का होना आवश्यक है। हमे यह ज्ञात है कि जगत् मे उपलब्ध ऊर्जा का पूर्ण योग सदैव समान रहता है, और भौतिक पदार्थ अविनाशी है। तुम किसी भी प्रकार भौतिक पदार्थ का एक परमाणु भी बाहर नही ले जा सकते। न तो तुम एक फुट-पाउण्ड ऊर्जा कम कर सकते हो और न जोड सकते हो। सम्पूर्ण योग सदैव वही रहेगा। सकोचन और विकास के कारण केवल अभिव्यक्ति मे अन्तर होता है। इसलिए यह प्रस्तुत चक्र अपने पूर्वगामी चक्र के अन्तर्भाव या सकोचन से प्रसूत विकास का चक्र है। और यह चक्र पुन अन्तर्भूत या सकुचित होगा, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जायगा और उससे फिर दूसरे चक्र का उद्भव होगा। समस्त विश्व इसी क्रम से चल रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि का यह अर्थ नही कि अभाव से भाव की रचना हुई है। अधिक उपयुक्त शब्द का व्यवहार करें तो हम कहेंगे कि अभिव्यक्ति हो रही है और ईश्वर विश्व को अभिव्यक्त करनेवाला है। यह विश्व मानो उसका नि श्वास है जो उसी मे समाहित हो जाता है और

जिसे वह फिर बाहर निकाल देता है। वेदों में एक अत्यन्त सुन्दर उपमा दी गयी है—वह अनादि पुरुष निःश्वास के रूप में इस विश्व का प्रकट करता है और श्वास रूप से इसे अपने में अन्तर्निहित करता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम एक छोटे से धूलि-कण को साँस के द्वारा निकालते और साँस द्वारा उसे पुनः भीतर ले जाते हैं। यह सब तो बिल्कुल ठीक है, लेकिन प्रश्न हो सकता है, प्रथम कल्प में इसका क्या रूप था? उत्तर है, प्रथम कल्प से क्या आशय है? वह तो था ही नहीं। यदि तुम काल का प्रारम्भ बतला सकते हो, तो समय की समस्त धारणा ही ध्वस्त हो जाती है। उस सीमा पर विचार करने की चेष्टा करो, जहाँ काल का आरम्भ हुआ, तुमको उस सीमा के परे के समय के सम्बन्ध में विचार करना पड़ेगा। जहाँ देश प्रारम्भ होता है, उस पर विचार करो, तुमको उसके परे के देश के सम्बन्ध में भी सोचना पड़ेगा। देश और काल अनन्त हैं, अतः न तो उनका आदि है और न अन्त। यह धारणा इससे कहीं अच्छी है कि ईश्वर ने पाँच मिनट में विश्व की रचना की और फिर सो गये और तब से आज तक सो रहे हैं। दूसरी ओर यह धारणा अनन्त स्रष्टा के रूप में हमें ईश्वर प्रदान करती है। लहरों का एक क्रम है, वे उठती हैं और गिरती हैं और ईश्वर इस अनन्त प्रक्रिया का संचालक है। जिस प्रकार विश्व अनादि और अनन्त है, उसी प्रकार ईश्वर भी। हम देखते हैं कि ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि यदि हम कहें कि किसी समय सृष्टि नहीं थी, सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप में भी, तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि ईश्वर भी नहीं था, क्योंकि हम ईश्वर को साक्षी, विश्व के द्रष्टा के रूप में समझते हैं। जब विश्व नहीं था, तब वह भी नहीं था। एक प्रत्यय के बाद दूसरा प्रत्यय आता है। कार्य के विचार से हम कारण के विचार तक पहुँचते हैं और यदि कार्य नहीं होगा, तो कारण भी नहीं होगा। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार विश्व शाश्वत है, उसी प्रकार ईश्वर भी शाश्वत है।

आत्मा भी शाश्वत है। क्यों? सबसे पहले तो यह कि वह पदार्थ नहीं है। वह स्थूल शरीर भी नहीं है, न वह सूक्ष्म शरीर है जिसे मन अथवा विचार कहा गया है। न तो वह भौतिक शरीर है और न ईसाई मत में प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर परिवर्तनशील हैं। स्थूल शरीर तो प्रायः प्रत्येक मिनट बदलनेवाला है और उसकी मृत्यु हो जाती है, किन्तु सूक्ष्म शरीर सुदीर्घ अवधि तक बना रहता है—जब तक कि हम मुक्त नहीं हो जाते और तब वह भी विलय हो जाता है। जब व्यक्ति मुक्त हो जाता है, तब उसका सूक्ष्म शरीर विघटित हो जाता है। स्थूल शरीर तो जितनी बार वह मरता है, विघटित होता रहता है। आत्मा किसी प्रकार के परमाणुओं से निर्मित न होने के कारण निश्चय ही अविनाशी

है। विनाश से हम क्या समझते हैं ? विनाश उन उपादानो का उच्छेदन है, जिनसे किसी वस्तु का निर्माण होता है। यदि यह गिलास चूर चूर हो जाय, तो इसके उपादान विघटित हो जायेंगे और वही गिलास का नाश होगा। अणुओ का विघटन ही हमारी दृष्टि मे विनाश है। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि जो वस्तु परमाणुओ से निर्मित नही है, वह नष्ट नही की जा सकती, वह कभी विघटित नही हो सकती। आत्मा का निर्माण भौतिक तत्त्वो से नही हुआ है। यह एक अविभाज्य इकाई है। इसलिए वह अनिवार्यत अविनाशी है। इसी कारण इसका अनादि और अनन्त होना भी अनिवार्य है। अत आत्मा अनादि एव अनन्त है।

तीन सत्ताएँ हैं। एक तो प्रकृति है जो अनन्त है, परन्तु परिवर्तनशील है। समग्र प्रकृति अनादि और अनन्त है, परन्तु इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यह उस नदी के समान है, जो हज़ारो वर्षो तक समुद्र मे निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। नदी सदैव वही रहती है, परन्तु वह प्रत्येक क्षण परिवर्तित हुआ करती है, जलकण निरन्तर अपनी स्थिति बदलते रहते हैं। फिर ईश्वर है जो अपरिवर्तनशील एव नियन्ता है और फिर आत्मा है, ईश्वर की भाँति अपरिवर्तन-शील तथा शाश्वत है, परन्तु नियन्ता के अधीन है। एक तो स्वामी है, दूसरा सेवक और तीसरी प्रकृति है।

ईश्वर विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण है, अत कार्य की निष्पत्ति के लिए कारण का विद्यमान होना अनिवार्य है। केवल यही नही, कारण ही कार्य वन जाता है। शीशे की उत्पत्ति कुछ भौतिक पदार्थो एव शिल्पकार के द्वारा प्रयुक्त कुछ शक्तियो के सयोग से होती है। शीशे मे उन पदार्थो एव शक्तियो का योग है। जिन शक्तियो का प्रयोग हुआ है, वे शक्तियाँ सयोजन (लगाव) की शक्ति वन गयी हैं, और यदि वह शक्ति चली जाती है, तो शीशा बिखरकर चूर चूर हो जायगा, यद्यपि वे पदार्थ निश्चित रूप से उस शीशे मे है। केवल उनका रूप परिवर्तित होता है। कारण ने कार्य का रूप धारण किया है। जो भी कार्य तुम देखते हो, उसका विश्लेपण तुम कारण के रूप मे कर सकते हो। कारण ही कार्य के रूप मे अभिव्यक्त होता है। इसका यह अर्थ है, यदि ईश्वर सृष्टि का कारण है और सृष्टि कार्य है, तो ईश्वर ही सृष्टि वन गया है। यदि आत्माएँ कार्य और ईश्वर कारण है, तो ईश्वर ही आत्माएँ वन गया है। अत प्रत्येक आत्मा ईश्वर का अश है। 'जिस प्रकार एक अग्नि-पिड से अनेक स्फुलिंग उद्‌भूत होते हैं, उसी प्रकार उस अनन्त सत्ता से आत्माओ का यह समस्त विश्व प्रादुर्भूत हुआ है।'

हमने देखा कि एक तो अनन्त ईश्वर है, और दूसरी अनन्त प्रकृति है। तथा, अनन्त सख्याओवाली अनन्त आत्माएँ हैं। यह धर्म की पहली सीढी है, इसे द्वैतवाद

कहते हैं—अर्थात् वह अवस्था जिसमें मनुष्य अपने और ईश्वर को शाश्वत रूप से पृथक मानता है जहाँ ईश्वर स्वयं एक पृथक सत्ता है और मनुष्य स्वयं एक पृथक सत्ता है तथा प्रकृति स्वयं एक पृथक सत्ता है। फिर द्वैतवाद यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु में द्रष्टा और दृश्य (विषय और विषयी) एक दूसरे के विपरीत होते हैं। जब मनुष्य प्रकृति को देखता है तब वह द्रष्टा (विषयी) है और प्रकृति दृश्य (विषय) है। वह द्रष्टा और दृश्य के बीच में द्वैत देखता है। जब वह ईश्वर की ओर देखता है वह ईश्वर को दृश्य के रूप में देखता है और स्वयं को द्रष्टा के रूप में। व पूर्णरूपेण पृथक हैं। यह ईश्वर और मनुष्य के बीच का द्वैत है। यह साधारणत धर्म के प्रति पहला दृष्टिकोण है।

इसके पश्चात् धर्म का दूसरा दृष्टिकोण आता है जिसका अभी मैंने तुमको दिग्दर्शन कराया है। मनुष्य यह समझने लगता है कि यदि ईश्वर विश्व का कारण है और विश्व उसका कार्य तो ईश्वर स्वयं ही विश्व और आत्माएँ बन गया है और वह (मनुष्य) उस सम्पूर्ण ईश्वर का अंश मात्र है। हम लोग छोटे छोटे जीव हैं उस अग्नि-पिण्ड के स्फुलिंग हैं और समस्त सृष्टि ईश्वर की साक्षात् अभिव्यक्ति है। यह दूसरी सीढ़ी है। संस्कृत म इसे 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं। जिस प्रकार हमारा यह शरीर है, और यह शरीर आत्मा के आवरण का कार्य करता है और आत्मा इस शरीर म एव इसके माध्यम से स्थित है उसी प्रकार अनन्त आत्माओं का यह विश्व एव प्रकृति ही मानो ईश्वर का शरीर है। जब अन्तर्लय का समय आता है ब्रह्माण्ड सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है फिर भी वह ईश्वर का शरीर बना रहता है। जब स्थूल अभिव्यक्ति होती है तब भी सृष्टि ईश्वर के शरीर के रूप में बनी रहती है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा मनुष्य के शरीर और मन की आत्मा है उसी प्रकार ईश्वर हमारी आत्माओं की आत्मा है। तुम सब लोगों ने इस उक्ति को प्रत्येक धर्म में सुना होगा 'हमारी आत्माओं की आत्मा'। इसका आशय यही है। मानो वह उनमें रमता है उन्हें निर्देश देता है और उन सबका शासक है। प्रथम दृष्टि द्वैतवाद के अनुसार हम सभी ईश्वर और प्रकृति से शाश्वत रूप से पृथक व्यक्ति हैं। दूसरी दृष्टि के अनुसार हम व्यक्ति हैं परन्तु ईश्वर के साथ एक हैं। हम सब उसीमें हैं। हम सब उसीके अंश हैं हम सब एक हैं। फिर भी मनुष्य और मनुष्य में मनुष्य और ईश्वर में एक कठोर व्यक्तित्व है जो पृथक है और पृथक नहीं भी।

अब इसमें भी सूक्ष्मतर प्रश्न उठता है। प्रश्न है क्या अनन्त के अंश हो सकते हैं? अनन्त के अंशों म क्या तात्पर्य है? यदि तुम इस पर विचार करो तो देखोगे कि यह असम्भव है। अनन्त के अंश नहीं हो सकते वह हमेशा अनन्त ही रहता है

और दो अनन्त भी नहीं हो सकते। यदि उसके अंश किये जा सकते हैं, तो प्रत्येक अंश अनन्त ही होगा। यदि ऐसा मान भी लें, तो वे एक दूसरे को ससीम कर देंगे और दोनों ही ससीम हो जायेंगे। अनन्त केवल एक तथा अविभाज्य ही हो सकता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि अनन्त एक है, अनेक नहीं, और वही एक अनन्त आत्मा, पृथक् आत्माओं के रूप में प्रतीत होनेवाले असंख्य दर्पणों में प्रतिबिम्बित हो रही है। यह वही अनन्त आत्मा है, जो विश्व का आधार है, जिसे हम ईश्वर कहते हैं। वही अनन्त आत्मा मनुष्य के मन का आधार भी है, जिसे हम जीवात्मा कहते हैं।

ईश्वरत्व की धारणा

मनुष्य की आन्तरिक अभीप्सा उस व्यक्ति को पाने के लिए होती है जो प्रकृति के नियमों से परे हो। वेदान्ती ऐसे नित्य ईश्वर में विश्वास करता है जब कि बौद्ध और सांख्यवादी केवल जन्येश्वर अर्थात् वह ईश्वर जो पहले मनुष्य था और फिर आध्यात्मिक साधना के द्वारा ईश्वर बना में विश्वास करते हैं। पुराण इन दो मतवादों का समन्वय अवतारवाद द्वारा करते हैं। उनका कहना है कि जन्येश्वर नित्य ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसने माया से जन्येश्वर का रूप धारण कर लिया है। सांख्यवादियों का नित्य ईश्वर के प्रति यह तर्क कि 'एक जीवन्मुक्त आत्मा विश्व की रचना कैसे कर सकती है' एक मिथ्या आधार पर आश्रित है, क्योंकि तुम एक मुक्तात्मा को कोई आदेश नहीं दे सकते। वह मुक्त है अर्थात् वह जो चाहे सो कर सकता है। वेदान्त के अनुसार जन्येश्वर विश्व की रचना पालन अथवा संहार नहीं कर सकता।

।

आत्मा का स्वरूप और लक्ष्य

आद्यतम धारणा यह है कि जब मनुष्य मरता है, तो उसका विलोप नही हो जाता। कुछ वस्तु मनुष्य के मर जाने के बाद भी जीती है और जीती चली जाती है। ससार के तीन सर्वाधिक पुरातन राष्ट्रो—मिस्रियो, बेबीलोनिअनो और प्राचीन हिन्दुओ—की तुलना करना और उन सबसे इस धारणा को ग्रहण करना शायद अधिक अच्छा होगा। मिस्रियो और बेबीलोनिअनो मे हमे आत्मा विषयक जो एक प्रकार की धारणा मिलती है—वह है प्रतिरूप देह (double)। उनके अनुसार इस देह के भीतर एक प्रतिरूप देह और है, जो वहाँ गति तथा क्रिया करती रहती है, और जब बाह्य देह मरती है, तो प्रतिरूप बाहर चला जाता तथा एक निश्चित समय तक जीता रहता है, किन्तु इस प्रतिरूप का जीवन बाह्य शरीर के परिरक्षण पर अवलम्बित है। यदि प्रतिरूप देही द्वारा छोडे हुए देह के किसी अग को क्षति पहुँचे, तो उसके भी उन्ही अगो का क्षतिग्रस्त हो जाना निश्चित है। इसी कारण मिस्रियो और बेबीलोनिअनो मे शवलेपन और पिरामिड निर्माण द्वारा किसी व्यक्ति के मृत शरीर को सुरक्षित रखने के प्रति इतना आग्रह मिलता है। बेबीलोनिअनो और प्राचीन मिस्रियो दोनो मे यह धारणा भी मिलती है कि यह प्रतिरूप चिरन्तन काल जीता नही रह सकता, अधिक से अधिक वह केवल एक निश्चित समय तक ही जीता रह सकता है, अर्थात् केवल उतने समय तक, जब तक उसके द्वारा त्यागे देह को सुरक्षित रखा जा सके।

दूसरी विचित्रता इस प्रतिरूप से सबधित भय का तत्त्व है। प्रतिरूप देह सदैव दु खी और विपन्न रहती है, उसके अस्तित्व की दशा अत्यन्त कष्ट की होती है। वह उन खाद्य और पेय पदार्थों तथा भोगो को माँगने के निमित्त जीवित व्यक्तियो के निकट बारबार आती रहती है, जिनको वह अब प्राप्त नही कर सकती। वह नील नदी के जल को, उसके उस ताजे जल को, पीना चाहती है, जिसको वह अब पी नही पाती। वह उन खाद्य पदार्थों को पुन प्राप्त करना चाहती है, जिनका आनन्द वह इस जीवन मे लिया करती थी, और जब वह देखती है कि वह उन्हे नही पा सकती, तो दूसरी देह क्रूर हो जाती है और यदि उसे वैसा आहार न दिया जाय, तो वह कभी कभी जीवित व्यक्तियो को मृत्यु एव विपत्ति से धमकाती है।

आर्य विचार धारा पर दृष्टि डालते ही हमे तत्काल एक बडा अन्तर मिलता

है। प्रतिरूप की धारणा यहाँ भी है किन्तु वह एक प्रकार की आत्मिक देह का रूप ले लेता है और एक बड़ा अन्तर यह है कि इस आत्मिक देह का जीवन आत्मा या तुम उसे जो भी कहो उसके द्वारा त्यागे हुए शरीर के द्वारा परिसीमित नहीं होता। वरन् इसके विरुद्ध वह इस शरीर से स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है और मृत शरीर को जला देने की विचित्र आर्य प्रथा इसी कारण है। वे व्यक्ति द्वारा त्यागे शरीर से छुटकारा पा जाना चाहते है, जब कि मिस्री दफनाकर, शवलेपन कर, या पिरामिड बनाकर उसे सुरक्षित रखना चाहते है। मृतको को नष्ट करने की नितान्त आदिम पद्धति के अतिरिक्त किसी सीमा तक विकसित राष्ट्रो मे मृत व्यक्तियो के शरीरो से मुक्ति पाने की उनकी प्रणाली आत्मा सम्बन्धी उनकी धारणा का एक उत्तम परिचायक होती है। जहाँ जहाँ अपगत आत्मा की धारणा मृत शरीर की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मिलती है वहाँ हम शरीर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति भी सदैव मिलती है और दफन करने का कोई न कोई रूप भी। दूसरी ओर, जिनमे यह धारणा विकसित हो गयी है कि आत्मा शरीर से एक स्वतन्त्र वस्तु है और शव के नष्ट कर दिये जाने पर भी उसे कोई क्षति नही पहुँचती उनमे सदैव दाह की पद्धति का ही आश्रय लिया जाता है। इसीलिए सभी प्राचीन आर्य जातियो मे हमे शव की दाह-क्रिया मिलती है यद्यपि पारसियो ने शव को एक मीनार पर खुला छोड देने के रूप मे उसको परिवर्तित कर लिया है। किन्तु उस मीनार के स्वयं नाम (दखम) का ही अर्थ है एक दाह-स्थान जिससे प्रकट है कि पुरातन काल मे वे भी अपने शवो का दाह करते थे। दूसरी विशेषता यह है कि आर्यों म इन प्रतिरूपो के प्रति कभी भय का तत्त्व नही रहा। वे आहार या सहायता माँगने के निमित्त नीचे नही आते और न सहायता न मिलने पर क्रूर हो उठते है और न वे जीवित लोगो का विनाश ही करते है। वरन् वे हर्षयुक्त होते है और स्वतन्त्र हो जाने के कारण प्रसन्न। चिता की अग्नि विघटन की प्रतीक है। इस प्रतीक से कहा जाता है कि वह अपगत आत्मा को कोमलता से ऊपर से जाय और उस स्थान मे ले जाय जहाँ पितर निवास करते है इत्यादि।

ये दोनो धारणाएँ हमे तत्काल ही एक समान प्रतीत होती है—एक आशावादी है और दूसरी प्रारम्भिक होने के साथ निराशावादी। पहली दूसरी का ही प्रस्फुटन है। यह नितान्त सम्भव है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे स्वयं आर्य भी ठीक मिस्रियो जैसी धारणा रखते थे या रखते रहे हो। उनके पुरातनतम आलेखनो के अध्ययन से हमे इसी धारणा की सम्भावना उपलब्ध होती है। किन्तु यह पर्याप्त दीप्तिमान वस्तु होती है कोई दीप्तिमान वस्तु। मनुष्य के मरने पर यह आत्मा पितरो के साथ निवास करने चली जाती है और उनके सुख का रसास्वादन करती

हुई वहाँ जीती रहती है। वे पितर उसका स्वागत वडी दयालुता से करते हैं। भारत मे आत्मा विषयक इस प्रकार की धारणा प्राचीनतम है। आगे चलकर यह धारणा उत्तरोत्तर उच्च होती जाती है। तव यह ज्ञात हुआ कि जिसे पहले आत्मा कहा जाता था, वह वस्तुत आत्मा है ही नही। यह द्युतिमय देह, सूक्ष्म देह, कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, फिर भी है शरीर ही, और सभी देहो का स्थूल या सूक्ष्म पदार्थो से निर्मित होना अनिवार्य है। रूप और आकार से युक्त जो भी है, उसका सीमित होना अनिवार्य है और वह नित्य नही हो सकता। प्रत्येक आकार मे परिवर्तन अन्तर्निहित है। जो परिवर्तनशील है, वह नित्य कैसे हो सकता है? अत इस द्युतिमय देह के पीछे उनको एक वस्तु मानो ऐसी मिल गयी, जो मनुष्य की आत्मा है। उसको आत्मा की सज्ञा मिली। यह आत्मा की धारणा तभी आरम्भ हुई। उसमे भी विविध परिवर्तन हुए। कुछ लोगो का विचार था कि यह आत्मा नित्य है, वहुत ही सूक्ष्म है, लगभग उतनी ही सूक्ष्म जितना एक परमाणु, वह शरीर के एक अग विशेष मे निवास करती है, और मनुष्य के मरने पर अपने साथ द्युतिमय देह को लिये यह आत्मा प्रस्थान कर जाती है। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो उसी आधार पर आत्मा के परमाणविक स्वरूप को अस्वीकार करते थे, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने इस द्युतिमय देह को आत्मा मानना अस्वीकार किया था।

इन सभी विभिन्न मतो से साख्य दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमे हमे तत्काल ही विशाल विभेद मिलते है। उसकी धारणा यह है कि मनुष्य के पास पहले तो यह स्थूल शरीर है, स्थूल शरीर के पीछे सूक्ष्म शरीर है, जो मन का यान जैसा है, और उसके भी पीछे—जैसा कि साख्यवादी उसे कहते है—मन का साक्षी आत्मा या पुरुष है, और यह सर्वव्यापक है। अर्थात्, तुम्हारी आत्मा, मेरी आत्मा, प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा, एक ही समय मे सर्वत्र विद्यमान है। यदि वह निराकार है, तो कैसे माना जा सकता है कि वह देश में व्याप्त है? देश को व्याप्त करनेवाली हर वस्तु का आकार होता है। निराकार केवल अनन्त ही हो सकता है। अत प्रत्येक आत्मा सर्वत्र है। जो एक अन्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, वह और भी अधिक आश्चर्यजनक है। प्राचीन काल मे यह सभी अनुभव करते थे कि मानव प्राणी उन्नतिशील हैं, कम से कम उनमे बहुत से तो हैं ही। पवित्रता, शक्ति और ज्ञान मे वे बढते ही जाते हैं, और तव यह प्रश्न किया गया मनुष्यो द्वारा अभिव्यक्त यह ज्ञान, यह पवित्रता, यह शक्ति कहाँ से आये हैं? उदाहरणार्थ, यहाँ किसी भी ज्ञान से रहित एक शिशु है। वही शिशु बढता है और एक बलिष्ठ, शक्तिशाली और ज्ञानी मनुष्य हो जाता है। उस शिशु को ज्ञान और शक्ति की अपनी यह सम्पदा कहाँ से प्राप्त हुई? उत्तर मिला कि वह आत्मा मे है, शिशुकी आत्मा मे

यह ज्ञान और शक्ति आरम्भ से ही थे। यह शक्ति यह पवित्रता और यह बल उस आत्मा में थे किन्तु वे थे अव्यक्त अब वे व्यक्त हो उठे हैं। इस व्यक्त या अव्यक्त होने का अर्थ क्या है? जैसा कि शास्त्र में कहा जाता है प्रत्येक आत्मा शुद्ध और पूर्ण सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है किन्तु बाह्यतया वह स्वयं को केवल अपने मन के अनुरूप ही व्यक्त कर सकती है। मन आत्मा का प्रतिबिम्बक दर्पण जैसा है। मेरा मन एक निश्चित सीमा तक मेरी आत्मा की शक्तियों को प्रतिबिम्बित करता है इसी प्रकार तुम्हारा मन और हर किसी का मन अपनी शक्तियों को करता है। जो दर्पण अधिक निर्मल होता है, वह आत्मा को अधिक अच्छी तरह प्रतिबिम्बित करता है। अत आत्मा की अभिव्यक्ति मन के अनुरूप विविधतामय होती है किन्तु आत्माएँ स्वरूपत शुद्ध और पूर्ण होती हैं।

एक दूसरा सम्प्रदाय भी था जिसका मत यह था कि यह सब ऐसा नहीं हो सकता। यद्यपि आत्माएँ स्वरूपत शुद्ध और पूर्ण हैं, उनकी यह शुद्धता और पूर्णता जैसा कि लोगों ने कहा है कभी सकुचित और कभी प्रसृत हो जाती है। कतिपय कर्म और कतिपय विचार ऐसे हैं जो आत्मा के स्वरूप को सकुचित जैसा कर देते हैं और फिर ऐसे भी विचार और कर्म हैं जो उसके स्वरूप को प्रकट करते हैं, व्यक्त करते हैं। फिर इसकी व्याख्या की गयी है। ऐसे सभी विचार और कर्म जो आत्मा की पवित्रता और शक्ति को सकुचित कर देते हैं, अशुभ कर्म और अशुभ विचार हैं और वे सभी विचार एव कर्म जो स्वयं को व्यक्त करने में आत्मा को सहायता देते शक्तियों को प्रकट जैसा होने देते है शुभ और नैतिक हैं। इन दो सिद्धान्तों में अन्तर अत्यन्त अल्प है वह कम बेश प्रसारण और सकुचन शब्दों का खेल है। वह मत जो विविधता को केवल आत्मा के उपलब्ध मन पर निर्भर मानता है, निस्सन्देह अधिक उत्तम व्याख्या है लेकिन सकुचन और प्रसारण का सिद्धान्त इन दो शब्दों की शरण लेना चाहता है उनसे पूछा जाना चाहिए कि सकुचन और प्रसारण का अर्थ क्या है? आत्मा एक निराकार चेतन वस्तु है। प्रसार और सकोच का क्या अर्थ है यह प्रश्न तुम किसी सामग्री के सम्बन्ध में ही कर सकते हो चाहे वह स्थूल हो जिसे हम भौतिक द्रव्य कहते हैं चाहे वह सूक्ष्म मन हो किन्तु इसके परे, यदि वह देश-काल से आबद्ध भौतिक द्रव्य नहीं है उसको लेकर प्रसार और सकोच शब्दों की व्याख्या कैसे की जा सकती है? अतएव यह सिद्धान्त जो मानता है कि आत्मा सर्वदा शुद्ध और पूर्ण है केवल उसका स्वरूप कुछ मनों में अधिक और कुछ में कम प्रतिबिम्बित होता है, अधिक उत्तम प्रतीत होता है। जैसे जैसे मन परिवर्तित होता है उसका रूप क्रमश एव अधिकाधिक निर्मल सा होता जाता है और वह आत्मा का अधिक उत्तम प्रतिबिम्ब देने लगता है। यह इसी प्रकार

चलता रहता है और अन्तत वह इतना शुद्ध हो जाता है कि वह आत्मा के गुण का पूर्ण प्रतिविम्वन कर सकता है, तव आत्मा मुक्त हो जाती है।

यही आत्मा का स्वरूप है। उसका लक्ष्य क्या है? भारत मे सभी विभिन्न सम्प्रदायो मे आत्मा का लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है। उन सवमे एक ही धारणा मिलती है और वह है मुक्ति की। मनुष्य असीम है, किन्तु अभी जिस सीमा मे उसका अस्तित्व है, वह उसका स्वरूप नही है। किन्तु इन सीमाओ के मध्य, वह अनन्त, असीम, अपने जन्मसिद्ध अधिकार, अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने तक, आगे और ऊपर वढने के निमित्त सघर्ष कर रहा है। हम अपने आसपास जो इन सब सघातो और पुनर्सघातो तथा अभिव्यक्तियो को देखते हैं, वे लक्ष्य या उद्देश्य नही हैं, वरन् वे मात्र प्रासगिक और गौण हैं। पृथ्वियो और सूर्यो, चन्द्रो और नक्षत्रो, उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ, हमारे हास्य और अश्रु, हमारे हर्प और शोक जैसे सघात उन अनुभवो को प्राप्त करने मे हमारी सहायता के लिए है, जिनके माध्यम से आत्मा अपने परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करती और सीमितता को निकाल बाहर करती है। तव वह वाह्य या आन्तरिक प्रकृति के नियमो से वँधी नही रह जाती। तव वह समस्त नियमो, समस्त सीमाओ, समस्त प्रकृति के परे चली जाती है। प्रकृति आत्मा के नियन्त्रण के अधीन हो जाती है, और जैसा वह अभी मानती है, आत्मा प्रकृति के नियन्त्रण के अधीन नही रह जाती। आत्मा का यही एक लक्ष्य है, और उस लक्ष्य—मुक्ति—को प्राप्त करने मे वह जिन समस्त क्रमागत सोपानो मे व्यक्त होती तथा जिन समस्त अनुभवो के मध्य गुज़रती है, वे सव उसके जन्म माने जाते हैं। आत्मा एक निम्नतर देह धारण करके उसके माध्यम से अपने को व्यक्त करने का प्रयास जैसा करती है। वह उसको अपर्याप्त पाती है, उसे त्यागकर एक उच्चतर देह धारण करती है। उसके द्वारा वह अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न करती है। वह भी अपर्याप्त पायी जाने पर त्याग दी जाती है और एक उच्चतर देह आ जाती है, इसी प्रकार यह क्रम एक ऐसा शरीर प्राप्त हो जाने तक निरन्तर चलता रहता है, जिसके द्वारा आत्मा अपनी सर्वोच्च महत्त्वाकाक्षाओ को व्यक्त करने मे समर्थ हो पाती है। तब आत्मा मुक्त हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि यदि आत्मा अनन्त और सर्वत्र अस्तित्वमान है, जैसा कि निराकार चेतन वस्तु होने के कारण उसे होना ही चाहिए, तो उसके द्वारा विविध देहो को धारण करने तथा एक के वाद दूसरी देह मे होकर गुज़रते रहने का अर्थ क्या है? भाव यह है कि आत्मा न जाती है, न आती है, न जन्मती है, न मरती है। जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म कैसे हो सकता है? आत्मा शरीर मे रहती है, यह कहना निरर्थक प्रलाप है। असीम एक सीमित देश मे किस प्रकार निवास कर सकता

है? किन्तु जैसे मनुष्य अपने हाथ में पुस्तक लेकर एक पृष्ठ पढ़कर उसे उलट देता है, दूसरे पृष्ठ पर जाता है, पढ़कर उसे उलट देता है आदि, किन्तु ऐसा होने में पुस्तक उलटी जा रही है, पन्ने उलट रहे हैं, मनुष्य नहीं—वह सदा वहीं विद्यमान रहता है जहाँ वह है—और ऐसा ही आत्मा के सम्बन्ध में सत्य है। सम्पूर्ण प्रकृति ही वह पुस्तक है जिसे आत्मा पढ़ रही है। प्रत्येक जन्म उस पुस्तक का एक पृष्ठ जैसा है, पढ़ा जा चुकने पर वह पलट दिया जाता है और यही क्रम सम्पूर्ण पुस्तक के समाप्त होने तक चलता रहता है और आत्मा प्रकृति का सम्पूर्ण भोग प्राप्त करके पूर्ण हो जाती है। फिर भी न वह कभी चलती है, न कहीं जाती न आती है, वह केवल अनुभवों का संचय करती रहती है। किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम गतिशील रहे हों। पृथ्वी गतिशील है तथापि हम सोचते हैं कि पृथ्वी के बजाय सूर्य चल रहा है और हम जानते हैं कि यह भूल है, ज्ञानेन्द्रियों का एक भ्रम है। इसी प्रकार का भ्रम यह है कि हम जन्म लेते हैं और मरते हैं, हम आते हैं, जाते हैं। न हम आते हैं, न जाते हैं, और न हम जन्मे ही हैं। क्योंकि आत्मा को जाना कहाँ है? उसके जाने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। कहाँ है वह स्थान जहाँ वह पहले से ही विद्यमान नहीं है?

इस प्रकार प्रकृति के विकास और आत्मा की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त आ जाता है। उच्चतर और उच्चतर सत्ताओं से युक्त विकास की प्रक्रियाएँ आत्मा में नहीं हैं, वह जो कुछ है पहले से ही है। वे प्रकृति में हैं। किन्तु जैसे जैसे प्रकृति का विकास उत्तरोत्तर उच्चतर से उच्चतर सत्ताओं की ओर अग्रसर होता है, आत्मा की गरिमा अपने को अधिकाधिक व्यक्त करती है। कल्पना करो कि यहाँ एक पर्दा है और पर्दे के पीछे आश्चर्यजनक दृश्यावली है। पर्दे में एक छोटा सा छेद है, जिसके द्वारा हम पीछे स्थित दृश्य के एक क्षुद्र भाग की झलक पा सकते हैं। कल्पना करो कि यह छेद आकार में बढ़ता जाता है। और वे आकार में वृद्धि के साथ पीछे स्थित दृश्य दृष्टि के क्षेत्र में अधिकाधिक आता है, और जब पूरा पर्दा विलुप्त हो जाता है तो तुम्हारे तथा उस दृश्य के मध्य कुछ भी नहीं रह जाता, तब तुम उसे सम्पूर्ण देख सकते हो। पर्दा मनुष्य का मन है। उसके पीछे आत्मा की गरिमा, पूर्णता और अनन्त शक्ति है। जैसे जैसे मन उत्तरोत्तर अधिकाधिक निर्मल होता जाता है, आत्मा की गरिमा भी स्वयं को अधिकाधिक व्यक्त करती है। ऐसा नहीं है कि आत्मा परिवर्तित होती है, वरन् परिवर्तन पर्दे में होता है। आत्मा अपरिवर्तनशील वस्तु, अमर, शुद्ध, सदा मंगलमय है।

अतएव अन्ततः सिद्धान्त का रूप यह ठहरता है। उच्चतम से लेकर निम्नतम और दुष्टतम मनुष्य तक में, मनुष्यों में महानतम व्यक्तियों से लेकर हमारे

पैरो के नीचे रेंगनेवाले कीडो तक मे शुद्ध और पूर्ण, अनन्त और सदा मगलमय आत्मा विद्यमान है। कीडे मे आत्मा अपनी शक्ति और शुद्धता का एक अणुतुल्य क्षुद्र अश ही व्यक्त कर रही है और महानतम मनुष्य मे उसका सर्वाधिक। अन्तर अभिव्यक्ति के परिमाण का है, मूल तत्त्व मे नही। सभी प्राणियो मे उसी शुद्ध और पूर्ण आत्मा का अस्तित्व है।

स्वर्ग तथा अन्य स्थानो से सम्बन्धित धारणाएँ भी हैं, किन्तु उन्हे द्वितीय श्रेणी का माना जाता है। स्वर्ग की धारणा को निम्नस्तरीय माना जाता है। उसका उद्भव भोग की एक स्थिति पाने की इच्छा से होता है। हम मूर्खतावश समग्र विश्व को अपने वर्तमान अनुभव से सीमित कर देना चाहते हैं। बच्चे सोचते हैं कि सारा विश्व बच्चो से ही भरा है। पागल समझते हैं कि सारा विश्व एक पागल-खाना है, इसी तरह अन्य लोग। इसी प्रकार जिनके लिए यह जगत् इन्द्रिय सम्बन्धी भोग मात्र है, खाना और मौज उडाना ही जिनका समग्र जीवन है, जिनमे तथा नृशस पशुओ में बहुत कम अन्तर है, ऐसे लोगो के लिए किसी ऐसे स्थान की कल्पना करना स्वाभाविक है, जहाँ उन्हे और अधिक भोग प्राप्त होगे, क्योकि यह जीवन छोटा है। भोग के लिए उनकी इच्छा असीम है। अतएव वे ऐसे स्थानो की कल्पना करने के लिए विवश हैं, जहाँ उन्हे इन्द्रियो का अबाध भोग प्राप्त हो सकेगा, फिर जैसे हम और आगे बढते हैं, हम देखते हैं कि जो ऐसे स्थानो को जाना चाहते हैं, उन्हे जाना ही होगा, वे उसका स्वप्न देखेंगे, और जब इस स्वप्न का अत होगा, तो वे एक दूसरे स्वप्न मे होगे जिसमे भोग प्रचुर मात्रा मे होगा, और जब वह सपना टूटेगा तो उन्हे किसी अन्य वस्तु की बात सोचनी पडेगी। इस प्रकार वे सदा एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न की ओर भागते रहेगे।

इसके उपरान्त अन्तिम सिद्धान्त आता है, जो आत्मा विषयक एक और धारणा है। यदि आत्मा अपने स्वरूप और सारतत्त्व मे शुद्ध और पूर्ण है, और यदि प्रत्येक आत्मा असीम एव सर्वव्यापी है, तो अनेक आत्माओ का होना कैसे सम्भव है? असीम बहुत से नही हो सकते। बहुतो की बात ही क्या, दो तक भी नही हो सकते। यदि दो असीम हो, तो एक दूसरे को सीमित कर देगा, और दोनो ही ससीम हो जायँगे। असीम केवल एक ही हो सकता है और साहसपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि वह केवल एक है, दो नही।

दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, एक चोटी पर, दूसरा नीचे, दोनो ही अत्यन्त सुन्दर पखोवाले हैं। एक फलो को खाता है, दूसरा शान्त और गरिमामय तथा अपनी महिमा मे समाहित रहता है। नीचेवाला पक्षी अच्छे-बुरे फल खा रहा है और इन्द्रिय सुखो का पीछा कर रहा है, यदाकदा जब वह कोई कडुआ फल खा

विजयी असुर यदि विजित देवताओं के 'स्वर्ग' में राज्य करना चाहते थे तो वे देवताओं के बुद्धि-कौशल से थोड़े ही दिनों में देवताओं के दास बन जाते थे। अथवा असुर देवता के राज्य में लूटपाट मचाकर अपने स्थान में लौट जाते थे। देवता लोग जब एकत्र होकर असुरों को मारते थे, उस समय या तो असुर लोग समुद्र में जा छिपते थे या पहाड़ों अथवा जंगलों में। क्रमशः दोनों दल बढ़ने लगे। लाखों देवता और असुर इकट्ठे होने लगे। अब महा संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, जीत-हार होने लगीं। इस प्रकार मनुष्यों के मिलने-जुलने से वर्तमान समाज की सारी वर्तमान प्रथाओं की सृष्टि होने लगी। नाना प्रकार के नवीन विचारों की सृष्टि होने लगी तथा नाना प्रकार की विद्याओं की आलोचना आरम्भ हुई। एक दल हाथ या बुद्धि द्वारा काम में आनेवाली चीजें तैयार करने लगा, दूसरा दल उन चीजों की रक्षा करने लगा। सब लोग मिलकर आपस में उन सब चीजों का विनिमय करने लगे और बीच में से एक चालाक दल एक स्थान की चीजों को दूसरे स्थान पर ले जाने के वेतनस्वरूप सब चीजों का अधिकांश स्वयं हड़प करने लगा। एक दल खेती करता, दूसरा पहरा देता, एक दल बेचता तो दूसरा खरीदता। जिन लोगों ने खेतीबारी की, उन्हें कुछ नहीं मिला, जिन लोगों ने पहरा दिया उन लोगों ने जुल्म करके कितने ही हिस्से ले लिये। चीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाले व्यवसायियों की भी बाढ़ रही। आफत तो आयी उन पर, जिन्हें चीजों के ऊँचे दाम देने पड़े। पहरा देनेवालों का नाम हुआ राजा, एक स्थान से दूसरे स्थान में चीजें ले जानेवाले का नाम पड़ा सौदागर। ये दोनों दल काम तो कुछ करते न थे, पर लाभ का अधिकांश इन्हीं लोगों को मिलता था। जो दल चीजें तैयार करता था, उसे तो बस पेट पर हाथ रखकर भगवान् का नाम लेना पड़ता था।

वस्तु और वस्थाओं की उत्पत्ति

क्रमशः इन सभी भावों के सम्मिश्रण से एक गाँठ के ऊपर दूसरी गाँठ पड़ती गयी और इस प्रकार हमारे वर्तमान जटिल समाज की सृष्टि हुई। किन्तु पूर्व के चिह्न पूर्णतः नष्ट नहीं हुए। जो लोग पहले भेड़ चराते थे, मछलियाँ पकड़कर खाते थे, वे सभ्य होने पर लूटमार और चोरी करने लगे। पास में जंगल नहीं था कि वे लोग शिकार करते, पर्वत भी नहीं था कि भेड़ चराते—जन्म का रोजगार शिकार करना, भेड़ चराना या मछली पकड़ना, इनमें किसीकी सुविधा नहीं थी। इसीलिए यदि वे चोरी न करें, डाका न डालें तो जायें कहाँ? उन पूज्य प्रातःस्मरणीय स्त्रियों की कन्याएँ अब एक साथ एक से अधिक पुरुष से

ब्याह नही कर सकती थी, इसीलिए उन लोगो ने वश्यावृत्ति ग्रहण की। इस प्रकार भिन्न भिन्न ढग के, भिन्न भिन्न भाव के सभ्य और असभ्य देवताओ और असुरो मे उत्पन्न होकर मनुष्य-समाज की सृष्टि हुई। यही कारण है कि हम प्रत्येक समाज मे देवताओ की विविध लीलाए देखते है—साधु नारायण और चोर नारायण इत्यादि। पुन किसी समाज का चरित्र दैवी या आसुरी इन प्रकृतियो के लोगो की सख्या के अनुसार समझा जाने लगा।

प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यताओ की विभिन्न भित्तियाँ

जम्बूद्वीप की सारी सभ्यता का उद्भव समतल भूमि मे बडी बडी नदियो के किनारे—यागटिसीक्याग, गगा, सिन्धु और युफ्रेटीज के किनारे हुआ। इस सारी सभ्यता की आदि भित्ति खेतीबारी है। यह सारी सभ्यता देवता-प्रधान है और यूरोप की सारी सभ्यता का उत्पत्ति-स्थान या तो पहाड है अथवा समुद्रमय देश—चोर और डाकू ही इस सभ्यता की भित्ति हैं, इनमे आसुरी भाव अधिक है।

उपलब्ध इतिहास से मालूम होता है कि जम्बूद्वीप के मध्य भाग और अरब की मरुभूमि मे असुरो का प्रधान अड्डा था। इन स्थानो मे इकट्ठे होकर असुरो की सन्तान—चरवाहो और शिकारियो ने सभ्य देवताओ का पीछा करके उन्हे सारी दुनिया मे फैला दिया।

यूरोप खण्ड के आदिम निवासियो की एक विशेष जाति अवश्य पहले से ही थी। पर्वत की गुफाओ मे इस जाति का निवास था और इस जाति के जो लोग अधिक बुद्धिमान थे, वे थोडे जलवाले तालावो मे मचान बाँधकर उन्ही पर रहते और घर-द्वार निर्माण करते थे। ये लोग अपने सारे काम चकमक पत्थर से बने तीर, भाले, चाकू, कुल्हाडी आदि से ही चलाते थे।

ग्रीक

क्रमश जम्बूद्वीप का नरस्रोत यूरोप के ऊपर गिरने लगा। कही कही अपेक्षाकृत सभ्य जातियो का अभ्युदय हुआ। रूस देश की किसी किसी जाति की भाषा भारत की दक्षिणी भाषा से मिलती है, किन्तु ये जातियाँ बहुत दिनो तक अत्यन्त वर्बर अवस्था मे रही। एशिया माइनर के सभ्य लोगो का एक दल समीपवर्ती द्वीपो मे जा पहुँचा। उसने यूरोप के निकटवर्ती स्थानो पर अपना अधिकार जमाया और अपनी बुद्धि तथा प्राचीन मिस्र की सहायता से एक अपूर्व सभ्यता की सृष्टि की। उन लोगो को हम यवन कहते हैं, और यूरोपीय उन्हे ग्रीक नाम से पुकारते हैं।

यूरोपीय जातियों की सृष्टि

इधर बाद इटली में रोमन नामक एक दूसरी बर्बर जाति ने इट्रस्कन (Etruscan) नाम की सभ्य जाति को हराया और उसकी विद्या-बुद्धि को अपना कर स्वयं सभ्य हो गयी। क्रमशः रोमन लोगों का चारों ओर अधिकार हो गया। यूरोप खण्ड के दक्षिण और पश्चिम भाग के समस्त असभ्य लोग उनकी प्रजा बन गये, केवल उत्तरी भाग में जंगली बर्बर जातियाँ ही स्वाधीन रहीं। काल के प्रभाव से रोमन लोग ऐश्वर्य और विलासिता से दुर्बल होने लगे। उसी समय फिर जम्बूद्वीप की असुर सेना ने यूरोप के ऊपर चढ़ाई की। असुरों की मार खाकर उत्तर यूरोपीय बर्बर जातियाँ रोमन साम्राज्य के ऊपर टूट पड़ीं, रोम का नाश हो गया। अब उन्हीं असुरों की ताड़ना से यूरोप की बर्बर जाति तथा नष्ट होने से बचे हुए रोमन और ग्रीक लोगों के मिश्रण से एक अभिनव जाति की सृष्टि हुई। इसी समय यहूदी जाति, रोम द्वारा विजित तथा निष्कासित, यूरोप में फैल गयी। साथ ही उनका नया ईसाई धर्म भी यूरोप में फैल गया। ये सब विभिन्न जातियाँ, सम्प्रदाय, विचार और नाना प्रकार के आसुरी पदार्थ महामाया की कड़ाही में, रात दिन की लड़ाई तथा मारकाट रूपी आग के द्वारा गलकर मिल गये। इसीसे यूरोपीय जातियों की सृष्टि हुई।

हिन्दुओं का सा काला रंग, उत्तरी देशों का दूध की तरह सफेद रंग वाले, भूरे अथवा सफेद केश वाले, भूरी नीली आँखें, ग्रीक हिन्दुओं की तरह नाक, मुँह और आँख तथा चीनियों की तरह चपटे मुँह, इन सब आकृतियों से युक्त बर्बर—अतिबर्बर यूरोपीय जाति की उत्पत्ति हो गयी। कुछ दिनों तक वे आपस में ही मारकाट करते रहे, उत्तर के डाकू मौका पाने पर अपने से जो सभ्य थे उनका नाश करने लगे। बीच में ईसाई धर्म के दो गुरु—इटली के पोप और पश्चिम में कान्स्टान्टिनोपल शहर के पेट्रियार्क—इस पशुप्राय बर्बर जाति और उसके राजा रानी के ऊपर शासन करने लगे।

इस बार अरब की मरुभूमि में मुसलमानी धर्म की उत्पत्ति हुई। जंगली पशु के तुल्य अरबों ने एक महापुरुष की प्रेरणा से अदम्य तेज और अनाहत बल से पृथ्वी के ऊपर आघात किया। पश्चिम-पूर्व के दो प्रान्तों से उस तरंग ने यूरोप में प्रवेश किया। उसी प्रवाह में भारत और प्राचीन ग्रीक की विद्या-बुद्धि यूरोप में प्रवेश करने लगी।

मुसलमानों की भारत जाति पर विजय

जम्बूद्वीप के मध्यभाग में 'सेलजुक तातार' नाम की एक असुर जाति ने

इस्लाम धर्म ग्रहण किया और उसने एशिया माइनर आदि स्थानो को अपने कब्जे मे कर लिया। भारत को जीतने की अनेक बार चेष्टा करने पर भी अरब लोग सफल न हो सके। मुसलमानी अभ्युदय सारी पृथ्वी को जीतकर भी भारत के सामने कुण्ठित हो गया। उन लोगो ने एक बार सिन्धु देश पर आक्रमण किया था, पर उसे रख नही सके। इसके बाद फिर उन लोगो ने कोई यत्न नही किया।

कई शताब्दियो के पश्चात् जब तुर्क आदि जातियाँ बौद्ध धर्म छोडकर मुसलमान बन गयी, तो उस समय इन तुर्कों ने समभाव से हिन्दू, पारसी आदि सबको दास बना लिया। भारतवर्ष को जीतनेवाले मुसलमान विजेताओ मे एक दल भी अरबी या पारसी नही है, सभी तुर्की या तातारी हैं। सभी आगन्तुक मुसलमानो को राजपूताने मे 'तुर्क' कहते हैं। यही सत्य और ऐतिहासिक तथ्य है। राजपूताने के चारण लोग गाते थे—'तुर्कन को अब बाढ रह्यो है जोर।' और यही सत्य है। कुतुबुद्दीन से लेकर मुगल बादशाहो तक सब तातार लोग ही थे, अर्थात् जिस जाति के तिब्बती थे, उसी जाति के। सिर्फ वे मुसलमान हो गये और हिन्दू, पारसियो से विवाह करके उनका चपटा मुँह बदल गया। यह वही प्राचीन असुर वश है। आज भी काबुल, फारस, अरब और कास्टाटिनोपुल के सिहासन पर बैठकर वे ही तातारी असुर राज करते हैं, गान्धारी, पारसी और अरबी उनकी गुलामी करते हैं। विराट् चीन साम्राज्य भी उसी तातार मान्चु के पैर के नीचे था, पर उस मान्चु ने अपना धर्म नही छोडा, वह मुसलमान नही बना, वह महालामा का चेला था। यह असुर जाति कभी भी विद्या-बुद्धि की चर्चा नही करती, केवल लडाई लडना ही जानती है। उस रक्त के सम्मिश्रण विना वीर प्रकृति का होना कठिन है। उत्तर यूरोप, विशेषकर रूसियो मे उसी तातारी रक्त के कारण प्रबल वीर प्रकृति है। रूसियो मे तीन हिस्सा तातारी रक्त है। देव और असुर की लडाई अभी भी बहुत दिनो तक चलती रहेगी। देवता असुर-कन्याओ से व्याह करते हैं और असुर देवकन्याओ को छीन ले जाते हैं, इसी प्रकार प्रबल वर्णसकरी जातियो की सृष्टि होती है।

ईसाई और मुसलमान की लडाई

तातारो ने अरबी खलीफा का सिहासन छीन लिया, ईसाइयो के महातीर्थ जेरुसलम आदि स्थानो पर कब्जा कर ईसाइयो की तीर्थयात्रा बन्द कर दी तथा अनेक ईसाइयो को मार डाला। ईसाई धर्म के पोप लोग क्रोध से पागल हो गये। सारा यूरोप उनका चेला था। राजा और प्रजा को उन लोगो ने उभाडना शुरू किया। झुड के झुड यूरोपीय वर्बर जेरुसलम के उद्धार के लिए एशिया

मारकर की ओर बढ़ पड़े ! कितने तो आपस में ही लड़ मरे, कितने रोग से मर गये बाकी को मुसलमान मारने लगे। वे घोर बर्बर और भी पागल हो गये—मुसलमान जितनों को मारते थे उतने ही फिर आ जाते थे। वे नितान्त जंगली थे। अपने ही दल को लूटते थे। खाना न मिलने के कारण उन लोगों ने मुसलमानों को पकड़कर खाना आरम्भ कर दिया। यह बात आज भी प्रसिद्ध है कि अंग्रेजों का राजा रिचर्ड मुसलमानों के मांस से बहुत प्रसन्न होता था।

फलतः यूरोप में सभ्यता का प्रवेश

जंगली मनुष्य और सभ्य मनुष्य की लड़ाई में जो होता है वही हुआ—जेरुसलम आदि पर अधिकार न हो सका। किन्तु यूरोप सभ्य होने लगा। वहाँ के चमड़ा पहननेवाले पशु-मांस खानेवाले जंगली अंग्रेज फ्रेंच जर्मन आदि एशिया की सभ्यता सीखने लगे। इटली आदि में अपने यहाँ के नागाओं के समान जो सैनिक थे वे दर्शन शास्त्र सीखने लगे। ईसाइयों का नागा दल (Knight Templars) कट्टर अद्वैतवादी बन गया। अन्त में वे लोग ईसाइयों की भी हँसी उड़ाने लगे। उक्त दल के पास धन भी बहुत सा इकट्ठा हो गया था उस समय पोप की आज्ञा से धर्म-रक्षा के बहाने यूरोपीय राजाओं ने उन बेचारों को मारकर उनका धन लूट लिया।

इधर मूर नामक एक मुसलमान जाति ने स्पेन देश में एक अत्यन्त सभ्य राज्य की स्थापना की और वहाँ अनेक प्रकार की विद्याओं की चर्चा आरम्भ कर दी फलतः पहले-पहल यूरोप में यूनिवर्सिटियों की सृष्टि हुई। इटली फ्रांस और सुदूर इंग्लैण्ड से वहाँ विद्यार्थी पढ़ने आने लगे। राजे-रजवाड़ों के लड़के युद्ध विद्या आचार, कायदा सभ्यता आदि सीखने के लिए वहाँ आने लगे और घर-द्वार महल-मन्दिर सब नये ढंग से बनने लगे।

यूरोप की एक महासेना के रूप में परिणति

किन्तु सारा यूरोप एक महासेना का निवास-स्थान बन गया। यह भाव इस समय भी है। मुसलमान जब देश विजय करते थे तब उनका बादशाह अपने लिए एक बड़ा टुकड़ा रखकर बाकी सेनापतियों में बाँट देता था। वे लोग बादशाह को मालगुजारी नहीं देते थे किन्तु बादशाह को जितनी सेना की आवश्यकता पड़ती मिल जाती थी। इस प्रकार प्रस्तुत फौज का झमेला न रखकर आवश्यकता पड़ने पर बहुत बड़ी सेना एकत्र हो सकती थी। आज भी राजपूताने में यही बात मौजूद है। इसे मुसलमान ही इस देश में लाये हैं। यूरोपवालों ने भी मुसलमानों से ही

यह बात ली है। किन्तु मुसलमानो के यहाँ ये बादशाह, सामन्त और सैनिक, बाकी प्रजा। किन्तु यूरोप मे राजा तथा सामन्तो ने शेष प्रजा को एक तरह का गुलाम सा बना लिया। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी सामन्त का गुलाम बनकर ही जीवित रह सकता था। आज्ञा पाते ही उसे तैयार होकर लडाई के लिए निकल आना पडता था।

यूरोपीय सभ्यतारूपी वस्त्र के उपादान

यूरोपीय सभ्यता नामक वस्त्र के ये सब उपकरण हुए एक नातिशीतोष्ण-पहाडी समुद्र-तटमय प्रदेश इसका करघा बना और सर्वदा युद्धप्रिय बलिष्ठ अनेक जातियो की समष्टि से पैदा हुई एक सम्मिश्र जाति उसकी रुई हुई। इसका ताना हुआ आत्मरक्षा और धर्मरक्षा के लिए सर्वदा युद्ध करना। जो तलवार चला सकता है, वही बडा हुआ और जो तलवार चलाना नही जानता, वह स्वाधीनता का विसर्जन कर किसी वीर की छत्र-छाया मे रह, जीवन व्यतीत करने लगा। स वस्त्र का बाना हुआ व्यापार-वाणिज्य। इस सभ्यता का साधन था—तलवार, आधार था—वीरत्व, और उद्देश्य था—लौकिक और पारलौकिक भोग।

हमारी सभ्यता शान्तिप्रिय है

हमारी कहानी क्या है? आर्य लोग शान्तिप्रिय हैं, खेतीबारी कर अनाज पैदा करते है और शान्तिपूर्वक अपने परिवार के पालन-पोषण मे ही खुश होते हैं। उनके लिए साँस लेने का अवकाश यथेष्ट था, इसीलिए चिन्तनशील तथा सभ्य होने का अवकाश अधिक था। हमारे जनक राजा अपने हाथो से हल भी चलाते थे और उस समय के सर्वश्रेष्ठ आत्मविद् भी थे। यहाँ आरम्भ से ही ऋषि-मुनियो और योगियो आदि का अभ्युदय था। वे लोग आरम्भ से ही जानते थे कि ससार मिथ्या है। लडना-झगडना बेकार है। जो आनन्द के नाम से पुकारा जाता है, उसकी प्राप्ति शान्ति में है और शान्ति है शारीरिक भोग के विसर्जन मे। सच्चा आनन्द है मानसिक उन्नति मे और बौद्धिक विकास मे, न कि शारीरिक भोगो मे। जगलो को आबाद करना उनका काम था।

इसके बाद इस साफ भूमि मे निर्मित हुई यज्ञ की वेदी और उस निर्मल आकाश मे उठने लगा यज्ञ का धुआँ। उस हवा मे वेदमन्त्र प्रतिध्वनित होने लगे और गाय-बैल आदि पशु नि शक चरने लगे। अब विद्या और धर्म के पैर के नीचे तलवार का स्थान हुआ। उसका काम सिर्फ धर्मरक्षा करना रह गया, तथा

मनुष्य और गाय-बैल आदि पशुओं का परित्राण करना। वीरों का नाम पड़ा आपद्‌त्राता—क्षत्रिय।

इस तलवार आदि सबका अधिपति रक्षक हुआ—धर्म। वही राजाओं का राजा, जगत् के सो जाने पर भी सदा जाग्रत रहता है। धर्म के आश्रय में सभी स्वाधीन रहते हैं।

आर्यों द्वारा आदिम भारतीय जाति का विनाश यूरोपियनों का आधारहीन अनुमान मात्र है

यूरोपीय पण्डितों का यह कहना कि आर्य लोग कहीं से घूमते-फिरते आकर भारत में जंगली जाति को मार-काटकर और जमीन छीनकर स्वयं यहाँ बस गये, केवल अहमकों की बात है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हैं और यही सब झूठी बातें हमारे बाल बच्चों को पढ़ायी जाती हैं—यह घोर अन्याय है।

मैं स्वयं अल्पज्ञ हूँ, विद्वत्ता का दावा नहीं करता, किन्तु जो समझता हूँ उसे ही लेकर मैंने पेरिस की कांग्रेस में इसका प्रतिवाद किया था। यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों से मैंने इसकी चर्चा की है। मौका आने पर फिर इस सम्बन्ध में प्रश्न उठाना चाहूँगा। यह मैं तुम लोगों से और अपने पण्डितों से कहता हूँ कि अपनी पुस्तकों का अध्ययन करके इस समस्या का निर्णय करो।

यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है, वहाँ के आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं, इसलिए उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है! वे बुभुक्षित पाश्चात्य 'अन्न अन्न' चिल्लाते हुए, 'किसको मारें, किसका लूटें' कहते हुए घूमते रहते हैं और कहते हैं, आर्य लोगों ने भी वैसा ही किया है!! मैं पूछना चाहता हूँ कि इस धारणा का आधार क्या है? क्या सिर्फ अन्दाज ही? तुम अपना अन्दाज-अनुमान अपने घर में रखो।

किस वेद अथवा सूक्त में अथवा और कहीं तुमने देखा है कि आर्य दूसरे देशों से भारत में आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला है कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार-काटकर यहाँ निवास किया? इस व्यर्थ अहमकपन की क्या जरूरत है? तुमने तो रामायण पढ़ी ही नहीं, फिर व्यर्थ ही रामायण के आधार पर यह सन्देह मूढ़ क्यों गढ़ रहे हो?

रामायण आर्य जाति द्वारा अनार्य-विजय का उपाख्यान नहीं है

रामायण क्या है?—आर्यों के द्वारा दक्षिणी जंगली जातियों की विजय!!

हाँ, यह ठीक है कि राम सुसभ्य आर्य राजा थे, पर उन्होने किसके साथ लडाई की थी ? लका के राजा रावण के साथ। जरा रामायण पढकर तो देखो, वह रावण सभ्यता मे राम के देश से बढा-चढा था, कम नही। लका की सभ्यता अयोध्या की सभ्यता से अधिक थी, कम नही, इसके अलावा वानरादि दक्षिणी जातियाँ कहाँ जीत ली गयी ? वे सब तो श्री राम के दोस्त बन गये थे। किस गुह का या किस वाली नामक राजा का राज्य राम ने छीन लिया ? कुछ कहो तो सही ?

सम्भव है कि दो-एक स्थानो पर आर्य तथा जगली जातियो का युद्ध हुआ हो। हो सकता है कि दो-एक धूर्त मुनि राक्षसो के जगल मे धूनी रमाकर बैठे हो, ध्यान लगाकर आँखें बन्द कर इस आसरे मे बैठे हो कि कब राक्षस उनके ऊपर पत्थर या हाड-मास फेंकते हैं ? ज्यो ही ऐसी घटनाएँ हुई कि वे लोग राजाओ के पास फरियाद करने पहुँच गये। राजा जिरह-बख्तर पहनकर, लोहे के हथियार लेकर घोडे पर चढकर आते थे, फिर जगली जातियाँ हाड-पत्थर लेकर उनसे कब तक लड सकती थी ? राजा उन्हे मार-पीटकर चले जाते थे। यह सब होना सम्भव है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह कहाँ लिखा है कि जगली जातियाँ अपने घरो से भगा दी गयी।

आर्य सभ्यता रूपी वस्त्र का करघा है विशाल नद-नदी, उष्णप्रधान समतल क्षेत्र, नाना प्रकार की आर्यप्रधान सुसभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य जातियाँ इसकी कपास हैं, और इसका ताना है वर्णाश्रमाचार। इसका बाना है प्राकृतिक द्वन्द्वो का और सघर्ष का निवारण।

उपसहार

यूरोपीय लोगो ! तुमने कब किसी देश का भला किया है ? अपने से अवनत जाति को ऊपर उठाने की तुममें शक्ति कहाँ है ? जहाँ कही तुमने दुर्बल जाति को पाया, नेस्त-नाबूद कर दिया और उसकी निवास-भूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियाँ एकदम मटियामेट हो गयी ! तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है ? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीप-समूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है ?

वे सब जगली जातियाँ आज कहाँ है ? एकदम सत्यानाश ! जगली पशुओ की तरह उन्हे तुम लोगो ने मार डाला। जहाँ तुम्हारी शक्ति काम नही कर सकी, सिर्फ वही अन्य जातियाँ जीवित हैं।

भारत ने तो ऐसा काम कभी भी नही किया। आर्य लोग बडे दयालु थे, उनके

अनन्त समुद्रवत् विशाल हृदय में वैसी प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क में उन सब आकर्षक प्रतीत होनेवाली पाशविक प्रणालियों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया। स्वदेशी अहमको! यदि आर्य लोग जंगली लोगों को मार-पीटकर यहाँ वास करते तो क्या इस वर्णाश्रम की सृष्टि होती?

यूरोप का उद्देश्य है—सबको नाश करके स्वयं अपने को बचाये रखना। आर्यों का उद्देश्य था—सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा करना। यूरोपीय सभ्यता का साधन—तलवार है और आर्यों की सभ्यता का उपाय—वर्ण-विभाग। शिक्षा और अधिकार के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी—वर्ण-विभाग। यूरोप में बलवानों की जय और निर्बलों की मृत्यु होती है। भारत में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा करने के लिए ही बनाया गया है।

मानव जाति की उन्नति के सम्बन्ध में ईसाई और मुसलमान धर्म की तुलना[1]

यूरोपीय लोग जिस सभ्यता की इतनी बड़ाई करते हैं उसकी उन्नति का अर्थ क्या है? उसका अर्थ यही है कि सिद्धि अनुचित को उचित बना देती है। चोरी झूठ अथवा ठगी द्वारा भूखा मुसलमान अपने समान व्यवहारवाले रक्षकों का एक ग्रास अन्न चोरी करने के अपराध में कोड़े एवं फाँसी की सजा पाता है—यही बात सब बातों के औचित्य का विधान करती है 'दूर हटो मैं यहाँ आना चाहती हूँ' इस प्रकार की प्रसिद्ध यूरोपीय नीति—जिसका प्रमाण यह है कि जिस जगह यूरोपियनों का आगमन हुआ वहीं आदिम निवासी जातियों का विनाश हुआ—यही उस नीति के औचित्य का विधान करता है। इस सभ्यता के अग्रगामी लन्दन नगरी में व्यभिचार को और पेरिस में स्त्री तथा लड़कों को असहाय अवस्था में छोड़कर भाग जाना एवं आत्महत्या करने को मामूली धृष्टता समझते हैं—इत्यादि।

इस समय मुसलमानों की पहली तीन शताब्दियों के ओज तथा उनकी सभ्यता के विस्तार के साथ ईसाई धर्म की पहली तीन शताब्दियों की तुलना करो। पहली तीन शताब्दियों में ईसाई धर्म संसार को अपना परिचय ही न दे सका और जिस समय कान्स्टैंटाइन (Constantine) की तलवार ने इसे राज्य के बीच में स्थान

---

[1] स्वामी जी के देहावसान के बाद उनके कागज-पत्रों में यह अनितम लिखा था। यह एवं पूर्ववर्ती समग्र लेख मूल बंगला से अनूदित हैं। स

दिया, तब से भी ईसाई धर्म ने आध्यात्मिक या सामारिक सभ्यता के विस्तार मे किस समय क्या सहायता की है? जिन यूरोपीय पण्डितो ने पहले-पहल यह सिद्ध किया कि पृथ्वी घूमती है, ईसाई धर्म ने उनको क्या पुरस्कार दिया था? किस समय किस वैज्ञानिक का ईसाई धर्म ने समर्थन किया? क्या ईसाई धर्म का साहित्य दीवानी या फौजदारी, विज्ञान, शिल्प अथवा व्यवसाय-कौशल के अभाव को पूरा कर सकेगा? आज तक ईसाई धर्म धार्मिक ग्रन्थो के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की पुस्तको के प्रचार की आज्ञा नही देता। आज जिस मनुष्य का विद्या या विज्ञान मे प्रवेश है, वह क्या निष्कपट रूप से ईसाई ही बना रह सकता है? ईसाइयो के नव व्यवस्थान मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी विज्ञान या शिल्प की प्रशसा नही है। किन्तु ऐसा कोई विज्ञान या शिल्प नही है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुरान शरीफ या हदीस मे अनेक वाक्यो से अनुमोदित या उत्साहित न किया गया हो। यूरोप के सर्वप्रधान मनीषी वाल्टेयर, डारविन, बुकनर, फ्लामारीयन, विक्टर ह्यूगो आदि पुरुषो की वर्तमान ईसाई धर्म द्वारा निन्दा की गयी एव उन्हे अभिशाप दिया गया। किन्तु सभी महात्माओ को इस्लाम धर्म ने आस्तिक माना, कहा केवल यही कि इनमे पैगम्बर के प्रति विश्वास न था। सभी धर्मों की उन्नति के बाधक तथा साधक कारणो की यदि परीक्षा ली जाय, तो देखा जायगा कि इस्लाम जिस स्थान पर गया है, वहाँ के आदिम निवासियो की उसने रक्षा की है। वे जातियाँ अभी भी वहाँ वर्तमान है। उनकी भाषा और जातीय विशेषत्व आज भी मौजूद हैं।

ईसाई धर्म कहाँ ऐसा कार्य दिखा सकता है? स्पेन देश के अरबी, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के आदिम निवासी लोग अब कहाँ हैं? यूरोपीय ईसाइयो ने यहूदियो की इस समय क्या दशा की है? एक दान-प्रणाली को छोडकर यूरोप की कोई भी कार्य-पद्धति ईसाई धर्मग्रथ (Gospels) से अनुमोदित नही है, बल्कि उसके विरुद्ध ही है। यूरोप में जो कुछ भी उन्नति हुई है, वह सभी ईसाई धर्म के विरुद्ध विद्रोह के द्वारा। आज यूरोप मे यदि ईसाई धर्म की शक्ति प्रबल होती, तो यह शक्ति पास्टयूर (Pasteur) और कॉक (Coch) की तरह के वैज्ञानिको को पशुओ की तरह भून डालती और डारविन के शिष्यो को फाँसी पर लटका देती। वर्तमान यूरोप मे ईसाई धर्म और सभ्यता अलग चीजे हैं। सभ्यता, इस समय अपने पुराने शत्रु ईसाई धर्म के नाश के लिए, पादरियो को मार भगाने और उनके हाथो से विद्यालय तथा धर्मार्थ चिकित्सालयो को छीन लेने के लिए कटिबद्ध हो गयी है। यदि मूर्ख किसानो का दल न होता, तो ईसाई धर्म अपने घृणित जीवन को एक क्षण भी कायम न रख सकता और स्वय समूल

जलाकर फेंका जाता क्योंकि शहर के रहनेवाले दरिद्र लोग इस समय भी ईसाई धर्म के प्रकट शत्रु हैं। इसके साथ इस्लाम धर्म की तुलना करो तो प्रतीत होगा कि मुसलमानों के देश की सारी पद्धतियाँ इस्लाम धर्म के अनुसार प्रचलित हुई हैं और इस्लाम के धर्मप्रचारकों का सभी राजकर्मचारी बहुत सम्मान करते हैं तथा दूसरे धर्मों के प्रचारक भी उनसे सम्मानित होते हैं।

प्राच्य और पाश्चात्य

पाश्चात्य देशों में इस समय एक साथ ही लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की कृपा हो रही है। केवल भोग की चीजों को ही एकत्र करके वे शान्त नहीं होते वरन् सभी कामों में एक सुन्दरता देखना चाहते हैं। खान-पान घरद्वार सभी में सुन्दरता की खोज है। जब धन था तो हमारे देश में भी एक दिन यही भाव था। इस समय एक ओर दरिद्रता है दूसरी ओर हम लोग इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट: होते जा रहे हैं। जाति के जो गुण थे वे मिटते चले जा रहे हैं और पाश्चात्य देश से भी कुछ नहीं पा रहे हैं। चलने-फिरने उठने-बैठने सभी के लिए हमारा एक नियम था वह नष्ट हो रहा है और हम लोग पाश्चात्य नियमों को अपनाने में भी असमर्थ हैं। पूजा-पाठ प्रभृति आदि जो कुछ था उसे तो हम लोग जल में प्रवाहित किये दे रहे हैं पर समयोपयोगी किसी नवीन नियम का अभी भी निर्माण नहीं हो रहा है। हम इस समय दुर्दशा के बीच में पड़े हैं भावी बंगाल अभी भी अपने पैरों पर नहीं खड़ा हुआ है। यहाँ सबसे अधिक दुर्दशा कलाओं की हुई है। पहले सभी बूढ़ाएँ दीवालों को रंग-बिरंगा रँगती थीं आँगन को फूल-पत्तों के चित्रों से सजाती थीं खाने-पीने की चीजों को भी कलात्मक ढंग से सजाती थीं यह सब या तो चूल्हे में चला गया है या शीघ्र ही जा रहा है। नयी चीजें अवश्य सीखनी होंगी और करनी भी होंगी पर क्या पुरानी चीजों को जल में डुबाकर? नयी बातें तो तुमने खाक सीखी हैं केवल बकवाद करना जानते हो! काम की विद्या तुमने कौन सी सीखी है? आज भी दूर के गाँवों में लकड़ी के और ईंटों के पुराने काम देख आओ। कलकत्ते के बढ़ई एक जोड़ा दरवाजा तक नहीं तैयार कर सकते। दरवाजा क्या—सिटकिनी तक नहीं बना सकते। बढ़ईपना तो अब केवल अंग्रेजी औजारों को खरीदने में ही रह गया है। यही अवस्था सब चीजों में उपस्थित हो गयी है। हमारा जो कुछ था वह सब तो जा रहा है और विदेश से भी सीखी है केवल बकवास! खाली किताबें ही तो पढ़ते हो! हमारे देश में बंगाली और विलायत में आयरिश (आयरलैण्डवाले) दोनों ही एक धारा में बह रहे हैं। खाली बकबक करते हैं। वक्तृता झाड़ने में ये दोनों जातियाँ

खूब निपुण है, किन्तु काम करने मे एक कौडी भी नही, अभागे दिन-रात आपस मे ही मार-काटकरके प्राण देते हैं।

साफ-सुथरा बनने-ठनने मे इस देश (पाश्चात्य) का इतना अधिक अभ्यास हो गया है कि गरीब से ग़रीब आदमी की भी इस ओर दृष्टि रहती है। दृष्टि भी किसी मतलब से ही रहती है—कारण, साफ-सुथरा कपडा-लत्ता न पहनने से कोई उन्हे कामकाज ही न देगा। नौकर, मज़दूरिन, रसोइया सबका कपडा दिन-रात लकालक रहता है। घरद्वार झाड-झूढ, धो-पोछकर साफ-सुथरा किया रहता है। इनकी प्रधान विशेषता यह है कि इधर-उधर कभी कोई चीज़ नही फेंकेंगे। रसोईघर झकाझक—कूडा-करकट जो कुछ फेंकना है, बर्तन मे फेंकेंगे, फिर उस स्थान से दूर ले जाकर फेंकेंगे। न आँगन मे और न रास्ते मे ही फेंकेंगे।

जिनके पास धन है, उनका घर देखने की चीज होती है—रात-दिन सब झकाझक रहता है। इसके बाद देश-विदेशो की नाना प्रकार की कारीगरी की चीजो को एकत्र कर रखा है। इस समय हमे उनकी तरह कारीगरी की चीज़ें एकत्र करने की आवश्यकता नही है, किन्तु जो चीज़ें नष्ट हो रही है, उनके लिए तो थोडा यत्न करना पडेगा या नही? उनकी तरह का चित्रकार या शिल्पकार स्वय होने के लिए अभी भी वहुत देर है। इन दोनो कामो मे हम लोग बहुत दिनो से ही अपटु है। हमारे देवी-देवता तक सुन्दर होते हैं, यह तो जगन्नाथ जी को ही देखने से पता लग जाता है। वहुत प्रयत्न से उनकी नकल करने पर कही एकाध रविवर्मा पैदा होते है। इसकी अपेक्षा देशी ढग के चित्र वनाना अधिक अच्छा है—उनके कामो मे फिर झकाझक रग है। इन सबको देखने से रविवर्मा के चित्रो का लज्जा से सिर नीचा हो जाता है। उनकी अपेक्षा जयपुर के सुनहले चित्र और दुर्गा जी के चित्र आदि देखने मे अधिक सुन्दर हैं। यूरोपियनो की पत्थर की कारीगरी आदि की बातें दूसरे प्रवन्ध मे कही जायेंगी। यह एक वहुत वडा विषय है।

भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास

ॐ तत् सत्

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

नासतो सत् जायते !—असत् से सत् का आविर्भाव नही हो सकता।

सत् का कारण असत् कभी नही हो सकता। शून्य से किसी वस्तु का उद्भव सम्भव नही। कार्य-कारणवाद सर्वशक्तिमान है और ऐसा कोई देश-काल ज्ञात नही है जब इसका अस्तित्व नही था। यह सिद्धान्त भी उतना ही प्राचीन है जितनी आर्य जाति इस जाति के मन्त्रद्रष्टा कवियो ने उसका गौरव गान गाया है इसके दार्शनिको ने उसको सूत्रबद्ध किया है और उसको वह आधारशिला बनायी जिस पर आज का भी हिन्दू अपने जीवन की समग्र योजना स्थिर करता है।

आरम्भ में इस जाति मे एक अपूर्व जिज्ञासा थी जिसका शीघ्र ही निर्भीक विश्लेषण मे विकास हो गया। यद्यपि आरम्भिक प्रयासो का परिणाम एक भावी धुरन्धर शिल्पी के अनभ्यस्त हाथो के प्रयास जैसा भले ही हो किन्तु शीघ्र ही उसका स्थान विशिष्ट विज्ञान निर्भीक प्रयत्नो एवं आश्चर्यजनक परिणामो ने ले लिया।

इस निर्भीकता ने इन आर्य ऋषियो को स्वनिर्मित यज्ञ-कुण्डो की हर एक ईंट के परीक्षण के लिए प्रेरित किया उन्हे अपने धर्मग्रन्थो के शब्द शब्द के विश्लेषण पेषण और मथन के लिए उकसाया। इसी कारण उन्होने कर्मकाण्ड को व्यवस्थित किया उसमे परिवर्तन और पुन परिवर्तन किया उसके विषय मे शकाएँ उठायी उसका खण्डन किया और उसकी समुचित व्याख्या की। देवी-देवताओ के बारे मे गहरी छानबीन हुई और उन्होने सार्वभौम सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी सृष्टिकर्ता को अपने पैतृक स्वर्गस्थ परम पिता को केवल एक गौण स्थान प्रदान किया या 'उसे व्यर्थ कहकर पूर्णरूपेण बहिष्कृत कर दिया गया और उसके बिना ही एक ऐसे विश्व-धर्म का सूत्रपात किया गया जिसके अनुयायियो की सख्या आज भी अन्य धर्मावलम्बियो की अपेक्षा अधिक है। विविध प्रकार की यज्ञ-वेदियो के निर्माण मे ईंटो के विन्यास के आधार पर उन्होने ज्यामिति-शास्त्र का विकास किया और अपने ज्योतिष के उस ज्ञान से सारे विश्व को चकित कर दिया जिसकी उत्पत्ति पूजन एवं अर्घ्यदान का समय निर्धारित करने के प्रयास मे हुई। इसी

कारण अन्य किसी अर्वाचीन या प्राचीन जाति की तुलना मे गणित को इस जाति का योगदान सर्वाधिक है। उनके रसायन शास्त्र, औषधियो मे धातुओ के मिश्रण, सगीत के स्वरो के सरगम के ज्ञान तथा उनके धनुर्षीय यत्रो के आविष्कारो से आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के निर्माण मे विशेष सहायता मिली है। उज्ज्वल दन्त-कथाओ द्वारा, बाल मनोविकास के विज्ञान का आविष्कार इन लोगो ने किया। इन कथाओ को प्रत्येक सभ्य देश की शिशुशालाओ या पाठशालाओ मे सभी बच्चे चाव से सीखते है और उनकी छाप जीवन भर बनी रहती है।

विश्लेषणात्मक सूक्ष्म प्रवृत्ति के पूर्व एव पश्चात् इस जाति की एक अन्य बौद्धिक विशेषता थी—काव्यानुभूति, जो मखमली म्यान की तरह इस प्रवृत्ति को आच्छादित किये हुए थी। इस जाति का धर्म, इसका दर्शन, इसका इतिहास, इसका आचरण-शास्त्र, राजनीति, सब कुछ काव्य-कल्पना की एक क्यारी मे सँजोये गये हैं और इन सबको एक चमत्कार-भाषा मे, जिसे सस्कृत या 'पूर्णांग' नाम से सम्बोधित किया गया तथा अन्य किसी भाषा की अपेक्षा जिसकी व्यञ्जना-शक्ति बेजोड है, व्यक्त किया गया था। गणित के कठोर तथ्यो को भी व्यक्त करने के लिए श्रुतिमधुर छदो का उपयोग किया गया था।

विश्लेषणात्मक शक्ति एव काव्य-दृष्टि की निर्भीकता, ये ही हिन्दू जाति के निर्माण की दो अन्तर्वर्ती शक्तियाँ हैं, जिन्होंने इस जाति को आगे बढने की प्रेरणा दी। ये दोनो मिलकर मानो राष्ट्रीय चरित्र के मुख्य स्वर हो गये। इनका सयोग इस जाति को सदा इन्द्रियो से परे जाने के लिए प्रेरित करता रहा है—वह उनके उस गभीर चिंतन का रहस्य है, जो उनके शिल्पियो द्वारा निर्मित इसपात की उस छुरी की भाँति है, जो लोहे का छड काट सकती थी, किंतु इतनी लचीली थी कि उसे वृत्ताकार मोडा जा सकता था।

सोना-चाँदी मे भी उन्होंने कविता ढाली। मणियो का अद्भुत सयोजन, सग-मर्मर मे चमत्कारपूर्ण कौशल, रगो मे रागिनी, महीन पट जो वास्तविक ससार की अपेक्षा स्वप्नलोक के अधिक प्रतीत होते है—इन सबके पीछे इसी राष्ट्रीय चरित्र-लक्षण की अभिव्यक्ति के सहस्रो वर्षों की साधना निहित है।

कला एव विज्ञान, यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन के तथ्य भी काव्यात्मक भावो से परिवेष्ठित हैं, जो इस सीमा तक आगे बढ जाते हैं कि ऐन्द्रिय अतीन्द्रिय का स्पर्श कर ले, स्थूल यथार्थता भी अयथार्थता की गुलाबी आभा से अनुरजित हो जाय।

हमे इस जाति की जो प्राचीनतम झलकें मिलती है, उनसे प्रकट होता है कि इस जाति मे यह चारित्रिक विशेषता एक उपयोगी उपकरण के रूप मे पहले से ही विद्यमान थी। प्रगति-पथ पर अग्रसर होने मे धर्म एव समाज के अनेक रूप

पीछे छूट गये होंगे तब कहीं हम इस जाति का वह रूप उपलब्ध होता है, जो आर्य वेद ग्रन्थों में वर्णित है।

सुव्यवस्थित देवमण्डल विशद् कर्मकाण्ड व्यवसाय-वैभिन्न्य के कारण समाज का पैतृक वर्गों में विभाजन जीवन की अनेकानेक आवश्यकताएँ एवं सुखोपभोग के साधन आदि पहले से ही इसमें मौजूद हैं।

अधिकांश आधुनिक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि भारतीय जलवायु एवं अन्य परिस्थितिपरक रीति-रिवाज तब तक इस जाति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका था।

सदियों तक प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के बाद हमें एक ऐसी मानव-गोष्ठी मिलती है जो उत्तर में हिमालय के हिम तथा दक्षिण के ताप से परिवेष्टित है और जिसके मध्य विशाल मैदान एवं अनंत वन हैं, जिनमें विराट् सरिताएँ उत्ताल लहरों में प्रवाहित हैं। यहाँ हमें विभिन्न जातियों की झलक मिलती है—द्रविड़ तातार एवं आदिवासी जिन्होंने अपने यथानुसार रक्त भाषा रीति-रिवाज तथा धर्मों में योगदान दिया। अन्त में हमारे सम्मुख एक महान् राष्ट्र का आविर्भाव होता है जिसने अपने आर्य-वैशिष्ट्य को अब तक सुरक्षित रखा है जो स्वांगीकरण के कारण अधिक शक्तिशाली व्यापक एवं सुसंगठित हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि केन्द्रीय आत्मसात्कारी प्रमुख अंग ने अपना रूप और चरित्र सम्पूर्ण समुदाय को प्रदान किया है और इसके साथ ही बड़े गर्व के साथ अपने आर्य नाम से चिपका रहा एवं किसी भी दशा में अन्य जातियों को अपने आर्य वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित करने के लिए प्रस्तुत नहीं था यद्यपि वह उन जातियों को अपनी सभ्यता से लाभान्वित करने के लिए तैयार था।

भारतीय जलवायु ने इस जाति की प्रतिभा को एक और उच्चतर दिशा प्रदान की। उस भूमि पर जहाँ प्रकृति अनुकूल थी एवं जहाँ प्रकृति पर विजय पाना सरल था राष्ट्र-मानस ने चिन्तन के क्षेत्र में जीवन की महत्तर समस्याओं से उलझना एवं उन्हें जीतना प्रारम्भ किया। स्वभावतः भारतीय समाज में विचारक पुरोहित सर्वोत्तम वर्ग के हो गये तलवार चलानेवाले क्षत्रिय नहीं। इतिहास के उस अरुणोदय काल में ही पुरोहितों ने कर्मकाण्ड को विशद् बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी और जब राष्ट्र के लिए विधि-विधानों एवं निर्जीव कर्मकाण्डों का बोझ अत्यन्त भारी हो गया तब प्रथम दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात हुआ। राजन्य वर्ग इन घातक विधि-विधानों को उन्मूलित करने में अग्रणी रहा।

एक ओर अधिकांश पुरोहित आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर उस विशिष्ट धर्म-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए विवश थे जिसके कारण समाज में लिए उनका

अस्तित्व अनिवार्य था और जाति-परम्परा मे उन्हे सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला था। दूसरी ओर, राजन्य वर्ग केवल विधि-विधानो के सचालन का ज्ञान रखनेवाले पुरोहितो को सर्वप्रथम स्थान देने के लिए तैयार नही था। उन्हीकी सशक्त दक्षिण भुजा से राष्ट्र की रक्षा एव पथ-प्रदर्शन होता था, और अब उन्होंने चिन्तन के क्षेत्र मे भी अपने को अग्रगामी पाया। इनके अलावा पुरोहित एव क्षत्रिय दोनो वर्गो के अन्य कुछ ऐसे लोग थे, जो कर्मकाण्डियो एव दार्शनिको का समान रूप से उपहास करते थे। उन्होने आध्यात्मिकता को धोखा एव पुरोहित-प्रपच घोषित किया तथा भौतिक सुख-प्राप्ति को ही जीवन का सर्वोत्तम ध्येय ठहराया। कर्मकाण्डो से ऊबकर एव दार्शनिको की जटिल व्याख्या से विभ्रान्त होकर लोग अधिकाधिक सख्या मे जडवादियो से जा मिले। यही जाति-समस्या का सूत्रपात था एव भारत मे कर्मकाण्ड, दर्शन तथा जडवाद के मध्य उस त्रिभुजात्मक सग्राम का मूल भी यही था, जिसका समाधान हमारे इस युग तक सम्भव नही हो पाया है।

इस समस्या के समाधान का प्रथम प्रयास था—सर्वसमन्वय के सिद्धान्त का उपयोग, जिसने आदि काल से ही मनुष्य को अनेकत्व मे भी विभिन्न स्वरूपो मे लक्षित एक ही सत्य के दर्शन की शिक्षा दी। इस सम्प्रदाय के महान् नेता क्षत्रिय वर्ग के स्वय श्री कृष्ण एव उनकी उपदेशावली गीता ने, जैनियो, बौद्धो एव इतर जन सम्प्रदायो द्वारा लायी गयी उथल-पुथल के फलस्वरूप विविध क्रातियो के बाद भी अपने को भारत का 'अवतार' एव जीवन का यथार्थतम दर्शन सिद्ध किया। यद्यपि थोडे समय के लिए तनाव कम हो गया, लेकिन उसके मूल मे निहित सामाजिक अभावो का—जाति परम्परा मे क्षत्रियो द्वारा सर्वप्रथम होने का दावा एव पुरोहितो के विशेषाधिकार की सर्वविदित असहिष्णुता का—जो अनेक कारणो मे से दो थे—समाधान इससे नही हो सका। जातिभेद एव लिंगभेद को ठुकराकर कृष्ण ने आत्मज्ञान एव आत्म-साक्षात्कार का द्वार सबके लिए समान रूप से खोल तो दिया, लेकिन उन्होने इस समस्या को सामाजिक स्तर पर ज्यो का त्यो बना रहने दिया। पुन यह समस्या आज तक चलती आ रही है, यद्यपि सामाजिक समानता सर्वसुलभ बनाने के लिए बौद्धो एव वैष्णवो ने महान् सघर्ष किये।

आधुनिक भारत सभी मनुष्यो की आध्यात्मिक समता को स्वीकार तो करता है, लेकिन सामाजिक भेद को उसने कठोरतापूर्वक बनाये रखा है।

इस तरह ई० पूर्व सातवी शती मे हम देखते है कि नये सिरे से हर एक क्षेत्र मे सघर्ष पुन छेडा गया और अन्त मे छठी शती मे शाक्य मुनि बुद्ध के नेतृत्व मे इस सघर्ष ने परम्परागत व्यवस्था को पराभूत कर लिया। विशेषाधिकारी

पीछे छूट गये होंगे तब कहीं हम इस जाति का वह रूप उपलब्ध होता है, जो प्राप्य वेद ग्रन्थों में वर्णित है।

सुव्यवस्थित धर्मतत्त्व विशद् कर्मकाण्ड व्यवसाय-वैभिन्य के कारण समाज का पैतृक वर्णों में विभाजन जीवन की अनेकानेक आवश्यकताएँ एवं सुखोपभोग के साधन आदि पहले से ही इसमें मौजूद हैं।

अधिकांश आधुनिक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि भारतीय जलवायु एवं अन्य परिस्थितिपरक रीति-रिवाज तब तक इस जाति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका था।

सदियों तक प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के बाद हमें एक ऐसी मानव-गोष्ठी मिलती है जो उत्तर में हिमालय के हिम तथा दक्षिण के ताप से परिवेष्टित है और जिसके मध्य विशाल मैदान एवं अनन्त वन हैं जिनमें विराट् सरिताएँ उत्ताल लहरों में प्रवाहित हैं। यहाँ हमें विभिन्न जातियों की झलक मिलती है—द्रविड तातार एवं आदिवासी जिन्होंने अपने यथानुसार रक्त भाषा रीति-रिवाज तथा धर्मों में योगदान दिया। अन्त में हमारे सम्मुख एक महान् राष्ट्र का आविर्भाव होता है जिसमें अपने आर्य-वैशिष्ट्य को अब तक सुरक्षित रखा है जो स्वात्मीकरण के कारण अधिक शक्तिशाली व्यापक एवं सुसंगठित हो गया है। यहाँ हम देखते हैं कि केन्द्रीय आत्मसात्कारी प्रमुख अंश ने अपना रूप और चरित्र सम्पूर्ण समुदाय को प्रदान किया है और इसके साथ ही बड़े गर्व के साथ अपने 'आर्य' नाम से चिपका रहा एवं किसी भी दशा में अन्य जातियों को अपने आर्य वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित करने के लिए प्रस्तुत नहीं था यद्यपि वह उन जातियों को अपनी सभ्यता से लाभान्वित करने के लिए तैयार था।

भारतीय जलवायु ने इस जाति की प्रतिभा को एक और उच्चतर दिशा प्रदान की। उस भूमि पर जहाँ प्रकृति अनुकूल थी एवं जहाँ प्रकृति पर विजय पाना सरल था राष्ट्र-मानस ने चिन्तन के क्षेत्र में जीवन की महत्तर समस्याओं से उलझना एवं उन्हें जीतना प्रारम्भ किया। स्वभावतः भारतीय समाज में विचारक पुरोहित सर्वोत्तम वर्ग के हो गये तलवार चलानेवाले क्षत्रिय नहीं। इतिहास के उस अरुणोदय काल में ही पुरोहितों ने कर्मकाण्ड को विशद् बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी और जब राष्ट्र के लिए विधि-विधानों एवं निर्जीव कर्मकाण्डों का बोझ अत्यन्त भारी हो गया तब प्रथम दार्शनिक चिन्तन का सूत्रपात हुआ। राजन्य वर्ग इन घातक विधि-विधानों को उन्मूलित करने में अग्रणी रहा।

एक ओर अधिकांश पुरोहित आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर उस विशिष्ट धर्म-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए विवश थे जिसके कारण समाज के लिए उनका

अस्तित्व अनिवार्य था और जाति-परम्परा मे उन्हे सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला था। दूसरी ओर, राजन्य वर्ग केवल विधि-विधानो के सचालन का ज्ञान रखनेवाले पुरोहितो को सर्वप्रथम स्थान देने के लिए तैयार नही था। उन्हीकी सशक्त दक्षिण भुजा से राष्ट्र की रक्षा एव पथ-प्रदर्शन होता था, और अब उन्होंने चिन्तन के क्षेत्र मे भी अपने को अग्रगामी पाया। इनके अलावा पुरोहित एव क्षत्रिय दोनो वर्गो के अन्य कुछ ऐसे लोग थे, जो कर्मकाण्डियो एव दार्शनिको का समान रूप से उपहास करते थे। उन्होने आध्यात्मिकता को धोखा एव पुरोहित-प्रपच घोषित किया तथा भौतिक सुख-प्राप्ति को ही जीवन का सर्वोत्तम ध्येय ठहराया। कर्मकाण्डो से ऊबकर एव दार्शनिको की जटिल व्याख्या से विभ्रान्त होकर लोग अधिकाधिक सख्या मे जडवादियो से जा मिले। यही जाति-समस्या का सूत्रपात था एव भारत मे कर्मकाण्ड, दर्शन तथा जडवाद के मध्य उस त्रिभुजात्मक सग्राम का मूल भी यही था, जिसका समाधान हमारे इस युग तक सम्भव नही हो पाया है।

इस समस्या के समाधान का प्रथम प्रयास था—सर्वसमन्वय के सिद्धान्त का उपयोग, जिसने आदि काल से ही मनुष्य को अनेकत्व मे भी विभिन्न स्वरूपो मे लक्षित एक ही सत्य के दर्शन की शिक्षा दी। इस सम्प्रदाय के महान् नेता क्षत्रिय वर्ग के स्वय श्री कृष्ण एव उनकी उपदेशावली गीता ने, जैनियो, बौद्धो एव इतर जन सम्प्रदायो द्वारा लायी गयी उथल-पुथल के फलस्वरूप विविध क्रातियो के बाद भी अपने को भारत का 'अवतार' एव जीवन का यथार्थतम दर्शन सिद्ध किया। यद्यपि थोडे समय के लिए तनाव कम हो गया, लेकिन उसके मूल मे निहित सामाजिक अभावो का—जाति परम्परा मे क्षत्रियो द्वारा सर्वप्रथम होने का दावा एव पुरोहितो के विशेषाधिकार की सर्वविदित असहिष्णुता का—जो अनेक कारणो मे से दो थे—समाधान इससे नही हो सका। जातिभेद एव लिंगभेद को ठुकराकर कृष्ण ने आत्मज्ञान एव आत्म-साक्षात्कार का द्वार सबके लिए समान रूप से खोल तो दिया, लेकिन उन्होंने इस समस्या को सामाजिक स्तर पर ज्यो का त्यो बना रहने दिया। पुन यह समस्या आज तक चलती आ रही है, यद्यपि सामाजिक समानता सर्वसुलभ बनाने के लिए बौद्धो एव वैष्णवो ने महान् सघर्ष किये।

आधुनिक भारत सभी मनुष्यो की आध्यात्मिक समता को स्वीकार तो करता है, लेकिन सामाजिक भेद को उसने कठोरतापूर्वक बनाये रखा है।

इस तरह ई० पूर्व सातवी शती मे हम देखते है कि नये सिरे से हर एक क्षेत्र मे सघर्ष पुन छेडा गया और अन्त मे छठी शती मे शाक्य मुनि बुद्ध के नेतृत्व मे इस सघर्ष ने परम्परागत व्यवस्था को पराभूत कर लिया। विशेषाधिकारी

पुरोहितपंथी के विरोध में बौद्धों ने वेदों के प्राचीन कर्मकाण्ड के क्रम क्रम को उड़ा दिया। वैदिक देवों को अपने मानवीय सन्तों के किंकरों का स्थान प्रदान किया एवं 'स्रष्टा एवं सर्वाधिनायक' को पुरोहितों का आविष्कार तथा अन्धविश्वास घोषित किया।

पशु-बलि को आवश्यक बतानेवाले कर्मकाण्डों, वंशानुक्रमिक जाति-प्रथा, एकान्तिक पुरोहित पन्थ एवं अविनश्वर आत्मा के प्रति आस्था के विरुद्ध खड़ा होकर वैदिक धर्म का सुधार करना बौद्ध धर्म का ध्येय था। वैदिक धर्म का नाश करने या उसकी सामाजिक व्यवस्था को उलट देने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। संन्यासियों को एक शक्तिशाली मठवासी भिक्षु समुदाय में एवं ब्रह्मवादिनियों को भिक्षुणियों के वर्ग में संगठित करके तथा होमाग्नि की जगह सन्तों की प्रतिमा पूजा स्थापित कर बौद्धों ने एक शक्तिशाली परम्परा का सूत्रपात किया।

सम्भव है कि सदियों तक इन सुधारकों को अधिकांश भारतीयों का समर्थन मिला हो। पुरानी शक्तियों का पूर्णतः ह्रास नहीं हुआ था, लेकिन शताब्दियों तक बौद्धों के प्रभावाधिपत्य के युग में इसमें विशेष परिवर्तन अवश्य हुआ।

प्राचीन भारत में बौद्धिकता एवं आध्यात्मिकता ही राष्ट्रीय जीवन की केन्द्र-बिन्दु थी, राजनीतिक गतिविधियाँ नहीं। आज की भाँति अतीत में भी बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता की तुलना में सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ गौण रहीं। ऋषियों एवं आध्यात्मिक उपदेशकों के आश्रमों के इर्द-गिर्द राष्ट्रीय जीवन का प्रस्फुटन हुआ। इसीलिए उपनिषदों में भी हमें पांचालों, काश्यों (बनारस), मैथिलों एवं मगधियों आदि की समितियों का वर्णन अध्यात्म दर्शन तथा संस्कृति के केन्द्र के रूप में मिलता है। फिर ये ही केन्द्र क्रमशः आर्यों की विभिन्न शाखाओं की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के संगम बन गये।

महान् महाकाव्य महाभारत में राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए कुरुवंशियों और पांचालों के बीच छिड़े युद्ध का वर्णन मिलता है। इस युद्ध में ये एक दूसरे के विनाश का कारण बने। आध्यात्मिक प्रभुता पूरब में मागधों, मैथिलों के चारों ओर चक्कर लगाती रही एवं वहीं केन्द्रीभूत हो गयी और कुरु-पांचाल युद्ध के बाद एक प्रकार से मगध के नरेशों का प्रभुत्व जम गया।

बौद्ध धर्म के सुधारों की भूमि एवं प्रधान कार्यक्षेत्र भी यही पूर्वीय प्रदेश था। और जब मौर्य राजाओं ने अपने कुल पर लगाये गये कलंक से खिन्न होकर इस नये आन्दोलन को अपना संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान किया, तो यह नया पुरोहित वर्ग भी पाटलिपुत्र साम्राज्य के राजनीतिक सत्ता का साथ देने लगा। बौद्ध धर्म की जनप्रियता एवं उसके नये जीवन के कारण मौर्यवंशी नरेश भारत के सर्वश्रेष्ठ

सम्राट् बन गये। मौर्य सम्राटो की प्रभुता ने बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी धर्म बना दिया, जैसा कि हम आज उसे देख रहे हैं।

वैदिक धर्म अपने प्राचीन रूपो की एकातता के कारण बाहरी सहायता नही ले सका। लेकिन फिर भी इस प्रवृत्ति ने इस धर्म को विशुद्ध एव उन हेय तत्त्वो से मुक्त रखा, जिनको बौद्ध धर्म ने अपनी प्रचार-प्रवृत्ति के उत्साह मे आत्मसात कर लिया था।

आगे चलकर परिस्थिति के अनुकूल बनने की अपनी तीव्र प्रवणता के कारण भारतीय बौद्ध धर्म ने अपनी सारी विशेषता खो दी, एव जन-धर्म बनने की अपनी तीव्र अभिलाषा के कारण कुछ ही सदियो मे, मूल धर्म की बौद्धिक शक्तियो की तुलना मे पगु हो गया। इसी बीच वैदिक पक्ष पशु-बलि जैसे अपने अधिकाश आपत्तिजनक तत्त्वो से मुक्त हो गया, एव इसने मूर्तियो का उपयोग, मन्दिर के उत्सवो तथा अन्य प्रभावोत्पादक अनुष्ठानो के विषय मे अपनी प्रतिद्वन्द्वी दुहिता—बौद्ध धर्म—से पाठ ग्रहण किया और पहले से ही पतनोन्मुख बौद्ध साम्राज्य को अपने मे आत्मसात कर लेने के लिए तैयार हो गया।

और सिदियन (Scythian) आक्रमण एव पाटलिपुत्र साम्राज्य के पूर्ण पतन के साथ ही वह नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

अपने मध्य एशिया की जन्मभूमि पर बौद्ध प्रचारको के आक्रमण से ये आक्रमणकारी रुष्ट थे और इन्हे ब्राह्मणो की सूर्योपासना मे अपने सूर्य-धर्म के साथ एक महान् समानता मिली। और जब ब्राह्मण वर्ग नवागन्तुको की अनेक रीतियो को अगीकार करने एव उनका आध्यात्मीकरण करने के लिए तैयार हो गया, तो आक्रमणकारी प्राणपण से ब्राह्मण धर्म के साथ एक हो गये।

इसके बाद अन्धकारपूर्ण यवनिका एव उसकी सदा परिवर्ती छायाओ का सूत्रपात हुआ। युद्ध के कोलाहल की, जनहत्या के ताण्डव की परिपाटी। तत्पश्चात् एक नयी पृष्ठभूमि पर एक दूसरे दृश्य का आविर्भाव होता है।

मगध-साम्राज्य ध्वस्त हो गया था। उत्तर भारत का अधिकाश छोटे-मोटे सरदारो के अधीन था, जो सदा एक दूसरे से लडते-भिडते रहते थे। केवल पूरब तथा हिमालय के कुछ प्रान्तो एव सुदूर दक्षिण को छोडकर अन्य प्रदेशो से बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो गया था। आनुवशिक पुरोहित वर्ग के अधिकारो के विरुद्ध सदियो तक सघर्ष करने के बाद इस राष्ट्र ने अब अपने को जो दो पुरोहित वर्गों के चगुल मे जकडा पाया, वे हैं परम्परागत ब्राह्मण वर्ग एव नये शासन के एकान्तिक भिक्षुगण, जिनके पीछे बौद्ध सगठन की सम्पूर्ण शक्ति थी और जिनकी जनता के साथ कोई सहानुभूति नही थी।

अतीत के अवशेषों से ही एक ऐसा नवजाग्रत भारत आविर्भूत हुआ जिसके लिए वीर राजपूतों के शौर्य एवं रक्त का मूल्य चुकाया गया था, जिसको मिथिला के उसी ऐतिहासिक विचार-केन्द्र में एक ब्राह्मण की निर्मम तीक्ष्ण बुद्धि ने व्याख्या की थी, जिसका पथ प्रदर्शन शंकराचार्य एवं उनके अनुयायियों के द्वारा समष्टि दार्शनिक चेतना ने किया तथा मालव-दरबार के साहित्य एवं कला ने जिसको सौन्दर्य से मण्डित किया।

इसका कार्य-भार गुरुत्वपूर्ण था, इसकी समस्याएँ पूर्वजों के सम्मुख आयी किन्हीं भी समस्याओं की तुलना में कहीं अधिक व्यापक थीं। एक ही रक्त एवं भाषावाली, समान सामाजिक एवं धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओंवाली अपेक्षाकृत छोटी एवं सुगठित यह जाति, जो अपने ऐक्य-रक्षार्थ अपने चारों ओर एक अनुल्लंघनीय दीवार खड़ी करती रही थी, अब बौद्ध धर्म के प्रभुत्व-काल में मिश्रित एवं बहुगुणित होकर एक विशाल जाति बन गयी थी। यह अपनी विभिन्न उप-जातियों, वर्णों, भाषाओं, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों एवं महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अनेक विरोधी दलों में विभक्त हो गयी। इन सबको एक विशाल राष्ट्र में सुसंगठित एवं सुयोजित करना था। बौद्ध धर्म का आगमन भी इसी समस्या के समाधान के लिए हुआ था और यह काम उसके हाथों में उस समय गया था, जब यह समस्या इतनी कठिन नहीं थी।

जब तक प्रश्न था—प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील आर्येतर जातियों का आर्यीकरण एवं इस प्रकार के तत्त्वों से एक विशाल आर्य-परिवार का संगठन। अनेक सुविधाओं एवं समझौतों के बावजूद भी बौद्ध धर्म पर्याप्त सफल हुआ एवं भारत का राष्ट्रीय धर्म बना रहा। लेकिन एक ऐसा समय आया, जब विविध निम्नस्तरीय जातियों के सम्पर्क में आराधना के वासनामय स्वरूपों को अपनाने का प्रलोभन आर्य धर्म के केन्द्रीय वैशिष्ट्य के लिए खतरनाक हो गया और उनका सुदीर्घ सम्पर्क आर्य सभ्यता को नष्ट कर सकता था। अतः आत्मरक्षा की सहज प्रतिक्रिया का उदय हुआ और अपनी जन्मभूमि के ही अधिकांश भागों में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म का अस्तित्व समाप्त हो गया।

उत्तर में कुमारिल तथा दक्षिण में शंकर एवं रामानुज द्वारा एक अभ्यान्तरिक क्रम में संचालित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन ने विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों की महान् राशि बनकर हिन्दू धर्म में ही एक अन्तिम रूप ले लिया है। विगत हजार या अधिक वर्षों से उसका प्रधान लक्ष्य आत्मसात करना रहा है और बीच बीच में कभी सुधारों का विस्फोट होता रहा है। प्रथमतः यह प्रतिक्रिया वैदिक कर्मकाण्डों का पुनरुज्जीवित करना चाहती थी, इस प्रयास के विफल हो जाने पर इसने

उपनिषदो को या वेदो के तात्त्विक अशो को अपना आधार बनाया। उसने व्यास-सकलित मीमासा दर्शन और कृष्ण की 'गीता' को सर्वोपरि प्रधानता दी, अन्य परवर्ती सभी आन्दोलनो ने इसी क्रम का अनुगमन किया है। शकर का आन्दोलन उच्च बौद्धिक मार्ग से आगे बढा, लेकिन जन-समाज को इससे कोई लाभ नही पहुँचा, क्योकि इसने जाति-पाँति के जटिल नियमो का अक्षरश पालन किया, जनता की सामान्य भावनाओ को बहुत कम स्थान दिया और केवल सस्कृत को ही विचार के आदान-प्रदान का माध्यम बनाया। उधर रामानुज एक अत्यन्त व्यावहारिक दर्शन लेकर आये। उन्होने भावनाओ को अधिक प्रश्रय दिया, आध्यात्मिक साक्षात्कार के पहले जन्मसिद्ध अधिकारो को निषिद्ध किया और सामान्य भाषा मे उपदेश दिया। फलत जनता को वैदिक धर्म की ओर प्रवृत्त करने मे उन्हे पूरी सफलता मिली।

उत्तर मे कर्मकाण्ड के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के तुरन्त बाद मालव साम्राज्य का प्रताप जादू की तरह फैल गया। थोडे ही समय मे उसके पतन के बाद उत्तर भारत मानो चिर निद्रा मे लीन हो गया। इन्हे अफगानिस्तान के दर्रों से होकर आये मुसलमान घुडसवारो के वज्रनाद ने बडे बुरे ढग से जाग्रत किया। किन्तु दक्षिण मे शकर एव रामानुज की धार्मिक क्रान्ति के उपरान्त एकीकृत जातियो और शक्तिशाली साम्राज्यो की स्थापना चिर परिचित भारतीय अनुक्रम मे हुई।

जब समुद्र के एक छोर से दूसरे छोर तक उत्तर भारत पराभूत होकर मध्य एशियाई विजेताओ के चरणो मे पडा था, उस समय देश का दक्षिण भाग भारतीय धर्म एव सभ्यता का शरणस्थल बना रहा। सदियो तक मुसलमानो ने दक्षिण पर विजय प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा, किन्तु वे वहाँ अपना पैर कभी मजबूती से जमा पाये, यह नही कहा जा सकता। जब मुगलो का बलशाली एव सुसगठित साम्राज्य अपना विजय-अभियान पूरा करनेवाला था, दक्षिण के कृषक लडाकू घुडसवार पहाडियो-पठारो से निकलकर जल-प्रवाह की भाँति छाने लगे, जो रामदास द्वारा प्रचारित एव तुकाराम के पदो मे निहित धर्म के लिए प्राण देने को कटिबद्ध थे। थोडे समय मे ही मुग़लो के साम्राज्य का केवल नाम शेष रह गया।

मुसलमानी काल मे उत्तर भारत के आन्दोलनो की यही प्रवृत्ति रही कि जन-साधारण विजेताओ के धर्म को अगीकार न करने पाये। इसके फलस्वरूप सबके लिए सामाजिक तथा आध्यात्मिक समानता का सूत्रपात हो पाया।

रामानन्द, कबीर, दादू, चैतन्य या नानक आदि के द्वारा सस्थापित सम्प्रदायो के सभी सन्त मानव मात्र की समानता के प्रचार के लिए सहमत थे, यद्यपि उनके दार्शनिक दृष्टिकोणो मे भिन्नता अवश्य थी। जनसाधारण पर इस्लाम धर्म की

त्वरित विजय को रोकने में ही इसकी अधिकांश शक्ति व्यय होती थी और उनमें अब नये विचारों एवं दृष्टिकोण प्रदान करने की वह क्षमता न रह पायी थी। यद्यपि वे जन-समुदाय को पुराने धर्म के दायरे में ही रखने के लक्ष्य में स्पष्टतया सफल रहे, तथापि वे मुसलमानों की धर्मान्धता के प्रकोप को भी मंद करने में सफल हुए, लेकिन वे कोरे सुधारवादी ही रहे, जो केवल जीने की अनुमति पाने के लिए ही संघर्ष करते रहे।

तो भी उत्तर में एक महान् पैगम्बर का आविर्भाव हुआ। वह थे सिक्खों के अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह जो सर्जनक्षम एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। सिक्खों का सुविख्यात राजनीतिक संगठन उनकी आध्यात्मिक साधना का अनुगामी हुआ। भारत के इतिहास में साधारणतः देखा गया है कि धार्मिक उथल-पुथल के बाद सदा ही एक राजनीतिक एकता स्थापित हो जाती है जो न्यूनाधिक रूप में समस्त देश में व्याप्त हो जाता है। इस एकता के फलस्वरूप उसको जन्म देने वाला धार्मिक दृष्टिकोण भी शक्तिशाली बनता है। लेकिन मराठा या सिक्ख साम्राज्य के पूर्व प्रवर्तित धार्मिक महत्त्वाकांक्षा पूर्णतया प्रतिक्रियावादी थी। पूना या लाहौर के दरबार में उस बौद्धिक गरिमा की एक किरण भी नहीं मिलती, जिससे मुगल दरबार घिरा रहता था, मालवा या विजयनगर की बौद्धिक चमक दमक की तो बात ही क्या! बौद्धिक विकास की दृष्टि से यह काल भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण युग था। ये दोनों अल्पजीवी साम्राज्य घृणास्पद मुसलमानी शासन को उलट देने में सफल होने के तुरन्त बाद ही अपनी सारी शक्ति खो बैठे, क्योंकि ये दोनों ही संस्कृति से पूर्ण घृणा करनेवाले तथा सामान्य धर्मान्धता के प्रतिनिधि रह गये थे।

फिर से एक बार अस्त-व्यस्तता का युग आ गया। मित्र-शत्रु, मुगल साम्राज्य एवं उसके विध्वंसक तब तक शान्तिप्रिय रहनेवाले विदेशी व्यापारी फ्रांसीसी और अंग्रेज इस पारस्परिक लड़ाई में जुट गये। पचास वर्षों से भी अधिक समय तक लड़ाई, लूटमार, मारकाट आदि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हुआ। और जब धूल और धुआँ दूर हो गया, इंग्लैण्ड सब पर विजयी के रूप में प्रकट हुआ। इंग्लैण्ड के शासन-काल में आधी शताब्दी तक शान्ति-सुव्यवस्था एवं विधान कायम रहा। समय ही इसका साक्षी होगा कि यह सुव्यवस्था प्रगति की थी या नहीं।

अंग्रेजी राज्य-काल में भारतीय जनता में कुछ ही धार्मिक आन्दोलन हुए। इनकी परम्परा भी वही थी जो दिल्ली साम्राज्य के प्रमुख-काल में उत्तर भारत के सम्प्रदायों की थी। ये तो मृत या मृतप्राय जनों की आवाजें हैं—आतंकित जनों

की कातर वाणी, जो जीने की अनुमति माँग रही है। जिन्दा रहने का अधिकार मिल जाय, तो ये लोग विजेताओं की रुचि के अनुसार अपनी आध्यात्मिक या सामाजिक स्थिति को यथासम्भव बदलने के लिए सदा इच्छुक रहते थे, विशेषकर अंग्रेजी शासन के अधीनस्थ सम्प्रदाय। इन दिनों विजयी जाति के साथ आध्यात्मिक असमानता की अपेक्षा सामाजिक असमानता बहुत अधिक थी। गोरे शासकों का समर्थन प्राप्त करना ही इस शताब्दी के हिन्दू सम्प्रदायों ने अपने सामने महान् सत्य का आदर्श बना लिया था। इन सम्प्रदायों की जिन्दगी भी कुकुरमुत्तों की सी हो जाय, तो आश्चर्य क्या! विशाल भारतीय जनता धार्मिक क्षेत्र में इन सम्प्रदायों से अलग रहती है। हाँ, उनके विलोप के बाद जनता की प्रसन्नता के रूप में उनको एक जनप्रिय स्वीकृति मिल जाती है।

किंतु शायद अभी कुछ समय तक इस अवस्था में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं हैं।[1]

---

१ यह लेख मूल अंग्रेजी से अनूदित है। स०

बालक गोपाल की कथा

"माँ! मुझे अकेले जंगल में से होकर पाठशाला जाने में डर लगता है, दूसरे लड़कों को तो घर से पाठशाला और पाठशाला से घर ले जानेवाले नौकर या कोई न कोई और है, फिर मेरे लिए ऐसा क्यों नहीं हो सकता?"—जाड़े की एक शाम पाठशाला जाने की तैयारी करते हुए ब्राह्मण बालक गोपाल ने अपनी माँ से कहा। पाठशाला उन दिनों सुबह और शाम के समय लगा करती थी। शाम को पाठशाला के बंद होते होते अँधेरा हो जाता था और रास्ता जंगल के बीच से होकर था।

गोपाल की माँ विधवा थी। गोपाल जब छोटा सा बच्चा था तभी उसका बाप मर गया था। उसने सांसारिक वस्तुओं की कभी परवाह नहीं की थी और सदा अध्ययन-अध्यापन, पूजा-पाठ करने तथा इस ओर दूसरों को भी प्रवृत्त करने में रत रहा। इस प्रकार उसने एक सच्चे ब्राह्मण का जीवन यापन किया। इस बेचारी विधवा ने संसार के प्रति जो उसका थोड़ा सा भी लगाव था, उसे भी त्याग दिया। अब उसकी सम्पूर्ण आत्मा ईश्वरोन्मुख थी और वह प्रार्थना, व्रत तथा संयम द्वारा धैर्यपूर्वक उस महान् मुक्तिदूत मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थी, जो उसे सुख-दुःख, अच्छे-बुरे के सनातन साथी अपने पति से दूसरे जीवन में मिला देगी। वह अपनी छोटी सी कुटिया में रहती थी। एक छोटे से धान के खेत से, जो उसके पति को दक्षिणा में मिला था, उसे खाने भर को काफी चावल मिल जाता था और उसकी कुटिया के चारों तरफ बँसवाड़ियों से और नारियल, आम तथा लीची के पेड़ों से घिरी जो थोड़ी जमीन थी, उसमें गाँववालों की मदद से उसे साल भर तक काफी सब्जी मिल जाती थी। इसके अलावा शेष समय में वह रोज घण्टों चरखा काता करती थी।

इसके बहुत पहले कि बाल रवि की अरुण रश्मियाँ नारियल के शीर्ष-पत्रों का स्पर्श करें और घोंसलों में चिड़ियों का कलरव शुरू हो, वह जाग जाती थी, और जमीन पर बिछे चटाई और कम्बल के अपने बिस्तरे पर बैठकर प्राचीन सती-साध्वियों तथा ऋषि-मुनियों एवं नारायण, शिव, तारा आदि देवी-देवताओं और सर्वोपरि अपने उन इष्टाराध्य श्री कृष्ण का नाम-जप करने लगती थी, जिन्होंने संसार को उपदेश देने तथा उसके परित्राण के लिए गोपाल रूप धारण किया था। और वह यह सोच सोचकर मगन होती जाती थी कि इस तरह वह एक दिन अपने

पति के पास जा पहुँची है और उसके साथ ही उस अपने हृदयाराध्य गोपाल के पास भी, जहाँ उसका पति पहले ही पहुँच चुका है।

दिन का उजाला होने के पहले ही वह पास के सोते मे स्नान कर लेती थी। स्नान करते समय वह प्रार्थना करती जाती थी कि श्री कृष्ण की कृपा से उसका मन और शरीर दोनो ही निर्मल रहे। इसके बाद वह अपने ताजे-धुले श्वेत सूती वस्त्र धारण करती थी। फिर थोडे से फूल चुनती और पाटी पर थोडा सा चदन घिसकर और तुलसी को कुछ सुगधित पत्तियाँ लेकर अपनी कुटिया के एकान्त पूजा-कक्ष मे चली जाती थी। इसी पूजा-कक्ष मे उसके आराध्य गोपाल निवास करते थे—रेशमी मडप के नीचे काष्ठनिर्मित मखमल से मढे सिंहासन पर प्राय फूलो से ढँकी हुई बाल कृष्ण की एक पीतल की प्रतिमा स्थापित थी। उसका मातृ-हृदय भगवान् को पुत्र-रूप मे कल्पित करके ही सन्तुष्ट हो सकता था। अनेक बार वह अपने विद्वान् पति से उन वेदवर्णित निर्गुण निराकार अनन्त परमेश्वर के विषय मे सुन चुकी थी। उसने यह सम्पूर्ण चित्त से सुना था और इससे वह केवल एक ही निष्कर्ष तक पहुँच सकी थी कि जो वेदो मे लिखा है, वह अवश्य ही सत्य है। किन्तु आह! कहाँ वह व्यापक एव अनन्त दूरी पर रहनेवाला ईश्वर और कहाँ एक दुर्बल, अज्ञान स्त्री! लेकिन इसके साथ यह भी तो लिखा था कि 'जो मुझे जिस रूप मे भजता है, मैं उसे उसी रूप मे मिलता हूँ। क्योकि सब ससारवासी मेरे ही बनाये हुए मार्गो पर चल रहे हैं।' और यह कथन ही उसके लिए पर्याप्त था। इससे अधिक वह कुछ नही जानना चाहती थी। और इसीलिए उसके हृदय की सम्पूर्ण भक्ति, निष्ठा एव प्रेम की भावना गोपाल श्री कृष्ण और उनके मूर्त विग्रह के प्रति अर्पित थी। उसने यह कथन भी सुना था 'जिस भावना से तुम किसी हाड-मास के व्यक्ति की पूजा करते हो, उसी भावना से श्रद्धा एव पवित्रता के साथ मेरी भी पूजा करो, तो मैं वह सब भी ग्रहण कर लूंगा।' अत वह प्रभु को स्वामी के रूप मे, एक प्रिय शिक्षक के रूप मे और सबसे अधिक अपनी आँखो के तारे इकलौते पुत्र के रूप मे पूजती थी।

यही समझकर वह उस प्रतिमा को नहलाती-धुलाती थी और धूपार्चन करती थी। और नैवेद्य? आह! वह बेचारी कितनी गरीब थी! लेकिन आँखो मे आँसू भरकर वह अपने पति के वे वचन याद करती थी, जो वे उसे धर्मग्रन्थो से पढकर सुनाया करते थे 'प्रेमपूर्वक पत्र-पुष्प, फल-जल जो भी मुझे अर्पित किया जाता है, मैं उसे स्वीकार करता हूँ[1], और भेंट चढाते समय कहती थी 'हे प्रभु!

---

१ पत्र पुष्प फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ।।गीता ९।२६।।

ससार के समस्त पुष्प तुम्हारे लिए ही खिलते हैं मेरे ये थोड़े से साधारण पुष्प स्वीकार करो तुम जो सारे ससार का भरण-पोषण करते हो मेरे फलो की यह दीन भेट स्वीकार करो। मेरे प्रभु, मेरे गोपाल मैं दुर्बल हूँ अज्ञानी हूँ। नहीं जानती कि किस विधि से तुम्हारी अर्चा करूँ। तुम्हारे लिए मेरी पूजा पवित्र हो, मेरा प्रेम नि स्वार्थ हो और यदि मेरी भक्ति म कुछ भी पुण्य हो तो वह तुम्हारे लिए ही हो मुझे केवल प्रेम और प्रेम दो—प्रेम जिसे दूसरी किसी वस्तु की चाह नही जो केवल प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नही माँगता। सयोग से उसी समय प्रागण मे याचक अपनी सुबह की फेरी मे आ रहा था

मानव ! मेरे निकट तेरे ज्ञान-गाम्भीर्य का कोई मूल्य नही मैं तो केवल तेरे प्रेम के आगे नत हूँ।

यह तेरा प्रेम ही है, जिससे मेरा सिंहासन हिल उठता है और मैं विमुग्ध हो जाता हूँ।

'जरा देखो तो कि प्रेम के कारण ही उस सर्वेश्वर, निराकार, मुक्त प्रभु को भी तेरे सग क्रीड़ा करने और रहने के लिए मानव-शरीर धारण करना पड़ता है।

वृन्दावन-कुज के गोपो के पास भला कौन सी विद्या थी ? गाय दुहनेवाली गोपियाँ कौन सा ज्ञान-विज्ञान जानती थी ? उन्होने मुझे केवल अपने प्रेम के मोल से खरीद लिया।

इस प्रकार उस मातृ-हृदय ने उस अलौकिक तत्त्व मे दिव्य चरवाहे के रूप मे अपने पुत्र गोपाल को पाया। उसकी आत्मा जो यथावत् ही सासारिक पदार्थों की ओर उन्मुख होती थी दूसरे शब्दो मे उसकी आत्मा जो वैसी आकाश म निरन्तर मँडराती हुई किसी भी लौकिक वस्तु क सम्पर्क से स्खलित हो सकती थी वह मानो इस बालक मे अपने लिए एक लौकिक आश्रय पा गयी। केवल यही एक चीज थी जिस पर वह अपना समस्त लौकिक सुख एव अनुराग केन्द्रित कर सकती थी। उसकी प्रत्येक चेष्टा प्रत्येक विचार, प्रत्येक सुख और उसका जीवन तक क्या उस बालक क लिए ही नही था जिसके कारण वह अब भी जीवित थी ?

वर्षों तक एक माँ की ममता के साथ वह उसे अपने बच्चे को दिन दिन बढ़ते हुए देखती रही। और अब जब वह स्कूल जाने लायक हो गया है, उसे अब भी उसकी पढ़ाई-लिखाई का सामान जुटाने के लिए कितना कठिन श्रम करना पड़ता है। हालाँकि ये सब सामान बहुत थोड़े थे। उस देश म जहाँ के लोग मिट्टी के दीपक के प्रकाश मे और कुश-काँस की चटाई पर निरन्तर विद्याध्ययन करते हुए सतोषपूर्वक सारा जीवन बिता देते हैं, वहाँ एक विद्यार्थी की आवश्यकताएँ ही कितनी ? फिर भी कुछ तो थी ही पर इतने के जुगाड के लिए भी बेचारी

माँ को कई दिन तक घोर परिश्रम करना पडता था। गोपाल के लिए एक धोती, एक चादर और चटाई का वस्ता, जिसमे लिखने का अपना ताड-पत्र और सरकडे की कलम लपेटकर वह पढने पाठशाला जाता था, और स्याही-दावात—इन सबको खरीदने के लिए उसे अपने चरखे पर कई कई दिनो तक काम करना पडता था। और एक शुभ दिन गोपाल ने जब पहले-पहल लिखने का श्रीगणेश किया, उस समय का उसका आनन्द केवल एक माँ का हृदय—एक गरीब माँ का हृदय—ही जान सकता है।

लेकिन आज उसके मन पर एक दुश्चिन्ता छायी हुई है। गोपाल को अकेले जगल मे से होकर जाने मे डर लग रहा है। इसके पहले कभी उसे अपने वैधव्य की, अपने एकाकीपन और निर्धनता की अनुभूति इतने कटु रूप मे नही हुई थी। एक क्षण के लिए सब कुछ अधकारमय हो गया, किन्तु तभी उसे प्रभु के शाश्वत आश्वासन का स्मरण हो आया कि 'जो सब चिन्ताएँ त्यागकर मेरे शरणागत होते हैं, मैं उनकी समस्त आवश्यकताएँ पूर्ण कर देता हूँ।'[1] और इस आश्वासन मे पूर्णतया विश्वास करनेवालो मे एक उसकी भी आत्मा थी।

अत माता ने अपने आँसू पोछ लिये और अपने बच्चे से कहा कि डरो नही! जगल मे मेरा एक दूसरा बेटा रहता है और गायें चराता है। उसका भी नाम गोपाल है। जब भी तुम्हे जगल मे जाते समय डर लगे, अपने भैया को पुकार लिया करना।

बच्चा भी तो आखिर उसी माँ का बेटा था, उसे विश्वास हो गया।

उसी दिन पाठशाला से घर लौटते समय जगल मे जब गोपाल को डर लगा, तब उसने अपने चरवाहे भाई गोपाल को पुकारा, "गोपाल भैया! क्या तुम यही हो? माँ ने कहा था कि तुम हो और मैं तुम्हे पुकार लूँ। मैं अकेले डर रहा हूँ।" और पेडो के पीछे से एक आवाज आयी, 'डरो मत छोटे भैया, मैं यही हूँ, निर्भय होकर घर चले जाओ।'

इस तरह रोज वह बालक पुकारा करता था और रोज वही आवाज उसे उत्तर देती थी। माँ ने यह सब आश्चर्य एव प्रेम के भाव से सुना और गोपाल को सलाह दी कि अब की बार वह अपने जगलवाले भाई को सामने आने के लिए कहे।

दूसरे दिन जब वह बालक जगल से गुजर रहा था, उसने अपने भाई को पुकारा। सदा की भाँति ही आवाज आयी। लेकिन बालक ने भाई से कहा कि वह सामने आये। उस आवाज ने उत्तर दिया 'आज मैं बहुत व्यस्त हूँ भैया, नही आ सकता।'

---

१ अनन्याश्चिन्तयतो मा ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्॥गीता॥ ९।२२॥

लेकिन बालक ने हठ किया तब वह पेड़ों की छायाओं से एक ग्वाले के वेष में सिर पर मोरपंख का मुकुट पहने और हाथ में मुरली लिए बाहर निकल आया। वे दोनों ही गोपाल आपस में मिलकर बड़े खुश हुए। वे घण्टों जंगल में खेलते रहे—पेड़ों पर चढ़ते फल-फूल बटोरते पाठशाला जाने में देर हो गयी। तब अनिच्छापूर्वक बालक गोपाल पाठशाला के लिए चल पड़ा। वहाँ उसे अपना कोई पाठ याद न रहा क्योंकि उसका मन तो इसमें लगा था कि कब वह जंगल में जाकर अपने भाई के साथ खेले।

इसी तरह महीनों बीत गये। माँ बेचारी यह सब रोज रोज सुनती थी और ईश्वर-कृपा के आनन्द में अपना वैधव्य अपनी गरीबी सब कुछ भूल जाती थी और हजार बार अपनी निर्धनता को धन्य मानती थी।

इसी समय पाठशाले के गुरुजनों को अपने पितरों के सम्मानार्थ कुछ धार्मिक कृत्य करने थे। इन ग्राम-शिक्षकों को जो निःशुल्क रूप से कुछ बालकों को इकट्ठा करके पाठशाला चलाते थे खर्च के लिए यथावसर प्राप्त होनेवाली भेंटों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। प्रत्येक शिष्य को भेंट में धन अथवा वस्तुएँ लानी होती थीं। और विधवा-पुत्र अनाथ गोपाल को?—दूसरे लड़के जब यह कहते कि वे भेंट में क्या क्या लायेंगे तब वे गोपाल के प्रति तिरस्कार से मुसकराया करते थे।

उस रात गोपाल का मन बहुत भारी था। उसने अपनी माँ से गुरु जी को भेंट में देने के लिए कुछ माँगा। लेकिन बेचारी माँ के पास भला क्या रखा था! लेकिन उसने हमेशा की तरह इस बार भी अपने गोपाल पर ही निर्भर रहने का निश्चय किया और अपने पुत्र से बोली कि वह वनवासी अपने भाई से गुरु को भेंट देने के लिए कुछ माँगे।

दूसरे दिन सदा की भाँति जब गोपाल जंगल में अपने चरवाहे भाई से मिला और जब वे थोड़ी देर तक खेल-कूद चुके तब गोपाल ने अपने भाई से बताया कि उसे क्या दुःख है और अपने गुरु जी को देने के लिए कोई भेंट माँगी। चरवाहे बालक ने कहा 'भैया गोपाल! तुम तो जानते ही हो कि मैं एक मामूली चरवाहा हूँ और मेरे पास धन नहीं है लेकिन यह मक्खन की हँड़िया तुम लेते जाओ और अपने गुरु जी को भेंट कर दो!"

गोपाल इस बात से बहुत खुश हुआ कि अब उसके पास भी गुरु जी को भेंट देने के लिए कोई चीज हो गयी है लेकिन इस बात की उसे और भी खुशी थी कि यह भेंट उसे अपने वनवासी भाई से प्राप्त हुई है। वह चुप चुप गुरु के घर की तरफ बढ़ा और जहाँ बहुत से लड़के गुरु जी को अपनी अपनी भेंट दे रहे थे वहीं सबसे पीछे उत्सुकता से खड़ा हो गया। सबके पास भेंट देने का विभिन्न प्रकार की

अनेक वस्तुएँ थी और किसीको भी वेचारे अनाथ वालक की भेंट की तरफ देखने तक की फुरसत न थी। यह उपेक्षा अत्यन्त असह्य थी। गोपाल की आँखो मे आँसू आ गये। तभी सौभाग्य से गुरु जी की दृष्टि उसकी ओर गयी। उन्होंने गोपाल के हाथ से मक्खन की हाँडी ले ली और उसे एक वडे वरतन मे उँडेल दिया। लेकिन आश्चर्य कि हाँडी फिर भर गयी! तव फिर उन्होंने उसे उँडेला और वह फिर भर गयी। और इस तरह मे होता गया जव तक वे मक्खन उँडेलकर खाली करे कि वह फिर भर जाती थी।

इससे सभी लोग चकित रह गये। तव गुरु जी ने अनाथ वालक को गोद मे उठा लिया और मक्खन की हाँडी के वारे मे पूछा। गोपाल ने अपने वनवासी चरवाहे भाई के वारे मे सव कुछ वता दिया कि कैसे वह उसकी पुकार का जवाव दिया करता था, कैसे वह उसके सग खेला करता था और अन्त मे वताया कि कैसे उसने मक्खन की हाँडी दी।

गुरु जी ने गोपाल से कहा कि वह उसे जगल मे ले चलकर अपने भाई को दिखलाये। गोपाल के लिए इससे वढकर खुशी की वात और क्या हो सकती थी।

उसने अपने भाई को पुकारा कि वह सामने आये। लेकिन उस दिन उत्तर मे कोई आवाज़ नही आयी। उसने कई वार पुकारा। कोई उत्तर नही। और वह जगल मे अपने भाई से वात करने के लिए घूमा। उसे भय था कि उसके गुरु जी कही उसे झूठा न मान लें। तव वहुत दूर से आवाज़ आयी

'गोपाल! तुम्हारी माँ और तुम्हारे प्रेम एव विश्वास के कारण ही मैं तुम लोगो के पास आया था, लेकिन अपने गुरु जी से कह दो कि उन्हें अभी वहुत दिनो तक इन्तज़ार करना होगा।'[1]

---

१ यह लेख मूल अंग्रेजी से अनूदित है। स०

हमारी वर्तमान समस्या[1]

भारत का प्राचीन इतिहास एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, अद्भुत चेष्टा, असीम उत्साह, अप्रतिहत शक्तिसमूह और सर्वोपरि, अत्यन्त गम्भीर विचारों से परिपूर्ण है। 'इतिहास' शब्द का अर्थ यदि केवल राजे-रजवाड़ों की कथाएँ, उनके काम-क्रोध-व्यसनादि के द्वारा समय समय पर डाँवाडोल और उनकी सुचेष्टा या कुचेष्टा से रंग बदलते हुए समाज का चित्र मात्र जाय, तो कहना होगा कि इस प्रकार का इतिहास सम्भवतः भारत का है ही नहीं। किन्तु भारत के समस्त धर्मग्रन्थ, काव्य-सिन्धु, दर्शन शास्त्र और विविध वैज्ञानिक पुस्तकें अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से राजादि पुरुषविशेषों का वर्णन करनेवाली पुस्तकों की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक स्पष्ट रूप से भूख-प्यास-काम-क्रोधादि से परिचालित सौन्दर्य-तृष्णा से आकृष्ट, महान् अप्रतिहत व विस्तृत उस बृहत् जनसंघ के अभ्युदय के क्रमविकास का गुणगान कर रही हैं जिस जन-समाज ने सभ्यता के प्रत्यूष के पहले ही नाना प्रकार के भावों का आश्रय ले नानाविध पथों का अवलम्बन कर इस गौरव की अवस्था को प्राप्त किया था। प्राचीन भारतवासियों ने प्रकृति के साथ युग-युगान्तरव्यापी संग्राम में जो असंख्य जय-पताकाएँ संग्रह की थी, वे झंझावात के झकोरे में पड़कर यद्यपि आज जीर्ण हो गयी हैं, किन्तु फिर भी वे भारत के अतीत गौरव की जय-घोषणा कर रही हैं।

इस जाति ने मध्य एशिया, उत्तर यूरोप अथवा उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती बर्फीले प्रदेशों से धीरे धीरे आकर पवित्र भारतभूमि को तीर्थ में परिणत किया था। अथवा यह तीर्थभूमि भारत ही उनका आदिम निवास-स्थान था—यह निश्चय करने का अब तक भी कोई साधन उपलब्ध नहीं।

अथवा भारत की ही या भारत की सीमा के बाहर किसी देश में रहनेवाली एक विराट जाति ने नैसर्गिक नियम के अनुसार स्थान-भ्रष्ट होकर यूरोपादि देशों में उपनिवेश स्थापित किये और इस जाति के मनुष्यों का रंग गोरा था या

---

१ स्वामी जी ने यह निबन्ध १४ जनवरी, १८९९ ई० से प्रकाशित होनेवाले रामकृष्ण मिशन के बंगला पाक्षिक पत्र 'उद्बोधन' (जिसने बाद में मासिक रूप धारण कर लिया था) के उपोद्घात के रूप में लिखा था।

काला, आँखें नीली थी या काली, बाल सुनहरे थे या काले—इन बातो को निश्चयात्मक रूप से जानने के लिए कतिपय यूरोपीय भाषाओ के साथ सस्कृत भाषा के सादृश्य के अतिरिक्त कोई यथेष्ट प्रमाण अभी तक नही मिला है। वर्तमान भारतवासी उन्ही लोगो के वशज हैं या नही, अथवा भारत की किस जाति मे किस परिमाण मे उनका रक्त है, इन प्रश्नो की मीमासा भी सहज नही।

चाहे जो हो, इस अनिश्चितता से भी हमारी कोई विशेष हानि नही।

पर एक बात ध्यान मे रखनी होगी, और वह यह कि जो प्राचीन भारतीय जाति सभ्यता की रश्मियो से सर्वप्रथम उन्मीलित हुई और जिस देश मे सर्वप्रथम चिन्तनशीलता का पूर्ण विकास हुआ, उस जाति और उस स्थान मे उसके लाखो वशज—मानस-पुत्र—उसके भाव एव चिन्तनराशि के उत्तराधिकारी अब भी मौजूद हैं। नदी, पर्वत और समुद्र लाँघकर, देश-काल की बाधाओ को नगण्य कर, स्पष्ट या अज्ञात अनिर्वचनीय सूत्र से भारतीय चिन्तन की रुधिरधारा अन्य जातियो की नसो मे बही और अब भी बह रही है।

शायद हमारे हिस्से मे सार्वभौम पैतृक सम्पत्ति कुछ अधिक है।

भूमध्य सागर के पूर्वी कोने मे सुन्दर द्वीपमाला-परिवेष्टित, प्रकृति के सौन्दर्य से विभूषित एक छोटे देश मे, थोडे से किन्तु सर्वांग-सुन्दर, सुगठित, मजबूत, हलके शरीरवाले, किन्तु अटल अध्यवसायी, पार्थिव सौंदर्य सृष्टि के एकाधिराज, अपूर्व क्रियाशील प्रतिभाशाली मनुष्यो की एक जाति थी।

अन्यान्य प्राचीन जातियाँ उनको 'यवन' कहती थी। किन्तु वे अपने को 'ग्रीक' कहते थे।

मानव जाति के इतिहास मे यह मुट्ठी भर अलौकिक वीर्यशाली जाति एक अपूर्व दृष्टान्त है। जिस किसी देश के मनुष्यो ने समाजनीति, युद्धनीति, देश-शासन, शिल्प-कला आदि पार्थिव विद्याओ में उन्नति की है या जहाँ अब भी उन्नति हो रही है, वही यूनान की छाया पडी है। प्राचीन काल की बात छोड दो, आधुनिक समय मे भी आधी शताब्दी से इन यवन गुरुओ का पदानुसरण कर यरोपीय साहित्य के द्वारा यूनानवालो का जो प्रकाश आया है, उसी प्रकाश से अपने गृहो को आलोकित कर हम आधुनिक बगाली स्पर्धा का अनुभव कर रहे हैं।

समग्र यूरोप आज सब विषयो मे प्राचीन यूनान का छात्र और उत्तराधिकारी है, यहाँ तक कि, इग्लैण्ड के एक विद्वान् ने कहा भी है, 'जो कुछ प्रकृति ने उत्पन्न नही किया है, वह यूनानवालो की सृष्टि है।'

सुदूरस्थित विभिन्न पर्वतों (भारत और यूनान) से उत्पन्न इन दो महानदों (आर्यों और यूनानियों) का बीच बीच में संगम होता रहता है और जब कभी इस प्रकार की घटना घटती है तभी जन-समाज में एक बड़ी आध्यात्मिक तरंग उठकर सभ्यता की रेखा का दूर दूर तक विस्तार कर देती है और मानव समाज में भ्रातृत्व-बन्धन को अधिक दृढ़ कर देती है।

अत्यन्त प्राचीन काल में एक बार भारतीय अध्यात्म-विद्या यूनानी उत्साह के साथ मिलकर, रोमन ईरानी आदि शक्तिशाली जातियों के अभ्युदय में सहायक हुई। सिकन्दर शाह के दिग्विजय के पश्चात् इन दोनों महा जलप्रपातों के संघर्ष के फलस्वरूप ईसा आदि नाम से प्रसिद्ध आध्यात्मिक तरंग ने प्राय आधे संसार को प्लावित कर दिया। पुन इस प्रकार के मिश्रण से अरब का अभ्युदय हुआ जिससे आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी एवं ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान समय में भी पुन इन दोनों महाशक्तियों का सम्मिलन-काल उपस्थित हुआ है।

अब की बार (उनका) केन्द्र है भारत।

भारत की वायु शान्ति-प्रधान है यवन की प्रकृति शक्तिप्रधान है एक गम्भीर चिन्तनशील है दूसरा अदम्य कार्यशील एक का मूलमन्त्र है 'त्याग' दूसरे का 'भोग' एक की सब चेष्टाएँ अन्तर्मुखी है दूसरे की बहिर्मुखी एक की प्राय सब विद्याएँ आध्यात्मिक है दूसरे की आधिभौतिक एक मोक्ष का अभिलाषी है दूसरा स्वाधीनता का प्यार करता है एक इस संसार में सुख प्राप्त करने में निरुत्साह है और दूसरा इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने में सचेष्ट है एक नित्य सुख की आशा में इस लोक के अनित्य सुख की उपेक्षा करता है दूसरा नित्य सुख में शंका कर अथवा उसको दूर जानकर यथासम्भव ऐहिक सुख प्राप्त करने में उद्यत रहता है।

इस युग में पूर्वोक्त दोनों ही जातियों का लोप हो गया है केवल उनकी शारीरिक अथवा मानसिक सन्तानें ही वर्तमान है।

यूरोप तथा अमेरिकावासी तो यवनों की समुन्नत मुखोज्ज्वलकारी सन्तान है पर दुःख है कि आधुनिक भारतवासी प्राचीन आर्यकुल के गौरव नहीं रह गए है।

किन्तु राख से ढका हुआ अग्नि के समान इन आधुनिक भारतवासियों में भी छिपी हुई पैतृक शक्ति विद्यमान है। यथासमय महाशक्ति की कृपा से उसका पुन स्फुरण होगा।

प्रस्फुरित होकर क्या होगा?

क्या पुन वैदिक यज्ञधूम से भारत का आकाश मेघावृत होगा, अथवा पशुरक्त से रन्तिदेव की कीर्ति का पुनरुद्दीपन होगा? गोमेध, अश्वमेध, देवर के द्वारा सन्तानोत्पत्ति आदि प्राचीन प्रथाएँ पुन प्रचलित होगी अथवा बौद्ध काल की भाँति फिर समग्र भारत सन्यासियो की भरमार से एक विस्तृत मठ मे परिणत होगा? मनु का शासन क्या पुन उसी प्रभाव से प्रतिष्ठित होगा अथवा देश-भेद के अनुसार भक्ष्याभक्ष्य-विचार का ही आधुनिक काल के समान सर्वतोमुखी प्रभुत्व रहेगा? क्या जाति-भेद गुणानुसार (गुणगत) होगा अथवा सदा के लिए वह जन्म के अनुसार (जन्मगत) ही रहेगा? जाति-भेद के अनुसार भोजन-सम्बन्ध मे छुआछूत का विचार बग देश के समान रहेगा अथवा मद्रास आदि प्रान्तो के समान महान् कठोर रूप धारण करेगा या पजाब आदि प्रदेशो के समान यह एकदम ही दूर हो जायगा? भिन्न भिन्न वर्णो का विवाह मनु के द्वारा बतलाये हुए अनुलोम क्रम से—जैसे नेपालादि देशो मे आज भी प्रचलित है—पुन सारे देश मे प्रचलित होगा अथवा बग आदि देशो के समान एक वर्ण के अवान्तर भेदो मे ही सीमित रहेगा? इन सब प्रश्नो का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। देश के विभिन्न प्रान्तो मे, यहाँ तक कि एक ही प्रान्त मे भिन्न भिन्न जातियो और वशो के आचारो की घोर विभिन्नता को ध्यान मे रखते हुए यह मीमासा और भी कठिन जान पडती है।

तब क्या होगा?

जो हमारे पास नही है, शायद जो पहले भी नही था, जो यवनो के पास था, जिसका स्पन्दन यूरोपीय विद्युदाधार (डाइनेमो) से उस महाशक्ति को बडे वेग से उत्पन्न कर रहा है, जिसका सचार समस्त भूमण्डल मे हो रहा है—हम उसीको चाहते हैं। हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता का प्रेम, वही आत्मनिर्भरता, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। हम बीती बातों की उधेड-बुन छोडकर अनन्त तक विस्तारित अग्रसर दृष्टि चाहते हैं और चाहते हैं आपादमस्तक नस नस मे बहनेवाला रजोगुण।

त्याग की अपेक्षा और अधिक शान्तिदायी क्या हो सकता है? अनन्त कल्याण की तुलना में क्षणिक ऐहिक कल्याण निश्चय ही अत्यन्त तुच्छ है। सत्त्व गुण की अपेक्षा महाशक्ति का सचय और किससे हो सकता है? यह सत्य है कि अध्यात्म-विद्या की तुलना मे और सब तो 'अविद्या' हैं, किन्तु इस ससार मे कितने मनुष्य सत्त्व गुण प्राप्त करते हैं? इस भारत मे ऐसे कितने मनुष्य हैं? कितने मनुष्यो मे ऐसा महावीरत्व है, जो ममता को छोडकर सर्वत्यागी हो सकें? वह दूरदृष्टि कितने मनुष्यो के भाग्य मे है, जिससे सब पार्थिव सुख तुच्छ विदित होते हैं! वह विशाल

हृदय कहाँ है जो भगवान् के सौन्दर्य और महिमा के चिन्तन में अपने शरीर को भी भूल जाता है ! जो ऐसे हैं भी, वे समग्र भारत की जनसंख्या की तुलना में मुट्ठी भर ही हैं। इन थोड़े से मनुष्यों की मुक्ति के लिए करोड़ों नर-नारियों का सामाजिक और आध्यात्मिक चक्र के नीचे क्या पिस जाना होगा ?

और इस प्रकार पिसे जाने का फल भी क्या होगा ?

क्या तुम देखते नहीं कि इस सत्त्व गुण के बहाने से देश धीरे धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है ? जहाँ महा जड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं, जहाँ जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है, जहाँ क्रूर कर्मवाले तपस्यादि का स्वांग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं, जहाँ अपनी कमजोरी के ऊपर किसीकी भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है, जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही विद्या है, दूसरों के विचारों को दुहराना ही प्रतिभा है और इन सबसे बढ़कर केवल पूर्वजों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है, यह सिद्ध करने के लिए हमको क्या और प्रमाण चाहिए !

अतएव सत्त्व गुण अब भी हमसे बहुत दूर है। हममें जो परमहंस-पद प्राप्त करने योग्य नहीं हैं, या जो भविष्य में योग्य होना चाहते हैं उनके लिए रजोगुण की प्राप्ति ही परम कल्याणप्रद है। बिना रजोगुण के क्या कोई सत्त्व गुण प्राप्त कर सकता है ? बिना भोग का अन्त हुए योग हो ही कैसे सकता है ? बिना वैराग्य के त्याग कहाँ से आयेगा ?

दूसरी ओर रजोगुण ताड़ के पत्ते की आग की तरह शीघ्र ही बुझ जाता है। सत्त्व का अस्तित्व नित्य वस्तु के निकटतम है, सत्त्व प्रायः नित्य सा है। रजोगुणवाली जाति दीर्घजीवी नहीं होती, सत्त्व गुणवाली जाति चिरजीवी सी होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

भारत में रजोगुण का प्रायः सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में सत्त्व गुण का अभाव है। इसलिए यह निश्चित है कि भारत से बही हुई सत्त्व-धारा के ऊपर पाश्चात्य जगत् का जीवन निर्भर है, और यह भी निश्चित है कि बिना तमोगुण को रजोगुण के प्रवाह से दबाये हमारा ऐहिक कल्याण नहीं होगा और बहुधा पारलौकिक कल्याण में भी विघ्न उपस्थित होंगे।

इन दोनों शक्तियों के सम्मिलन और मिश्रण की यथासाध्य सहायता करना इस उद्बोधन पत्र का उद्देश्य है।

पर भय यह है कि इस पाश्चात्य वीर्य-तरग मे चिरकाल से अर्जित कही हमारे अमूल्य रत्न तो न वह जायेंगे? और उस प्रवल भँवर मे पडकर भारत-भूमि भी कही ऐहिक सुख प्राप्त करने की रण-भूमि मे तो न वदल जायगी? असाध्य, असम्भव एव जड से उखाड देनेवाले विदेशी ढग का अनुकरण करने से हमारी 'न घर के न घाट के' जैसी दशा तो न हो जायगी—और हम 'इतो नष्ट-स्ततो भ्रष्ट' के उदाहरण तो न वन जायेंगे? इसलिए हमको अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी, जिससे जन-साधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सकें, हमको ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसीके साथ साथ वाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमको निर्भीक होकर अपने घर के सव दरवाजे खोल देने होगे। ससार के चारो ओर से प्रकाश की किरणें आयें, पाश्चात्य का तीव्र प्रकाश भी आये! जो दुर्वल, दोपयुक्त है, उसका नाश होगा ही। उसे रखकर हमे क्या लाभ होगा? जो वीर्यवान, वलप्रद है, वह अविनाशी है, उसका नाश कौन कर सकता है?

कितने पर्वत-शिखरो से कितनी ही हिम नदियाँ, कितने ही झरने, कितनी जल-धाराएँ निकलकर विशाल सुर-तरगिणी के रूप मे महावेग से समुद्र की ओर जा रही हैं! कितने विभिन्न प्रकार के भाव, देश-देशान्तर के कितने साधु-हृदयो और ओजस्वी मस्तिष्को से निकलकर कितने शक्ति-प्रवाह नर-रगक्षेत्र, कर्म-भूमि भारत मे छा रहे हैं! रेल, जहाज जैसे वाहन और विजली की सहायता से, अग्रेजो के आधिपत्य मे, वडे ही वेग से नाना प्रकार के भाव और रीति-रिवाज सारे देश मे फैल रहे हैं। अमृत आ रहा है और उसीके साथ साथ विष भी आ रहा है। क्रोध, कोलाहल और रक्तपात आदि सभी हो चुके हैं—पर इस तरग को रोकने की शक्ति हिन्दू समाज मे नही है। यत्र द्वारा लाये हुए जल से लेकर हड्डियो से साफ की हुई शक्कर तक सव पदार्थों का वहुत मौखिक प्रतिवाद करते हुए भी हम सव चुपचाप उन्हे उदरस्थ कर रहे हैं। कानून के प्रबल प्रभाव से अत्यन्त यत्न से रक्षित हमारी वहुत सी रीतियाँ धीरे धीरे दूर होती जा रही हैं—उनकी रक्षा करने की शक्ति हममे नही है। हममे शक्ति क्यो नही है? क्या सत्य वास्तव मे शक्तिहीन है? **सत्यमेव जयते नानृतम्**—'सत्य की ही जय होती है, न कि झूठ की'—यह वेदवाणी क्या मिथ्या है? अथवा जो आचार पाश्चात्य शासन-शक्ति के प्रभाव मे बहे चले जा रहे है, वे आचार ही क्या अना-चार थे? यह भी विशेप रूप से एक विचारणीय विषय है।

वहुजनहिताय वहुजनसुखाय—नि स्वार्थ भाव से, भक्तिपूर्ण हृदय से इन सव प्रश्नों की मीमासा के लिए यह 'उद्वोधन' सहृदय प्रेमी विद्वत् समाज का आह्वान

करता है एवं द्वेषबुद्धि छोड़ व्यक्तिगत सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक सुखाभि-प्रयोग से विमुख होकर सब सम्प्रदायों की सेवा के लिए ही अपना शरीर अर्पण करता है।

कर्म करने का अधिकार मात्र हमारा है फल प्रभु के हाथ में है। हम केवल प्रार्थना करते हैं—हे तेजस्वरूप! हमको तेजस्वी बनाओ हे वीर्यस्वरूप! हमको वीर्यवान बनाओ हे बलस्वरूप! हमको बलवान बनाओ।

हिन्दू धर्म और श्री रामकृष्ण[1]

शास्त्र शब्द से अनादि अनन्त 'वेद' का तात्पर्य है। धार्मिक व्यवस्थाओ मे मतभेद होने पर एकमात्र वेद ही सर्वमान्य प्रमाण है।

पुराणादि अन्य धर्मग्रन्थो को स्मृति कहते हैं। ये भी प्रमाण मे ग्रहण किये जाते हैं, किन्तु तभी तक, जब तक वे श्रुति के अनुकूल कहे, अन्यथा नही।

'सत्य' के दो भेद हैं पहला, जो मनुष्य की पचेन्द्रियो से एव तदाश्रित अनुमान से ग्रहण किया जाय, और दूसरा, जो अतीन्द्रिय सूक्ष्म योगज शक्ति द्वारा ग्रहण किया जाय।

प्रथम उपाय से सकलित ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं और दूसरे प्रकार से सकलित ज्ञान को 'वेद' कहते हैं।

अनादि अनन्त अलौकिक वेद-नामधारी ज्ञानराशि सदा विद्यमान है। सृष्टिकर्ता स्वय इसीकी सहायता से इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और उसका नाश करता है।

यह अतीन्द्रिय शक्ति, जिनमे आविर्भूत अथवा प्रकाशित होती है, उनका नाम ऋषि है, और उस शक्ति के द्वारा वे जिस अलौकिक सत्य की उपलब्धि करते है, उसका नाम 'वेद' है।

यह ऋषित्व और वेद-दृष्टि का लाभ करना ही यथार्थ धर्मानुभृति है। जब तक यह प्राप्त न हो, तब तक 'धर्म' केवल बात की बात है, और यही मानना पडेगा कि धर्मराज्य की प्रथम सीढी पर भी हमने पैर नही रखा।

समस्त देश, काल और पात्र मे व्याप्त होने के कारण वेद का शासन अर्थात् वेद का प्रभाव देश विशेष, काल विशेष अथवा पात्र विशेष तक सीमित नही।

सार्वजनीन धर्म की व्याख्या करनेवाला एकमात्र वेद ही है।

अलौकिक ज्ञान-प्राप्ति का साधन यद्यपि हमारे देश के इतिहास-पुराणादि और म्लेच्छादि देशो की धर्म-पुस्तको मे थोडा-बहुत अवश्य वर्तमान है, फिर भी, अलौकिक ज्ञानराशि का सर्वप्रथम पूर्ण और अविकृत सग्रह होने के कारण, आर्य जाति मे प्रसिद्ध वेद-नामधारी, चार भागो मे विभक्त अक्षर-समूह ही सब प्रकार

---

१ इसका मूल बगला है। स०

से सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है, समस्त जगत् का पूजार्ह है तथा आर्य एवं म्लेच्छ सबके धर्मग्रन्थों की प्रमाणभूमि है।

आर्य जाति द्वारा आविष्कृत उक्त वेद नामक शब्दराशि के सम्बन्ध में यह भी जान लेना होगा कि उसका जो अंश लौकिक, अर्थवाद अथवा इतिहास सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता, वही अंश वेद है।

ये वेद ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त हैं। कर्मकाण्ड में वर्णित क्रिया और उसके फल मायाधिकृत जगत् में ही सीमित होने के कारण देश, काल और पात्र के अधीन होकर परिवर्तित हुए हैं, होते हैं तथा होते रहेंगे। सामाजिक रीति-नीति भी इसी कर्मकाण्ड के ऊपर प्रतिष्ठित है, इसलिए समय समय पर इसका भी परिवर्तन होता रहा है और होता रहेगा। लोकाचार यदि सत्शास्त्र और सदाचार के प्रतिकूल न हो, तो वह भी मान्य है। सत्शास्त्रनिन्दित और सदाचार-विरोधी लोकाचार के अधीन हो जाना ही आर्य जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है।

निष्काम कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान की सहायता से मुक्ति दिलानेवाला होने के कारण तथा मायारूपी समुद्र को पार कराने में नेता के पद पर प्रतिष्ठित और देश-काल-पात्र आदि के द्वारा अप्रतिहत होने के कारण ज्ञानकाण्ड अथवा वेदान्त भाग ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का एकमात्र उपदेष्टा है।

मन्वादि शास्त्रों ने कर्मकाण्ड का आश्रय ग्रहण कर देश-काल-पात्र भेद से मुख्यतः समाज का कल्याण करनेवाले कर्मों की शिक्षा दी है। पुराणों ने वेदान्त के छिपे हुए तत्त्वों को प्रकाश में लाकर अवतारादि महान् चरित्रों का वर्णन करते हुए इन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की है और उनमें से प्रत्येक ने अनन्त भावमय भगवान् के किसी एक भाव को प्रधान मानकर उसीका उपदेश किया है।

किन्तु जब कालवश सदाचारभ्रष्ट, वैराग्यविहीन, एकमात्र लोकाचारनिष्ठ और क्षीणबुद्धि आर्य सन्तान [illegible] के लिए भी [illegible] अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिए विस्तृत भाषा में स्थूल रूप से [illegible] का प्रचार करनेवाले पुराणों तथा [illegible] में वर्णित बातों का भी [illegible] में असमर्थ हो गये—[illegible] उस समय [illegible] धर्म को [illegible] हुए इस धर्मभूमि भारत को [illegible] कर दिया—उस समय आर्य जाति का प्रकृत धर्म क्या है और [illegible]

युक्त सम्प्रदायो से घिरे, स्वदेशियो का भ्रान्ति-स्थान एव विदेशियो का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एव देश-काल के योग से इधर-उधर विखरे हुए धर्मखण्डसमष्टि के वीच यथार्थ एकता कहाँ है, यह दिखलाने के लिए —तथा कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन मे निहित कर, ससार के सम्मुख सनातन धर्म के सजीव उदाहरणस्वरूप अपने को प्रदर्शित करते हुए लोक-कल्याण के लिए श्री भगवान् रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता के अनादि-वर्तमान सहयोगी शास्त्र सस्कार-रहित ऋषि-हृदय मे किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, यह दिखलाने के लिए और इसलिए कि इस प्रकार से शास्त्रो के प्रमाणित होने पर धर्म का पुनरुद्धार, पुन-स्थापन और पुन प्रचार होगा, वेदमूर्ति भगवान् ने अपने इस नूतन रूप मे वाह्य शिक्षा की प्राय सम्पूर्ण रूप से उपेक्षा की है।

वेद अर्थात् प्रकृत धर्म की और ब्राह्मणत्व अर्थात् धर्मशिक्षा के तत्त्व की रक्षा के लिए भगवान् वारम्वार शरीर धारण करते है, यह तो स्मृति आदि मे प्रसिद्ध ही है।

ऊपर से गिरनेवाली नदी की जलराशि अधिक वेगवती होती है, पुनरुत्थित तरग अधिक ऊँची होती है। उसी प्रकार प्रत्येक पतन के बाद आर्य समाज भी श्री भगवान् के करुणापूर्ण नियन्त्रण मे नीरोग होकर पूर्वापेक्षा अधिक यशस्वी और वीर्यवान हुआ है—इतिहास इस वात का साक्षी है।

प्रत्येक पतन के वाद पुनरुत्थित समाज अन्तर्निहित सनातन पूर्णत्व को और भी अधिक प्रकाशित करता है, और सर्वभूतो मे अवस्थित अन्तर्यामी प्रभु भी अपने स्वरूप को प्रत्येक अवतार मे अधिकाधिक अभिव्यक्त करते हैं।

बार बार यह भारतभूमि मूर्च्छापन्न अर्थात् धर्मलुप्त हुई है और बारम्बार भारत के भगवान् ने अपने आविर्भाव द्वारा इसे पुनरुज्जीवित किया है।

किन्तु प्रस्तुत दो घडी मे ही वीत जानेवाली वर्तमान गम्भीर विषाद-रात्रि के समान और किसी भी अमानिशा ने अब तक इस पुण्यभूमि को आच्छन्न नही किया था। इस पतन की गहराई के सामने पहले के सब पतन गोष्पद के समान जान पडते हैं।

इसीलिए इस प्रवोधन की समुज्ज्वलता के सम्मुख पूर्व युग के समस्त उत्थान उसी प्रकार महिमाविहीन हो जायँगे, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने तारा-गण। और इस पुनरुत्थान के महावीर्य की तुलना मे प्राचीन काल के समस्त उत्थान बालकेलि से जान पडेंगे।

सनातन धर्म के समस्त भाव-समूह अपनी इस पतनावस्था में अधिकारी के अभाव से अब तक इधर-उधर छिन्न-भिन्न होकर पड़े रहे हैं—कुछ तो छोटे छोटे सम्प्रदायों के रूप में और शेष सब लुप्तावस्था में।

किन्तु आज इस नव उत्थान में नवीन बल से बली मानव-सन्तान विखण्डित और बिखरी हुई अध्यात्म विद्या को एकत्र कर उसकी धारणा और अभ्यास करने में समर्थ होगी तथा लुप्त विद्या के भी पुनः आविष्कार में सक्षम होगी। इसके प्रथम निदर्शनस्वरूप परम कारुणिक श्री भगवान् पूर्व सभी युगों की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्रदर्शित करते हुए, सर्वभावसमन्वित एवं सर्वविद्यायुक्त होकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

इसीलिए इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है, और यही असीम अनन्त भाव, जो सनातन शास्त्र और धर्म में निहित होते हुए भी अब तक छिपा हुआ था, पुनः आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जन-समाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषतः भारत के लिए, महा कल्याणकारी है, और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान् रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म प्रवर्तकों के पुनः संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती हुई रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मुर्दे की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं, बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग के खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्तव्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, उसकी पूर्णावस्था की कल्पना से अनुभव करो, और व्यर्थ सन्देह, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग कर, इस महायुग-चक्र-परिवर्तन में सहायक बनो।

हम प्रभु के दास हैं, प्रभु के पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं—यही विश्वास दृढ़ कर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

चिन्तनीय बातें

१

देव-दर्शन के लिए एक व्यक्ति आकर उपस्थित हुआ। ठाकुर जी का दर्शन पाकर उसके हृदय मे यथेष्ट श्रद्धा एव भक्ति का सचार हुआ, और ठाकुर जी के दर्शन से जो कुछ अच्छा उसे मिला, शायद उसे चुका देने के लिए उसने राग अला-पना आरम्भ किया। दालान के एक कोने मे एक खम्भे के सहारे बैठे हुए चौवे जी ऊँघ रहे थे। चौवे जी उस मन्दिर के पुजारी हैं, पहलवान है और सितार भी बजाया करते हैं—सुबह-शाम एक एक लोटा भाँग चढाने मे निपुण हैं तथा उनमे और भी अनेक सद्‌गुण हैं। चौवे जी के कानो मे सहसा एक विकट आवाज़ के गूँज जाने से उनका नशा-समुत्पन्न विचित्र ससार पल भर के लिए उनके बया-लीस इचवाले विशाल वक्ष स्थल के भीतर 'उत्थाय हृदि लीयन्ते' हुआ। तरुण-अरुण-किरण-वर्ण नशीले नेत्रो को इधर-उधर घुमाकर अपने मन की चचलता का कारण ढूंढ़ने मे व्यस्त चौवे जी को पता लगा कि एक व्यक्ति ठाकुर जी के सामने अपने ही भाव मे मस्त होकर किसी उत्सव-स्थान पर बरतन माँजने की ध्वनि की भाँति कर्णकटु स्वर मे नारद, भरत, हनुमान और नायक इत्यादि सगीत कला के आचार्यों का नाम ज़ोर ज़ोर से ऐसे उच्चारण कर रहा है, मानो पिण्डदान दे रहा हो। अपने नशे के आनन्द मे प्रत्यक्ष विघ्न डालनेवाले व्यक्ति से मर्माहत चौवे जी ने ज़बरदस्त परेशानीभरे स्वर मे पूछा, "अरे भाई, उस वेसुर वेताल मे क्या चिल्ला रहे हो?" तुरन्त उत्तर मिला, "सुर-तान की मुझे क्या परवाह? मैं तो ठाकुर जी के मन को तृप्त कर रहा हूँ।" चौवे जी बोले, "हुँ, ठाकुर जी को क्या तूने ऐसा मूर्ख समझ रखा है? अरे पागल, तू तो मुझे ही तृप्त नही कर पा रहा है, ठाकुर जी क्या मुझसे भी अधिक मूर्ख हैं?"

*   *   *

भगवान् ने अर्जुन से कहा है—"तुम मेरी शरण लो, बस और कुछ करने की आवश्यकता नही, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा।" भोलाचाँद ने जब लोगो से यह सुना, तो बडा खुश हुआ, रह रह कर वह विकट चीत्कार करने लगा, "मैं

प्रभु की शरण में आया हूँ? मुझे अब किसका डर? मुझे अब और कुछ करने की क्या जरूरत?" भोलाचाँद का खयाल यह था कि इन बातों को इस तरह चिल्ला चिल्लाकर कहने से ही यथेष्ट भक्ति होती है। और फिर उसके ऊपर बीच बीच में वह उस चीत्कार से यह भी बतलाता जाता था कि वह हमेशा ही प्रभु के लिए प्राण देने को प्रस्तुत है और इस भक्ति डोर में यदि प्रभु स्वयं ही न आ बँधें तो फिर सब मिथ्या है। उनके पास बैठनेवाले दो-चार अहमक साथी भी यही सोचते हैं। किन्तु भोलाचाँद प्रभु के लिए अपनी एक भी शरारत छोड़ने को तैयार नहीं है। अरे, मैं कहता हूँ कि ठाकुर जी क्या ऐसे ही अहमक हैं? इस पर तो भाई हम भी नहीं रीझते!

* * *

भोलापुरी एक बड़े वैराग्यी हैं—सभी बातों में वे अपने ब्रह्मज्ञान का परिचय दिया करते हैं। भोलापुरी के चारों ओर यदि लोग अन्नाभाव में हाहाकार करते हों तो यह दृश्य उनको किसी प्रकार विचलित नहीं करता। वे सुख-दुःख की असारता समझा देते हैं। रोग शोक एवं क्षुधा से चाहे समस्त लोग मरकर ढेर हो जायँ तो उसमें उनकी कोई हानि नहीं। वे तुरन्त ही आत्मा के अविनश्वरत्व की चिन्ता करने लगते हैं। उनके सामने बलवान यदि दुर्बल को मार भी डाले तो भोलापुरी जी कहते हैं "आत्मा न मरती है और न मारती ही है" और इतना कहकर इस श्रुति-वाक्य के गम्भीर अर्थ-सागर में डूब जाते हैं। किसी भी प्रकार का कार्य करने में भोलापुरी जी बहुत नाराज होते हैं। तंग करने पर वे उत्तर देते हैं कि वे तो पूर्व जन्म में ही उन सब कार्यों को समाप्त कर आये हैं। किन्तु एक बात में आघात पहुँचने से भोलापुरी जी की आत्मैक्यानुभूति को बड़ी ही ठेस लगती है—जिस समय उनकी भिक्षा की मात्रा में किसी प्रकार की कमी हो या गृहस्थ लोग उनकी इच्छानुसार दक्षिणा देने में आनाकानी करते हैं, उस समय पुरी जी की राय में गृहस्थ के समान घृणित जीव संसार में और कोई नहीं। और जो गाँव उन्हें समुचित दक्षिणा नहीं देता वह गाँव एक क्षण के लिए भी न जाने क्यों पृथ्वी के बोझ को बढ़ा रहा है—बस यही सोचकर वे आकुल हो जाते हैं।

ये भी ठाकुर जी को हमारी अपेक्षा अहमक समझते हैं!

*

अरे भाई रामचरण तुमने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा व्यापार-धन्धा करने की भी तुम्हारी कोई हैसियत नहीं शारीरिक परिश्रम भी तुम्हारे बस का

नहीं, फिर इस पर नशा-भाँग और खुराफात भी नही छोडते, बोलो तो सही किस प्रकार तुम अपनी जीविका चलाते हो?"

रामचरण ने उत्तर दिया, "जनाब, यह तो सीधी सी बात है, मैं सबको उपदेश देता हूँ?"

राम्चरण ने ठाकुर जी को न जाने क्या समझ रखा है!

२

लखनऊ शहर मे मुहर्रम की बडी धूम है। बडी मसजिद—इमामबाडे मे चमक-दमक और रोशनी की बहार का कहना ही क्या! बेशुमार लोग आ-जा रहे हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि अनेक जाति के स्त्री-पुरुषो की भीड की भीड आज मुहर्रम देखने को एकत्र हुई है। लखनऊ शिया लोगो की राजधानी है, आज हज़रत इमाम हसन-हुसैन के नाम का आर्तनाद आकाश तक में गूंज रहा है—वह हृदय दहलानेवाला मरसिया, उसके साथ फूट फूटकर रोना किसके हृदय को द्रवित न कर देगा? सहस्र वर्ष की प्राचीन करबला की कथा आज फिर जीवन्त हो उठी है। इन दर्शको की भीड मे दूर गाँव से दो भद्र राजपूत तमाशा देखने आये हैं। ठाकुर साहब—जैसा कि प्राय गवैंहे ज़मीदार लोग हुआ करते हैं—निरक्षर भट्ट हैं। लखनऊ की इसलामी सभ्यता, शीन-काफ का शुद्ध उच्चारण, शाइस्ता ज़ुबान, ढीली शेरवानी, चुस्त पायजामा और पगडी, रग-बिरगे कपडे का लिबास—ये सब आज भी दूर गाँवो मे प्रवेश कर वहाँ के ठाकुर साहबो को स्पर्श नही कर पाये हैं। अत ठाकुर लोग सरल और सीधे हैं और हमेशा जवाँमर्द, चुस्त, मुस्तैद और मज़बूत दिलवालो को ही पसन्द करते हैं।

दोनो ठाकुर साहब फाटक पार करके मसजिद के अन्दर प्रवेश करने ही वाले थे कि सिपाही ने उन्हें अन्दर जाने से मना किया। जब उन्होंने इसका कारण पूछा, तो सिपाही ने उत्तर दिया, "यह जो दरवाज़े के पास मूरत खडी देख रहे हो, उसे पहले पाँच जूते मारो, तभी भीतर जा सकोगे।" उन्होंने पूछा, "यह मूर्ति किसकी है?" उत्तर मिला, "यह महापापी येज़िद की मूरत है। उसने एक हज़ार साल पहले हज़रत हसन-हुसैन को क़त्ल किया था, इसीलिए आज यह रोना और अफसोस ज़ाहिर किया जा रहा है।" सिपाही ने सोचा कि इस लम्बी व्याख्या को सुनकर वे लोग पाँच जूते क्या दस जूते मारेंगे। किन्तु कर्म की गति विचित्र है, राम ने उलटा समझा—दोनो ठाकुरो ने गले मे दुपट्टा लपेटकर अपने को उस मूर्ति के चरणो पर डाल दिया और लोट-पोटकर गद्गद स्वर से स्तुति करने लगे, "अन्दर जाने का अब क्या काम है, दूसरे देवता को अब और क्या

देखोगे ? शाबाश ! बाबा मेकिन्ले देवता तो तू ही है ! मारे का भय मारेउ फिर ई सब सार अवहित तक रोवत है।

* *

सनातन हिन्दू धर्म का गगनचुम्बी मन्दिर है—उस मन्दिर के अन्दर जाने के मार्ग भी कितने हैं! और वहाँ है क्या नहीं? वेदान्ती के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा विष्णु, शिव शक्ति सूर्य चूहे पर सवार गणेश जी छोटे देवता जैसे षष्ठी माकाल इत्यादि तथा और भी न जाने क्या क्या वहाँ मौजूद है। फिर वेद वेदान्त दर्शन पुराण एवं तन्त्र में बहुत सी सामग्री है जिसकी एक एक बात से भवबन्धन टूट जाता है। और लोगों की भीड़ का तो कहना ही क्या तैंतीस करोड़ लोग उस ओर दौड़ रहे हैं! मुझे भी उत्सुकता हुई, मैं भी दौड़ने लगा। किन्तु यह क्या! मैं तो जाकर देखता हूँ एक अद्भुत काण्ड!! कोई भी मन्दिर के अन्दर नहीं जा रहा है दरवाजे के पास एक पचास सिरवाली सौ हाथवाली दो सौ पेटवाली और पाँच सौ पैरवाली एक मूर्ति खड़ी है! उसीके पैरों के नीचे सब लोट-पोट हो रहे हैं। एक व्यक्ति से कारण पूछने पर उत्तर मिला "भीतर जो सब देवता हैं, उनको दूर से लोट-पोट लेने से ही या दो फूल डाल देने से ही उनकी यथेष्ट पूजा हो जाती है। असली पूजा तो इनकी होनी चाहिए, जो दरवाजे पर विद्यमान हैं और जो वेद वेदान्त दर्शन पुराण और शास्त्र सब देख रहे हो उन्हें कभी कभी सुन लो तो भी कोई हानि नहीं किन्तु इनका हुक्म तो मानना ही पड़ेगा।" तब मैंने फिर पूछा "इन देवता जी का भला नाम क्या है?" उत्तर मिला "इनका नाम 'लोकाचार' है। मुझे लखनऊ के ठाकुर साहब की बात याद आ गयी शाबाश! भई 'लोकाचार' सारे का भय मारेउ।

बीते भर के कृष्णव्याल भट्टाचार्य महापण्डित हैं विश्वब्रह्माण्ड के समाचार उनकी अंगुलियों पर रहते हैं उनके शरीर में केवल अस्थि और चर्म मात्र ही अवशेष हैं उनके मित्रगण कहते हैं कि कठोर तपस्या से ऐसा हुआ है पर शत्रुगण कहते हैं कि अन्नाभाव से यह हुआ है! फिर कुछ मसखरे लोग यह भी कहते हैं कि साल में ढाई दर्जन बच्चे पैदा करने से शरीर की दशा ऐसी ही हो जाती है। खैर, जो कुछ भी हो संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कृष्णव्याल जी न जानते हों विशेष रूप से चोटी से लेकर नौ द्वारों तक विद्युत्प्रवाह और

त के विषय मे वे सर्वज्ञ हैं। और इस प्रकार के रहस्य-ज्ञाता
ा-पूजा के काम मे आनेवाली वेश्याद्वार की मिट्टी से लेकर
ा पुनर्विवाह एव दस वर्ष की कुमारी के गर्भाधान तक—समस्त
क व्याख्या करने मे वे अद्वितीय हैं। फिर वे प्रमाण भी ऐसे
क बालक तक समझ सकता है,—ऐसे सरल उन्होंने प्रमाण
हता हूँ कि भारतवर्ष को छोडकर और अन्यत्र धर्म नही है,
को छोडकर धर्म समझने का और कोई अधिकारी नही है और
कृष्णव्याल के वशजो को छोडकर शेष सब कुछ भी नही जानते,
ा मे बौने कदवाले ही सब कुछ हैं!!! इसलिए कृष्णव्याल
, वही स्वत प्रमाण है। विद्या की बहुत चर्चा हो रही है, लोग
होते जा रहे हैं, वे सब चीज़ो को समझना चाहते है, चखना
कृष्णव्याल जी सबको भरोसा दे रहे हैं, "माभै !—डरो मत,
जो सब का...नाइयाँ तुम लोगो के मन मे उठ रही हैं, मैं उनकी वैज्ञानिक व्याख्या कर देता हूँ, तुम लोग जैसे थे, वैसे ही रहो। नाक मे सरसो का तेल डालकर खूब सोओ। केवल मेरी 'दक्षिणा' देना न भूलना।" लोग कहने लगे —"जान बची! किस बुरी बला से सामना पडा था! नही तो उठकर बैठना पडता, चलना-फिरना पडता—क्या मुसीबत!" अत उन्होंने 'ज़िन्दा रहो कृष्णव्याल' कहकर दूसरी करवट ले ली। हज़ारो साल की आदत क्या यो ही छूटती है? शरीर ऐसा क्यो करने देगा? हज़ारो वर्ष की मन की गाँठ क्या यो ही कट जाती है! इसीलिए कृष्णव्याल जी और उनके दलवालो की ऐसी इज्ज़त है!

"शाबाश, भई 'आदत', सारे का अस मारेउ।"[1]

---

१. 'चिन्तनीय बातें' का मूल बगला है। स०

रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ[1]

प्रोफेसर मैक्स मूलर पाश्चात्य संस्कृतज्ञ विद्वानों के अग्रणी हैं। जो ऋग्वेद संहिता पहले किसीको भी सम्पूर्ण रूप से प्राप्य नहीं थी, वही आज ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विपुल व्यय एवं प्रोफेसर के अनेक वर्षों के परिश्रम से अति सुन्दर रूप से मुद्रित होकर सर्वसाधारण को प्राप्य है। भारत के विभिन्न स्थानों से एकत्र किये गये हस्तलिखित ग्रन्थों में अधिकांश अक्षर विचित्र हैं एवं अनेक वाक्य अशुद्ध हैं। विशेष महापण्डित होने पर भी एक विदेशी के लिए उन अक्षरों की शुद्धि या अशुद्धि का निर्णय करना तथा सुगम्य में लिखे गये जटिल भाष्य का विशद अर्थ समझना कितना कठिन कार्य है, इसका अनुभव हमें सहज ही नहीं हो सकता। प्रोफेसर मैक्स मूलर के जीवन में यह ऋग्वेद-प्रकाशन एक प्रधान कार्य है। इसके अतिरिक्त यद्यपि वे आजीवन प्राचीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन में ही रत रहे हैं तथा उन्होंने उसीमें अपना जीवन खपाया है फिर भी यह बात नहीं कि उनकी कल्पना में भारत आज भी वेद-घोष-प्रतिध्वनित यज्ञ-धूम से आच्छन्न आकाशवाला तथा वशिष्ठ-विश्वामित्र-जनक-याज्ञवल्क्य आदि से पूर्ण है तथा यहाँ का प्रत्येक घर ही गार्गी-मैत्रेयी से सुशोभित और श्रौत एवं गृह्यसूत्र के नियमों द्वारा परिचालित है। विजातियों तथा विधर्मियों से पददलित लुप्ताचार, कुसंस्कृत म्रियमाण आधुनिक भारत के किस कोने में कौन कौन सी नयी घटनाएँ हो रही हैं, इसकी सूचना भी प्रोफेसर महोदय सदैव सचेत रहकर लेते रहे हैं। 'प्रोफेसर महोदय ने भारत की जमीन पर कभी पैर नहीं रखा है' यह कहकर इस देश के बहुत से ऐंग्लो-इण्डियन भारतीय रीति-नीति एवं आचार-व्यवहार के विषय में उनके मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु इन ऐंग्लो-इण्डियनों को यह जान लेना उचित है कि आजीवन इस देश में रहने पर भी अथवा इस देश में जन्म ग्रहण करने पर भी जिस श्रेणी में वे स्वयं रह रहे हैं, केवल उसीका विशेष विवरण जानने के अतिरिक्त अन्य श्रेणियों के विषय में वे पूर्णत अनभिज्ञ ही हैं। विशेषत जाति-प्रथा में विभाजित इस बृहत् समाज में एक जाति के लिए अन्य जातियों के

---

१ प्रोफेसर मैक्स मूलर द्वारा लिखित 'रामकृष्ण : हिज लाइफ ऐण्ड सेइंग्स' नामक पुस्तक पर स्वामी जी द्वारा लिखी गयी बंगला समालोचना का अनुवाद। स

आचार और रीति को जानना बडा ही कठिन है। कुछ दिन हुए, किसी प्रसिद्ध ऐंग्लो-इण्डियन कर्मचारी द्वारा लिखित 'भारताधिवास' नामक पुस्तक मे इस प्रकार का एक अध्याय मैंने देखा है, जिसका शीर्षक है—'देशीय परिवार-रहस्य'। मनुष्य के हृदय मे रहस्य जानने की इच्छा प्रबल होती है, शायद इसी उत्सुकता से मैंने उस अध्याय को जब पढा, तो देखा कि ऐंग्लो-इण्डियन दिग्गज अपने किसी भगी, भगिन एव भगिन के यार के बीच घटी हुई किसी विशेष घटना का वर्णन करके देशवासियो के जीवन-रहस्य के बारे मे अपने स्वजातिवृन्द की एक बडी भारी उत्सुकता मिटाने के लिए विशेष प्रयत्नशील हैं, और ऐसा भी प्रतीत होता है कि ऐंग्लो-इण्डियन समाज मे उस पुस्तक का आदर देखकर वे अपने को पूर्ण रूप से कृतकृत्य समझते हैं। **शिवा व सन्तु पन्थान**—और क्या कहे? किन्तु श्री भगवान् ने कहा है 'सगात्सजायते' इत्यादि। जाने दो, यह अप्रासगिक बात है। फिर भी, आधुनिक भारत के विभिन्न प्रदेशो की रीति-नीति एव सामयिक घटनाओ के सम्बन्ध मे प्रोफेसर मैक्स मूलर के ज्ञान को देखकर हमे विस्मित रह जाना पडता है, यह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है।

विशेष रूप से धर्म सम्बन्धी मामलो मे भारत मे कहाँ कौन सी नयी तरग उठ रही है, इसका अवलोकन प्रोफेसर ने तीक्ष्ण दृष्टि से किया है तथा पाश्चात्य जगत् उस विषय मे जानकारी प्राप्त कर सके, इसके लिए भी उन्होने विशेष प्रयत्न किया है। देवेन्द्रनाथ ठाकुर एव केशवचन्द्र सेन द्वारा परिचालित ब्राह्म समाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिष्ठित आर्य समाज, थियोसॉफी सम्प्रदाय—ये सब प्रोफेसर की लेखनी द्वारा प्रशसित या निन्दित हुए है। प्रसिद्ध 'ब्रह्मवादिन्' तथा 'प्रबुद्ध भारत' नामक पत्रो मे श्री रामकृष्ण देव के उपदेशो का प्रचार देखकर एव ब्राह्म धर्म प्रचारक बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार लिखित श्री रामकृष्ण देव की जीवनी पढकर, प्रोफेसर महोदय श्री रामकृष्ण के जीवन से विशेष प्रभावित और आकृष्ट हुए। इसी बीच 'इण्डिया हाउस' के लाइब्रेरियन टॉनी महोदय द्वारा लिखित 'रामकृष्ण चरित' भी इग्लैण्ड की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका (एशियाटिक क्वार्टर्ली रिव्यू) मे प्रकाशित हुआ। मद्रास तथा कलकत्ते से अनेक विवरण सग्रह करके प्रोफेसर ने 'नाइण्टीन्थ सेन्चुरी' नामक अग्रेजी भाषा की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका मे श्री रामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशो के बारे मे एक लेख लिखा। उसमे उन्होने यह व्यक्त किया कि अनेक शताब्दियो तक प्राचीन मनीषियो तथा आधुनिक काल मे पाश्चात्य विद्वानो के विचारो को प्रतिध्वनित मात्र करनेवाले भारत मे नयी भाषा मे नूतन महाशक्ति का सचार करके नवीन विचारधारा प्रवाहित करनेवाले इस नये महापुरुष ने उनके चित्त को सहज ही मे आकृष्ट कर

किया। प्रोफेसर महोदय ने प्राचीन ऋषि मुनि एवं महापुरुषों की विचारधाराओं का शास्त्रों में अध्ययन किया था और वे उन विचारों से भली भाँति परिचित थे किन्तु प्रश्न उठता था कि क्या इस युग म भारत मे पुन वैसी विभूतियों का आविर्भाव सम्भव है? रामकृष्ण की जीवनी ने इस प्रश्न की भावी मीमांसा कर दी और उधर इन प्रोफेसर महोदय की जिनका प्राण भारत मे ही बसता है भारत की भावी उन्नतिरूपी आशा-लता की जड मे जल-सिंचन कर नूतन जीवन-संचार कर दिया।

पाश्चात्य जगत् मे कुछ ऐसे महात्मा हैं, जो निश्चित रूप से भारत के हितैषी है किन्तु मैक्स मूलर की अपेक्षा भारत का अधिक कल्याण चाहनेवाला यूरोप मे कोई है अथवा नही यह मैं नही कह सकता। मैक्स मूलर केवल भारत-हितैषी ही नही वरन् भारत के दर्शन शास्त्र और भारत के धर्म मे भी उनकी अगाध आस्था है और उन्होंने सबके सम्मुख इस बात को बारम्बार स्वीकार किया है कि अद्वैत वाद धर्मराज्य का श्रेष्ठतम आविष्कार है। जो पुनर्जन्मवाद देहात्मवादी ईसाइयों के लिए भयप्रद है उसे भी स्वानुभूत कहकर वे उस पर दृढ विश्वास करते है यहाँ तक कि उनकी यह धारणा है कि उनका पूर्व जन्म शायद भारत म ही हुआ था। और इस समय यही भय कि भारत मे आने पर उनका वृद्ध शरीर शायद सहसा समुपस्थित पूर्व स्मृतियों के प्रबल वेग को न सह सके उनके भारत-आगमन म प्रधान प्रतिबन्धक है। फिर भी जो गृहस्थ है—चाहे वे कोई भी हो—उन्हे सब ओर ध्यान रखकर चलना पडता है। जब एक सर्वत्यागी उदासीन किसी लोक-निन्दित आचार को विशुद्ध जानकर भी लोक-निन्दा के भय से उसका अनुष्ठान करने मे काँपने लगता है तथा जब सांसारिक सफलताओं को 'शूकर-विष्ठा' जानता हुआ भी प्रतिष्ठा के लाभ से एवं अप्रतिष्ठा के भय से एक कठोर तपस्वी अनेक कार्यों का परिचालन करता है तब यदि सर्वदा लोकसंग्रह का इच्छुक पूज्य एवं आदरणीय गृहस्थ को बहुत ही सावधानी से अपने मन के भावों को प्रकाशित करना पडता हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या? फिर, योग शक्ति इत्यादि गूढ विषयो के बारे मे प्रोफेसर बिल्कुल अविश्वासी हो ऐसी बात भी नही।

'दार्शनिकों से पूर्ण भारतभूमि मे जो अनेकानेक धर्म-तरंगें उठ रही हैं'—उन सबका संक्षिप्त विवरण मैक्स मूलर ने प्रकाशित किया है किन्तु दुःख की बात यह है कि बहुत से लोगो ने उसके रहस्य को ठीक ठीक समझने मे असमर्थ होने के कारण अत्यन्त अयाचनीय मत प्रकट किया है। इस प्रकार की भ्रमात्मकता को दूर करने के लिए, तथा 'भारत के अलौकिक अद्भुत क्रियासम्पन्न साधु-सन्यासियों के विरोध मे इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के समाचारपत्रों मे प्रकाशित विवरण' के प्रतिवाद के

लिए, और 'साथ ही साथ यह दिखलाने के लिए कि भारतीय थियोसॉफी, एसोटेरिक बौद्ध मत इत्यादि विजातीय नामवाले सम्प्रदायो मे भी कुछ सत्य तथा कुछ जानने योग्य है',[१] प्रोफेसर मैक्स मूलर ने अगस्त, सन् १८९६ ई० की 'नाइण्टीन्थ सेंचुरी' नामक मासिक पत्रिका मे 'प्रकृत महात्मा' शीर्षक से श्री रामकृष्ण-चरित को यूरोपीय मनीषियो के सामने रखा। उन्होंने इसमे यह भी दिखलाया कि भारत केवल पक्षियो की तरह आकाश मे उडनेवाले, पैरो से जल पर चलनेवाले, मछलियो के समान पानी के भीतर रहनेवाले अथवा मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका करके रोग-निवारण करनेवाले या सिद्धि-बल से धनिको की वश-रक्षा करनेवाले तथा ताँबे से सोना बनानेवाले साधुओ की निवास-भूमि ही नही, वरन् वहाँ प्रकृत अध्यात्म-तत्त्ववित्, प्रकृत ब्रह्मवित्, प्रकृत योगी और प्रकृत भक्तो की सख्या भी कम नही है, तथा समस्त भारतवासी अब भी ऐसे पशुवत् नही हो गये है कि इन अन्त मे बतलाये गये नर-देवो (श्री रामकृष्ण प्रभृति) को छोडकर ऊपर कथित बाजीगरो के चरण चाटने मे दिन-रात लगे हुए हो।

यूरोप और अमेरिका के विद्वज्जनो ने अत्यन्त आदर के साथ इस लेख को पढा, और उसके फलस्वरूप श्री रामकृष्ण देव के प्रति अनेक की प्रगाढ श्रद्धा हो गयी। और सुपरिणाम क्या हुआ ? पाश्चात्य सभ्य जातियो ने इस भारत को नरमास-भोजी, नगे रहनेवाले, बलपूर्वक विधवाओ को जला देनेवाले, शिशुघाती, मूर्ख, कापुरुष, सब प्रकार के पाप और अन्धविश्वासो से परिपूर्ण, पशुवत् मनुष्यो का निवास-स्थान समझ रखा था, इस धारणा को उनके मस्तिष्क मे जमानेवाले हैं ईसाई पादरीगण, और कहने मे शर्म लगती है तथा दुख भी होता है कि इसमे हमारे कुछ देशवासियो का भी हाथ है। इन दोनो प्रकार के लोगो की प्रबल चेष्टा के कारण, जो एक घोर अन्धकारपूर्ण जाल पाश्चात्य देशवासियो के सामने फैला हुआ था, वह अब इस लेख के फलस्वरूप धीरे धीरे छिन्न-भिन्न होने लगा है। 'जिस देश मे श्री भगवान् रामकृष्ण की तरह लोकगुरु आविर्भूत हुए हैं, वह देश क्या वास्तव में जैसा कलुषित और पापपूर्ण हम लोगो ने सुना है, उसी प्रकार का है ? अथवा कुचक्रियो ने हम लोगो को इतने दिनो तक भारत के तथ्य के सम्बन्ध मे महान् भ्रम मे डाल रखा था ?'—यह प्रश्न आज अपने आप ही पाश्चात्य लोगो के मन मे उदित हो रहा है।

पाश्चात्य जगत् मे भारतीय धर्म-दर्शन-साहित्य सम्राट् प्रोफेसर मैक्स मूलर ने जिस समय श्री रामकृष्ण-चरित को अत्यन्त भक्तिपूर्ण हृदय से यूरोप तथा अमे-

---

१ 'रामकृष्ण : हिज लाइफ ऐण्ड सेइंग्स' प्रो० मैक्स मूलर, पृष्ठ १–२।

रिकावासियों के कल्याणार्थ संक्षिप्त रूप से 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया उस समय पूर्वोक्त दोनों प्रकार के लोगों में जो भीषण अन्तर्दाह उत्पन्न हुआ उसकी चर्चा अनावश्यक है।

मिशनरी लोग हिन्दू देवी-देवताओं का अत्यन्त अनुपयुक्त वर्णन करके यह प्रमाणित करने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे कि इनके उपासकों में सच्चे धार्मिक व्यक्तियों का कभी आविर्भाव नहीं हो सकता। किन्तु नदी की प्रबल बाढ़ में जिस प्रकार तिनकों की ढेरी नहीं टिक सकती है उसी प्रकार उनकी चेष्टाएँ भी बह गयीं और आज पूर्वोक्त स्वदेशी सम्प्रदाय भी रामकृष्ण की शक्ति-सम्प्रसारण रूप प्रबल अग्नि को बुझाने के उपाय सोचते सोचते हताश हो गया है। ईश्वरीय शक्ति के सामने भला जीव की शक्ति कहाँ!

स्वभावत दोनों ओर से प्रोफेसर महोदय पर प्रबल आक्रमण होने लगा' किन्तु वे बनैले सज्जन हटनेवाले नहीं थे—इस प्रकार के संग्राम में वे अनेक बार विजयी हुए थे। इस समय भी आततायियों को परास्त करने के लिए तथा इस उद्देश्य से कि श्री रामकृष्ण और उनके धर्म को सर्वसाधारण अच्छी तरह समझ सकें उन्होंने उनकी जीवनी और उपदेश ग्रन्थ-रूप में लिखने के लिए पहले से भी अधिक सामग्री संग्रह की तथा 'रामकृष्ण और उनकी उक्तियाँ' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक के 'रामकृष्ण' नामक अध्याय में उन्होंने निम्नलिखित बातें कही हैं

'उक्त महापुरुष की इस समय यूरोप तथा अमेरिका में बहुत ख्याति एवं प्रतिष्ठा हुई है वहाँ उनके शिष्यगण अवश्य उत्साह के साथ उनके उपदेशों का प्रचार कर रहे हैं और अनेक व्यक्तियों को यहाँ तक कि ईसाइयों में से भी बहुतों का भी रामकृष्ण के मत में ला रहे हैं। यह बात हमारे लिए बहुत ही आश्चर्य-जनक है और इस पर हम कठिनता से विश्वास कर सकते हैं तथापि प्रत्येक मानव-हृदय में धर्म-पिपासा बलवती होती है प्रत्येक हृदय में प्रबल धर्म-क्षुधा विद्यमान रहती है, जो शीघ्र ही या कुछ देर में शान्त हो जाना चाहती है। इन सब क्षुधार्त व्यक्तियों के लिए रामकृष्ण का धर्म किसी प्रकार के बाह्य शासनाधीन न होने के कारण और इसकी स्वतन्त्रता अथवा उदारता के कारण अमृत के समान ग्राह्य है। अतएव रामकृष्ण-धर्मावलम्बियों की एक बहुत बड़ी संख्या के बारे में हम जो सुनते हैं वह शायद किसी अंश तक अतिरंजित भले ही हो, पर फिर भी, जो धर्म आधुनिक समय में इस प्रकार सिद्धि-लाभ कर चुका है जो विस्तृत होने के साथ साथ भारत की सम्पूर्ण सभ्यता के साथ संसार का प्राचीनतम धर्म एवं दर्शन कहकर वर्णित करता है तथा जो वेदान्त अर्थात् वेद के सर्वोच्च उद्देश्य के नाम से

परिचित है, वह हमारे लिए अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ विचारणीय एव चिन्तनीय है।'

इस पुस्तक के आरम्भ मे प्रोफेसर महोदय ने 'महात्मा' पुरुष, आश्रम-विभाग, सन्यासी, योग, दयानन्द सरस्वती, पवहारी बाबा, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राधास्वामी सम्प्रदाय के नेता राय शालिग्राम साहब बहादुर आदि का भी उल्लेख किया है।

प्रोफेसर महोदय इस बात से विशेष सशक थे कि साधारणतया समस्त ऐतिहासिक घटनाओ के वर्णन मे, लेखक के व्यक्तिगत राग-विराग के कारण, कभी कभी जो त्रुटियाँ अपने आप घुस जाती है, वे कही इस जीवनी के अन्दर तो नही आ गयी है। इसलिए घटनाओ का सग्रह करने मे उन्होने विशेष सावधानी से काम लिया। प्रस्तुत लेखक (स्वामी विवेकानन्द) श्री रामकृष्ण का क्षुद्र दास है—इसके द्वारा सकलित रामकृष्ण-जीवनी के उपादान यद्यपि प्रोफेसर की युक्ति एव बुद्धिरूपी मथानी से भली भाँति मथ लिये गये है, परन्तु फिर भी उन्होने (मैक्स मूलर ने) कह दिया है कि भक्ति के आवेश मे कुछ अतिरजना सम्भव है। और ब्राह्म धर्म-प्रचारक श्रीयुत बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार प्रभृति व्यक्तियो ने श्री रामकृष्ण के दोष दिखलाते हुए प्रोफेसर को जो कुछ लिखा है, उसके प्रत्युत्तर मे उन्होने जो दो-चार मीठी-कडवी बातें कही है, वे दूसरा की उन्नति पर ईर्ष्या करनेवाली बगाली जाति के लिए विशेष विचारणीय हैं—इसमे कोई सन्देह नही।

इस पुस्तक मे श्री रामकृष्ण की जीवनी अत्यन्त सक्षेप मे तथा सरल भाषा मे वर्णित की गयी है। इस जीवनी मे सावधान लेखक ने प्रत्येक बात मानो तौलकर लिखी है,—'प्रकृत महात्मा' नामक लेख मे स्थान स्थान पर जिन अग्नि-स्फुलिगो को हम देखते हैं, वे इस लेख मे अत्यन्त सावधानी के साथ सयत रखे गये है। एक ओर है मिशनरियो की हलचल और दूसरी ओर, ब्राह्म समाजियो का कोलाहल,—इन दोनो के बीच से होकर प्रोफेसर की नाव चल रही है। 'प्रकृत महात्मा' नामक लेख पर दोनो दलो द्वारा प्रोफेसर पर अनेक भर्त्सना तथा कठोर वचनो की बौछार की गयी, किन्तु हर्ष का विषय है कि न तो उनके प्रत्युत्तर की चेष्टा की गयी है और न अभद्रता का दिग्दर्शन ही किया गया है,—गाली-गलौज करना तो इग्लैण्ड के भद्र लेखक जानते ही नही। प्रोफेसर महोदय ने, वयस्क महापण्डित को शोभा देनेवाले धीर-गम्भीर विद्वेष-शून्य एव वज्रवत् दृढ स्वर मे, इन महापुरुष के अलौकिक हृदयोत्थित अतिमानव भाव पर किये गये आक्षेपो का आमूल खडन कर दिया है।

इन आक्षेपो को सुनकर हमे सचमुच आश्चर्य होता है। ब्राह्म समाज के गुरु स्वर्गीय आचार्य श्री केशवचन्द्र सेन के मुख से हमने सुना है कि 'श्री रामकृष्ण की

सरस मधुर शान्त भाषा अत्यन्त अलौकिक तथा पवित्रता से पूर्ण है। हम जिन्हें कुछ अश्लील कहते हैं, ऐसे शब्दों का उसमें कहीं कहीं समावेश होने पर भी उनके मधुर बालवत् कामगन्धहीन स्वभाव के कारण उन सब शब्दों का प्रयोग दोषपूर्ण न होकर आभूषणस्वरूप हुआ है। किन्तु सच है कि यहाँ एक प्रबल आक्षेप है।

दूसरा आक्षेप यह है कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर अपनी स्त्री के प्रति निष्ठुर व्यवहार किया था। इस पर प्रोफेसर महोदय का उत्तर है कि उन्होंने स्त्री की अनुमति लेकर ही संन्यासव्रत धारण किया था तथा जब तक वे इस लोक में रहे, तब तक उन्हीं के सदृश उनकी चिर ब्रह्मचारिणी पत्नी भी पति को गुरुरूप में ग्रहण करके अपनी इच्छा से परम आनन्दपूर्वक उनके उपदेशानुसार भगवत्सेवा में लगी रहीं। प्रोफेसर महोदय ने यह भी कहा है 'शरीर-सम्बन्ध के बिना पति पत्नी में प्रेम क्या असम्भव है? हम हिन्दू के सत्य-संकल्प पर विश्वास करना ही पड़ेगा कि शरीर-सम्बन्ध न रखते हुए ब्रह्मचारिणी पत्नी को अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द का भागी बनाकर ब्रह्मचारी पति परम पवित्रता के साथ जीवन-यापन कर सकता है, यद्यपि इस विषय में उक्त व्रत धारण करनेवाले यूरोपनिवासी सफल नहीं हुए हैं। ऐसे बहुमूल्य मन्तव्यों के लिए प्रोफेसर महोदय पर आशीषों की वृष्टि हो! वे दूसरी जाति के तथा विदेशी होकर भी हमारे एकमात्र धर्म-सहायक ब्रह्मचर्य को समझ सकते हैं, एवं यह विश्वास करते हैं कि आज भी भारत में ऐसे दृष्टान्त विरले नहीं हैं—जब कि हमारे अपने ही घर के वीर कहलानेवाले लोग पाणिग्रहण में शरीर-सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकते!!' यादृशी भावना यस्य!

फिर एक अभियोग यह है कि वे वेश्याओं से अत्यन्त घृणा नहीं करते थे। इस पर प्रोफेसर ने बड़ा ही मधुर उत्तर दिया है। उन्होंने कहा है कि केवल रामकृष्ण ही नहीं वरन् अन्यान्य धर्म-प्रवर्तक भी इस 'अपराध' के दोषी हैं! अहा! कैसी मधुर बात है!—यहाँ पर हमें भी भगवान् बुद्धदेव की कृपापात्री वेश्या अम्बापाली और हजरत ईसा की दयाप्राप्ता सामरीया नारी की बात याद आती है।

फिर एक अभियोग यह भी है कि उन्हें शराब पीने की आदत पर भी घृणा न थी। हरे! हरे! जरा सी शराब पीने पर उस आदमी की परछाईं भी अस्पृश्य है—यही हुआ न मतलब?—सचमुच यह तो बहुत बड़ा अभियोग है! मतवाले वेश्या, चोर और दुष्टों को महापुरुष घृणा से क्यों नहीं भगा देते थे! और आँख मूँदकर, अच्छी भाषा में जिसे कहते हैं नौबत की सुर की तरह ऊपर ही ऊपर उनसे बातें क्यों नहीं करते थे! और सबसे बड़ा अभियोग तो यह था कि उन्होंने आजन्म स्त्री-संग क्यों नहीं किया!!!

आक्षेप करनेवालो की इस विचित्र पवित्रता एव सदाचार के आदर्शानुसार जीवन न गढ सकने से ही भारत रसातल मे चला जायगा ! ! जाय रसातल मे, यदि इस प्रकार की नीति का सहारा लेकर उसे उठना हो।

इस पुस्तक मे जीवनी की अपेक्षा उक्ति-सग्रह[1] ने अधिक स्थान लिया है। इन उक्तियो ने समस्त ससार के अग्रेज़ी पढनेवाले लोगो मे से बहुतो को आकृष्ट कर लिया है, और यह बात इस पुस्तक की हाथो-हाथ बिक्री देखने से ही प्रमाणित हो जाती है। ये उक्तियाँ भगवान् श्री रामकृष्ण देव के श्रीवचन होने के कारण महान् शक्तिपूर्ण हैं, और इसीलिए ये निश्चय ही समस्त देशो मे अपनी ईश्वरीय शक्ति का विकास करेंगी। **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** महापुरुष अवतीर्ण होते हैं—उनके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं और उनका प्रचार-कार्य भी अत्यन्त आश्चर्य-जनक होता है।

और हम सब ? जिस निर्धन ब्राह्मण-कुमार ने अपने जन्म के द्वारा हमे पवित्र बनाया है, कर्म के द्वारा हमे उन्नत किया है एव वाणी के द्वारा राजजाति (अग्रेज़ो) की भी प्रीतिदृष्टि हमारी ओर आकृष्ट की है, हम लोग उनके लिए क्या कर रहे हैं ? सच है, सभी समय मधुर नही होता, किन्तु तो भी समयविशेष मे कहना ही पडता है—हममे से कोई कोई समझ रहे हैं कि उनके जीवन एव उपदेशो द्वारा हमारा लाभ हो रहा है, किन्तु बस यही तक। इन उपदेशों को जीवन मे परिणत करने की चेष्टा भी हमसे नही हो सकती—फिर श्री रामकृष्ण द्वारा उत्तोलित ज्ञान-भक्ति की महातरग मे अग-विसर्जन करना तो बहुत दूर की बात है। जिन लोगो ने इस खेल को समझा है या समझने की चेष्टा कर रहे है, उनसे हमारा यह कहना है कि केवल समझने से क्या होगा ? समझने का प्रमाण तो प्रत्यक्ष कार्य है। केवल ज़बान से यह कह देने से कि हम समझ गये या विश्वास करते है, क्या दूसरे लोग भी तुम पर विश्वास करेंगे ? हृदय की समस्त भावनाएँ ही फलदायिनी होती हैं, कार्य मे उनको परिणत करो—ससार देख तो ले।

जो लोग अपने को महापण्डित समझकर इस निरक्षर, निर्धन, साधारण पुजारी ब्राह्मण के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हैं, उनसे हमारा यह निवेदन है कि जिस देश के एक अपढ पुजारी ने अपने शक्ति-बल से अत्यन्त अल्प समय मे अपने पूर्वजो के सनातन धर्म की जय-घोषणा सात समुद्र पार तक समस्त जगत् मे प्रतिध्वनित कर दी है, उसी देश के आप सब लोग सर्वमान्य शूरवीर महापण्डित हैं—आप लोग

१ भगवान् श्री रामकृष्ण देव की सम्पूर्ण उक्तियाँ 'श्री रामकृष्ण वचनामृत' के रूप मे तीन भागो मे श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर द्वारा प्रकाशित की गयी हैं।

तो फिर इच्छा मात्र से स्वदेश एवं स्वजाति के कल्याण के लिए और भी अनेक अद्भुत कार्य कर सकते हैं। तो फिर उठिए, भारत का प्रकाश न लाइए, महात्मन् के नेत्र दिखाइए—हम सब पुष्प-चन्दन लेकर आप लोगों की पूजा करने के लिए खड़े हैं। हम तो भूखे दुःखी नगण्य भिक्षुक हैं और आप सब महाराज महाराजा, महापुरुष तथा सर्वविभागान्वित हैं—आप सब उठिए, आगे बढ़िए, मार्ग दिखाइए, संसार के हित के लिए सर्वस्व त्याग कीजिए—हम दास की तरह आपके पीछे पीछे चलेंगे। और जो भारत की समस्या के नाम की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव को देखकर राज लोगों की तरह ईर्ष्या वश द्वेष के वशीभूत होकर अकारण तथा बिना किसी कारण के वैमनस्य प्रकट कर रहे हैं उनसे हमारा यही कहना है कि भाई, तुम्हारी ये सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। यदि यह दिग्विजयकारी महाधर्म तरंग—जिसके शुभ शिखर पर इस महापुरुष की मूर्ति विराजमान है—हमारे धन, जन या प्रतिष्ठा-लाभ की चेष्टा का फल हो, तो फिर तुम्हारे या अन्य किसी के लिए कोई प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, महामाया के अप्रतिहत नियम के प्रभाव से शीघ्र ही यह तरंग अनन्त काल के लिए विलीन हो जायगी! और यदि जगदम्बा-परिचालित इस महापुरुष की निःस्वार्थ प्रेमोच्छ्वासमयी इस तरंग ने जगत् को प्लावित करना आरम्भ कर दिया हो, तो फिर हे क्षुद्र मानव, तुम्हारी क्या शक्ति कि माता के शक्ति-संचार का रोध कर सको?

ज्ञानार्जन

ज्ञान के आदि स्रोत के सम्बन्ध मे विविध सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। उपनिषदो मे हम पढते हैं कि देवताओ मे प्रथम और प्रधान ब्रह्मा जी ने शिष्यो मे उस ज्ञान का प्रचार किया, जो शिष्य-परम्परा द्वारा अभी तक चला आ रहा है। जैनो के मतानुसार उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी कालचक्र के बीच कतिपय अलौकिक सिद्ध पुरुषो का—'जिनो' का प्रादुर्भाव होता है और उनके द्वारा मानव समाज मे ज्ञान का पुन पुन विकास होता है। इसी प्रकार बौद्धो का भी विश्वास है कि बुद्ध नाम से अभिहित किये जानेवाले सर्वज्ञ महापुरुषो का बारम्बार आविर्भाव होता रहता है। पुराणो मे वर्णित अवतारो के अवतीर्ण होने के अनेकानेक प्रयोजनो मे से आध्यात्मिक प्रयोजन ही मुख्य है। भारत के बाहर, हम देखते है कि महामना स्पितामा जरथुष्ट्र मर्त्यलोक मे ज्ञानालोक लाये। इसी प्रकार हज़रत मूसा, ईसा तथा मुहम्मद ने भी अलौकिक शक्तिसम्पन्न होकर मानव समाज के बीच अलौकिक रीतियो से अलौकिक ज्ञान का प्रचार किया।

केवल कुछ व्यक्ति ही 'जिन' हो सकते हैं, उनके अतिरिक्त और कोई भी 'जिन' नही हो सकता, बहुत से लोग केवल मुक्ति तक ही पहुँच सकते है। बुद्ध नामक अवस्था की प्राप्ति सभी को हो सकती है। ब्रह्मादि केवल पदवी विशेष हैं, प्रत्येक जीव इन पदो को प्राप्त कर सकता है। जरथुष्ट्र, मूसा, ईसा, मुहम्मद ये सभी महापुरुष थे। किसी विशेष कार्य के लिए ही इनका आविर्भाव हुआ था। पौराणिक अवतारो का आविर्भाव भी इसी प्रकार हुआ था। उस आसन की ओर जनसाधारण का लालसापूर्ण दृष्टिपात करना अनधिकार चेष्टा है।

आदम ने फल खाकर ज्ञान प्राप्त किया। 'नूह' (Noah) ने जिहोवा देव की कृपा से सामाजिक शिल्प सीखा। भारत मे देवगण या सिद्ध पुरुष ही समस्त शिल्पो के अधिष्ठाता माने गये हैं, जूता सीने से लेकर चण्डी-पाठ तक प्रत्येक कार्य अलौकिक पुरुषो की कृपा से ही सम्पन्न होता है। 'गुरु बिन ज्ञान नही', श्री गुरुमुख से नि सृत हुए बिना, श्री गुरु की कृपा हुए बिना शिष्य-परम्परा मे इस ज्ञान-बल के सचार का और कोई उपाय नही है।

फिर दार्शनिक—वैदान्तिक—कहते हैं, ज्ञान मनुष्य की स्वभावसिद्ध सम्पत्ति है—आत्मा की प्रकृति है, यह मानवात्मा ही अनन्त ज्ञान का आधार

है, उसे कौन सिखला सकता है? इस ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा हुआ है वह सुकर्म के द्वारा केवल हट जाता है अथवा यह 'स्वतःसिद्ध ज्ञान' अनाचार से संकुचित हो जाता है तथा ईश्वर की कृपा एवं सदाचार के द्वारा पुनः प्रसारित होता है। और यह भी लिखा है कि अष्टांग योगादि के द्वारा, ईश्वर की भक्ति के द्वारा, निष्काम कर्म के द्वारा अथवा ज्ञान-चर्चा के द्वारा अन्तर्निहित अनन्त शक्ति एवं ज्ञान का विकास होता है।

दूसरी ओर आधुनिक लोग अनन्त स्फूर्ति के आधारस्वरूप मानव-मन को देख रहे हैं। उनकी यह धारणा है कि उपयुक्त देश-काल-पात्र के अनुसार ज्ञान की स्फूर्ति होगी। फिर, पात्र की शक्ति से देश-काल की विडम्बना का अतिक्रमण किया जा सकता है। कुदेश या कुसमय में पड़ जाने पर भी योग्य व्यक्ति बाधाओं को दूर कर अपनी शक्ति का विकास कर सकता है। अब तो पात्र के ऊपर, अधिकारी के ऊपर जो सब उत्तरदायित्व लाद दिया गया था वह भी कम होता जा रहा है। कल की बर्बर जातियाँ भी आज अपने प्रयत्न से सभ्य एवं ज्ञानवान होती जा रही हैं—निम्न श्रेणी के लोग भी अप्रतिहत शक्ति से उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। नरमांस का आहार करनेवाले माता-पिता की सन्तान भी विनयशील एवं विद्वान् हुई है। सन्थालों के वंशज भी अंग्रेजों की कृपा से अन्य भारतीय विद्यार्थियों के साथ होड़ ले रहे हैं। वंशानुगत गुणों पर प्रतिष्ठित अधिकार भी दिनोंदिन आधारहीन प्रमाणित होता जा रहा है।

एक सम्प्रदाय के लोग ऐसे हैं जिनका विश्वास है कि प्राचीन महापुरुषों का उपदेश वंश-परम्परा से केवल उन्हींको प्राप्त हुआ है, एवं सब विषयों के ज्ञान का एक निर्दिष्ट भाण्डार अनन्त काल से विद्यमान है और वह भाण्डार उनके पूर्वजों के ही अधिकार में था। अतः वे ही उसके उत्तराधिकारी हैं, जगत् के पूज्य हैं। यदि इन लोगों से पूछा जाय कि जिनके ऐसे पूर्वज नहीं हैं उनके लिए क्या उपाय है?—तो उत्तर मिलता है, कुछ भी नहीं। पर इनमें से जो अपेक्षाकृत दयालु हैं, वे उत्तर देते हैं—"हमारी चरण-सेवा करो, उस सुकृत के फलस्वरूप अगले जन्म में हमारे वंश में जन्म ग्रहण करोगे।" और इन लोगों से यदि यह कहा जाय 'आधुनिक काल में जो अनेक आविष्कार हो रहे हैं, उन्हें तो तुम लोग नहीं जानते हो और न कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि तुम्हारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे' तो वे कह उठते हैं, "हमारे पूर्वजों को ये सब ज्ञात थे पर अब इनका लोप हो गया है। यदि इसका प्रमाण चाहिए, तो अमुक अमुक श्लोक देखो।"

यह कहने की जरूरत नहीं कि प्रत्यक्षवादी आधुनिक लोग इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते।

अपरा एव परा विद्या मे विभेद अवश्य है, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक ज्ञान मे विभिन्नता अवश्य है, यह हो सकता है कि एक का पथ दूसरे का न हो सके, एक उपाय के अवलम्बन से सब प्रकार के ज्ञान-राज्य का द्वार न खुल सके, किन्तु वह अन्तर केवल उच्चता के तारतम्य मे है, केवल अवस्थाओ के भेद मे है। उपायो के अनुसार ही लक्ष्य-प्राप्ति होती है। वास्तव मे वही एक अखण्ड ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड मे परिव्याप्त है।

इस प्रकार स्थिर सिद्धान्त हो जाने पर कि 'ज्ञान मात्र पर केवल कुछ विशेष पुरुषो का ही अधिकार है तथा ये सब विशेष पुरुष ईश्वर या प्रकृति या कर्म से निर्दिष्ट होकर यथासमय जन्म ग्रहण करते है, और इसके अतिरिक्त किसी भी विषय मे ज्ञान-लाभ करने का और कोई उपाय नही है', समाज से उद्योग तथा उत्साह आदि का लोप हो जाता है, आलोचना के अभाव के कारण उद्भावना शक्ति का क्रमश नाश हो जाता है तथा नूतन वस्तु की जानकारी मे फिर किसीको उत्सुकता नही रह जाती, और यदि होने का उपाय भी हो, तो समाज उसे रोककर धीरे धीरे नष्ट कर देता है। यदि यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि सर्वज्ञ व्यक्ति विशेष के द्वारा ही अनन्त काल के लिए मानव के कल्याण का पथ निर्दिष्ट हुआ है, तो ऐसा होने से समाज, उन सब निर्देशो मे तिल मात्र भी व्यतिक्रम होने पर सर्वनाश की आशका से, कठोर शासन के द्वारा मनुष्यो को उस नियत मार्ग पर ले जाने की चेष्टा करता है। यदि समाज इसमे सफल हुआ, तो परिणामस्वरूप मनुष्य यन्त्रवत् बन जाता है। जीवन का प्रत्येक कार्य यदि पहले से निर्दिष्ट हुआ हो, तो फिर विचार-शक्ति की विशद आलोचना का प्रयोजन ही क्या ? उद्भावना-शक्ति का प्रयोग न होने पर धीरे धीरे उसका लोप हो जाता है एव तमोगुणपूर्ण जडता समाज को आ घेरती है, और वह समाज धीरे धीरे अवनत होने लगता है।

दूसरी ओर, सर्वप्रकार से निर्देशविहीन होने पर यदि कल्याण होना सम्भव होता, तो फिर सभ्यता एव सस्कृति चीन, हिन्दू, मिस्र, बेबिलोन, ईरान ग्रीस, रोम एव अन्य महान् देशो के निवासियो को त्यागकर जुलू, हब्शी, हटेन्टॉट, सन्थाल, अन्दमान तथा आस्ट्रेलियानिवासी जातियो का ही आश्रय ग्रहण करती।

अतएव महापुरुषो द्वारा निर्दिष्ट पथ का भी गौरव है, गुरु-परम्परागत ज्ञान का भी एक विशेष प्रयोजन है, और यह भी एक चिरन्तन सत्य है कि ज्ञान मे सर्वअन्तर्यामित्व है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम के उच्छ्वास मे अपने को भूलकर भक्तगण उन महापुरुषो के उद्देश्य को न अपनाकर उनकी उपासना को एक मात्र ध्येय समझने लगते है, तथा स्वय हतश्री हो जाने पर मनुष्य स्वाभाविक-

तथा पूर्वजों के ऐश्वर्य-स्मरण में ही समय बिताता है—यह भी एक प्रत्यक्ष प्रमाणित बात है। भक्तिपूर्ण हृदय सम्पूर्णतया पूर्व पुरुषों के चरणों पर आत्मसमर्पण कर स्वयं दुर्बल बन जाता है, और यही दुर्बलता फिर आगे चलकर शक्तिहीन गर्वित हृदय को पूर्वजों की गौरव-गाथा को ही जीवन का आधार बना लेने[1] की शिक्षा देती है।

पूर्ववर्ती महापुरुषों को सभी विषयों का ज्ञान था और समय के फेर से उस ज्ञान का अधिकांश अब लुप्त हो गया है—यह बात सत्य होने पर भी यही सिद्धान्त निकलेगा कि उसके लोप होने के कारणस्वरूप आज के तुम लोगों के पास उस विलुप्त ज्ञान का होना या न होना एक सी ही बात है और यदि तुम उसे पुनः सीखना चाहते हो तो तुम्हें फिर से नया प्रयत्न करना होगा फिर से परिश्रम करना होगा।

आध्यात्मिक ज्ञान जो विशुद्ध हृदय में अपने आप ही स्फुरित होता है वह भी चित्तशुद्धि-रूप बहु प्रयास एवं परिश्रमसाध्य है। आधिभौतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी जो सब महान् सत्य मानव-हृदय में परिस्फुरित हुए हैं अनुसन्धान करने पर पता चलता है कि वे सब सहसा उद्भूत दीप्ति की भाँति मनीषियों के मन में उदित हुए हैं जंगली असभ्य मनुष्यों के मन में नहीं। इसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि आलोचना विद्या चर्चा एवं मनन-रूप कठोर तपस्या ही उसका कारण है।

अलौकिकत्व-रूप जो सब अद्भुत विकास है, चिरोपार्जित लौकिक चेष्टा ही उसका कारण है लौकिक और अलौकिक में भेद केवल प्रकाश के तारतम्य में है।

महापुरुषत्व ऋषित्व अवतारत्व या लौकिक विद्या में शूरत्व सभी जीवों में विद्यमान है। उपयुक्त गवेषणा एवं समयानुकूल परिस्थिति के प्रभाव से यह पूर्णता प्रकट हो जाती है। जिस समाज में इस प्रकार के पुरुषसिंहों का एक बार आविर्भाव हो गया है वहाँ पुनः मनीषियों का अभ्युत्थान अधिक सम्भव है। जो समाज गुरु द्वारा प्रेरित है वह अधिक वेग से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु जो समाज गुरुविहीन है, उसमें भी समय की गति के साथ गुरु का उदय तथा ज्ञान का विकास होना उतना ही निश्चित है।

---

१ 'बातार्जन' का मूल बंगला है। स

पेरिस प्रदर्शनी[1]

कई दिन तक पेरिस प्रदर्शनी मे 'कांग्रे दे लिस्तोयार दि रिलिजिओं' अर्थात् धर्मेतिहास नामक सभा का अधिवेशन हुआ। उस सभा मे अध्यात्म विषयक एव मतामत सम्बन्धी किसी भी प्रकार की चर्चा के लिए स्थान न था, केवल विभिन्न धर्मों का इतिहास अर्थात् उनके अगो का तथ्यानुसन्धान ही उसका उद्देश्य था। अत इस सभा मे विभिन्न धर्मप्रचारक सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो का पूर्ण अभाव था। शिकागो महासभा एक विराट् चीज़ थी। अत उस सभा मे विभिन्न देशो की धर्मप्रचारक-मण्डलियो के प्रतिनिधि उपस्थित थे, पर पेरिस की इस सभा मे केवल वे ही पण्डित आये थे, जो भिन्न भिन्न धर्मो की उत्पपत्ति के विषय मे आलोचना किया करते हैं। शिकागो धर्म-महासभा मे रोमन कैथोलिको का प्रभाव विशेष था और उन्होंने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए बडी आशा से उसका सचालन किया था। उन्हे आशा थी कि वे बिना विशेष विरोध का सामना किये ही प्रोस्टेटेण्टो पर अपना प्रभाव एव अधिकार जमा लेगे। उसी प्रकार समग्र ईसाई जगत्—हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान तथा ससार के अन्य धर्म-प्रतिनिधियो के समक्ष अपनी गौरव-घोषणा कर और सर्वसाधारण के सम्मुख अन्य सब धर्मो की बुराइयाँ दर्शाकर उन्होंने अपने सम्प्रदाय को सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया था। पर परिणाम कुछ और ही हो जाने के कारण ईसाई जगत् सर्वधर्मसमन्वय के सम्बन्ध मे बिल्कुल हताश हो गया है। इसलिए रोमन कैथोलिक अब दुबारा इस प्रकार की धर्मसभा दुहराने के विशेष विरोधी हैं। फ्रास देश कैथोलिक-प्रधान है, अत यद्यपि अधिकारियो की यथेष्ट इच्छा थी कि यह सभा धर्मसभा हो, पर समग्र कैथोलिक जगत् के विरोध के कारण यह धर्मसभा न हो सकी।

जिस प्रकार समय समय पर काग्रेस ऑफ ओरियेण्टलिस्ट अर्थात् सस्कृत, पाली और अरबी इत्यादि भाषाविज्ञ विद्वानो की सभा हुआ करती है, वैसी ही पेरिस की यह धर्मसभा भी थी, इसमे केवल ईसाई धर्म का पुरातत्त्व और जोड दिया गया था।

---

१ पेरिस प्रदर्शनी मे अपने भाषण का विवरण स्वामी जी ने स्वय बगला में लिखकर 'उद्बोधन' पत्र के लिए भेजा था। स०

सम्मुद्दीप से केवल दो-तीन जापानी पण्डित आये थे। भारत से स्वामी विवेकानन्द उपस्थित थे।

अनेक पाश्चात्य संस्कृतज्ञों का यही मत है कि वैदिक धर्म की उत्पत्ति अग्नि-सूर्यादि प्राकृतिक आश्चर्यजनक जड़ वस्तुओं की उपासना से हुई है।

उक्त मत का खण्डन करने के लिए स्वामी विवेकानन्द पेरिस धर्मेतिहास-सभा द्वारा निमन्त्रित हुए थे और उन्होंने उक्त विषय पर एक लेख पढ़ने के लिए अपनी सम्मति दी थी। किन्तु अत्यधिक शारीरिक अस्वस्थता के कारण वे लेख नहीं लिख सके थे, किसी प्रकार सभा में वे उपस्थित मात्र हो गये थे। स्वामी जी के वहाँ पर पदार्पण करते ही यूरोप के समस्त संस्कृतज्ञ पण्डितों ने उनका सादर प्रेमपूर्वक स्वागत किया। इस भेंट के पहले ही वे लोग स्वामी जी द्वारा रचित पुस्तकों को पढ़ चुके थे।

उस समय उक्त सभा में ओपर्ट नामक एक जर्मन पण्डित ने शालग्राम-शिला की उत्पत्ति के विषय में एक लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने शालग्राम की उत्पत्ति 'योनि' चिह्न के रूप में निर्धारित की थी। उनके मतानुसार शिवलिंग पुरुष-लिंग का चिह्न है एवं उसी प्रकार शालग्राम शिला स्त्री-लिंग का प्रतीक है। शिवलिंग एवं शालग्राम दोनों ही लिंग-योनि पूजा के अंग हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने उपर्युक्त दोनों मतों का खण्डन किया और कहा कि यद्यपि शिवलिंग को नरलिंग कहने का अविवेकपूर्ण मत प्रचलित है, किन्तु शालग्राम के सम्बन्ध में यह नवीन मत तो नितान्त आकस्मिक एवं आश्चर्यजनक है।

स्वामी जी ने कहा कि शिवलिंग-पूजा की उत्पत्ति अथर्ववेद संहिता के 'यूप-स्तम्भ' के प्रसिद्ध स्तोत्र से हुई है। उस स्तोत्र में अनादि अनन्त स्तम्भ का अथवा स्कम्भ का वर्णन है, एवं वह स्कम्भ ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि, शिखा, धूम, भस्म, सोमलता एवं यज्ञ-काष्ठ के वाहक वृष की परिणति महादेव की पिंगल जटा, नीलकण्ठ, अंगकान्ति एवं वाहनादि में हुई है, उसी प्रकार यूपस्कम्भ भी या शंकर में लीन होकर महिमान्वित हुआ है। *अथर्ववेद संहिता में उसी प्रकार यज्ञ का उच्छिष्ट भी ब्रह्मत्व की महिमा के रूप में प्रतिपादित हुआ है।*

लिंगादि पुराण में उक्त स्तोत्र का ही कथानक के रूप में वर्णन करके महास्तम्भ की महिमा एवं श्री शंकर के प्राधान्य की व्याख्या की गयी है।

फिर, एक और बात भी विचारणीय है। बौद्ध लोग भी बुद्ध की स्मृति में स्मारक-स्तूपों का निर्माण किया करते थे और जो लोग निर्धन होने के कारण बड़े बड़े स्मारक-स्तूपों का निर्माण नहीं कर सकते थे, वे स्तूप की एक छोटी सी प्रतिमा

भेट करके श्री वुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित किया करते थे। इस प्रकार के उदाहरण आज भी काशी के मन्दिरो एव भारत के अन्य तीर्थस्थानो मे दीख पडते हैं, जहाँ पर लोग वडे वडे मन्दिरो का निर्माण करने मे असमर्थ होकर मन्दिर की एक छोटी सी प्रतिमा ही निवेदित किया करते हैं। अत, यह विल्कुल सम्भव है कि वौद्धो के प्रादुर्भाव काल मे घनवान हिन्दू लोग वौद्धो के समान उनके स्कम्भ की आकृतिवाला स्मारक निर्मित किया करते थे एव निर्वन लोग अर्थाभाव के कारण छोटे पैमाने पर उनका अनुकरण करते थे, और फिर वाद मे निर्चनो द्वारा भेट की गयी वे छोटी छोटी प्रतिमाएँ उस स्कम्भ मे अर्पित कर दी गयी।

वौद्ध-स्तूप का दूसरा नाम घातुगर्भ है। स्तूप के वीच शिलाखण्ड मे प्रसिद्ध वौद्ध भिक्षुओ की भस्मादि वस्तुएँ सुरक्षित रखी जाती थी। उन वस्तुओ के साथ स्वर्ण इत्यादि अन्य घातुएँ भी रखी जाती थी। शालग्राम-शिला उक्त अस्थि एव भस्मादिरक्षक शिला का प्राकृतिक प्रतिरूप है। इस प्रकार, पहले वौद्धो द्वारा पूजित होकर, बौद्ध घर्म के अन्य अगो की तरह वैष्णव सम्प्रदाय मे इसका प्रवेश हुआ। नर्मदा नदी के किनारे तथा नेपाल मे वोद्धो का प्रभाव दीर्घ काल तक स्थायी था। यहाँ यह बात भी विशेष घ्यान देने योग्य है कि प्राकृतिक नर्मदेश्वर शिवलिंग एव नेपाल के शालग्राम ही विशेष रूप से पूज्य हैं।

शालग्राम के विषय मे यौन-व्याख्या एक अत्यन्त अनहोनी वात है तथा पहले ही अप्रासगिक है। शिवलिंग के वारे मे यौन-व्याख्या अति आघुनिक है तथा उसकी उत्पत्ति भारत मे उक्त वौद्ध सम्प्रदाय की घोर अवनति के समय ही हुई। उस समय के समस्त घृणास्पद वौद्धतन्त्र अव भी नेपाल और तिब्बत मे बहुत प्रचलित हैं।

एक दूसरा भाषण स्वामी जी ने भारतीय घर्म के विस्तार के विषय मे दिया। उसमे स्वामी जी ने यह बतलाया कि भारतखण्ड मे बौद्ध इत्यादि जो विभिन्न घर्म हुए, उन सबकी उत्पत्ति वेद मे ही है। समस्त घर्ममतो का वीज उसीमे निहित है। उन सब बीजो को प्रस्फुटित तथा विस्तृत करके बौद्ध इत्यादि घर्मों की सृष्टि हुई है। आघुनिक हिन्दू घर्म भी उन बीजो का ही विस्तार है,—और वे समाज के विस्तार या सकोच के साथ विस्तृत अथवा कही कहीं अपेक्षाकृत सकुचित होकर विद्यमान हैं। उसके बाद स्वामी जी ने वुद्धदेव से पहले श्री कृष्ण के आविर्भाव के सम्वन्ध मे कुछ कहकर पाश्चात्य पण्डितो को यह वतलाया कि जिस प्रकार विष्णु-पुराण मे वर्णित राजकुलो का इतिहास क्रमश पुरातत्त्व के उद्घाटनो के साथ साथ प्रमाणित हो रहा है, उसी प्रकार भारत की समस्त कथाएँ भी सत्य हैं। उन्होंने यह कहा कि वे वृथा कल्पनापूर्ण लेख लिखने की अपेक्षा उन कथाओ का रहस्य

जानने की चेष्टा करें। पण्डित मैक्स मूलर ने एक पुस्तक में लिखा है कि कितना ही पारस्परिक सादृश्य क्यों न हो, पर जब तक यह प्रमाण नहीं मिलता कि कोई ग्रीक संस्कृत भाषा जानता था, तब तक यह सिद्ध नहीं होता कि भारत की सहायता प्राचीन ग्रीस (यूनान देश) को मिली थी। किन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ज्योतिषशास्त्र के कई पारिभाषिक शब्दों के साथ ग्रीक ज्योतिष के शब्दों का सादृश्य देखकर एवं यह जानकर कि यूनानियों ने भारत में एक छोटा सा राज्य स्थापित किया था, कहते हैं कि भारत को साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि समस्त विद्याओं में यूनानियों की सहायता प्राप्त हुई है। और केवल यही नहीं, एक साहसी लेखक ने तो यहाँ तक लिखा है कि समस्त भारतीय विद्या यूनानी विद्या का ही प्रतिबिम्ब है।

> म्लेच्छा वै यवनास्तेषु एषा विद्या प्रतिष्ठिता।
> ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते ॥[1]

इस एक श्लोक पर पाश्चात्य विद्वानों ने कितनी ही कल्पनाएँ की हैं! पर इस श्लोक से यह किस प्रकार सिद्ध हुआ कि आर्यों ने म्लेच्छों के निकट शिक्षा प्राप्त की थी? यह भी कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक में आर्य आचार्यों ने म्लेच्छ शिष्यों को उत्साहित करने के लिए विद्या के प्रति समादर प्रदर्शित किया गया है।

द्वितीयतः 'गृहे चेत् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।'[2] आर्यों की प्रत्येक विद्या का बीज वेद में विद्यमान है एवं उक्त किसी भी विद्या की प्रत्येक संज्ञा वेद से आरम्भ करके वर्तमान समय के ग्रन्थों में भी दिखायी जा सकती है। फिर इस अप्रासंगिक यूनानी आधिपत्य की क्या आवश्यकता है?

तृतीयतः आर्य ज्योतिष का प्रत्येक ग्रीक सदृश शब्द संस्कृत से सहज में ही व्युत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष विद्यमान सहज व्युत्पत्ति को छोड़कर यूनानी व्युत्पत्ति को ग्रहण करने का पाश्चात्य पण्डितों को क्या अधिकार है, यह स्वामी जी नहीं समझ सके।

इसी प्रकार कालिदास इत्यादि कवियों के नाटकों में 'यवनिका' शब्द का उल्लेख देखकर, यदि उस समय के समस्त काव्य-नाटकों पर यूनानियों का प्रभाव

---

१ यवन या म्लेच्छ लोगों में यह विद्या प्रतिष्ठित है; अतः वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं।

२ यदि घर में ही मधु मिल जाय तो पहाड़ में जाने की क्या आवश्यकता?

सिद्ध कर दिया जाय, तो फिर सर्वप्रथम विचारणीय वात यह है कि आर्य नाटक ग्रीक नाटको के सदृश हैं या नही। जिन्होने दोनो भाषाओ मे नाटक-रचना-प्रणाली की आलोचना की है, वे केवल यही कहेगे कि उस प्रकार का सादृश्य केवल नाटककार के कल्पना-जगत् मात्र मे ही है, वास्तविक जगत् मे उसका किसी भी काल मे अस्तित्व नही है। वह ग्रीक कोरस कहाँ है ? वह ग्रीक यवनिका नाट्यमच के एक तरफ है, पर आर्य नाटक मे ठीक उसकी विपरीत दिशा मे। उनकी रचना-प्रणाली एक प्रकार की है, आर्य नाटको की दूसरे प्रकार की।

आर्य नाटकों का ग्रीक नाटको के साथ सादृश्य बिल्कुल है ही नही। हाँ, शेक्सपियर के नाटको के साथ उनका सामजस्य कही अधिक है।

अतएव एक सिद्धान्त इस प्रकार का भी हो सकता है कि शेक्सपियर सव विपयो मे कालिदास इत्यादि कवियो के निकट ऋणी हैं एव समस्त पाश्चात्य साहित्य भारतीय साहित्य की छाया मात्र है।

अन्त मे पण्डित मैक्स मूलर की आपत्ति का प्रयोग उलटे उन्ही पर करके यह भी कहा जा सकता है कि जब तक यह सिद्ध नही होता कि किसी भी हिन्दू ने किसी भी काल मे ग्रीक भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, तब तक भारत पर ग्रीक के प्रभाव की चर्चा करना भी उचित नही है।

उसी तरह आर्य शिल्पकला मे भी ग्रीक प्रभाव दिखलाना भ्रम है।

स्वामी जी ने यह भी कहा कि श्री कृष्ण की आराधना बुद्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और यदि गीता महाभारत का समकालीन ग्रन्थ नही है, तो उसकी अपेक्षा निश्चय ही वहुत प्राचीन है—उससे नवीन नही। गीता एव महाभारत की भाषा एक समान है। गीता मे जिन विशेषणो का प्रयोग अध्यात्म विपय मे हुआ है, उनमे से अनेक वनादि पर्व मे वैषयिक सम्बन्ध मे प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि इन सब शब्दो का प्रचार अत्यधिक रहा होगा। फिर, समस्त महाभारत तथा गीता का मत एक ही है, और जब गीता ने उस समय के सभी सम्प्रदायो की आलोचना की है, तो फिर केवल बौद्धो का ही उल्लेख क्यो नही किया ?

बुद्ध के उपरान्त, विशेष प्रयत्न करके भी बौद्धो का उल्लेख किसी भी ग्रन्थ मे से हटाया नही जा सका। कहानी, इतिहास, कथा अथवा व्यगो मे कही न कही बौद्ध मत का या बुद्ध का उल्लेख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे अवश्य ही हुआ है,—गीता मे क्या कोई ऐसा वर्णन दिखला सकता है ? फिर, गीता एक धर्मसमन्वय ग्रन्थ है, इसमे किसी भी सम्प्रदाय का अनादर नही है, तो फिर उस ग्रन्थकार के आदरपूर्ण शब्दों से एक बौद्ध मत ही क्यो वचित रहा—इसका कारण समझाने की ज़िम्मेदारी किस पर है ?

गीता में किसीके भी प्रति उपेक्षा नहीं है। भय?—इसका भी नितान्त अभाव है। जो भगवान् वेद-प्रचारक होकर भी वैदिक हठकारिता पर कठिन भाषा का प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाये उनका बौद्ध मत से डरने का क्या कारण हो सकता है?

पाश्चात्य पण्डित जिस प्रकार ग्रीक भाषा के एक एक ग्रन्थ पर अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं, उसी प्रकार किसी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ पर तो भला अपना जीवन उत्सर्ग करें संसार में बहुत प्रकाश हो जायगा। विशेषत यह महाभारत भारतीय इतिहास का अमूल्य ग्रन्थ है। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अभी तक इस सर्वप्रधान ग्रन्थ का पाश्चात्य संसार में अच्छी तरह से अध्ययन ही नहीं किया गया।

स्वामी जी के इस भाषण के बाद बहुत से व्यक्तियों ने अपनी अपनी राय प्रकट की। बहुत से लोगों ने कहा कि स्वामी जी जो कह रहे हैं उसका अधिकांश हमारी राय से मिलता है और हम स्वामी जी से यह कहते हैं कि संस्कृत पुरातत्त्व का अब वह समय नहीं रह गया। आधुनिक संस्कृतज्ञ सम्प्रदाय के लोगों की राय अधिकांश स्वामी जी के सदृश ही है तथा भारत की कथाओं एवं पुराणादि में भी सच्चा इतिहास है, इस पर भी हम विश्वास करते हैं।

अन्त में वृद्ध सभापति महोदय ने अन्य सब विषयों का अनुमोदन करते हुए केवल गीता और महाभारत के समकालीन होने में अपना विरोध प्रकट किया। किन्तु उन्होंने प्रमाण केवल इतना ही दिया कि अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार गीता महाभारत का अंश नहीं है।

इस अधिवेशन की लिपि-पुस्तक में उक्त भाषण का सारांश फ्रेंच भाषा में मुद्रित होगा।

बंगला भाषा[1]

हमारे देश मे प्राचीन काल से सभी विद्याओ के सस्कृत मे ही विद्यमान रहने के कारण, विद्वानो तथा सर्वसाधारण के बीच एक अगाध समुद्र सा बना रहा है। बुद्ध के समय से लेकर श्री चैतन्य एव श्री रामकृष्ण तक जो जो महापुरुष लोक-कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए, उन सबने सर्वसाधारण की भाषा मे जनता को उपदेश दिया है। पाण्डित्य अवश्य उत्तम है, परन्तु क्या पाण्डित्य का प्रदर्शन जटिल, अप्राकृतिक तथा कल्पित भाषा को छोड और किसी भाषा मे नही हो सकता ? बोलचाल की भाषा मे क्या कलात्मक निपुणता नही प्रदर्शित की जा सकती ? स्वाभाविक भाषा को छोडकर एक अस्वाभाविक भाषा को तैयार करने से क्या लाभ ? घर मे जिस भाषा मे हम वातचीत करते हैं, उसीमे मन ही मन समस्त पाण्डित्य की गवेषणा भी करते हैं, तो फिर लिखने के समय ही हम जटिल भाषा का प्रयोग क्यो करने लगते हैं ? जिस भाषा मे तुम अपने मन मे दर्शन या विज्ञान के बारे मे सोचते हो, आपस मे कथा-वार्ता करते हो, उसी भाषा मे क्या दर्शन या विज्ञान नही लिखा जा सकता ! यदि कहो, नही, तो फिर उस भाषा मे तुम अपने मन में अथवा कुछ व्यक्तियो के साथ उन सब तत्त्वो पर विचार-परामर्श किस प्रकार करते हो ? स्वाभाविक तौर पर जिस भाषा मे हम अपने मन के विचारो को प्रकट करते हैं, जिस भाषा मे हम अपना क्रोव, दु ख एव प्रेम इत्यादि प्रदर्शित करते हैं, उससे अधिक उपयुक्त भाषा और कौन हो सकती है ! अत हमे उसी भाव को, उसी शैली को वनाये रखना होगा। उस भाषा मे जितनी शक्ति है, थोडे से शब्दो मे उसमे जिस प्रकार अनेक विचार प्रकट हो सकते हैं तथा उसे जैसे चाहो, घुमाया-फिराया जा सकता है, वैसे गुण किसी कृत्रिम भाषा मे कदापि नही आ सकते। भाषा को ऐसी वनाना होगा—मानो शुद्ध इसपात, उसे जैसा चाहो मरोड लो, पर फिर से जैसे का तैसा, कहो तो एक चोट मे ही पत्थर काट दे, लेकिन दाँत न टूटें। हमारी भाषा सस्कृत के समान वडे वडे निरर्थक शब्दो का प्रयोग करते करते तथा उसके आडम्वर की—और

---

१ श्री रामकृष्ण मठ द्वारा सचालित 'उद्वोधन' पत्र के सम्पादक को स्वामी जी द्वारा २० फरवरी, १९०० ई० को लिखे गये वगला पत्र का अनुवाद। स०

केवल उसके इसी एक पहलू की—नकल करते करते अस्वाभाविक होती जा रही है। भाषा ही तो जाति की उन्नति का प्रधान लक्षण एवं उपाय है।

यदि यह कहो कि यह बात ठीक है पर बंग देश में तो जगह जगह पर भाषा में बहुत हेर-फेर है अतः कौन सी भाषा ग्रहण करनी चाहिए?—तो इसका उत्तर यह है कि प्राकृतिक नियमानुसार जो भाषा शक्तिशाली है तथा जिसका अधिक प्रचार है उसीको अपनाना होगा। उदाहरणार्थ कलकत्ते की ही भाषा को ले लो। पूर्व पश्चिम किसी भी जगह से कोई आकर कलकत्ते के वातावरण में रहे, तो देखोगे कि कुछ ही दिनों में वह कलकत्ते की भाषा बोलने लगेगा। अतएव प्रकृति स्वयं ही यह दिखला देती है कि कौन सी भाषा लिखनी होगी। रेल तथा यातायात का जितनी अधिक सुविधा होगी उतना ही पूर्व-पश्चिम का भेद दूर हो जायगा तथा चिटगाँव से लेकर वैद्यनाथ तक सभी लोग कलकत्ते की भाषा का प्रयोग करने लगेंगे। यह न देखो कि किस जिले की भाषा संस्कृत के अधिक निकट है, वरन् यह देखो कि कौन सी भाषा अधिक प्रचलित हो रही है। जब यह स्पष्ट है कि कलकत्ते की भाषा ही थोड़े दिनों में समस्त बंगाल की भाषा बन जायगी, तो फिर यदि पुस्तकों की और घरेलू बोलचाल की भाषा को एक बनाना है, तो ऐसी दशा में समझदार व्यक्ति निश्चय ही कलकत्ते की भाषा को आधार स्वरूप मानकर ग्रहण करेगा। यहाँ पर ग्राम्यगत ईर्ष्या-प्रतिद्वन्दिता आदि को भी सदा के लिए नष्ट कर देना होगा। पूरे देश के कल्याण के लिए तुम्हें अपने गाँव अथवा जिले की प्रधानता को भूल जाना होगा।

भाषा विचारों की वाहक है। भाव ही प्रधान है, भाषा गौण है। हीरे और मोती से सुसज्जित घोड़े पर एक बन्दर को बैठाना क्या शोभा देता है? संस्कृत की ओर देखो। ब्राह्मणों की संस्कृत देखो शबरस्वामी का मीमांसा-भाष्य देखो पतंजलि का महाभाष्य देखो फिर शंकर का मायाभाष्य देखो, और दूसरी ओर आधुनिक काल की संस्कृत देखो।—इसीसे तुम समझ सकोगे कि मनुष्य जब जीवित रहता है तब उसकी भाषा भी जीवनप्रद होती है, और जब वह मृत्यु की ओर अग्रसर होता है, तब उसकी भाषा भी प्राणहीन होती जाती है। मृत्यु जितनी समीप आती है, नूतन विचार-शक्ति का जितना क्षय होता है, उतनी ही दो-एक सड़े भावों को फूलों के ढेर तथा चन्दनों से ढाककर सुन्दर बनाने की चेष्टा की जाती है। बाप रे बाप कैसी धूम है! दस पृष्ठ लम्बे लम्बे विशेषणों के बाद फिर कहीं आता है—राजा आसीत्! कैसे विकट विशेषणों की भरमार है! कैसा अद्भुत बहादुर समास! कैसा सुन्दर श्लेष!—यह भी किसी भाषा में भाषा है? ये तो सब मृत भाषा के लक्षण हैं। ज्यों ही देश की

अवनति आरम्भ हुई कि ये सब चिह्न उदित हो गये, और ये केवल भाषा मे ही नही, वरन् समस्त शिल्प-कलाओ मे भी प्रकट हो गये। मकान बनाया गया—उसमे न कुछ ढग था, न रूप-रग, केवल खम्भो को कुरेद कुरेदकर नष्ट कर दिया गया। और गहना क्या पहनाया, सारे शरीर को छेद छेदकर एक अच्छी खासी ब्रह्मराक्षसी बना डाली, और इधर देखो, तो गहनो मे नक्काशी बेल-बूटो की भरमार का पूछना ही क्या ! ! गाना हो रहा है या रोना या झगडा—गाने मे भाव क्या है, उद्देश्य क्या है—यह तो साक्षात् वीणापाणि भी शायद न समझ सकें, और फिर उस गाने मे आलापो की भरमार का तो पूछना ही क्या ! ओफ ! और वे चिल्लाते भी कैसे हैं—मानो कोई शरीर से अँतडियाँ खीच ले रहा हो ! फिर उसके ऊपर मुसलमान उस्तादो की नकल करने का—उन्हीके समान दाँत पर दाँत चढ़ाकर नाक से आवाज निकालने का—भूत भी समाया हुआ है ! आजकल इन सब बातो को सुधारने के उपक्रम दीख पड रहे हैं। अब लोग धीरे धीरे समझेंगे कि वह भाषा, वह शिल्प तथा वह सगीत, जो भावहीन है, प्राणहीन है, किसी भी काम का नही। अब लोग समझेंगे कि जातीय जीवन मे ज्यो ज्यो स्फूर्ति आती जायगी, त्यो त्यो भाषा, शिल्प, सगीत इत्यादि आप ही आप भावमय एव प्राणपूर्ण होते जायँगे, प्रचलित दो शब्दो से जितनी भावराशि प्रकट होगी, वह दो हज़ार छँटे हुए विशेषणो मे भी न मिलेगी। तब देवता की मूर्ति को देखने से ही भक्तिभाव का उद्रेक होगा, आभूषणो से सज्जित नारियो को देखते ही देवी का बोध होगा एव घर-द्वार-सम्पत्ति सभी कुछ प्राण-स्पन्दन से डगमग करने लगेंगी।

रचनानुवाद : पद्य-२

सन्यासी का गीत[1]

छेडो हे वह गान, अनतोद्भव अबन्ध वह गान,
विश्व-ताप से शून्य गह्वरो मे गिरि के अम्लान
निभृत अरण्य प्रदेशो मे जिसका शुचि जन्मस्थान,
जिनकी शाति न कनक काम-यश-लिप्सा का नि श्वास
भग कर सका, जहाँ प्रवाहित सत् चित् की अविलास
स्रोतस्विनी, उमडता जिसमे वह आनन्द अयास,
गाओ, बढ वह गान, वीर सन्यासी, गूँजे व्योम,
ओम् तत्सत् ओम् !

तोडो सब शृखला, उन्हें निज जीवन-बन्धन जान,
हो उज्ज्वल काचन के अथवा क्षुद्र धातु के म्लान,
प्रेम-घृणा, सद्-असद्, सभी ये द्वन्द्वो के सधान !
दास सदा ही दास, समादृत वा ताडित—परतत्र,
स्वर्ण निगड होने से क्या वे सुदृढ न बधन यत्र ?
अत उन्हें सन्यासी तोडो, छिन्न करो, गा यह मत्र,
ओम् तत्सत् ओम् !

अधकार हो दूर, ज्योति-छल जल-बुझ बारबार,
दृष्टि भ्रमित करता, तह पर तह मोह तमस् विस्तार !
मिटे अजस्र तृषा जीवन की, जो आवागम द्वार,
जन्म-मृत्यु के बीच खीचती आत्मा को अनजान,
विश्वजयी वह आत्मजयी जो, मानो इसे प्रमाण,
अविचल अत रहो सन्यासी, गाओ निर्भय गान,
ओम् तत्सत् ओम् !

'बोओगे पाओगे,' निश्चित कारण-कार्य-विधान !
कहते, 'शुभ का शुभ औ' अशुभ अशुभ का फल,' धीमान्
दुर्निवार यह नियम, जीव के नाम-रूप परिधान

---

१ थाउज़ेंड आइलैंड पार्क, न्यूयार्क मे, जुलाई, १८९५ मे रचित ।

बन्धन हैं सच है पर दोनों नाम-रूप के पार
नित्य मुक्त आत्मा करती है बन्धनहीन विहार।
तुम वह आत्मा हो संन्यासी बोलो वीर उदार,
ओम् तत्सत् ओम्!

ज्ञानशून्य वे जिन्हें सूझते स्वप्न सदा निःसार—
माता पिता पुत्र औ भार्या बान्धव-जन परिवार।
लिंगमुक्त है आत्मा! किसका पिता पुत्र या दार?
किसका शत्रु, मित्र वह, जो है एक अभिन्न अनन्य
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व नहीं है अन्य!
कहो 'तत्त्वमसि' संन्यासी गाओ है, धन्य हो धन्य
ओम् तत्सत् ओम्!

एकमात्र है केवल आत्मा ज्ञाता चिर निर्मुक्त
नामहीन वह रूपहीन वह है रे चिह्न अयुक्त
उसके आश्रित माया रचती स्वप्नों का भवपाश
साक्षी वह जो पुरुष प्रकृति में पाता नित्य प्रकाश!
तुम वह हो बोलो संन्यासी छिन्न करो तम-तोम
ओम् तत्सत् ओम्!

कहाँ खोजते उसे सखे इस ओर कि या उस पार?
मुक्ति नहीं है यहाँ वृथा सब शास्त्र देव-गुहार।
व्यर्थ यत्न सब तुम्हीं हाथ में पकड़े हो वह पाश
खींच रहा जो साथ तुम्हें! तो उठो बनो न हताश
छोड़ो कर से दाम कहो संन्यासी विहँस रोम
ओम् तत्सत् ओम्!

कहो शान्त हो सर्व शान्त हो सचराचर अविराम
क्षति न उन्हें हो मुझसे मैं ही सब भूतों का धाम
ऊँच-नीच द्यौ-मर्त्यविहारी सबका आत्माराम!
त्याज्य लोक-परलोक मुझे जीवन-तृष्णा भवबंध
स्वर्ग-मही-पाताल—सभी आशा-भय सुख-दुःख-द्वन्द्व!
इस प्रकार काटो बन्धन, संन्यासी रहो अबन्ध
ओम् तत्सत् ओम्!

देह रहे, जाये मत सोचो तन का चिन्ता-भार,
उसका कार्य समाप्त हो चले उसे कर्मगति पार,

हार उसे पहनावे कोई, करे कि पाद-प्रहार,
मौन रहो, क्या रहा कहो निन्दा या स्तुति अभिषेक ?
स्तावक, स्तुत्य, निन्द्य औ' निन्दक जब कि सभी हैं एक ।
अत रहो तुम शात, वीर सन्यासी, तजो न टेक,
ओम् तत्सत् ओम् !

सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नही वह, स्त्री मे जिसको होती पत्नी भास,
अथवा वह जो किंचित् भी सचित रखता निज पास ।
वह भी पार नही कर पाता है माया का द्वार
क्रोधग्रस्त जो, अत छोडकर निखिल वासना-भार
गाओ धीर-वीर सन्यासी, गूँजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत्सत् ओम् !

मत जोडो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास ?
दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वत जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर सन्यासी, छेडो तान
ओम् तत्सत् ओम् !

विरले ही तत्त्वज्ञ ! करेंगे शेष अखिल उपहास,
निन्दा भी नरश्रेष्ठ, ध्यान मत दो, निर्बन्ध, अयास
यत्र-तत्र निर्भय विचरो तुम, खोलो मायापाश
अधकारपीडित जीवो के ! दु ख से बनो न भीत,
सुख की भी मत चाह करो, जाओ हे, रहो अतीत
द्वन्द्वो से सब, रटो वीर सन्यासी, मत्र पुनीत,
ओम् तत्सत् ओम् !

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन जब तक कर्मशक्ति हो क्षीण,
बधनमुक्त करो आत्मा को, जन्म-मरण हो लीन !
फिर न रह गये मैं, तुम, ईश्वर, जीव या कि भवबध,
'मैं' सबमे, सब मुझमे—केवल मात्र परम आनन्द !
कहो 'तत्त्वमसि' सन्यासी, फिर गाओ गीत अमन्द,
ओम् तत्सत् ओम् !

मेरा खेल खत्म हुआ[1]

समय की लहरों के साथ
निरन्तर उठते और गिरते
मैं बहा जा रहा हूँ।
जिन्दगी के ज्वार-भाटे के साथ साथ
ये क्षणिक दृश्य एक पर एक आते-जाते हैं।

आह, इस अप्रतिहत प्रवाह से
कितनी थकान हो आयी है मुझे
ये दृश्य बिल्कुल नहीं भाते
यह अनवरत बहाव और पहुँचना कभी नहीं
यहाँ तक कि तट की दूर की झलक भी नहीं मिलती!
जन्म-जन्मान्तरों से उन द्वारों पर व्याकुल प्रतीक्षा की,
किन्तु, हाय वे नहीं खुले।
प्रकाश की एक किरण भी पाने में असफल ये आँखें
पथरा गयीं।
जीवन के ऊँचे और सँकरे पुल पर खड़े हो
नीचे झाँकता हूँ और देखता हूँ—
संघर्षरत क्रन्दन करते और अट्टहास करते लोगों को।
किसलिए?
कोई नहीं जानता।
वह सामने देखो—
अन्धकार त्योरी चढ़ाये खड़ा है, और कहता है—
'आगे कदम न रखो यही सीमा है
भाग्य को ललचाओ मत सहन करो जितना कर सको।

जाओ उन्हीं में मिल जाओ
और यह जीवन का प्याला पीकर
उन जैसे ही पागल बन जाओ।

---

१ न्यूयार्क में १८९५ के वसन्त में लिखित।

जो जानने का साहस करता है,
दुःख भोगता है,
तब रुको और उन्हीके साथ ठहरो,
आह, मुझे विश्राम भी नही।
यह बुलबुले सी भटकती धरती—
इसका खोखला रूप, खोखला नाम,
इसके खोखले जन्म-मरण,
ये निरर्थक हैं मेरे लिए।
पता नही, नाम-रूप की पर्तों के पार
कब पहुँचूंगा।
खोलो, द्वार खोलो, मेरे लिए उन्हे खुलना ही होगा।
ओ माँ! प्रकाश के द्वार खोलो,
माँ! तुम्हारा थका हुआ बालक हूँ मैं।
मैं घर आना चाहता हूँ माँ! घर आना चाहता हूँ!
अब मेरा खेल समाप्त हो चुका।

तुमने मुझे अँधियारे मे खेलने को भेज दिया,
और भयानक आवरण ओढ लिया,
तभी आशा ने सग छोड दिया,
भय ने आतकित किया
और यह खेल एक कठिन कर्म बन गया;
इधर से उधर, लहरो के थपेडे झेलना,
उद्दाम लालसाओ और गहन पीडाओ के उफनते हुए,
उत्ताल तरगो से पूर्ण महासमुद्र में—
सुखो की आशा मे—
जहाँ जीवन मृत्यु सा भयानक है और जहाँ
मृत्यु फिर नया जीवन देकर उसी समुद्र की लहरो मे
सुख-दुःख के थपेडे सहने को ढकेल देती है।
जहाँ बच्चे सुन्दर, सुनहले, चमकीले स्वप्न देखते हैं
और जो धूल मे ही मिलते हैं,
जरा पीछे मुडकर देखो—
खोया हुआ जीवन, जैसे जग की ढेरी।

बहुत देर से जन्म की मार मिलता है
जब पहिया हमें दूर पटक देता है
नये स्फूर्त जीवन अपनी शक्तियाँ इस चक्र को पिला देते हैं,
जो चलता रहता है अनवरत दिन पर दिन वर्ष पर वर्ष।
यह केवल है माया का एक खिलौना।
झूठी आशाओं इच्छाओं और सुख-दुःख के अरों से बना
यह पहिया!

मैं भटका हूँ पता नहीं किधर चला जाऊँ,
मुझे इस आग से बचाओ!
रक्षा करो दयामयी माँ! इन इच्छाओं में बहने से बचाओ।
अपना भयावना रौद्र मुख न दिखाओ माँ!
यह मेरे लिए असह्य है,
मुझ पर कृपा करो, दया करो,
माँ मेरे अपराधों को सहन करो!

माँ मुझे उस तट तक पहुँचाओ
जहाँ ये संघर्ष न हों
इन पीड़ाओं इन आँसुओं और भौतिक सुखों के परे,
जिस तट की महिमा को
ये रवि शशि उडुगण और विद्युत् भी अभिव्यक्ति न दे
महज उसके प्रकाश का प्रतिबिंब लिये फिरते हैं।

ओ माँ! ये मृग-पिपासाभरे स्वप्नों के आवरण
तुम्हें देखने से मुझे न रोक सकें
मेरा खेल खत्म हो रहा है माँ!
ये शृंखला की कड़ियाँ तोड़ो
मुक्त करो मुझे!

एक रोचक पत्र-व्यवहार

बहन मेरी
दुःख न मानो

जो प्रताडन दिया मैंने।
जानती हो तुम भली विधि
किन्तु फिर भी चाहती हो, मैं कहूँ,
स्नेह करता मैं तुम्हें सम्पूर्ण मन से।

सरल शिशु वे मिले जो भी,
मित्र सर्वोत्तम रहे हैं,
साथ सुख-दु ख मे रहेगे सदा मेरे,
और मैं सब दिन रहूँगा साथ जिनके,
जिसे तुम भी जानती हो।

कीर्ति, यश, स्वर्गीय सुख, जीवन
सभी का त्याग सभव है, बहन!
मिल सकी यदि वीर निर्भय
बहन चार—
श्रेष्ठ, पावन, अचल, उत्तम!

सर्प अपमानित हुआ, जब काढता फन,
वायु से जब प्रज्वलित होता हुताशन
शब्द मरुस्थल-पवन मे प्रतिध्वनित होता
जब कि आहतहृदय मृगपति है गरजता!

मेघ तब निज शक्ति भर
अति वृष्टि करता,
जब कलेजा फाडकर
बिजली तडपती,
चोट जब लगती किसीकी आत्मा पर
तब महान् हृदय उसे भी झेल जाता
और अपना श्रेष्ठ अभिमत प्रकट करता।

नयन पथराये, हृदय हो शून्य अपना,
छले मैत्री, प्यार हो विश्वासघाती,

भावना-अनुभूति, सूक्ष्म विचार सारे,
सामने जो भी
उन्हें मैं देखता हूँ—मात्र द्रष्टा सृष्टि का मैं।

तत्त्व केवल एक मे ही,
है कही न अनेक, मैं ही एक,
अत मुझमे ही सभी 'मुझ' हैं।
मैं स्वय से घृणा कर सकता नही,
मैं स्वय को त्याग भी सकता नही,
प्यार, प्यार ही है मुझे सम्भव ।

उठो, जागो स्वप्न से, दो तोड बन्धन,
चलो निर्भय,
यह रहस्य, कुहेलिका, छाया डरा सकती न मुझको
क्योकि मैं ही सत्य, जानो तुम मदा यह ।

अस्तु, यहां तक मेरी कविता है। आशा करता हूँ कि तुम सकुशल हो। माँ और फादर पोप से मेरा प्यार कहना। मैं मृत्युपर्यन्त व्यस्त हूँ, और मेरे पास प्राय एक पक्ति भी लिखने के लिए समय नही है। अत भविष्य मे पत्र लिखने मे विलम्ब हो, तो क्षमा करना।

सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द

कुमारी एम० बी० एच० ने स्वामी जी के पास निम्नलिखित उत्तर भेजा .

मन्यासी, जिसको स्वामित्व मिला चिन्तन पर
अव कवि भी है,
शब्दो और विचारो मे भी काफी आगे,
किन्तु, जिमे ज्यादा मुश्किल हो गयी छन्द मे।

कही चरण छोटे हैं, कही वढ गये सहमा,
कविना के उपयुक्त छन्द
मिल मका न जिनको,

उसने सानेट गीत आजमाये हैं
और प्रबन्ध लिखा है
बहुत किया श्रम
लेकिन उसे अजीर्ण हो गया।

जब तक रही समझ कविता की
उस फल-तरकारी से भी परहेज किया है
जिसे स्पौन ने बड़े चाव से बड़े स्वाद से
था तैयार किया स्वामी के स्वाद-हेतु ही।

एक दिवस ज्यों ही वह लीन हुआ चिन्तन में
अकस्मात् कोई प्रकाश का पुंज आ गया
गूँजी कोई शान्त और नन्ही नन्ही आवाज वहीं पर
जागे स्वामी के महान् स्वर और प्रेरणाप्रद शब्दों से
फूटी ज्वाला सभी धधकने।

सचमुच रही धधकती ज्वाला
जो आखिर मेरे घर आयी
तबसे मैं अनुतप्त हो रही
जाने किन घड़ियों में पत्र लिखा मैंने
मुझको अति दुख है
और क्षमा पर क्षमा माँगती ही जाती हूँ।

तुमने हम चारों बहनों को
जो कुछ लिख भेजा भाई है।
सदा रहेगा सर-आँखों पर
सिखा दिया है तुमने उनको जीवन का चिर परम सत्य
यह 'सभी सदा है।

फिर स्वामी

एक बार, प्राचीन समय में
गंगा-तट पर, एक पुरोहित—

वहुत वृद्ध, सन जैसे वालोंवाले थे, जो
प्रवचन करते हुए लगे ममझाने सवको—
कैसे देव घरा पर आये,
कैसे सीता-राम यहाँ अवतरित हुए थे,
कैसे सीता वन मे रही,
हरण हुआ, रोयी वियोग मे।
खत्म हुई रामायण तो श्रोताओ ने भी
एक एक कर अपने घर को कदम वढाये,
चिन्तन करते, रामायण सोचते-समझते।

एकाएक भीड से कोई
वोला वडे ज़ोर से,
जो यह पूछ रहा था, नम्र भाव से
और प्रार्थना के ही स्वर मे—
कृपा करो, वतला दो वावा,
आखिर, ये सीता-राम कौन थे,
तुमने जिनकी कथा सुनायी और उपदेश किया है।

मेरी हेल, वहन, तुम भी तो
कुछ ऐसे ही,
मेरे उपदेशो, व्याख्यानो, शब्दो-छन्दो
के अजीव से अर्थ लगाती।

'सब कुछ ब्रह्म, कहा जो मैंने
उसका केवल यही अर्थ है, याद करो तुम—
'केवल ब्रह्म सत्य है और मभी कुछ झूठा,
विश्व स्वप्न है, यद्यपि सत्य दिखायी देता।'
मुझमे भी जो सत्य,
ब्रह्म है, शाश्वत, अविनश्वर, अखण्ड है,
वही सत्य है, मात्र सत्य है।
शाश्वत प्रेम और कृतज्ञता के साथ

विवेकानन्द

कुमारी एम॰ बी॰ एच॰

हाँ गया अब स्पष्ट भास्वर,
आपने जो कहा वह तो ठीक बिल्कुल
किन्तु, मेरी बुद्धि सीमित
पूर्ण का दर्शन समझने में मुझे कठिनाइयाँ हैं।

मगर, केवल ब्रह्म ही है सत्य
मिथ्या है सभी कुछ
विश्व भी है स्वप्न भ्रम है
तो भला क्या वस्तु, जो है
ब्रह्म के अतिरिक्त ?

वे 'अनेक' जिन्हें दिखाया किया करता
बहुत छायामय-मर्मरे हैं,
यहाँ सीमित नहीं है, जो
ब्रह्म को ही देखता हर वस्तु में।

मैं अज्ञानी
किन्तु, इतना मानती हूँ—
सत्य केवल ब्रह्म
ब्रह्म में मैं और
मुझमें ब्रह्म।

फिर स्वामी जी ने उत्तर दिया

इसकी देख मिजाज अनोखी
सुन्दर है यह बाला बेशक
अनुपम आत्मा
जिसको मिस मेरी कहते हैं।
महत भावनाएँ हैं जिसकी
स्वयं प्रकट हो जाती हैं जो
मुक्त हृदयवाली मिस मेरी
सचमुच वह तो ज्वालामयी है।

उसका चिन्तन अद्वितीय है,
वह मर्गातिमयी,
फिर भी कितनी पैनी है,
ठण्डे मनवाली वह वाला,
नही किसीकी सगी, भले ही
आये कोई, हृदय उसे दे, नयन बिछाये।
मेरी वहन, सुना है मैंने
रूपवान व्यक्तित्व तुम्हारा
वहुचर्चित है,
नही ठहर पाता है कोई भी सौन्दर्य तुम्हारे आगे।
फिर भी सावधान हो जाओ,
भौतिक वन्धन वहुत मधुर,
फिर भी वन्धन हैं, इनको मत स्वीकारो।

एक नया स्वर गूंजेगा
जव रूप तुम्हारा, गर्वीला व्यक्तित्व तुम्हारा,
कही एक जीवन कुचलेगा,
शब्द तुम्हारे टूक टूक कर देंगे मन को—
लेकिन, वहन, वुरा मत मानो,
यह जवाव, जैसे को तैसा,
सन्यासी भाई का यह केवल विनोद है।

अज्ञात देवदूत

(सन् १८९८, नवम्बर मे कलकत्ता मे लिखित)

१

जीवन के बोझ से जिसके कन्धे झुक गये थे,
घोर दुःखो के घेरे मे जिसने सुख न जाना,
जो निर्जन अँधियारी राहो मे चलता आया,
हृदय और मस्तिष्क को कही प्रकाश की झलक भी न मिली,
एक क्षण हँसने को न मिला,
जो वेदना और सुख, मृत्यु और जीवन, शुभ और अशुभ

मैं अन्तर में भर गया
उसने एक शुभ रात्रि में देखा
कि एक प्रकाश-किरण उतरकर
उसके पास आ रही है
पता नहीं क्या है कहाँ से?
उसने इस प्रकाश को ईश्वर कहा
और उसे पूजा।
माया उसके पास एक अजनबी की तरह आयी
और उसे अनुप्राणित किया
जीवन ऐसा बन गया कि जिसकी
स्वप्न में भी कभी कल्पना नहीं थी
उसने समझा और
इस विश्व के परे भी देखा।
ऋषियों ने मुसकराकर इसे 'अन्धविश्वास' कहा
किन्तु, उसने शक्ति और शान्ति का अनुभव किया था
और नम्रतापूर्वक बोला
"कितना शुभ है यह अन्धविश्वास।

२

जिसने वैभव और सत्ता के मद में चूर होकर
स्वास्थ्य के साथ उपभोग किया
और मदान्ध होकर धरती को अपना क्रीडाक्षेत्र
और विवश मानव को अपना खिलौना बनाया
हजारों सुख भोगे
दिन और रात की चमचमाती रंगीनियाँ देखीं
एक क्षण ऐसा भी देखा कि
उसकी दृष्टि धूमिल हो चली है,
अघायी हुई इन्द्रियाँ शिथिल हो रही हैं
और स्वार्थ की कठोर निष्ठुर रचना ने
उसके हृदय को ढँक लिया है।
सुख दुःख की तरह काटने को दौड़ रहा है
जीवन जैसे अनुभूति एवं श्रद्धाहीन होकर

सडते हुए शव की भाँति उसकी बाहो मे जकड गया है,
जिससे अवश्य ही घृणा है उसे,
किन्तु, जितना ही वह उस विकृत शव से
मुक्त होने का प्रयत्न करता है,
उतना ही वह उससे चिपकता जाता है।
विक्षिप्त मस्तिष्क से उसने मृत्यु के अनेक
स्वरूपो की कल्पना की,
और जीवन के आकर्षण सामने खडे रहे।
फिर दु ख आया—और सम्पत्ति और वैभव चले गये,
तब पीडाओ और आँसुओ के बीच उसे लगा
कि सम्पूर्ण मानव जाति से उसका नाता है,
यद्यपि उसके मित्रो ने उसका उपहास किया।
उसके अधर कृतज्ञ भाव से बुदबुदाये—
'यह दु ख भी कितना शुभ है।'

३

वह, जिसे स्वस्थ काया मिली,
किन्तु, वह सकल्प-शक्ति न मिली,
जो गहन भावनाओ और आवेशो पर विजय पा सके,
फिर भी वह अधिकाधिक दायित्व वहन न कर सका और
सबके लिए भला रहा,
उसने देखा कि वह सुरक्षित है,
जब कि दूसरे, जीवन-सागर की उत्ताल तरगो मे
बचाव का असफल प्रयत्न करते रहे।
फिर वह स्वास्थ्य गया, मस्तिष्क विकृत हुआ
और मन कलुषो मे वैसे ही लगा
जैसे सडी गली वस्तु पर मक्खियाँ।
भाग्य मुसकराया और उसका पाँव फिसला।
उसकी आँखें खुल गयी और उसने समझा
कि ये ककड-पत्थर और पेड-पौधे सदैव तद्वत् हैं
क्योकि ये विधान का अतिक्रमण नही करते।
मनुष्य की ही यह शक्ति है कि वह

भाग्य से संघर्ष कर उसे जीत सकता है
और नियम-बन्धनों से ऊपर उठ सकता है।
उसकी वह लिप्सित प्रकृति बदली और
उसे जीवन नया नया लगा व्यापक और व्यापक
और वह दिन आया कि सामने प्रकाश फूटा
और शाश्वत शान्ति के कणों की झलक उसने पायी—
इन संघर्षों के समुद्र को चीरकर ही यह संभव है।
और तब उसने पीछे मुड़कर देखा
अतीत का अकृतार्थ निष्फल जीवन
जड़ और प्रस्तर सम चेतनाविहीन
दूसरी ओर उसका स्खलन-पतन—
जिसके लिए संसार ने त्याग दिया उसे
अब उस पतन को भी उसने धन्य माना।
और वह प्रसन्न हृदय से बोला
'यह पाप भी कितना शुभ सिद्ध हुआ!।

धीरज रखो तनिक और हे वीर हृदय [1]

भले ही तुम्हारा सूर्य बादलों से ढक जाय
आकाश उदास दिखायी दे,
फिर भी धैर्य धरो कुछ हे वीर हृदय
तुम्हारी विजय अवश्यम्भावी है।

शीत के पहले ही ग्रीष्म आ गया
लहर का दबाव ही उसे उभारता है
धूप-छाँह का खेल चलने दो
और अटल रहो वीर बनो।

जीवन में कर्तव्य कठोर है,
सुखों के पंख लग गये हैं,
मंजिल दूर, धुंधली सी झिलमिलाती है,

---

१ खेतड़ी के महाराज को लिखित।

फिर भी अन्धकार को चीरते हुए बढ जाओ,
अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के साथ!

कोई कृति खो नही सकती और
न कोई सघर्ष व्यर्थ जायगा,
भले ही आशाएँ क्षीण हो जायँ
और शक्तियाँ जवाब दे दें।
हे वीरात्मन्, तुम्हारे उत्तराधिकारी
अवश्य जनमेंगे
और कोई सत्कर्म निष्फल न होगा!

यद्यपि भले और ज्ञानवान कम ही मिलेंगे,
किन्तु, जीवन की बागडोर उन्हींके हाथो मे होगी,
यह भीड सही बातें देर से समझती है,
तो भी चिन्ता न करो, मार्ग-प्रदर्शन करते जाओ।

तुम्हारा साथ वे देंगे, जो दूरदर्शी हैं,
तुम्हारे साथ शक्तियो का स्वामी है,
आशीषो की वर्षा होगी तुम पर,
ओ महात्मन्,
तुम्हारा सर्वमगल हो!

'प्रबुद्ध भारत' के प्रति[1]

जागो फिर एक बार!
यह तो केवल निद्रा थी, मृत्यु नही थी,
नवजीवन पाने के लिए,
कमल नयनो के विराम के लिए
उन्मुक्त साक्षात्कार के लिए।

---

१ अगस्त १८९८ मे 'प्रबुद्ध भारत' (Awakened India) पत्रिका के मद्रास से, स्वामी जी द्वारा स्थापित भ्रातृमण्डल के हाथों मे अल्मोड़ा को स्थानातरित होने के अवसर पर लिखित। स०

एक बार फिर जागो।
आकुल विश्व तुम्हें निहार रहा है
हे सत्य!
तुम अमर हो!

फिर बढ़ो
कोमल चरण ऐसे धरो
कि एक रज-कण की भी शान्ति भंग न हो
जो सड़क पर, नीचे पड़ा है।
सबल सुदृढ़ आनन्दमय निर्भय और मुक्त
जागो बढ़े चलो और उदात्त स्वर में बोलो!

तेरा घर छूट गया
जहाँ प्यारभरे हृदयों ने तुम्हारा पोषण किया
और सुख से तुम्हारा विकास देखा
किन्तु, भाग्य प्रबल है—यही नियम है—
सभी वस्तुएँ उद्गम को लौटती हैं जहाँ से
निकली थीं और नव शक्ति लेकर फिर निकल पड़ती हैं।

नये सिरे से आरम्भ करो
अपनी जननी-जन्मभूमि से ही
जहाँ विशाल मेघराशि से बद्धकटि
हिमशिखर तुममें नव शक्ति का संचार कर
चमत्कारों की क्षमता देता है
जहाँ स्वर्गिक सरिताओं का स्वर
तुम्हारे संगीत को अमरत्व प्रदान करता है
जहाँ देवदारु की शीतल छाया में तुम्हें अपूर्व शान्ति मिलती है।

और सबसे ऊपर,
जहाँ शैल-बाला उमा कोमल और पावन
विराजती हैं
जो सभी प्राणियों की शक्ति और जीवन हैं

जो सृष्टि के सभी कार्य-व्यापारो के मूल मे हैं,
जिनकी कृपा से सत्य के द्वार खुलते हैं
और जो अनन्त करुणा और प्रेम की मूर्ति हैं;
जो अजस्र शक्ति की स्रोत हैं
और जिनकी अनुकम्पा से सर्वत्र
एक ही सत्ता के दर्शन होते हैं।

तुम्हे उन सबका आशीर्वाद मिला है,
जो महान् द्रष्टा रहे हैं,
जो किसी एक युग अथवा प्रदेश के ही नही रहे हैं,
जिन्होंने जाति को जन्म दिया,
सत्य की अनुभूति की,
साहस के साथ भले-बुरे सबको ज्ञान दिया।
हे उनके सेवक,
तुमने उनके एकमात्र रहस्य को पा लिया है।

तब, बोलो, ओ प्यार!
तुम्हारा कोमल और पावन स्वर!
देखो, ये दृश्य कैसे ओझल होते हैं,
ये तह पर तह सपने कैसे उडते हैं
और सत्य की महिमामयी आत्मा
किस प्रकार विकीर्ण होती है!

और ससार से कहो—
जागो, उठो, सपनो मे मत खोये रहो,
यह सपनो की धरती है, जहाँ कर्म
विचारो की सूत्रहीन मालाएँ गूँथता है,
वे फूल, जो मधुर होते हैं अथवा विषाक्त,
जिनकी न जडे हैं, न तने, जो शून्य मे उपजते हैं,
जिन्हे सत्य आदि शून्य मे ही विलीन कर देता है।
साहसी बनो और सत्य के दर्शन करो,
उससे तादात्म्य स्थापित करो,

छायाभासों को मात होने दो
यदि सपने ही देखना चाहो तो
शाश्वत प्रेम और निष्काम सेवाओं के ही सपने देखो।

ओ स्वर्गीय स्वप्न![1]

अच्छा या बुरा समय बीतता है—
कभी हर्षातिरेक से हृदय मदुमद होता है
और कभी दुःखों के सागर लहराने लगते हैं
यहीं हम सभी सुख-दुःख से प्रभावित हो
कभी रोते और कभी हँसते हैं।
हम अपने अपने रंग में होते हैं
और ये दृश्य बदल-बदलकर आते रहते हैं—
चाहे सुख चमके या दुःख बरसे।

ओ स्वप्न! ओ स्वर्गीय स्वप्न!
यह कुहर-जाल फैलाकर सब कुछ ढक दो
इन तीखी रेखाओं को कुछ और मधुर करो
और परुष को चारु और कोमल कर दो।

ओ स्वप्न!
केवल तुम्हींमें जादू है,
तुम्हारे स्पर्श से रेगिस्तान उपवन बनकर लहराते हैं,
कड़कती बिजलियों का भीषण घोष
मधुर संगीत में बदल जाता है
और मृत्यु एक सुखद मुक्ति बनकर आती है।

प्रकाश[2]

मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ
और आगे भी

---

१ १७ अगस्त, १९ को पेरिस से भगिनी क्रिश्चिन को लिखित।
२ बेलूड़ मठ में लिखित, २६ दिसम्बर, १९ ।

और देखता हूँ कि सब ठीक है।
मेरी गहरी से गहरी व्यथाओ मे
प्रकाश की आत्मा का निवास है।

जाग्रत देवता[1]

वह, जो तुममे है और तुमसे परे भी,
जो सबके हाथो मे बैठकर काम करता है,
जो सबके पैरों में समाया हुआ चलता है,
जो तुम सबके घट मे व्याप्त है,
उसीकी आराधना करो और
अन्य प्रतिमाओं को तोड दो।

जो एक साथ ही ऊँचे पर और नीचे भी है,
पापी और महात्मा, ईश्वर और निकृष्ट कीट,
एक साथ ही है,
उसीका पूजन करो—
जो दृश्यमान है,
ज्ञेय है,
सत्य है,
सर्वव्यापी है,
अन्य सभी प्रतिमाओ को तोड दो।

जो अतीत जीवन से मुक्त,
भविष्य के जन्म-मरणो से परे है,
जिसमे हमारी स्थिति है
और जिसमे हम सदा स्थित रहेंगे,
उसीकी आराधना करो,
अन्य सभी प्रतिमाओ को तोड दो!

ओ विमूढ! जाग्रत देवता की उपेक्षा मत करो,

---

१ अल्मोडे से एक अमेरिकन मित्र को लिखित, जुलाई ९, १८९७ ई०।

उसके अनन्त प्रतिबिम्बों से ही यह विश्व पूर्ण है।

काल्पनिक छायाओं के पीछे मत भागो
जो तुम्हें विग्रहों में बाँधती हैं
उस परम प्रभु की उपासना करो
जिसे सामने देख रहे हो
अन्य सभी प्रतिमाएँ तोड़ दो!

अकालकुसुमित वायलेट के प्रति[1]

चाहे हिमाच्छन्न धरा तेरी शय्या हो
ठिठुरती हुई सर्द आँधी हो तेरा कंचुक
चाहे बिना उल्लासित करनेवाले साथी के एकाकी ही चलना हो
तेरा आकाश घनाच्छादित हो जाये

और, प्यार स्वयं धोखा दे जाये
तुम्हारी सुरभि व्यर्थ बिखर जाये
चाहे शुभ पर अशुभ विजय पा जाये
शासन करे अशोभन
शोभन मुँहकी खाये

फिर भी हे वायलेट! तुम
अपनी पावन मधुर प्रकृति—कोमल विकास—
किंचित् मत बदलो
बल्कि अबाधित अपनी सुगन्धि बिखेरे जाओ
गति न रुके, विश्वास न खोओ।

प्याला

यही तुम्हारा प्याला है,
जो तुम्हें शुरू से मिला है,
नहीं मेरे वत्स! मुझे ज्ञात है—

---

१ एक पाश्चात्य शिष्या को लिखित ६ जनवरी १८९६।

यह पेय घोर कालकूट,
यह तुम्हारी मथित सुरा—निर्मित हुई है,
तुम्हारे अपराध, तुम्हारी वासनाओ से
युग-कल्पो-मन्वन्तरो से।

यही तुम्हारा पथ है—कष्टकर, बीहड और निर्जन,
मैंने ही वे पत्थर लगाये, जिन्होने तुम्हे कभी बैठने नही दिया,
तुम्हारे मीत के पथ सुहावने और साफ-सुथरे हैं
और वह भी तुम्हारी ही तरह मेरे अक में आ जायगा।
किन्तु, मेरे वत्स, तुम्हे तो मुझ तक यह यात्रा करनी ही है।

यही तुम्हारा काम है, जिसमे न सुख है, न गौरव ही मिलता है,
किन्तु, यह किसी और के लिए नही, केवल तुम्हारे लिए है,
और मेरे विश्व मे इसका सीमित स्थान है, ले लो इसे।
मैं कैसे कहूँ कि तुम यह समझो,
मेरा तो कहना है कि मुझे देखने के लिए नेत्र बन्द कर लो।

मगलाशीष[1]

माता का हृदय, वीर का सकल्प,
दक्षिण के मलयानिल की मधुरता,
वे पवित्र आकर्षण और शक्ति-पुज
जो आर्य-वेदिकाओ पर मुक्त एव उद्दाम दमकते हैं,
वे सब तेरे हो,
और वह सब भी तेरा हो
जिसे अतीत में, कभी किसीने स्वप्न मे भी न सोचा हो—
तू हो जा भारत की भावी सन्तान,
स्वामिनी, सेविका, मित्र एकाकार।

उसे शान्ति मे विश्राम मिले[2]

आगे बढो ओ' आत्मन्! अपने नक्षत्र-जडित पथ पर,

---

१ भगिनी निवेदिता को लिखित, सितम्बर १२, १९००।
२. श्री जे० जे० गुडविन की स्मृति मे लिखित, अगस्त, १८९८।

हे परम आनन्दपूर्ण ! ! बढ़ो जहाँ मुक्त विचार हैं
जहाँ काल और देश से दृष्टि धूमिल नहीं होती
और जहाँ चिरन्तन शान्ति और वरदान हैं तुम्हारे लिए।

जहाँ तुम्हारी सेवा बलिदान को पूर्णत्व देगी
जहाँ प्रेमपूर्ण प्यार से भरे हृदयों में तुम्हारा निवास होगा
मधुर स्मृतियाँ देश और काल की दूरियाँ खत्म कर देती हैं।
बलिवेदी के पुलावों के समान
तुम्हारे पश्चात् विश्व को मापूरित करेंगी।

अब तुम बन्धनमुक्त हो तुम्हारी खोज परमानन्द तक पहुँच गयी,
अब तुम उसमें लीन हो जो मरण और जीवन बन कर आता है,
हे परोपकाररत हे निःस्वार्थ प्राण आगे बढ़ो!
इस संघर्षरत विश्व को अब भी तुम सप्रेम सहायता करो।

नासदीय सूक्त[1]

(सृष्टि-गान)

तब न सत् था न असत् ही
न यह संसार था न ये आकाश
इस शून्य का आवरण क्या था? वह भी किसका?
गहन अन्धकार की गहराइयों में क्या था?

तब न मरण था न अमरत्व ही
रात्रि दिवा से पृथक नहीं थी
किन्तु गतिशून्य वह स्पन्दित हुआ था
तब केवल वह था जिसके परे
कोई अन्य अस्तित्व नहीं
वही चराचर था।

तब तम में छिपकर तम बैठा था

१ ऋग्वेद (१ ।१२९।१–७) के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त का अनुवाद।

जैसे जल मे जल समाहित हो, पहचाना न जाय,
तव शून्य मे जो था,
वह तप की गरिमा मे मण्डित था।
तव मानस के आदि बीज के रूप मे
प्रथम आकाक्षा उगी,
(जिसका साक्षात्कार ऋषियो ने अपने अन्तर मे किया,
असत् से सत् जनमा,)
जिसकी प्रकाश-किरण
ऊपर-नीचे चारो ओर फैली।

यह महिमा सर्जनमयी हुई
स्वत सिद्ध सिद्धान्त पर आधारित
और सर्जनशक्ति से स्फुरित।

किसने पथ जाना ? कहाँ अथ है, जहाँ से यह फटा ?
सर्जन कहाँ से हुआ ?
सृष्टि के बाद ही तो देवो ने अस्तित्व पाया,
अत उद्भव का ज्ञान किसे प्राप्त है ?

यह सर्जन कहाँ से आया,
यह कैसे ठहरा है, ठहरा भी है या नही ?
वह सर्वोच्च आकाशो मे बैठा हुआ महाशासक
अपना आदि जानता है या नही ? शायद!

शान्ति[1]

देखो, जो बलात् आती है,
वह शक्ति, शक्ति नही है।
वह प्रकाश, प्रकाश नही है,
जो अँधेरे के भीतर है,
और न वह छाया, छाया ही है,

---

१ न्यूयार्क के रिजले मैनर मे लिखित, १८९९ ई०।

जो चकाचौंध करनेवाले
प्रकाश के साथ है।

वह आनन्द है जो कभी व्यक्त नहीं हुआ
और अनभोगा गहन दुःख है
अमर जीवन जो जिया नहीं गया
और अनन्त मृत्यु, जिस पर—
किसीको शोक नहीं हुआ।

न दुःख है न सुख
सत्य वह है
जो इन्हें मिलाता है।
न रात है, न प्रात
सत्य वह है
जो इन्हें जोड़ता है।

वह संगीत में मधुर विराम
पावन छन्द के मध्य यति है
मुखरता के मध्य मौन
वासनाओं के विस्फोट के बीच
वह हृदय की शान्ति है।

सुन्दरता वह है जो देखी न जा सके।
प्रेम वह है जो अकेला रहे।
गीत वह है, जो जिये बिना गाये
ज्ञान वह है जो कभी जाना न जाय।

जो दो प्राणों के बीच मृत्यु है,
और दो तूफानों के बीच एक स्तब्धता है,
वह शून्य जहाँ से सृष्टि आती है
और जहाँ वह लौट जाती है।

वही अश्रुबिन्दु का अवसान होता है,
प्रसन्न रूप को प्रस्फुटित करने को
वही जीवन का चरम लक्ष्य है,
और शांति ही एकमात्र शरण है।

कौन जानता माँ की लीला !

शायद तुम्ही वह द्रष्टा हो,
जो जानता है
कि कौन उन गहराइयो का स्पर्श कर सकता है,
जहाँ माँ ने अपने शब्दहीन अमोघ बाण
छिपा रखे है !

सभवत शिशु ने उन छायाओ की झलक पायी है,
इन दृश्यो के पीछे,
विस्मय और कौतूहलभरी आँखो से
वे कम्पित आकृतियाँ, जो
अनिवार्य प्रबल घटनाओ की कारण है !
माँ के अतिरिक्त और कौन जानता है
कि वे कैसे, कहाँ से और कब आती है।

ज्ञानदीप्त उस ऋषि ने सभवत
जो कुछ कहा,
कही उससे समधिक देखा था !
कब, किस आत्मा के सिहासन पर
माँ विराजेगी,
कौन जानता है !

किन नियमो मे मुक्ति बँधी है,
कौन पुण्य करते उसकी
इच्छा-सचालन !
वह किस धुन में कौन सी
बडी से बडी व्याख्या कर दे, कौन जाने,

उसकी इच्छा मात्र ही वह विधान है,
जिसका कोई विरोध सम्भव नहीं।

पता नहीं पुत्र को कौन से वैभव प्राप्त हो जायँ
पिता ने जिसका स्वप्न भी न देखा हो
माँ अपनी पुत्री में
हजार गुनी शक्तियाँ भर सकती है
उसकी इच्छा!!

अपनी आत्मा के प्रति

मेरे कठिन हृदय कन्धे पर साथ रखो
बुरा जो कि जीवन भर का है, उसे न छोड़ो
यद्यपि अपना वर्तमान है विकृत
भविष्यत् अन्धकारमय फिर भी ठहरो।
जब हमने-तुमने मिलकर आरम्भ किया था
जीवन के शिखरों का आरोहण-अवरोहण
तबसे एक युग बीत गया!
हम उन असामान्य समुद्रों में
निर्विघ्न साथ साथ तैरे हैं
मुझसे भी ज्यादा तुम मेरे निकट रहे हो
मेरे मन की गतियों की पहले ही से घोषणा कर।
तुम सच्चा प्रतिबिम्ब फेंकते
मेरा हृदय धड़कता है क्या तुम्हीं धड़कते
मेरे सभी विचारों के पूर्ण स्वर,
वे कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों—
और सुरक्षित भी तुममें ही
मेरे चेतन-साक्षी विलग होगे मुझसे क्या?
तुम्हीं मेरी चिर मैत्री और आस्था के केन्द्र हो!
सब दिन मुझे विकृतियों के प्रति सावधान करते रहे हो!
मैंने तेरी चेतावनी कर दी सुनी-अनसुनी,
फिर भी तुमने
सदा सजग हो किया शुभाशुभ मुझे बताया।

किसे दोष दूँ ?[१]

सूरज ढलता,
रक्तिम किरणें—
दम तोड़ते दिवस की देह लपेट चुकी है,
चौंकी हुई दृष्टि से देख रहा मैं पीछे,
गिनता हूँ अब तक की सब उपलब्धियाँ,
किन्तु, मुझे लज्जा आती है,
और किसीका नहीं, दोष तो मेरा ही है।

मैं बनाता या मिटाता प्रतिदिन अपना जीवन
भले-बुरे कर्मों का वैसा फल मिलता है।
भला, बुरा, जैसा बन गया, बन गया जीवन,
रोके और सँभाले से भी
रुके न सँभले कोई भी कितना सर मारे
और किसीका नही, दोष तो मेरा ही है।

मैं ही तो अपना साकार अतीत हूँ,
जिसमे बड़े बड़े आयोजन कर डाले थे,
वे सकल्प, धारणाएँ वे
जिनके ही अनुरूप ढल गया है यह जीवन,
वही, ढाँचा है जिसका,
और किसीका नही, दोष तो मेरा ही है।

प्यार का प्रतिफल मिला प्यार ही केवल
और घृणा से अपनी घृणा भयानक,
जिनकी सीमाओ से घिरा हुआ है जीवन,
और मरण भी,
प्यार-घृणा इस तरह बाँधते
किसे दोष दूँ जब कि स्वय ही मैं दोषी हूँ।

---

१. न्यूयार्क से लिखित, १६ मई, १८९५।

त्याग रहा हूँ मैं भय
और व्यर्थ के सब पछतावे
प्रबल वेग मेरे कर्मों का प्रवहमान है
सुख-दुःख निन्दा और प्रतारण
यशःकीर्ति के प्रेत खड़े हैं मेरे सम्मुख
किसे दोष दूँ जब कि स्वयं मैं ही दोषी हूँ।

सभी शुभ-अशुभ प्यार-घृणा सुख-दुःख को बाँधे
जीवन सब दिन अपनी राह चला जाता है
मैं उस सुख के स्वप्न देखता
जिस पर दुःख की पड़े न छाया
किन्तु कभी हाँ कभी नहीं हो सके सत्य वे
किसे दोष दूँ जब कि स्वयं ही मैं दोषी हूँ।

छूटी घृणा प्यार भी छूटा
और पिपासा भी जीवन की शान्त हो गयी
शाश्वत मरण अभीष्ट रहा जो वही सामने
जीवन की ज्वाला जैसे निर्वाण पा गयी
कोई ऐसा शेष नहीं है जिसे दोष दूँ।

एकमात्र मानव परमेश्वर एकमात्र सम्पूर्ण आत्मा
परम ज्ञानी वह जिसने
उपहास किया उस राही का
जो भटकाती पतित बनाती अँधियारी है
एकमात्र सम्पूर्ण मनुज वह,
जिसने सोचा-समझा परम सत्य जीवन का
पथ दिखलाया
मृत्यु एक अभिशाप और यह जीवन भी तो एसा ही है
सबसे उत्तम—
जन्म-मरण का बन्धन छूटे।
ॐ नमो भगवते सम्बुद्धाय
ॐ नम प्रभु ! चिर मुक्त !

मुक्ति[1]

(४ जुलाई के प्रति)

वह देखो, वे घने बादल छँट रहे हैं,
जिन्होने रात को, धरती को अशुभ छाया से
ढक लिया था।
किन्तु, तुम्हारा चमत्कारपूर्ण स्पर्श पाते ही
विश्व जाग रहा है।
पक्षियो ने सहगान गाये हैं,
फूलो ने, तारो की भाँति चमकते ओसकणो का मुकुट पहनकर
झुक-झूमकर तुम्हारा सुन्दर स्वागत किया है।
झीलो ने प्यारभरा हृदय तुम्हारे लिए खोला है
और अपने सहस्र सहस्र कमल-नेत्रो के द्वारा
मन की गहराई से
निहारा है तुम्हें।
हे प्रकाश के देवता!
सभी तुम्हारे स्वागत मे सलग्न हैं।
आज तुम्हारा नव स्वागत है।
हे सूर्य, तुम आज मुक्ति-ज्योति फैलाते हो।

तुम्ही सोचो, ससार ने तुम्हारी कितनी प्रतीक्षा की
कितना खोजा तुम्हे,
युग युग तक, देश देश घूमकर कितना खोजा गया।
कुछ ने घर छोडे, मित्रो का प्यार खोया,

---

१ यह तो ज्ञात ही है कि स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु (अथवा जैसा हममे से कुछ कहना अधिक पसन्द करेंगे—उनका पुनरुज्जीवन) ४ जुलाई, १९०२ को हुई। ४ जुलाई, १८९८ के दिन वे कुछ अमेरिकन शिष्यों के साथ काश्मीर का पर्यटन कर रहे थे और उस शुभ दिवस—अमेरिकन स्वातन्त्र्य घोषणा-दिवस—की जयन्ती मनाने के निमित्त एक पारिवारिक षडयन्त्र के अगस्वरूप सवेरे जलपान के समय पढे जाने के निमित्त उन्होंने इस कविता की रचना की। कविता स्थिरा माता के पास सुरक्षित रही। स०

स्वयं को निर्वासित किया
निर्जन महासागरों सुनसान जंगलों में कितना भटके
एक एक कदम पर मौत और जिन्दगी का सवाल आ गया
लेकिन वह दिन भी आया जब संघर्ष फले
पूजा, श्रद्धा और बलिदान पूर्ण हुए,
स्वीकृत हुए—तुमने अनुग्रह किया
और समस्त मानवता पर स्वातन्त्र्य-प्रकाश विकीर्ण किया।

ओ देवता, निर्बाध बढ़ो अपने पथ पर,
तब तक,
जब तक कि यह सूर्य आकाश के मध्य में न आ जाय—
जब तक तुम्हारा आलोक विश्व में प्रत्येक देश में प्रतिफलित न हो
जब तक नारी और पुरुष सभी उन्नत मस्तक होकर यह नहीं देखें
कि उनकी जंजीरें टूट गयीं
और नवीन सुखों के वसन्त में (उन्हें) नवजीवन मिला।

अन्वेषण[1]

पहाड़ी घाटी पर्वत-श्रेणियों में
मंदिर, गिरजा, मसजिद
वेद, बाइबिल, कुरान
तुम्हें खोजा इन सबमें—व्यर्थ।
सघन वनों में भूले शिशु सा
रोया—एकाकी रोया
तुम कहाँ गये प्रभु, प्रिय?
'चले गये' कहा प्रतिध्वनि ने।

दिन बीते, निशि बीती, वर्ष गये
मन में ज्वाला
कब दिवस निशा में बदला नहीं ज्ञात।
दो टूक हृदय के हुए।

---

१ श्री जे० एच० राइट को लिखित सितम्बर ४, १८९३ ई०।

गगा तट पर आ लेटा,
वर्षा और ताप झेला,
तप्त अश्रुओ से धरती सीची,
जल का गर्जन लेकर रोया,
पावन नाम पुकारे सबके,
सब देशो के, सब धर्मो के,
'अरे, कृपा कर पथ दिखलाओ,
लक्ष्य प्राप्त कर चुके सभी जो
महामहिम जन!'

बीते वर्ष करुण क्रन्दन मे,
प्रतिक्षण युग सा बीता।
उस क्रदन मे, आहो मे,
कोई पुकारता सा लगा।

एक सौम्य मन-भावन-ध्वनि,
जो मेरी आत्मा के सब तारो से
समसुर होने मे हर्षित सी लगी—
बोली 'तनय मेरे', 'तनय मेरे।'

मैंने उठकर उसके उद्गम को खोजा,
खोजा फिर फिर खोजा, मुडकर देखा,
चारो दिशि—आगे, पीछे।
बार बार वह स्वर्गिक स्वर
मानो कहता कुछ,
स्तब्ध हुई आत्मा आनन्दित,
परमानन्द-विमोहित मग्न समाधि।

एक चमक ने आलोकित कर दी मेरी आत्मा,
अतरतम के द्वार हो गये मुक्त।
कितना हर्ष, कितना आनद—क्या मिला मुझे!
मेरे प्रिय, मेरे प्राण, यहाँ?

तुम ही यहाँ? प्रिय मेरे सब कुछ!
मैं खोज रहा था तुमको
और तुम युग युग से यहीं
महिमा के सिंहासन पर थे आसीन।

उस दिन से सब जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ
वे पास खड़े रहते हैं
घाटी पर्वत उच्च पहाड़ी—
अति सुदूर, अति उच्च—सभी जगह।

शशि का सौम्य प्रकाश चमकते तारे
तेजस्वी दिनमणि में
वही चमकता—ये उसकी सुन्दरता औ' शक्ति
के केवल प्रतिबिम्बित प्रकाश।
तेजस्वी ऊषा ढलती संध्या
तरंगित सीमाहीन समुद्र
गीत विहग के औ' निसर्ग की शोभा
इन सबमें—वह है।

विपदाएँ जब मुझे पकड़ती
डर भयाक्रान्त मूर्छित सा
प्रकृति कुचलती निज पदतल से
कभी न झुकनेवाले विधान से।

तब लगता है, सुनता हूँ
मीठे सुर में तुमको कहते चुपके चुपके—
'मैं हूँ समीप' 'मैं हूँ समीप'।
हृदय को मिल जाती शक्ति साथ तुम्हारे
मरण सहस्रों फिर भी निर्भय।
तुम्हीं स्थापित माँ की गोदी में
जो शिशु की पलकें झपका देती।

निर्मल बच्चों की क्रीडा और हँसी मे,
तुम्हे देखता खडे निकट।
पावन मैत्री के स्नेह मिलन मे
खडे बीच मे साक्षी
माँ के चुम्बन मे, शिशु की मृदु 'अम्मा' ध्वनि मे,
तुम अमृत उडेलते।
साथ पुरातन गुरुओं के थे तुम,
सभी धर्म के तुम स्रोत,
वेद, कुरान, बाइबिल
एक राग मे गाते।
तेरी ही गुण-गाथा।

जीवन की इस प्रवहमान धारा मे,
तू आत्माओं की आत्मा,
'ॐ तत् सत् ॐ', तू है मेरा प्रभु,
मेरे प्रिय! मैं तेरा, मैं तेरा!

निर्वाणषट्कम्[1]

न मन, न बुद्धि, न अहकार, न चित्त,
न शरीर, न उसके विकास,
न श्रवण, न जिह्वा, न नासिका, न नेत्र,
न आकाश, न भूमि, न तेज, न वायु,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मै शिव हूँ, मैं शिव हूँ, (शिवोऽह, शिवोऽहम्)।

न प्राण, न पचवायु, न सप्तधातु, न पचकोश,
न वाणी, न कर, न पद, न उपस्थ, न कोई इन्द्रिय,
मैं परम सत्, परम चित्, परम आनन्दस्वरूप हूँ,
मै शिव हूँ, मैं शिव हूँ, (शिवोऽह, शिवोऽहम्)।

---

१. शकराचार्य की एक कविता का अनुवाद।

न द्वेष हूँ न राग हूँ न लोभ न मोह
न मद हूँ न मात्सर्य हूँ
धर्म अर्थ काम और मोक्ष भी नहीं हूँ
मैं परम सत्, परम चित् परम आनन्दस्वरूप हूँ
मैं शिव हूँ मैं शिव हूँ (शिवोऽहम् शिवोऽहम्)।

न पुण्य न पाप न सुख न दुःख
न मन्त्र न तीर्थ न वेद न यज्ञ
न भोजन हूँ न भोक्ता हूँ न भोज्य हूँ
मैं परम् सत् परम् चित् परम् आनन्दस्वरूप हूँ
मैं शिव हूँ मैं शिव हूँ। (शिवोऽहम् शिवोऽहम्)

न मृत्यु हूँ न शंका हूँ न मेरी कोई जाति है,
न पिता न माता न मेरा जन्म ही है,
न बन्धु न मित्र न गुरु न शिष्य
मैं परम सत् परम चित् परम आनन्दस्वरूप हूँ
मैं शिव हूँ मैं शिव हूँ (शिवोऽहम् शिवोऽहम्)।

मैं तो निर्विकल्प निराकार, विभु अनन्त
काल और सीमा से परे,
प्रत्येक वस्तु में हूँ प्रत्येक वस्तु मैं ही हूँ
मैं ही विश्व का आधार हूँ
मैं परम सत् परम चित् परम आनन्दस्वरूप हूँ
मैं शिव हूँ मैं शिव हूँ (शिवोऽहम् शिवोऽहम्)।

सृष्टि

(खम्बाज-चौताला)

एक रूप अरूप-नाम-वरन अतीत-आगामि-काल-हीन
देशहीन सर्वहीन 'नेति नेति' विराम जहाँ।

वहीं से होकर बहे कारण-धारा

वार के वासना वेग उछला,
गरज गरज उठता है उनका वारि,
अहमहमिति सर्वनिति सर्वक्षण ॥

उसी अपार इच्छा-सागर माँझे
अयुत अनन्त तरंग राजे
कितने रूप, कितनी शक्ति,
कितनी गति-स्थिति कितने की गणना ॥

कोटि चन्द्र, कोटि तपन
पाते उसी सागर में जन्म,
महाघोर रोर गगन में छाया
किया दश दिक् ज्योति-मगन ॥

उसीमें बसे कई जड़-जीव-प्राणी,
सुख-दुख, जरा जनन-मरण,
वही सूर्य जिसकी किरण, जो है सूर्य वही किरण ॥

शिव-संगीत

(कर्नाट-एकताल)

ताथैया ताथैया नाचे भोला,
बम् बब बाजे गाल।
डिमि डिमि डिमि डमरु बाजे डोलती कपाल-माल।
गरजे गंगा जटा माँझे, उगले अनल त्रिशूल राजे,
धक् धक् धक् मौलिबन्ध ज्वले शशांक-भाल।

सूक्तियाँ एवं सुभाषित–२

सूक्तियाँ एव सुभाषित

१ मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्पन्न हुआ है, उसका अनुसरण करने के लिए नही।

२ जव तुम अपने आपको शरीर समझते हो, तुम विश्व से अलग हो, जव तुम अपने आपको जीव समझते हो, तव तुम अनन्त अग्नि के एक स्फुलिंग हो, जव तुम अपने आपको आत्मस्वरूप मानते हो, तभी तुम विश्व हो।

३ सकल्प स्वतत्र नही होता—वह भी कार्य-कारण से वँधा एक तत्त्व है—लेकिन सकल्प के पीछे कुछ है, जो स्व-तत्र है।

४ शक्ति 'शिव'-ता मे है, पवित्रता मे है।

५ विश्व है परमात्मा का व्यक्त रूप।

६ जव तक तुम स्वय अपने मे विश्वास नही करते, परमात्मा मे तुम विश्वास नही कर सकते।

७ अशुभ की जड इस भ्रम मे है कि हम शरीर मात्र हैं। यदि कोई मौलिक या आदि पाप है, तो वह यही है।

८ एक पक्ष कहता है, विचार जड वस्तु से उत्पन्न होता है, दूसरा पक्ष कहता है, जड वस्तु विचार से। दोनो कथन गलत हैं जड वस्तु और विचार, दोनो का सह-अस्तित्व है। वह कोई तीसरी ही वस्तु है, जिससे विचार और जड वस्तु दोनो उत्पन्न होते हैं।

९ जैसे देश मे जड वस्तु के कण सयुक्त होते हैं, वैसे ही काल मे मन की तरगें सयुक्त होती हैं।

१० ईश्वर की परिभाषा करना चर्वितचर्वण है, क्योंकि एकमात्र परम अस्तित्व, जिसे हम जानते हैं, वही है।

११ धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।

१२ बाह्य प्रकृति अन्त प्रकृति का ही विशाल आलेख है।

१३ तुम्हारी प्रवृत्ति तुम्हारे काम का मापदड है। तुम ईश्वर हो और निम्नतम मनुष्य भी ईश्वर है, इससे वढकर और कौन सी प्रवृत्ति हो सकती है?

१४ मानसिक जगत् का पर्यवेक्षण बहुत बलवान और वैज्ञानिक प्रशिक्षणयुक्त होना चाहिए।

१५ यह मानना कि मन ही सब कुछ है विचार ही सब कुछ है—केवल एक प्रकार का उच्चतर भौतिकवाद है।

१६ यह दुनिया एक बड़ी व्यायामशाला है जहाँ हम अपने आपको बलवान बनाने के लिए आते हैं।

१७ जैसे तुम पौधे को उगा नहीं सकते वैसे ही तुम बच्चे को सिखा नहीं सकते। जो कुछ तुम कर सकते हो वह केवल नकारात्मक पक्ष में है—तुम केवल सहायता दे सकते हो। वह तो एक आन्तरिक अभिव्यंजना है वह अपना स्वभाव स्वयं विकसित करता है—तुम केवल बाधाओं को दूर कर सकते हो।

१८ एक पन्थ बनाते ही तुम विश्वबन्धुता के विरुद्ध हो जाते हो। जो सच्ची विश्वबन्धुता की भावना रखते हैं वे अधिक बोलते नहीं उनके कर्म ही स्वयं जोर से बोलते हैं।

१९ सत्य हजार ढंग से कहा जा सकता है, और फिर भी हर ढंग सच हो सकता है।

२ तुमको अन्दर से बाहर विकसित होना है। कोई तुमको न सिखा सकता है न आध्यात्मिक बना सकता है। तुम्हारी आत्मा के सिवा और कोई गुरु नहीं है।

२१ यदि एक अनन्त शृंखला में कुछ कड़ियाँ समझायी जा सकती हैं तो उसी पद्धति से सब समझायी जा सकती हैं।

२२ जो मनुष्य किसी भौतिक वस्तु से विचलित नहीं होता उसने अमरत्व पा ली।

२३ सत्य के लिए सब कुछ त्यागा जा सकता है पर सत्य को किसी भी चीज के लिए छोड़ा नहीं जा सकता उसकी बलि नहीं दी जा सकती।

२४ सत्य का अन्वेषण शक्ति की अभिव्यक्ति है—वह कमजोर, अन्ध लोगों का अँधेरे में टटोलना नहीं है।

२५ ईश्वर मनुष्य बना मनुष्य भी फिर से ईश्वर बनेगा।

२६ यह एक बच्चों की सी बात है कि मनुष्य मरता है और स्वर्ग में जाता है। हम कभी न आते हैं न जाते। हम जहाँ हैं वहीं रहते हैं। सारी आत्माएँ, जो हो चुकी हैं अब हैं और आगे होंगी वे सब ज्यामिति के एक बिंदु पर स्थित हैं।

२७ जिसके हृदय की पुस्तक खुल चुकी है उसे अन्य किसी पुस्तक की आवश्यकता नहीं रह जाती। उनका महत्त्व केवल इतना भर है कि वे हममें लालसा जगाती हैं। वे प्राय अन्य व्यक्तियों के अनुभव होती हैं।

२८ सव प्राणियो के प्रति करुणा रखो। जो दुख मे है, उन पर दया करो। सव प्राणियो से प्रेम करो। किसीसे ईर्ष्या मत करो। दूसरो के दोष मत देखो।

२९ मनुष्य न तो कभी मरता है, न कभी जन्म लेता है। शरीर मरते है, पर वह कभी नही मरता।

३० कोई भी किसी धर्म मे जन्म नही लेता, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति धर्म के लिए जन्म लेता है।

३१ विश्व मे केवल एक आत्म-तत्त्व है, सब कुछ केवल 'उसी' की अभिव्यक्तियाँ हैं।

३२ समस्त उपासक जनसाधारण और कुछ वीरो मे (इन दो वर्गों मे) विभक्त हैं।

३३ यदि यहाँ और अभी पूर्णता की प्राप्ति असभव है, तो इस वात का कोई प्रमाण नही कि दूसरे जन्म मे हमे पूर्णता मिल ही जायगी।

३४ यदि मैं एक मिट्टी के ढेले को पूर्णतया जान लूँ, तो सारी मिट्टी को जान लूँगा। यह है सिद्धान्तो का ज्ञान, लेकिन उनका समायोजन अलग अलग होता है। जव तुम स्वय को जान लोगे, तो सब कुछ जान लोगे।

३५ व्यक्तिगत रूप से मैं वेदो मे से उतना ही स्वीकार करता हूँ, जो बुद्धिसम्मत है। वेदो के कतिपय अश स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं। वे, पाश्चात्य अर्थ मे, दैवी प्रेरणा से प्रेरित नही माने जाते हैं। परन्तु वे ईश्वर के ज्ञान या सर्वज्ञता का सम्पूर्ण रूप हैं। यह ज्ञान एक कल्प के आरभ मे व्यक्त होता है, और जब वह कल्प समाप्त होता है, वह सूक्ष्म रूप प्राप्त करता है। जब कल्प पुन व्यक्त होता है, ज्ञान भी व्यक्त होता है। यहाँ तक यह सिद्धान्त ठीक है। पर यह कहना कि केवल यह वेद नामक ग्रथ ही उस परम तत्त्व का ज्ञान है, कुतर्क है। मनु ने एक स्थान पर कहा है कि वेद मे वही अश वेद है, जो बुद्धिग्राह्य, विवेकसम्मत है। हमारे अनेक दार्शनिको ने यही दृष्टिकोण अपनाया है।

३६ दुनिया के सव धर्मग्रन्थो मे केवल वेद ही यह घोषणा करते हैं कि वेदाध्ययन गौण है। सच्चा अध्ययन तो वह है, 'जिससे अक्षर ब्रह्म प्राप्त हो'। और वह न पढना है, न विश्वास करना है, न तर्क करना है, वरन् अतिचेतन ज्ञान अथवा समाधि है।

३७ हम कभी निम्नस्तरीय पशु थे। हम समझते है कि वे हमसे कुछ भिन्न वस्तु हैं। मैं देखता हूँ, पश्चिमवाले कहते हैं, 'दुनिया हमारे लिए बनी है।' यदि चीते पुस्तकें लिख सकते, तो वे यही कहते कि मनुष्य उनके लिए बना है, और मनुष्य

सबसे पापी प्राणी है क्योंकि वह उनकी (चीनी की) पकड़ में सहज नहीं आता। आज का कौवा तुम्हारे पैरों के नीचे रेंग रहा है, वह आगे होनेवाला ईश्वर है।

१८. न्यूयार्क में स्वामी विवेकानन्द ने कहा "मैं बहुत चाहता हूँ कि हमारी स्त्रियों में तुम्हारी बौद्धिकता होती परन्तु यदि वह चारित्रिक पवित्रता का मूल्य देकर ही आ सकती हो तो मैं उसे नहीं चाहूँगा। तुमको जो कुछ आता है, उसके लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ लेकिन जो बुरा है, उसे गुलाबों से ढककर उसे अच्छा कहने का जो यत्न तुम करती हो उससे मैं नफरत करता हूँ। बौद्धिकता ही परम श्रेय नहीं है। नैतिकता और आध्यात्मिकता के लिए हम प्रयत्न करते है। हमारी स्त्रियाँ इतनी विदुषी नहीं परन्तु वे अधिक पवित्र हैं। प्रत्येक स्त्री के लिए अपने पति को छोड़ अन्य कोई भी पुरुष पुत्र जैसा होना चाहिए।

"प्रत्येक पुरुष के लिए अपनी पत्नी को छोड़ अन्य सब स्त्रियाँ माता के समान होनी चाहिए। जब मैं अपने आसपास देखता हूँ और स्त्री-दाक्षिण्य के नाम पर जो कुछ चलता है, वह देखता हूँ तो मेरी आत्मा ग्लानि से भर उठती है। जब तक तुम्हारी स्त्रियाँ यौन सम्बन्धी प्रश्न की उपेक्षा करके सामान्य मानवता के स्तर पर नहीं मिलतीं उनका सच्चा विकास नहीं होगा। तब तक वे सिर्फ खिलौना बनी रहेंगी और कुछ नहीं। यही सब तलाक का कारण है। तुम्हारे पुरुष नीचे झुकते है और कुर्सी देते है मगर दूसरे ही क्षण वे प्रशंसा में कहना शुरू करते है—'देवी जी तुम्हारी आँखें कितनी सुन्दर है!' उन्हें यह करने का क्या अधिकार है? एक पुरुष इतना साहस क्यों कर पाता है, और तुम स्त्रियाँ कैसे इसकी अनुमति दे सकती हो? ऐसी चीजों से मानवता के अधमतर पक्ष का विकास होता है। उनसे श्रेष्ठ आदर्शों की ओर हम नहीं बढ़ते।

'हम स्त्री और पुरुष हैं, हमें यही न सोचकर सोचना चाहिए कि हम मानव हैं, जो एक दूसरे की सहायता करने और एक दूसरे के काम आने के लिए जन्मे हैं। ज्यों ही एक तरुण और तरुणी एकान्त पाते हैं वह उसकी प्रशंसा करना शुरू करता है, और इस प्रकार विवाह के रूप में पत्नी ग्रहण करने तक पहुँचते वह दो सौ स्त्रियों से प्रेम कर चुका होता है। वाह! यदि मैं विवाह करनेवालों में से एक होता तो मैं प्रेम करने के लिए ऐसी ही स्त्री खोजता जिसमें यह सब कुछ न करना होता।

"जब मैं भारत में था और बाहर से इन चीजों को देखता था तो मुझसे कहा जाता था यह सब ठीक है, यह निरा मनबहलाव है। मनोरंजन है और मैं उसमें विश्वास करता था। परन्तु उसके बाद मैंने काफी यात्रा की है और मैं जानता हूँ कि यह ठीक नहीं है। यह गलत है, सिर्फ तुम पश्चिमवाले अपनी

आँखें मूँदे हो और उसे अच्छा कहते हो। पश्चिम के देशो की दिक्कत यह है कि वे बच्चे हैं, मूर्ख हैं, चचल चित्त हैं और समृद्ध हैं। इनमे से एक ही गुण अनर्थ करने के लिए काफी है, लेकिन जब ये तीनो, चारो एकत्र हो, तो सावधान !"

सबके बारे मे ही स्वामी जी कठोर थे, बोस्टन मे सबसे कडी बात उन्होने कही—"सबमे बोस्टन सर्वाधिक बुरा है। वहाँ की स्त्रियाँ सब चचलाएँ, किसी न किसी धुन (fad) को माननेवाली, सदा नये और अनोखे की तलाश मे रहती हैं।"

३९ (स्वामी जी ने अमेरिका मे कहा) जो देश अपनी सभ्यता पर इतना अहकार करता है, उसमे आध्यात्मिकता की आशा कैसे की जा सकती है ?

४० 'इहलोक' और 'परलोक' यह बच्चो को डराने के शब्द हैं। सब कुछ 'इह' या यहाँ ही है। यहाँ, इसी शरीर मे, ईश्वर मे जीवित और गतिशील रहने के लिए सपूर्ण अहन्ता दूर होनी चाहिए, सारे अन्धविश्वासो को हटाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति भारत मे रहते हैं। ऐसे लोग इस देश (अमेरिका) मे कहाँ हैं ? तुम्हारे प्रचारक स्वप्नदर्शियो के विरुद्ध बोलते हैं। इस देश के लोग और भी अच्छी दशा मे होते, यदि कुछ अधिक स्वप्नदर्शी होते। स्वप्न देखने और उन्नीसवी सदी की बकवास मे बहुत अन्तर है। यह सारा जगत् ईश्वर से भरा है, पाप से नही। आओ, हम एक दूसरे की मदद करें, एक दूसरे से प्रेम करें।

४१ मुझे अपने गुरु की तरह कामिनी, काचन और कीर्ति से पराङ्मुख सच्चा सन्यासी बनकर मरने दो, और इन तीनो मे कीर्ति का लोभ सबसे अधिक मायावी होता है।

४२ मैंने कभी प्रतिशोध की बात नही की। मैंने सदा बल की बात की है। हम समुद्र की फुहार की बूंद से बदला लेने की स्वप्न मे भी कल्पना करते हैं ? लेकिन एक मच्छर के लिए यह एक बडी बात है।

४३ (स्वामी जी ने एक बार अमेरिका मे कहा) यह एक महान् देश है। लेकिन मैं यहाँ रहना नही चाहूँगा। अमेरिकन लोग पैसे को बहुत महत्त्व देते हैं। वे सब चीजो से बढकर पैसे को मानते हैं। तुम लोगो को बहुत कुछ सीखना है। जब तुम्हारा देश भी हमारे भारत की तरह प्राचीन देश बनेगा, तब तुम अधिक समझदार होगे।

४४ हो सकता है कि एक पुराने वस्त्र को त्याग देने के सदृश, अपने शरीर से बाहर निकल जाने को मैं बहुत उपादेय पाऊँ। लेकिन मैं काम करना नही छोडूँगा। जब तक सारी दुनिया न जान ले, मैं सब जगह लोगो को यही प्रेरणा देता रहूँगा कि वह परमात्मा के साथ एक है।

४५ जो कुछ मैं हूँ जो कुछ सारी दुनिया एक दिन बनेगी वह मेरे गुरु श्री रामकृष्ण के कारण है। उन्होंने हिंदुत्व इसलाम और ईसाई मत मे वह अपूर्व एकता खोजी जो सब चीजों के भीतर रमी हुई है। श्री रामकृष्ण उस एकता के अवतार थे उन्होंने उस एकता का अनुभव किया और सबको उसका उपदेश दिया।

४६ अगर स्वाद की इन्द्रिय को ढील दी तो सभी इन्द्रियाँ बेलगाम दौड़ेंगी।

४७ ज्ञान भक्ति योग और कर्म—ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जानेवाले हैं। हर एक को उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है लेकिन इस युग मे कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए।

४८ धर्म कल्पना की चीज नहीं प्रत्यक्ष दर्शन की चीज है। जिसने एक भी महान् आत्मा के दर्शन कर लिये वह अनेक पुस्तकी पंडितों से बढ़कर है।

४९. एक बार स्वामी जी किसीकी बहुत प्रशसा कर रहे थे इस पर उनके पास बैठे हुए किसीने कहा 'लेकिन वह आपको नहीं मानते"—इसे सुनकर स्वामी जी ने तत्काल उत्तर दिया 'क्या ऐसा कोई कानूनी शपथ-पत्र लिखा हुआ है कि उन्हें मेरी हर बात माननी ही चाहिए। वे अच्छा काम कर रहे हैं और इसलिए प्रशसा के पात्र हैं।

५ सच्चे धर्म के क्षेत्र मे कोरे पुस्तकीय ज्ञान का कोई स्थान नहीं।

५१ पैसेवालों की पूजा का प्रवेश होते ही धार्मिक सप्रदाय का पतन आरंभ हो जाता है।

५२ अगर कुछ बुरा करना चाहो तो वह अपने से बड़ों के सामने करो।

५३ गुरु की कृपा से शिष्य बिना ग्रंथ पढ़े ही पंडित हो जाता है।

५४ न पाप है, न पुण्य है, सिर्फ अज्ञान है। अद्वैत की उपलब्धि से यह अज्ञान मिट जाता है।

५५ धार्मिक आन्दोलन समूहों मे आते है। उनमे से हर एक दूसरे से ऊपर बढ़कर अपने को बनाना चाहता है। लेकिन सामान्यत उनमे से एक की शक्ति बढ़ती है और वही अन्तत शेष सब समकालीन आन्दोलनों को आत्मसात कर लेता है।

५६ जब स्वामी जी रामनाड मे थे एक समाषण के बीच उन्होंने कहा कि श्री राम परमात्मा हैं। सीता जीवात्मा और प्रत्येक स्त्री या पुरुष का शरीर लका है। जीवात्मा जो कि शरीर मे बद्ध है, या लकाद्वीप मे बदी है वह सदा परमात्मा श्री राम से मिलना चाहती है। लेकिन राक्षस यह होने नहीं देते। और ये राक्षस चरित्र के कुछ गुण हैं। जैसे विभीषण सत्त्वगुण है रावण रजोगुण कुम्भकर्ण

तमोगुण। सत्त्व गुण का अर्थ है अच्छाई, रजोगुण का अर्थ है लोभ और वासना; तमोगुण मे अधकार, आलस्य, तृष्णा, ईर्ष्या आदि विकार आते हैं। ये गुण शरीररूपी लका मे बन्दिनी सीता को यानी जीवात्मा को परमात्मा श्री राम से मिलने नही देते। सीता जब बन्दिनी होती हैं, और अपने स्वामी से मिलने के लिए आतुर रहती हैं, उन्हे हनुमान या गुरु मिलते है, जो ब्रह्मज्ञानरूपी मुद्रिका उन्हे दिखाते हैं और उसको पाते ही सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं, और इस प्रकार से सीता श्री राम से मिलने का मार्ग पा जाती हैं, या दूसरे शब्दो मे जीवात्मा परमात्मा मे एकाकार हो जाती है।

५७ एक सच्चा ईसाई सच्चा हिन्दू होता है, और एक सच्चा हिन्दू सच्चा ईसाई।

५८ समस्त स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन अपने भीतर काम करनेवाली आध्यात्मिक शक्तियो के व्यक्त रूप होते हैं, और यदि ये बलशाली और सुव्यवस्थित हो, तो समाज अपने आपको उस तरह से ढाल लेता है। हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति की साधना स्वय करनी होती है, कोई दूसरा रास्ता नही है। और यही बात राष्ट्रो के लिए भी सही है। और फिर हर राष्ट्र की बडी सस्थाएँ उसके अस्तित्व की उपाधियाँ होती हैं और वे किसी दूसरी जाति के साँचे के हिसाब से नही बदल सकती। जब तक उच्चतर सस्थाएँ विकसित नही होती, पुरानी सस्थाओ को तोडने का प्रयत्न करना भयानक होगा। विकास सदैव क्रमिक होता है।

सस्थाओ के दोष दिखाना आसान होता है, चूँकि सभी सस्थाएँ थोडी-बहुत अपूर्ण होती हैं, लेकिन मानव जाति का सच्चा कल्याण करनेवाला तो वह है, जो व्यक्तियों को, वे चाहे जिन सस्थाओ में रहते हो, अपनी अपूर्णताओ से ऊपर उठने मे सहायता देता है। व्यक्ति के उत्थान से देश और सस्थाओ का भी उत्थान अवश्य होता है। शीलवान लोग बुरी रूढियो और नियमो की उपेक्षा करते हैं और प्रेम, सहानुभूति और प्रामाणिकता के अलिखित और अधिक शक्तिशाली नियम उनका स्थान लेते हैं। वह राष्ट्र बहुत सुखी है, जिसका बहुत थोडे से कायदे-क़ानून से काम चलता है, और जिसे इस या उस सस्था मे अपना सिर खपाने की ज़रूरत नही होती है। अच्छे आदमी सब विधि-विधानो से ऊपर उठते हैं, और वे ही अपने लोगो को—वे चाहे जिन परिस्थितियो में रहते हो—ऊपर उठाने मे मदद करते हैं।

भारत की मुक्ति, इसलिए, व्यक्ति की शक्ति पर और प्रत्येक व्यक्ति के अपने भीतर के ईश्वरत्व के ज्ञान पर निर्भर है।

५९ जब तक नैतिकता नहीं आती तब तक आध्यात्मिकता तक नहीं पहुँचा जा सकता।

६० गीता का पहला सवाल रूपक माना जा सकता है।

६१ जहाज छूट जायगा इस डर से एक अधीर अमेरिकन भक्त ने कहा। "स्वामी जी आपको समय का कोई विचार नहीं। स्वामी जी ने शान्तिपूर्वक कहा "नहीं तुम समय में जीते हो हम अनन्त में।"

६२ हम सस्ती भावुकता को कर्तव्य का स्थान हड़पने देते हैं और अपनी श्लाघा करते हैं कि सच्चे प्रेम के प्रतिदान में हम ऐसा कर रहे हैं।

६३ यदि त्याग की शक्ति प्राप्त करनी हो तो हमें संवेगात्मकता से ऊपर उठना होगा। संवेग पशुओं की कोटि की चीज है। वे पूर्णरूपेण संवेग के प्राणी होते हैं।

६४ अपने छोटे बच्चों के लिए मरना कोई बहुत ऊँचा त्याग नहीं। पशु वैसा करते है, ठीक वैसे मानवी माताएँ करती हैं। सच्चे प्रेम का यह कोई चिह्न नहीं यह केवल अन्ध भावना है।

६५ हम हमेशा अपनी कमजोरी को शक्ति बताने की कोशिश करते हैं अपनी भावुकता को प्रेम कहते हैं अपनी कायरता को धैर्य इत्यादि।

६६ जब अहंकार, दुर्बलता आदि देखो तो अपनी आत्मा से कहो 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता। यह तुम्हारे योग्य नहीं।

६७ कोई भी पति पत्नी को केवल पत्नी के नाते नहीं प्रेम करता न कोई भी पत्नी पति को केवल पति के नाते प्रेम करती है। पत्नी में जो परमात्म-तत्त्व है, उसीसे पति प्रेम करता है पति में जो परमेश्वर है उसीसे पत्नी प्रेम करती है। प्रत्येक में जो ईश्वर-तत्त्व है वही हमें अपने प्रिय के निकट खींचता है। प्रत्येक वस्तु म और प्रत्येक व्यक्ति में जो परमेश्वर है, वही हमसे प्रेम कराता है। परमेश्वर ही सच्चा प्रेम है।

६८ ओह यदि तुम अपने आपको जान पाते! तुम आत्मा हो तुम ईश्वर हो। यदि मैं कभी ईश-निन्दा करता सा अनुभव करता हूँ तो तब जब मैं तुम्हें मनुष्य कहता हूँ।

६९. हर एक म परमात्मा है बाकी सब तो सपना है छलना है।

७० यदि आत्मा के जीवन में मुझे आनन्द नहीं मिलता तो क्या मैं इन्द्रिया के जीवन में आनन्द पाऊँगा? यदि मुझे अमृत नहीं मिलता तो क्या मैं गड्ढे के पानी से प्यास बुझाऊँ? चातक सिर्फ बादलों से ही पानी पीता है, और ऊँचा उड़ता हुआ चिल्लाता है 'शुद्ध पानी! शुद्ध पानी! और कोई आँधी या तूफान

उसके पखो को डिगा नही पाते और न उसे धरती के पानी को पीने के लिए बाध्य कर पाते है।

७१ कोई भी मत, जो तुम्हे ईश्वर-प्राप्ति मे सहायता देता है, अच्छा है। धर्म ईश्वर की प्राप्ति है।

७२ नास्तिक उदार हो सकता है, पर धार्मिक नही। परन्तु धार्मिक मनुष्य को उदार होना ही चाहिए।

७३ दाम्भिक गुरुवाद की चट्टान पर हर एक की नाव डूबती है, केवल वे आत्माएँ ही बचती हैं, जो स्वय गुरु बनने के लिए जन्म लेती हैं।

७४ मनुष्य पशुता, मनुष्यता और देवत्व का मिश्रण है।

७५ 'सामाजिक प्रगति' शब्द का उतना ही अर्थ है, जितना 'गर्म बर्फ' या 'अँधेरा प्रकाश'। अन्तत 'सामाजिक प्रगति' जैसी कोई चीज नही।

७६ वस्तुएँ अधिक अच्छी नही बनती, हम उनमे परिवर्तन करके अधिक अच्छे बनाते हैं।

७७ मैं अपने साथियो की मदद कर सकूँ बस इतना ही मैं चाहता हूँ।

७८ न्यूयार्क मे एक प्रश्न के उत्तर मे स्वामी जी ने धीरे से कहा "नही, मैं परलोक-विद्या मे विश्वास नही करता। यदि कोई चीज सच नही है, तो नही है। अद्भुत या विचित्र चीजें भी प्राकृतिक घटनाएँ हैं। मैं उन्हे विज्ञान की वस्तु मानता हूँ। तब वे मेरे लिए परलोक-विद्यावाली या भूत-प्रेतवाली नही होती। मैं ऐसी परलोक ज्ञान-सस्थाओ मे विश्वास नही करता। वे कुछ भी अच्छा नही करती, न वे कभी कुछ अच्छा कर सकती हैं।

७९ मनुष्यो मे साधारणतया चार प्रकार होते है—बुद्धिवादी, भावुक, रहस्यवादी, कर्मठ। हमे इनमे से प्रत्येक के लिए उचित प्रकार की पूजा-विधि देनी चाहिए। बुद्धिवादी मनुष्य आता है और कहता है 'मुझे इस तरह का पूजा-विधान पसन्द नही। मुझे दार्शनिक, विवेकसिद्ध सामग्री दो—वही मैं चाहता हूँ।' अत बुद्धिवादी मनुष्य के लिए बुद्धिसम्मत दार्शनिक पूजा है।

फिर आता है कर्मठ। वह कहता है 'दार्शनिक की पूजा मेरे किसी काम की नही। मुझे अपने मानव बधुओ की सेवा का काम दो।' उसके लिए सेवा ही सबसे बडी पूजा है। रहस्यवादी और भावुक के लिए उनके योग्य पूजा-पद्धतियाँ हैं। धर्म में, इन सब लोगो के विश्वास के तत्त्व है।

८० मैं सत्य के लिए हूँ। सत्य मिथ्या के साथ कभी मैत्री नही कर सकता। चाहे सारी दुनिया मेरे विरुद्ध हो जाय, अन्त में सत्य ही जीतेगा।

८१ परम मानवतावादी विचार जब भी समूह के हाथों में पड़ जाते हैं, तो पहला परिणाम होता है पतन। शिक्षा और बुद्धि से वस्तुओं को सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है। किसी भी समाज में जो सुसंस्कृत हैं, वे ही धर्म और दर्शन को शुद्ध 'रूप' में रखनेवाले सच्चे धर्मरक्षक हैं। किसी भी जाति की बौद्धिक और सामाजिक परिस्थिति का पता लगाना हो तो उसी 'रूप' से लग सकता है।

८२ अमरिका में स्वामी जी ने एक बार कहा 'मैं किसी नयी आस्था में तुम्हारा धर्म-परिवर्तन कराने के लिए नहीं आया हूँ। मैं चाहता हूँ तुम अपना धर्म पालन करो मेथाडिस्ट और अच्छे मेथाडिस्ट बनें प्रेसबिटेरियन और अच्छे प्रेसबिटेरियन हो यूनिटेरियन और अच्छे यूनिटेरियन हों। मैं चाहता हूँ तुम सत्य का पालन करो अपनी आत्मा में जो प्रकाश है वह व्यक्त करो।

८३ सुख आदमी के सामने आता है, तो दुःख का मुकुट पहन कर। जो उसका स्वागत करता है, उसे दुःख का भी स्वागत करना चाहिए।

८४ जिसने दुनिया से पीठ फेर ली जिसने सबका त्याग कर दिया जिसने वासना पर विजय पायी जो शान्ति का प्यासा है, वही मुक्त है, वही महान् है। किसी को राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता चाहे मिल जाय पर यदि वह वासनाओं और इच्छाओं का दास है तो सच्ची स्वतन्त्रता का शुद्ध आनन्द वह नहीं जान सकता।

८५ परोपकार ही धर्म है परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य है, कमज़ोरी और कायरता पाप। स्वतन्त्रता पुण्य है पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और अपने आप में विश्वास पुण्य है सन्देह ही पाप है। एकता का ध्यान पुण्य है अनेकता देखना ही पाप। विभिन्न शास्त्र केवल पुण्य-प्राप्ति के ही साधन बताते हैं।

८६ जब तर्क से बुद्धि सत्य को जान लेती है तब वह भावनाओं के स्रोत हृदय द्वारा अनुभूत होता है। इस प्रकार बुद्धि और भावना दोनों एक ही क्षण में आलोकित हो उठते हैं और तभी जैसे मुण्डकोपनिषद् (२।२।८) में कहा है—हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं।

जब प्राचीन काल में ज्ञान और भाव ऋषियों के हृदय में एक साथ प्रस्फुटित हो उठते थे तब सर्वोच्च सत्य ने काव्य की भाषा ग्रहण की और तभी वेद और अन्य शास्त्र रचे गये। इसी कारण उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि वैदिक स्तर पर मानो भाव और ज्ञान की दोनों समानान्तर रेखाएँ अन्ततः मिलकर एकाकार हो गयी हैं और एक दूसरे से अभिन्न हैं।

८७ विभिन्न धर्मों के ग्रथ विश्वप्रेम, स्वतत्रता, पौरुष और नि स्वार्थ उपकार की प्राप्ति के अलग अलग मार्ग बताते हैं। प्रत्येक धर्म-पन्थ, पुण्य क्या है और पाप क्या है, इस विषय मे प्राय भिन्न है, और एक दूसरे से ये पन्थ अपने अपने पुण्य-प्राप्ति के साधनो और पाप को दूर रखने के मार्गो के विषय मे लडते रहते हैं, मुख्य साध्य या ध्येय की प्राप्ति की ओर कोई ध्यान नही देता। प्रत्येक साधन कम या अधिक मात्रा मे सहायक तो होता ही है और गीता (१८।४८) कहती है **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।** इसलिए साधन तो कम या अधिक मात्रा मे सदोष जान पडेंगे। परन्तु अपने अपने धर्म-ग्रथ मे लिखे हुए साधन द्वारा ही हमे सर्वोच्च पुण्य प्राप्त करना है, इसलिए हमे उनका अनुसरण करना चाहिए। परन्तु उनके साथ साथ विवेक-बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। इस प्रकार ज्यो ज्यो हम प्रगति करते जायँगे, पाप-पुण्य की पहेली अपने आप सुलझती चली जायगी।

८८ आजकल हमारे देश मे कितने लोग सचमुच मे शास्त्र समझते हैं? उन्होंने सिर्फ कुछ शब्द जैसे ब्रह्म, माया, प्रकृति आदि रट लिये हैं और उनमें अपना सिर खपाते हैं। शास्त्रो के सच्चे अर्थ और उद्देश्य को एक ओर रखकर, वे शब्दो पर लडते रहते हैं। यदि शास्त्र सब व्यक्तियो को, सब परिस्थितियो मे, सब समय उपयोगी न हो, तो वे किस काम के हैं? अगर शास्त्र सिर्फ सन्यासियो के काम के हो और गृहस्थो के नही, तो फिर ऐसे एकागी शास्त्रो का गृहस्थो को क्या उपयोग है? यदि शास्त्र सिर्फ सर्व सगपरित्यागी, विरक्त और वानप्रस्थो के लिए ही हो और यदि वे दैनन्दिन जीवन मे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे आशा का दीपक नही जला सकते, यदि वे उनके दैनिक श्रम, रोग, दु ख, दैन्य, परिताप मे निराशा, दलितो की आत्मग्लानि, युद्ध के भय, लोभ, क्रोध, इद्रिय सुख, विजयानद, पराजय के अन्धकार और अतत मृत्यु की भयावनी रात मे काम मे नही आते—तो दुर्बल मानवता को ऐसे शास्त्रो की जरूरत नही, और ऐसे शास्त्र शास्त्र नही हैं।

८९ भोग के द्वारा योग समय पर आयेगा। परतु मेरे देशवासियो का दुर्भाग्य है कि योग की प्राप्ति तो दूर रही, उन्हें थोडा सा भोग भी नसीब नही। सब प्रकार के अपमान सहन करके, वे बडी मुश्किल से शरीर की न्यूनतम आवश्यकताओ को जुटा पाते हैं—और वे भी सबको नही मिल पाती। यह विचित्र है कि ऐसी बुरी स्थिति से भी हमारी नीद नही टूटती और हम अपने तात्कालिक कर्तव्य के प्रति उन्मुख नही होते।

९० अपने अधिकारो और विशेषाधिकारो के लिए आन्दोलन करो, लेकिन याद रखो कि जब तक देश मे आत्मसम्मान की भावना उत्कटता से नही जगाते

और अपने आपको सही तौर पर नहीं उठाते तब तक हुक और अधिकार प्राप्त करने की आशा केवल मत्तमस्कर (शेखचिल्ली) के दिवास्वप्न की तरह रहेगी।

९१ जब कोई प्रतिभा या विशेष शक्तिवाला व्यक्ति जन्म लेता है, तो मानो उसके आनुवंशिक सर्वोत्तम गुण और सबसे क्रियाशील विशेषताएँ उसके व्यक्तित्व के निर्माण म पूरी तरह निचुड़कर स्तर-रूप मे आती है। इसी कारण हम देखते हैं कि उसी वंश मे बाद मे जन्म लेनेवाले या तो मूर्ख होते हैं या साधारण योग्यतावाले और कई उदाहरण ऐसे भी है कि कभी कभी ऐसे वंश पूरी तरह नष्ट हो जाते है।

९२ यदि इस जीवन मे मोक्ष नही मिल सकता तो क्या आधार है कि तुम्हें वह अगले एक या अनेक जन्मो मे मिलेगा ही ?

९३ आगरे का ताज देखकर स्वामी जी ने कहा "यदि यहाँ के संगमरमर के एक टुकड़े को निचोड़ सको तो उसमे से राजसी प्रेम और पीड़ा के बूँद टपकेंगे।" और भी उन्होने कहा "इसके अन्दर के सौन्दर्य के विस्तृ का एक वर्ग इंच समझने के लिए वस्तुतः मे छ महीने लगते हैं।"

९४ जब भारत का सच्चा इतिहास लिखा जायगा यह सिद्ध होगा कि धर्म के विषय मे और ललितकलाओं मे भारत सारे विश्व का प्रथम गुरु है।

९५ स्थापत्य के बारे मे उन्होने कहा 'लोग कहते हैं कलकत्ता महलो का नगर है परन्तु यहाँ के मकान ऐसे लगते है जैसे एक सन्दूक के ऊपर दूसरा रखा गया हो। इनसे कोई कल्पना नही जागती। राजपूताना मे अभी भी बहुत कुछ मिल सकता है जो शुद्ध हिन्दू स्थापत्य है। यदि एक धर्मशाला को देखो तो लगेगा कि वह खुली बाँहो से तुम्हें अपने शरण मे लेने के लिए पुकार रही है और कह रही है कि मेरे निर्विशेष आतिथ्य का अंश ग्रहण करो। किसी मन्दिर को देखो तो उसमे और उसके आसपास दैवी वातावरण निश्चय मिलेगा। किसी देहाती कुटी को भी देखो तो उसके विभिन्न हिस्सो का विशेष अर्थ तुम्हारी समझ मे आ जायेगा और उसके स्वामी के आदर्श और प्रमुख स्वभाव-गुणो का साक्ष्य उस पूरी बनावट से मिलेगा। इटली को छोड़कर मैंने कहीं भी ऐसा अभिव्यंजक स्थापत्य नहीं देखा।

अमेरिकन समाचारपत्रों के विवरण

अमेरिकन समाचारपत्रों के विवरण

भारत. उसका धर्म तथा रीति-रिवाज

(सालेम इवनिंग न्यूज़, २९ अगस्त, १८९३ ई०)

कल शाम के गरम मौसम के बावजूद, वेसली प्रार्थनागृह मे 'विचार और कार्य सभा' के सदस्य इस देश मे भ्रमण करनेवाले हिन्दू साधु स्वामी 'विव कानोन्द'[१] से मिलने के लिए तथा वेदों अथवा पवित्र ग्रथो की शिक्षा पर आधारित हिन्दू धर्म पर उन महाशय का एक अनौपचारिक भाषण सुनने के लिए बडी सख्या मे एकत्र हुए। उन्होंने जाति-व्यवस्था को एक सामाजिक विभाजन बताया और कहा कि वह उनके धर्म के ऊपर किसी भी प्रकार आधारित नही है।

बहुसख्यक जनता की गरीबी का उन्होंने ज़ोरदार शब्दो मे वर्णन किया। भारत, जिसका क्षेत्रफल सयुक्त राष्ट्र से बहुत कम है, की जनसख्या तेईस करोड है (?) और इसमे ३० करोड (?) लोगो की औसत आय पचास सेन्ट से भी कम है। कही कही तो देश के पूरे ज़िलो के लोग एक पेड मे लगनेवाले फूलो को उबालकर खाते हुए महीनो और वर्षो तक बसर करते हैं।

दूसरे ज़िलो मे पुरुष केवल भात खाते हैं और स्त्रियो तथा बच्चो को चावल को पकानेवाले पानी (माड) से अपनी क्षुधा तृप्त करनी पडती है। चावल की फसल खराब हो जाने का अर्थ है, अकाल। आधे लोग दिन मे एक बार भोजन करके निर्वाह करते हैं और शेष आधे लोगो को पता नही कि दूसरे समय का भोजन कहाँ से आयेगा। स्वामी विव क्योन्द (विवेकानन्द) के मतानुसार भारत के लोगो को धर्म की अधिक या श्रेष्ठतर धर्म की आवश्यकता नही है, परन्तु जैसा कि वे व्यक्त करते हैं, 'व्यावहारिकता' की आवश्यकता है, और वे इस आशा को लेकर इस देश मे आये हैं कि वे अमरीकी जनता का ध्यान करोडो पीडित और बुभुक्षित लोगो की इस महान् आवश्यकता की ओर आकृष्ट कर सकें।

---

१ उन दिनो स्वामी विवेकानन्द जी का नाम सयुक्त राज्य अमेरिका के समाचारपत्रों मे कई प्रकार से ग़लत छपता था और विषय की नवीनता के कारण विवरण अधिकाशत अशुद्ध होते थे। स०

उन्होंने अपने देश की जनता और उसके धर्म के सम्बन्ध म कुछ विस्तारपूर्वक कहा। उनके भाषण देते समय डॉ एफ ए मार्डनर एव सेन्ट्रल बैपटिस्ट चर्च के रेवरेंड एस एफ नोम्स ने उनसे अनेक तथा गहरे प्रश्न किये। उन्होंने कहा कि वहाँ मिशनरियों क पास सुन्दर सिद्धान्त है और उन्होंने अच्छे विचारों को लेकर कार्य प्रारम्भ किया था किन्तु उन्होंने जनता की औद्योगिक दशा सुधारने के लिए कुछ नही किया। उन्होंने कहा कि अमरिकनों को उन्हे धार्मिक शिक्षा देने के लिए मिशनरियों को भेजने के बजाय यह अधिक उचित होगा कि वे ऐसे लोगों को भेजें जो उन्हे औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें।

जब यह पूछा गया कि क्या यह सच नही है कि ईसाइयों ने भारतीयो को विपत्ति के समय सहायता दी और क्या उन्होंने उन्हे प्रशिक्षण विद्यालयों के द्वारा व्यावहारिक सहायता नही दी तब वक्ता ने उत्तर मे कहा कि उन्होंने कभी कभी यह किया परन्तु वास्तव मे उनका यह करना उचित नही था क्योंकि कानून इस बात की आज्ञा नही देता कि वे ऐसे समय म जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करें।

उन्होंने भारत मे स्त्रियों की गिरी हुई दशा का यह कारण बताया कि हिन्दू पुरुष नारी का इतना आदर करते है कि वे उसे बाहर निकलने न देने को सबसे अच्छी बात समझते है। हिन्दू नारी का इतना अधिक आदर किया जाता था कि वह अलग रखी गयी। उन्होंने अपने पतियों की मृत्यु होने पर स्त्रियो के जल जाने की प्राचीन प्रथा का कारण बताया कि वे उन्हे प्यार करती थी अत वे बिना उनके जीवित नही रह सकती थी। वे विवाह म अभिन्न थी और उनका मृत्यु मे भी अभिन्न होना आवश्यक था।

उनसे मूर्ति-पूजा तथा अपने को जगन्नाथ-रथ के सम्मुख डाल देने के बारे मे भी पूछा गया और उन्होंने कहा कि इसके लिए हिन्दुओं को दोष देना उचित नही है क्योंकि यह धर्मोन्मत्तों और अधिकतर कुष्ठरोगियों का कार्य है।

भाषणकर्ता ने अपने देश मे अपना ध्येय संन्यासियों को औद्योगिक दृष्टि से संगठित करना बतलाया जिससे वे जनता को औद्योगिक शिक्षा के लाभों को प्रदान कर उनकी दशा को समुन्नत एव सुधार कर सकें।

जो भी बच्चे अथवा नवयुवक सुनने के इच्छुक हो उनके लिए आज शाम को हैविन कालोनी १९६, मार्थ स्ट्रीट पर भारतीय बच्चो के विषय मे बोलेंगे। इसके लिए श्रीमती गुडइ ने कृपापूर्वक अपना बगीचा दे रखा है। देखने मे उनका शरीर सुन्दर है, श्याम वर्ण परन्तु सुन्दर, गेरुए रग का लम्बा कुर्ता

कमर मे एक वद बाँधे हुए एव सिर पर गेरुआ पगडी। सन्यासी होने के कारण वे किसी जाति मे नही है और किसीके भी साथ खा-पी सकते है।

*   *   *

(डेली गज़ट, २९ अगस्त, १८९३)

भारत के राजा[1] स्वामी विवि रानान्ड कल शाम को वेसली चर्च मे 'विचार और कार्य-सभा' के अतिथि थे।

एक वडी सख्या में स्त्री-पुरुष उपस्थित थे और उन्होंने सम्मानित सन्यासी से अमेरिकन ढग से हाथ मिलाया। वे एक नारगी रग का लम्बा कुरता, लाल कमरवन्द, पीली पगडी, जिसका एक छोर एक ओर लटकता था और जिसे वे रूमाल के रूप मे प्रयोग करते थे, और काग्रेसी जूते पहने हुए थे।

उन्होंने अपने देशवासियो की दशा एव उनके धर्म के सम्वन्ध मे विस्तार-पूर्वक वताया। उनके भाषण देते समय डॉ० एफ० ए० गार्डनर एव सेन्ट्रल वैपटिस्ट चर्च के रेवरेण्ड एस० एफ० नॉब्म ने उनसे अनेक वार प्रश्न पूछे। उन्होने कहा कि वहाँ मिशनरियो के पास सुन्दर सिद्धान्त हैं और उन्होंने अच्छे विचारो को लेकर कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु उन्होने जनता की औद्योगिक दशा सुधारने के लिए कुछ नही किया। उन्होंने कहा कि उन्हे धार्मिक शिक्षा देने के लिए मिशनरी भेजने के वजाय यह अधिक उचित होगा कि अमेरिकावाले ऐसे लोगो को भेजें, जो उन्हे औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें।

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्वन्ध मे कुछ विस्तार से बोलते हुए उन्होने कहा कि भारतीय पति कभी धोखा नही देते और न अत्याचार करते है तथा उन्होंने और अनेक पापो को गिनाया, जो वे नही करते।

जव यह पूछा गया कि क्या यह सच नही है कि ईसाइयो ने भारतीयो को विपत्ति के समय सहायता दी और क्या उन्होंने उन्हे प्रशिक्षण विद्यालयो के द्वारा व्यावहारिक सहायता नही दी, तव, वक्ता ने उत्तर में कहा कि उन्होंने कभी कभी यह किया, परन्तु वास्तव मे उनका यह करना उचित नही था, क्योकि कानून इस बात की आज्ञा नही देता कि वे ऐसे समय मे जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करें।

---

१ अमेरिकन सवाददाताओ ने स्वामी जी के साथ 'राजा', 'ब्राह्मण', 'पुरोहित,' जैसे सभी प्रकार के विशेषण लगाये हैं, जिसके लिए वे स्वय उत्तरदायी हैं। स०

उन्होंने भारत में स्त्रियों की गिरी हुई दशा का यह कारण बताया कि हिन्दू पुरुष नारी का इतना आदर करते हैं कि वे उसे बाहर न निकलने देने को सबसे अच्छी बात समझते हैं। हिन्दू नारी का इतना अधिक आदर किया जाता था कि वह अलग रखी गयी। उन्होंने स्त्रियों के अपने पतियों की मृत्यु होने पर जल जाने की प्राचीन प्रथा का कारण बताया कि वे पति को प्यार करती थीं इसलिए वे बिना उनके जीवित नहीं रह सकती थीं। वे विवाह में अभिन्न थीं और उनका मृत्यु में भी अभिन्न होना आवश्यक था।

उनसे मूर्ति-पूजा तथा अपने को जगन्नाथ-रथ के सामने डाल देने के बारे में भी पूछा गया और उन्होंने कहा कि इसके लिए हिन्दुओं को दोष देना उचित नहीं है क्योंकि यह धर्मोन्मत्तों और अधिकतर कुष्ठरोगियों का कार्य है।

मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि उन्होंने ईसाइयों से यह पूछा है कि वे प्रार्थना करते समय क्या चिन्तन करते हैं और उनमें से कुछ ने बताया कि वे चर्च का चिन्तन करते हैं, कुछ ने कहा कि ईश्वर[1] का। उनके देशवासी मूर्ति का ध्यान करते हैं। ग़रीबों के लिए मूर्तियाँ आवश्यक हैं। उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में जब उनके धर्म का जन्म हुआ था स्त्रियाँ आध्यात्मिक प्रतिभा और मानसिक शक्ति के लिए विख्यात थीं। तथापि जैसा कि उन्होंने स्वीकार सा किया कि वर्तमान काल में स्त्रियों की दशा गिर गयी है। वे खाने-पीने गप्प लड़ाने और चुगली-चबाई करने के सिवा और कुछ नहीं करतीं।

वक्ता ने बताया कि उनका उद्देश्य अपने देश में संन्यासियों का औद्योगिक कार्यों के लिए संगठन करना है जिससे कि वे जनता को इस औद्योगिक शिक्षा का लाभ उपलब्ध करा सकें और इस प्रकार उन्हें ऊँचा उठा सकें तथा उनकी दशा सुधार सकें।

* * *

(सालेम ईवनिंग न्यूज़ १ सितम्बर, १८९३)

भारत के विद्वान् संन्यासी जो कुछ दिनों से इस शहर में हैं रविवार की शाम को साढ़े सात बजे 'ईस्ट चर्च' में भाषण देंगे। स्वामी विवेकानन्द ने पिछले

---

१ यहाँ अंग्रेजी कैपिटल अक्षरों का प्रयोग है। जिससे प्रकट होता है कि स्वामी जी का भाव मात्र शब्द GOD से है।

रविवार की शाम को पल्ली-पुरोहित तथा हार्वर्ड के प्रो० राइट के आमत्रण पर, जिन्होंने उनके प्रति वडी उदारता दिखायी है, एनिस्क्वाम के एपिस्कोपल चर्च मे प्रवचन किया।

वे सोमवार की रात्रि को सैराटोगा के लिए प्रस्थान करेंगे और वहाँ 'सामाजिक विज्ञान सघ' के सम्मुख भाषण देंगे। तदनन्तर वे शिकागो की काग्रेस के सम्मुख वोलेंगे। भारत के उच्चतर विश्वविद्यालयो मे शिक्षित भारतीयो की भाँति विवा कानन्द भी शुद्ध और सरलतापूर्वक अग्रेजी वोलते है। भारतीय वच्चो के खेल, पाठशाला और रीति-रिवाज के सम्वन्ध मे मगलवार को वच्चो के सामने दिया हुआ उनका सरल भाषण अत्यन्त रोचक एव मूल्यवान था। एक छोटी सी वच्ची के इस कथन पर कि उसकी 'अध्यापिका ने उसकी अगुली को इतने जोर से चूमा कि वह टूट सी गयी,' वे वडे द्रवीभूत हुए। अन्य साधुओ की भाँति 'विवा कानन्द' अपने देश मे सत्य, पवित्रता और मानव-ब्रवुत्व के धर्म का उपदेश करते हुए यात्रा अवश्य करते थे, किन्तु उनकी दृष्टि से कोई भी वडी अच्छाई अथवा वुराई छिप नही सकती थी। वे अन्य धर्मो के व्यक्तियो के प्रति अत्यन्त उदार है और अपने से मतभेद रखनेवालो से प्रेमपूर्ण वाणी ही वोलते हैं।

* * *

(डेली गज़ट, ५ सितम्वर, १८९३)

भारत के राजा स्वामी विवी रानान्ड ने रविवार की शाम को भारतीय धर्म तथा अपनी मातृभूमि के गरीब निवासियो के सम्वन्ध मे भाषण दिया। श्रोताओ की सख्या अच्छी थी, परन्तु इतनी अधिक नही थी, जितनी कि विषय की महत्ता अथवा रोचक वक्ता के लिए अपेक्षित थी। सन्यासी अपने देश की वेषभूषा मे थे और प्राय चालीस मिनट वोले। उन्होंने कहा कि आज के भारत की, जो पचास वर्ष पूर्व का भारत नही है, सबसे वडी आवश्यकता यह है कि मिशनरी जनता को धार्मिक नही, अपितु औद्योगिक शिक्षा प्रदान करें। जितने धर्म की हिन्दुओ को आवश्यकता है, वह उनके पास है और हिन्दू धर्म ससार का सबसे प्राचीन धर्म है। सन्यासी वडे सुन्दर वक्ता हैं और उन्होंने अपने श्रोताओ का ध्यान पूर्णरूपेण आकृष्ट रखा।

* * *

(डेली सैराटोगियन ६ सितम्बर, १८९३)

इसके बाद मंच पर मद्रास हिन्दुस्तान के संन्यासी 'विवे कानन्द' उपस्थित हुए, जिन्होंने भारत भर में उपदेश दिया है। उनकी सामाजिक विज्ञान में अभिरुचि है और वे प्रभावी तथा सुन्दर वक्ता हैं। उन्होंने भारत में मुस्लिम शासन पर भाषण दिया।

आज के कार्यक्रम में कुछ रोचक विषय सम्मिलित हैं और हार्टफोर्ड के जैकब ग्रीन के द्वारा 'बिमेटालिज्म' पर भाषण विशेष रोचक है। इस अवसर पर विवे कानन्द पुनः भारत में चाँदी के उपयोग पर भाषण देंगे।

समारोह में हिन्दू

(बोस्टन इवनिंग ट्रान्सक्रिप्ट ३ सितम्बर, १८९३)

शिकागो २३ सितम्बर

आर्ट पैलेस के प्रवेश-द्वार की बायीं ओर एक कमरा है, जिस पर 'नं. १— बाहर रहिए' अंकित है। यहाँ यदा-कदा धर्म-सम्मेलन में आये हुए प्रतिनिधि आते हैं या तो परस्पर वार्तालाप के लिए या अध्यक्ष बोनी से बात करने के लिए, जिनका इस हिस्से के एक कोने में व्यक्तिगत कार्यालय है। झूलनेवाले द्वारों की जनता से रक्षा कठोरता से की जाती है और सामान्यतः लोग काफी दूर खड़े रहते हैं जिससे कि वे भीतर नहीं झाँक सकते। उस पवित्र द्वार में केवल प्रतिनिधि ही प्रवेश कर सकते हैं किन्तु 'प्रवेश-पत्र' प्राप्त कर लेना और 'हाल ऑफ कोलम्बस' के मंच की अपेक्षा सम्मानित अतिथियों से थोड़े समय की निकटता स्थापित करने का अवसर प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है।

इस प्रतीक्षा-कक्ष में सबसे आकर्षक व्यक्ति ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द से भेंट होती है। वे लम्बे और सुगठित शरीरवाले हैं तथा हिन्दुस्तानियों का उत्तम व्यवहार उनमें है। बिना दाढ़ी-मूँछ का चेहरा समुचित ढला हुआ सामान्य आकार, सफेद दाँत और सुन्दर ढंग से मढ़े हुए ओठ जो साधारणतः बात करते समय कृपापूर्ण मुसकान के रूप में खुले रहते हैं। उनके सन्तुलित सिर पर नारंगी अथवा लाल रंग की पगड़ी शोभायमान होती है और उनका चोगा (जो इस वस्त्र का वास्तविक नाम नहीं है) कमरबन्द से बँधा हुआ है और घुटनों के

नीचे गिरता है। वह कभी चमकीले नारगी के रग का और कभी गहरे लाल रग का होता है। वे उत्तम अग्रेजी बोलते हैं और उन्होने किसी भी गम्भीरता से पूछे गये प्रश्न का उत्तर दिया।

सरल व्यवहार के साथ साथ जब वे स्त्रियो से बात करते है, तब उनमे एक व्यक्तिगत आत्मसयम की झलक दृष्टिगत होती है, जो उनके द्वारा स्वीकृत जीवन की परिचायक है। जब उनके 'आश्रम' के नियमो के बारे मे पूछा गया, तब उन्होने बताया, "मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, मैं मुक्त हूँ। कभी मैं हिमालय पर्वत पर रहता हूँ और कभी नगरो की सडको पर। मुझे नही मालूम कि मेरा अगला भोजन कहाँ मिलेगा। मैं अपने पास पैसा कभी नही रखता। मैं यहाँ चन्दे के द्वारा आता हूँ। तब निकट खडे हुए अपने एक-दो देशवासियो की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "मेरा प्रबध ये लोग करेंगे" और सकेत किया कि शिकागो मे उनके भोजन का बिल दूसरो को चुकाना होगा। यह पूछे जाने पर कि क्या आप सन्यासी की सामान्य पोशाक पहने हुए है, उन्होने बताया, "यह अच्छी पोशाक है, जब मैं स्वदेश मे रहता हूँ, मैं कुछ टुकडे पहनता हूँ और नगे पाँव चलता हूँ। क्या मैं जाति मानता हूँ ? जाति एक सामाजिक प्रथा है, धर्म का इससे कोई सम्बन्ध नही। सभी जातियाँ मुझसे सम्पर्क रख सकती हैं।"

श्री विवेकानन्द के व्यवहार और उनकी सामान्य आकृति से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उनका जन्म उच्च वश मे हुआ है—ऐच्छिक निर्धनता और गृहविहीन विचरण के अनेक वर्ष उन्हे एक भद्र पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार से वचित नही कर सके, उनका घर का नाम भी विख्यात नही है विवेकानन्द नाम उन्होने धार्मिक जीवन स्वीकार करने पर रखा और 'स्वामी' तो केवल उनके प्रति श्रद्धा की जाने के कारण दी हुई एक उपाधि है। उनकी उम्र तीस से बहुत अधिक न होगी और वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे इसी जीवन और इसकी सिद्धि के लिए तथा इस जीवन के परे जो कुछ है, उसके चिन्तन के लिए बने हो। यह सोचकर कि उनके जीवन का क्या मोड रहा होगा, अवश्य ही आश्चर्य होता है।

सन्यासी होने पर उनके सर्वस्व त्याग पर की गयी एक टिप्पणी पर उन्होने सहसा उत्तर दिया, "जब मैं प्रत्येक स्त्री मे केवल दिव्य माँ को ही देखता हूँ, तब मैं विवाह क्यो करूँ ? मैं यह सब त्याग क्यो करता हूँ ? अपने को सासारिक बधनो और आसक्तियो से मुक्त करने के लिए, जिससे कि मेरा पुनर्जन्म न हो। मृत्यु के बाद मैं अपने आपको परमात्मा मे मिला देना चाहता हूँ, परमात्मा के साथ एक। मैं 'बुद्ध' हो जाऊँगा।"

विवेकानन्द का इससे यह आशय नहीं है कि वे बौद्ध हैं। उन पर किसी भी नाम या जाति की छाप नहीं पड़ सकती। वे उच्चतर ब्राह्मणवाद की एक देन हैं हिन्दुत्व के परिणाम हैं जो विस्तृत स्वप्नदर्शी एवं आत्मत्यागपरायण है। वे सन्यासी अथवा पुतात्मा हैं।

उनके पास कुछ पुस्तिकाएँ हैं जिन्हें वे वितरित करते हैं। वे अपने गुरुदेव परमहंस रामकृष्ण के सम्बन्ध में हैं। वे एक हिन्दू भक्त थे जिन्होंने अपने श्रोताओं और शिष्यों पर ऐसा प्रभाव डाला था कि उनमें से अनेक उनकी मृत्यु के बाद सन्यासी हो गये थे। मजूमदार भी इस सन्त को अपना गुरु मानते थे किन्तु वे जैसा कि ईसा ने उपदेश दिया है विश्व में वह पवित्रता लाने के लिए कार्य करते हैं, जो इस जगत् में होगी किन्तु जो इस जगत् की नहीं है।

सम्मेलन में विवेकानन्द का भाषण आकाश की भाँति विस्तीर्ण था उसमें सभी धर्मों की सर्वोत्तम बातों का एक अंतिम विश्वधर्म के रूप में समावेश था—मानवता के प्रति प्रेम ईश्वर-प्रेम के लिए सत्कार्य न कि दंड के भय से अथवा लाभ की आशा से। सम्मेलन में वे अपने भावों की और आकृति की भव्यता के कारण बड़े जनप्रिय हैं। उनके मंच पर आते मात्र पर हर्षध्वनि होने लगती है और हजारों व्यक्तियों का यह विशिष्ट सम्मान वे बालसुलभ सन्तोष की भावना से स्वीकार करते हैं, उनमें गर्व की तनिक भी झलक नहीं होती। निर्धनता एवं आत्म-त्याग से सहसा इस वैभव और उत्कर्ष में पहुँच जाना इस विनम्र युवक ब्राह्मण सन्यासी के लिए भी अवश्य ही एक अजीब अनुभव होगा। जब यह पूछा गया कि क्या वे हिमालय में रहनेवाले उन 'भ्राताओं' के बारे में जानते हैं जिनके प्रति थियोसॉफिस्ट इतना दृढ़ विश्वास रखते हैं, उन्होंने सहज ही उत्तर दिया "मेरी उनमें से किसी से भी भेंट नहीं हुई" जिसका आशय यह भी था कि 'ऐसे लोग हो सकते हैं और यद्यपि मैं हिमालय से परिचित हूँ पर अभी उनसे मेरा मिलना नहीं हुआ।

धर्म-महासभा के अवसर पर

(क्यूबक आदवा टाइम्स २९ सितम्बर, १८९३)

विश्व-मेला २८ सितम्बर (विशेष)

जब धर्म-महासभा उस स्थान पर पहुँची जहाँ तीव्र कटुता उत्पन्न हो गयी। निस्सन्देह शिष्टाचार का पतला परदा बना रहा किन्तु इसके पीछे दुर्भावना

विद्यमान थी। रेवरेन्ड जोसेफ कुक ने हिन्दुओ की तीव्र आलोचना की और बदले मे उनकी भी आलोचना हुई। उन्होने कहा, विना रचे गये विश्व की बात करना प्राय अक्षम्य प्रलाप है, और एशियावालो ने प्रत्युत्तर दिया कि ऐसा विश्व जिसका प्रारम्भ है, एक स्वयसिद्ध वेतुकापन है। विशप जे० पी० न्यूमैन ने ओहियो तट से दूर तक जानेवाली गोली चलाते हुए घोषणा की कि पूर्ववालो ने मिशनरियो के प्रति भ्रान्त कथन करके सयुक्त राष्ट्र के समस्त ईसाइयो का अपमान किया है और पूर्ववालो ने अपनी उत्तेजक शान्ति और अति उद्धत मुसकान के द्वारा उत्तर दिया कि यह केवल विशप का अज्ञान है।

बौद्ध दर्शन

सीधे प्रश्न के उत्तर मे तीन विद्वान् बौद्धो ने विशेष रूप से सरल और सुन्दर भाषा मे ईश्वर, मनुष्य और जड-पदार्थ के सम्बन्ध मे अपने मूल विश्वास प्रकट किये।

(इसके उपरान्त धर्मपाल के निबंध 'बुद्ध के प्रति विश्व का ऋण' (The world's Debt to Buddha) का साराश है। धर्मपाल ने अपने इस निबंध पाठ का आरम्भ, जैसा हमे एक अन्य स्रोत से ज्ञात होता है, शुभकामना का एक सिंहली गीत गाकर किया। लेख फिर चालू रहता है)

उनकी (धर्मपाल की) वक्तृता को शिकागो के श्रोताओ द्वारा सुनी गयी वक्तृताओ मे सुन्दरतम मे रखा जा सकता है। डेमस्थेनीज भी इससे अधिक कुछ नही कर सका था।

कटु उक्ति

हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द इतने सौभाग्यशाली न थे। वे असन्तुष्ट थे अथवा प्रत्यक्षत शीघ्र ही हो गये थे। वे नारगी रग की पोशाक मे थे और पीली पगडी बाँधे हुए थे तथा उन्होंने तुरन्त ईसाई राष्ट्रो पर इन शब्दो के साथ भीषण आक्रमण किया "हम पूर्व से आनेवाले लोग इतने दिन यहाँ बैठे और हमको सरक्षकतात्मक ढग से बताया गया कि हमे ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि ईसाई राष्ट्र सर्वाधिक सम्पन्न हैं। हम अपने चारो ओर देखते है, तो पाते हैं कि इग्लैण्ड दुनिया मे सबसे अधिक सम्पन्न ईसाई देश है, जिसका पैर २५ करोड (?) एशियावासियो की गरदन पर है। हम इतिहास की ओर मुडकर देखते हैं, तो पता चलता है कि ईसाई यूरोप की समृद्धि का प्रारम्भ स्पेन से हुआ।

स्पेन की समृद्धि का श्रीगणेश मेक्सिको के ऊपर किये गये आक्रमण से हुआ। ईसाइयत अपने भाइयों का गला काटकर अपनी समृद्धि की सिद्धि प्राप्त करती है। हिन्दू इस कीमत पर अपनी उन्नति नहीं चाहेंगे।"

इसी प्रकार से लोग बोलते गये। प्रत्येक आनेवाला वक्ता मानो और अधिक कटु होता गया।

* *

(आउटलुक ७ अक्तूबर, १८९३)

गहरे नारंगी रंग की साधुओं की पोशाक पहने हुए विवेकानन्द ने भारत में ईसाइयों के कार्य की बुरी तरह खबर ली। वे ईसाई मिशनरियों के कार्य की आलोचना करते हैं। यह स्पष्ट है कि उन्होंने ईसाई धर्म के अध्ययन का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु जैसा कि वे दावा करते हैं, उसके पुरोहितों ने भी उनके मतों और सहस्रों वर्षों के जाति-विभेदों को समझने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके मतानुसार वे केवल उनके अति पवित्र विश्वासों के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए और अपने देशवासियों को उनके द्वारा दी जानेवाली नैतिकता और आध्यात्मिकता की शिक्षा की जड़ काटने के लिए आते हैं।

* *

(क्रिटिक ७ अक्तूबर, १८९३)

किन्तु सम्मेलन के सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति लंका के बौद्ध भिक्षु एच॰ धर्मपाल और हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द थे। प्रथम ने तीखेपन से कहा, 'यदि धर्मशास्त्र और धर्म-सिद्धान्त तुम्हारे सत्य की खोज के मार्ग में बाधक हैं तो उन्हें अलग रख दो। निष्पक्षतापूर्वक सोचना, सभी प्राणियों से प्रेम के लिए प्रेम करना और पवित्र जीवन व्यतीत करना सीखो। तब सत्य का प्रकाश तुम्हें आलोकित कर देगा।' यद्यपि सभा में होनेवाले बहुत से संक्षिप्त भाषण वाक्पटुता से युक्त थे और जिनमें विजयोल्लास की समुचित पराकाष्ठा हेलेनुआ कोरस के आधी रात के गान के द्वारा स्पष्ट प्रस्तुति न हुई, तथापि जितनी अच्छी तरह सम्मेलन की भावनाओं, सीमाओं और सुन्दर प्रभावों को हिन्दू संन्यासी ने व्यक्त किया

उतना और किसीने भी नही किया। मैं उनके भाषण की पूरी प्रतिलिपि दे रहा हूँ, किन्तु मैं श्रोताओ पर उसके प्रभाव मात्र की ओर सकेत कर सकता हूँ, क्योकि वे दैवी अधिकार द्वारा सिद्ध वक्ता हैं। उनका सुदृढ बुद्धिसम्पन्न चेहरा, पीले और नारगी रग के वस्त्रो की रगीन पृष्ठभूमि मे उनके द्वारा उद्घोषित हृदयप्रसूत शब्दो और लययुक्त वक्तव्यो से कुछ कम आकर्षक नही था। [स्वामी जी के अतिम भाषण के एक बडे अश के उद्धरण के पश्चात् लेख आगे चलता है]

सम्भवत सम्मेलन का सर्वाधिक प्रत्यक्ष परिणाम विदेशी मिशनो (धर्मप्रचार सघो) के सम्बन्ध मे लोगो के हृदय मे भावना उत्पन्न करना था। विद्वान् पूर्ववालों को शिक्षा देने के लिए अर्द्धशिक्षित विद्यार्थियो को भेजने की धृष्टता अग्रेजी भाषा-भाषी जनता के सामने इतनी प्रबलता से कभी भी स्पष्ट नही हुई थी। केवल सहिष्णुता और सहानुभूति की भावना से ही हमे उनके विश्वासो को प्रभावित करने की स्वतत्रता है, और इन गुणोवाले उपदेशक बहुत कम हैं। यह समझ लेना आवश्यक है कि हमे बौद्धो से ठीक उतना ही सीखना है, जितना कि उन्हे हमसे और केवल सामजस्य द्वारा ही उच्चतम प्रभाव डाला जा सकता है।

शिकागो, ३ अक्तूबर, १८९३ लूसी मोनरो

* * *

['महासम्मेलन के महत्त्व के सम्बन्ध मे मनोभाव अथवा अभिमत' के लिए १ अक्तूबर, १८९३ के 'न्यूयार्क वर्ल्ड' द्वारा प्रत्येक प्रतिनिधि से अनुरोध किये जाने पर स्वामी जी ने एक गीता से तथा एक व्यास से उद्धरण देकर उत्तर दिया]

"प्रत्येक धर्म में विद्यमान रहनेवाला मैं ही मैं हूँ—उस सूत्र की भाँति जिसमे मणियाँ पिरोयी रहती हैं।" "पवित्र, पूर्ण और निर्मल व्यक्ति सभी धर्मों मे पाये जाते हैं, अत वे सभी सत्य की ओर ले जाते हैं—क्योकि विष से अमृत नही निकल सकता।"

व्यक्तिगत विशेषताएँ

(क्रिटिक, ७ अक्तूबर, १८९३)

धर्म-महासभा के आविर्भाव ने ही इस तथ्य के प्रति हमारी आँखें खोल दी कि प्राचीन धर्मों के तत्त्वदर्शन मे आधुनिको के लिए बहुत अधिक सौन्दर्य है।

जब हमने राष्ट्र-मन्च से उन्हें देख लिया तब शीघ्र ही उनके व्याख्यानों में हमारी रुचि उत्पन्न हुई और एक विशेष उत्सुकता के साथ हम ज्ञान की खोज के लिए अग्रसर हुए। महासम्मेलन की समाप्ति पर इसे प्राप्त करने का सबसे अधिक सुलभ साधन स्वामी विवेकानन्द के भाषण और प्रवचन थे जो अब भी इस शहर (शिकागो) में हैं। उनका इस देश में आने का मूल उद्देश्य अमेरिकावालों को हिन्दुओं में नए उद्योगों को स्थापित करने के लिए प्रवृत्त करना था किन्तु फिलहाल उन्होंने इसे स्थगित कर दिया है क्योंकि उनका अनुभव है कि 'अमेरिकन लोग दुनिया में सबसे अधिक दानशील हैं' अतः प्रत्येक उद्देश्ययुक्त व्यक्ति उसे कार्यान्वित करने के लिए यहाँ सहायता प्राप्त करने आता है। जब उनसे यहाँ के और भारत के गरीबों की तुलनात्मक दशा के बारे में पूछा गया तब उन्होंने बताया कि हमारे (अमेरिका के) गरीब वहाँ राजा होंगे और यहाँ के खराब से खराब मुहल्ले में जाने पर वे उन्हें अपने दृष्टिकोण से सुखकर और सुन्दर ही लगे।

ब्राह्मणों में ब्राह्मण विवेकानन्द ने संन्यासियों के भ्रातृमण्डल में प्रवेश करने के लिए अपने वर्ण का परित्याग कर दिया जहाँ समस्त जात्यभिमान स्वेच्छा से त्याग दिया जाता है। तो भी उनके व्यक्तित्व पर उनकी जाति के चिह्न विद्यमान हैं। उनकी संस्कृति उनकी वाग्मिता और उनके आकर्षक व्यक्तित्व ने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया भाव प्रदान किया। वे एक रोचक व्यक्ति हैं और पीले वस्त्रों की भूमिका में उनका सुन्दर, बुद्धिमत्तापूर्ण क्रियाशील चेहरा तथा गम्भीर संगीतमय स्वर किसीको भी तुरन्त अपने पक्ष में आकृष्ट कर सकता है। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि बुद्ध के जीवन तथा उनके मत के सिद्धान्तों का हम लोगों द्वारा परिचय प्राप्त कर लेने तक उन्हें साहित्य गोष्ठियों के द्वारा अपनाया गया है और उन्होंने गिरजाघरों में उपदेश तथा भाषण दिये हैं। वे बिना कुछ लिखे हुए भाषण देते हैं तथा अपने तथ्यों और निष्कर्षों को श्रेष्ठतम कला एवं अति विश्वसनीय सदाशयता के साथ प्रस्तुत करते हैं कभी कभी सुन्दर एवं प्रेरक वाग्मिता के स्तर पर पहुँच जाते हैं। देखने में वे अति कुशल जेसुइट की भाँति विद्वान् और सुसंस्कृत होते हुए अपने मानसिक गठन में कुछ जेसुइट तत्त्व रखते हैं। किन्तु यद्यपि उनके द्वारा अपने भाषणों में छोड़े जानेवाले छोटे छोटे व्यंग्य तलवार से भी अधिक तेज होते हैं वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके बहुत से श्रोता उन्हें समझ नहीं पाते। सब कुछ होते हुए वे शिष्टाचार में कभी नहीं चूकते क्योंकि उनके ये प्रहार कभी भी हमारी प्रथाओं पर इतने सीधे नहीं पड़ते कि वे कठोर प्रतीत हों। सम्प्रति वे हमें अपने धर्म एवं उसके दार्शनिकों के विचार से अवगत कराने के कार्य से ही संतुष्ट हैं। वे उस समय की प्रतीक्षा में हैं, जब हम मूर्तिपूजा के स्तर से आगे

बढ जायँगे—उनके मत से यह इस समय ज्ञानविहीन वर्गों के लिए आवश्यक है—पूजा से परे, प्रकृति मे ईश्वर की विद्यमानता और मानव के दायित्व और दिव्यत्व के भी ज्ञान से परे। "अपना मोक्ष अपने आप उपलब्ध करो", वे बुद्ध की मृत्यु के समय के वचनो के साथ कहते हैं, "मैं तुम्हे सहायता नही दे सकता। कोई भी मनुष्य तुम्हारी सहायता नही कर सकता। अपनी सहायता स्वय करो।"

—लूसी मोनरो

*   *   *

पुनर्जन्म

(इवैन्स्टन इन्डेक्स, ७ अक्तूबर, १८९३)

पिछले सप्ताह 'कांग्रेगेशनल चर्च' मे भाषणो का कुछ ऐसा क्रम रहा है, जिसका ढग अभी समाप्त हुए धर्म-महासभा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वक्ता स्वेडन के डॉ० कार्ल वॉन बरगेन तथा हिन्दू सन्यासी विवेकानन्द थे। स्वामी विवेकानन्द धर्म-महासभा मे आये हुए भारतीय प्रतिनिधि हैं। अपनी नारगी रग की विशिष्ट पोशाक, चुम्बकीय व्यक्तित्व, कुशल वक्तृता और हिन्दू दर्शन की विस्मयकारक व्याख्या के कारण उन्होंने बहुत अधिक लोगो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। जब से वे शिकागो में हैं, उनका उल्लासपूर्ण स्वागत हो रहा है। इन भाषणो का क्रम तीन दिन सध्या काल चलने के लिए आयोजित किया गया।

[शनिवार और मगलवार के भाषण बिना किसी टिप्पणी के उद्धृत किये गये, पश्चात् लेख आगे चलता है]

बृहस्पतिवार, अक्तूबर ५ की शाम को डॉ० वॉन बरगेन 'स्वेडन की राजपुत्रियो के स्थापनकर्ता, हल्डाइन बीमिश' के ऊपर बोले तथा हिन्दू सन्यासी ने 'पुनर्जन्म' विषय पर विचार किया। दूसरे (वक्ता) बडे रोचक थे, क्योकि उनके विचार ऐसे थे, जैसे कि पृथ्वी के इस भाग मे बहुधा सुनने मे नही आते। पुनर्जन्म का सिद्धान्त यद्यपि इस देश के लिए नया और न समझ मे आनेवाला सा है, तथापि प्राय सभी धर्मो का आधार होने के कारण पूर्व मे सुविख्यात है। जो इसे धर्म-सिद्धान्त के रूप मे नही मानते, वे भी इसके विरोध मे कुछ नही कहते। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सबसे मुख्य बात इस बात का निर्णय करने मे है कि हमारा कोई

अतीत भी है। हम विदित है कि हमारा वर्तमान है और भविष्य में होने में सम्भवतः हम विश्वास है। किन्तु बिना अतीत के वर्तमान कैसे सम्भव है? आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि जड़ पदार्थ है और बना रहता है। सृष्टि केवल उसका रूपान्तर है। हमारा उद्भव शून्य से नहीं हुआ। कुछ लोग ईश्वर को प्रत्येक वस्तु का सर्वनिष्ठ कारण मानते हैं और इसे अस्तित्व का पर्याप्त हेतु समझते हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु में हम दृश्य-रूप का विचार करना चाहिए कि कहाँ से और किससे जड़ पदार्थ उद्भूत होता है। जो तर्क इस बात को सिद्ध करता है कि भविष्य है वही इस बात को भी सिद्ध करता है कि अतीत है। यह आवश्यक है कि ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त अन्य कारण हो। आनुवंशिकता पर्याप्त कारण प्रदान करने में असमर्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि हम पिछले अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। बहुत से ऐसे उदाहरण मिले हैं जिनमें अतीत की स्पष्ट स्मृति मिलती है। यहीं इस सिद्धान्त के बीजाणु विद्यमान हैं। हिन्दू मूक पशुओं के प्रति दयालु हैं इस कारण बहुत से लोग यह सोचते हैं कि हम लोग निम्नतर योनियों में आत्मा के पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। वे दया को अंधविश्वास के परिणाम के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से उद्भूत मानने में असमर्थ हैं। एक प्राचीन हिन्दू पंडित जो कुछ हमें ऊपर उठाता है उसे धर्म कहता है। पशुता बहिष्कृत हो जाती है और मानवता दिव्यता के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य को इस छोटी सी पृथ्वी तक ही सीमित नहीं कर देता। उसकी आत्मा दूसरी उच्चतर पृथ्वियों में जा सकती है जहाँ उसका उच्चतर अस्तित्व होगा पाँच इन्द्रियों के बजाय आठ इन्द्रियोंवाला होगा और इस तरह बना रहकर वह अन्त में पूर्णता और दिव्यता की पराकाष्ठा तक पहुँचेगा और 'परमानन्द के द्वीप' में विस्मरण को पीकर छक सकेगा।

* *

हिन्दू सभ्यता

[यद्यपि ९ अक्तूबर को स्ट्रिटेटर में दिया गया भाषण श्रोताओं की एक अच्छी संख्या द्वारा सुना गया पर ९ अक्तूबर के 'स्ट्रिटेटर डेली फ्री प्रेस' ने निम्नलिखित नीरस सी टिप्पणी प्रकाशित की]

'आपेरा हाउस' मे इस सुविख्यात हिन्दू का भाषण अत्यन्त रोचक था। उन्होंने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा आर्य जातियो और अमेरिका मे उनके वशजो के बीच के चिरस्वीकृत सम्बन्ध को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने तीन-चौथाई जनता को नितान्त अपमानजनक पराधीनता मे रखनेवाली जाति-प्रथा का नरमी के साथ समर्थन किया और गर्वपूर्वक कहा कि आज का भारत वही भारत है, जिसके शताब्दियो से दुनिया के उल्का के समान राष्ट्रो को अन्तरिक्ष मे चमकते हुए और विस्मृति के गर्भ मे डूबते हुए देखा है। जनसाधारण की भाँति उन्हे अतीत से प्रेम है। उनका जीवन अपने लिए नही, अपितु ईश्वर के लिए है। उनके देश मे भिक्षावृत्ति और भ्रमणशीलता को बहुत बडी बात समझा जाता है, यद्यपि यह बात उनके भाषण मे इतनी प्रमुख नही थी। जब भोजन तैयार हो जाता है, तब लोग किसी ऐसे व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करते हैं, जिसे पहले भोजन कराया जाय, इसके पश्चात् पशु, नौकर, गृहस्वामी और सबसे बाद घर की स्त्रियाँ। दस वर्ष की अवस्था मे बालकों को ले लिया जाता है और गुरु के पास दस अथवा बीस वर्ष तक रखते हैं, उन्हे शिक्षा दी जाती है और अपने पहले के पेशे मे लग जाने के लिए भेज दिया जाता है, अथवा वे निरन्तर भ्रमण, प्रवचन, उपासना के जीवन को स्वीकार करते हैं, वे अपने साथ खाने-पहनने की दी हुई वस्तु मात्र रखते हैं, धन को कभी स्पर्श नही करते। विवेकानन्द पिछले वर्ग के हैं। वृद्धावस्था आने पर लोग ससार से सन्यास ले लेते हैं और कुछ समय अध्ययन और उपासना मे लगाकर वे भी धर्म-प्रचार के लिए निकल पडते हैं। उन्होने कहा कि बौद्धिक विकास के लिए अवकाश आवश्यक है और अमेरिका के आदिवासियो को, जिन्हे कोलम्बस ने जगली दशा मे पाया था, अमेरिकावालो के द्वारा शिक्षित न किये जाने की आलोचना की। इसमे उन्होंने परिस्थितियो के ज्ञान के अभाव का प्रदर्शन किया। उनका भाषण निराशाजनक रूप से सक्षिप्त था और जो कुछ कहा गया, उसकी अपेक्षा बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीत होनेवाली बातें छूट गयी थी'[1]?

एक रोचक भाषण

(विस्कोन्सिन स्टेट जर्नल, २१ नवम्बर, १८९३)

पिछली रात कांग्रेगेशनल चर्च (मैडिसन) मे विख्यात हिन्दू सन्यासी विवेकानन्द द्वारा दिया हुआ भाषण अत्यन्त रोचक था और उसमे ठोस दर्शन और श्रेष्ठ

१ उपर्युक्त रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि किसी न किसी कारण से अमरीकी प्रेस ने स्वामी जी का सदैव उत्साहपूर्ण स्वागत नहीं किया। स०

धर्म की बहुत सी बातें थीं। यद्यपि वे मूर्तिपूजक कहे जा सकते हैं पर ईसाई धर्म उनके द्वारा प्रवर्तित अनेक शिक्षाओं का अनुसरण कर सकता है। उनका धर्म विश्व की तरह व्यापक है जिसमें सभी धर्मों और कहीं भी पाये जानेवाले सत्य का समावेश है। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि 'भारतीय धर्म' में धर्मान्धता अन्धविश्वास और जड़ विधि-विधान का कोई स्थान नहीं है।

* * *

हिन्दू धर्म

(मिनियापोलिस स्टार, २५ नवम्बर, १८९३)

पिछली शाम को फर्स्ट यूनिटेरियन चर्च (मिनियापोलिस) में हिन्दू धर्म की व्याख्या करते समय प्राचीन एवं सनातन सिद्धान्तों के मूर्त रूप होने के कारण समस्त सूक्ष्म आकर्षणों से समन्वित ब्राह्मण धर्म स्वामी विवेकानन्द के भाषण का विषय था। यह ऐसे श्रोताओं का समुदाय था जिसमें विचारशील स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे क्योंकि यह भाषण 'पेरिपैटेटिक्स' द्वारा आमन्त्रित किया गया था और जिन मित्रों को उनके साथ यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था उनमें विभिन्न चर्चों के पुरोहित विद्वान् और विद्यार्थी सम्मिलित थे। विवेकानन्द एक ब्राह्मण साधु हैं और वे मंच पर अपने देश की पोशाक—सिर पर पगड़ी, नारंगी रंग का कोट, जो कमर पर लाल कमरबन्द से कसा हुआ था और लाल अंगोवस्त्र—पहने हुए, आसीन थे।

उन्होंने धीरे धीरे और स्पष्ट बोलते हुए तथा द्रुतगति की अपेक्षा वाणी की सौम्यता के द्वारा अपने श्रोताओं को कायल करते हुए अपने धर्म को पूरी ईमानदारी के साथ सामने रखा। उनके शब्द सावधानी से चुने हुए थे और प्रत्येक शब्द अपना अर्थ प्रत्यक्ष ही व्यक्त करता था। उन्होंने हिन्दू धर्म के सरलतम सत्यों को प्रस्तुत किया और यद्यपि ईसाई धर्म के प्रति कोई कड़ी बात नहीं कही फिर भी उसकी ओर ऐसे संकेत अवश्य किये जिससे ब्रह्म का धर्म सर्वोपरि ठहराया गया। हिन्दू धर्म का सर्वव्यापी विचार तथा प्रमुख सिद्धान्त आत्मा का अन्तर्निहित दिव्यत्व है। आत्मा पूर्ण है और धर्म मनुष्य में पहले से ही विद्यमान दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है। वर्तमान अतीत और भविष्य के तथा मनुष्य की दो प्रवृत्तियों के बीच में एक विभाजन रेखा मात्र है। यदि सत् प्रबल होता है, वह उच्चतर जीवन प्राप्त करता है और यदि असत् शक्तिशाली हो जाता है तो

उसका पतन होता है। उसके भीतर ये दोनो प्रवृत्तियाँ निरन्तर क्रियाशील रहती हैं—जो कुछ उसे उठाता है, वह शुभ है और जो कुछ उसे गिराता है, वह अशुभ है।
कानन्द कल प्रात काल 'फर्स्ट यूनिटेरियन चर्च' मे भाषण देंगे।

* * *

(डेस मोइन्स न्यूज, २८ नवम्बर, १८९३)

पिछली रात्रि (२७ नवम्बर) सूदूर भारतवर्ष के प्रतिभाशाली विद्वान् स्वामी विवेकानन्द ने सेन्ट्रल चर्च मे भाषण दिया। शिकागो मे विश्व-मेला के अवसर पर आयोजित हाल के धर्म-सम्मेलन मे वे अपने देश और धर्म के प्रतिनिधि थे। रेवरेण्ड एच० ओ० ब्रीडन ने श्रोताओ से उनका परिचय कराया। वे उठे और उन्होंने श्रोताओ को नमस्कार करके अपना भाषण प्रारम्भ किया, जिसका विषय 'हिन्दू धर्म' था। उनका भाषण किसी विचारधारा से सीमित नही था, किन्तु उसमे अधिकतर उनके धर्म तथा दूसरो के धर्मों से सम्बन्धित दार्शनिक विचार थे। उनका मत है कि पूर्ण ईसाई बनने के लिए व्यक्ति को सभी धर्मों को अगीकार करना चाहिए। जो एक धर्म मे प्राप्य नही है, उसकी दूसरे धर्म के द्वारा पूर्ति होती है। सच्चे ईसाई के लिए वे सब ठीक और आवश्यक हैं। जब तुम हमारे देश को कोई धर्मप्रचारक भेजते हो, तब वह हिन्दू ईसाई बन जाता है और मैं ईसाई हिन्दू। मुझसे इस देश में बहुधा पूछा गया है कि क्या मै यहाँ लोगो का धर्म-परिवर्तन करूँगा। मैं इसे अपमानजनक समझता हूँ। मैं धर्म-परिवर्तन जैसे विचार मे विश्वास नही रखता।[1] आज एक पापी मनुष्य है, तुम्हारे विचारानुसार कल वह धर्मात्मा हो सकता है और क्रमश वह पवित्रता की स्थिति तक पहुँच सकता है। यह परिवर्तन किस कारण होता है? तुम इसकी व्याख्या किस प्रकार करोगे। उस मनुष्य की नयी आत्मा तो नही हुई, क्योकि ऐसा होने पर आत्मा के लिए मृत्यु आवश्यक है। तुम कहते हो कि ईश्वर ने उसका रूपान्तर कर दिया। ईश्वर पूर्ण, सर्वशक्तिमान और स्वय शुद्ध है। तब तो इस मनुष्य के धर्म-ग्रहण

---

१ यद्यपि स्थान स्थान पर, जैसा कि दृष्टिगत होगा, रिपोर्टर स्वामी जी के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी विचार को समझने मे बुरी तरह असफल हुआ है, पर उसने स्वामी जी के विचारों से अवगत व्यक्ति को समझाने के लिए उसको पर्याप्त मात्रा मे ग्रहण किया है। स०

के पश्चात् उस ईश्वर मे और सब कुछ रहता है परन्तु पवित्रता का उतना अश जितना उसने उस व्यक्ति को पवित्र करने के लिए प्रयास किया कम हो जाता है। हमारे देश मे दो ऐसे शब्द है, जिनका इस देश मे यहाँ की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न अर्थ है। वे शब्द 'धर्म' और 'पथ' है। हम मानते है कि धर्म के अन्तर्गत सभी धर्म आ जाते है। हम असहिष्णुता के अतिरिक्त सब कुछ सहन कर लेते है। फिर 'पथ' शब्द है। यहाँ यह उन सुहृदो को अपने अन्तर्गत लेता है जो अपने को उदारता के आवरण से ढक लेते है और कहते है 'हम ठीक है तुम गलत हो।' इस प्रसग मे मुझे दो मेढको की कहानी याद आती है। एक मेढक कुएँ मे पैदा हुआ और आजीवन उसी कुएँ मे रहा। एक दिन एक समुद्र का मेढक उस कुएँ मे आ पड़ा और उन दोनो के बीच समुद्र के बारे मे चर्चा होने लगी। कुएँ के मेढक ने आगन्तुक से पूछा कि समुद्र कितना बड़ा है किन्तु वह कोई बोधगम्य उत्तर पाने मे असमर्थ न हुआ। तब कुएँ के मेढक ने कुएँ के एक छोर से दूसरे छोर तक उछल कर पूछा कि क्या समुद्र इतना बड़ा है। उसने कहा "हाँ"। वह मेढक फिर उछला और बोला 'क्या समुद्र इतना बड़ा है?' और स्वीकारात्मक उत्तर पाकर वह अपने आप कहने लगा 'यह मेढक अवश्य ही झूठा है। मैं इसे अपने कुएँ से बाहर निकाल दूँगा।" पथों के सम्बन्ध मे भी ऐसी ही बात है। वे अपने से भिन्न विश्वास करनेवालो को पदच्युत और बहिष्कृत करने के लिए कटिबद्ध रहते है।

* * *

हिन्दू सन्यासी

(अपील-एवलाश १६ जनवरी १८९४)

हिन्दू सन्यासी विवेकानन्द जो आज रात को ऑडिटोरियम (मेमफिस) मे भाषण देंगे इस देश मे धार्मिक अथवा भाषण मच पर उपस्थित होनेवालो मे सर्वश्रेष्ठ वक्ता है। उनकी अप्रतिम वक्तृता रहस्यमय बातो मे गम्भीर अन्तर्दृष्टि तर्कपुष्टता एव महान् निष्ठा ने विश्व-मेला के धर्म-सम्मेलन मे भाग लेनेवाले ससार के सभी विचारवान व्यक्तियो का विशेष ध्यान आकृष्ट किया और उन हजारो लोगो मे उनकी सराहना की जिन्होंने यूनियन के विभिन्न राज्यो मे उनकी भाषण-यात्राओ मे उन्हें सुना था।

वार्तालाप मे वे अत्यधिक आनन्ददायक सभ्य व्यक्ति हैं, उनके शब्द-चयन मे अग्रेजी भाषा के रत्न दृष्टिगोचर होते हैं और उनका सामान्य व्यवहार उन्हे पश्चिमी शिष्टाचार और रीति-रिवाज के अन्यतम सुसस्कृत लोगो की श्रेणी मे ला देता है। साथी के रूप मे वे बडे मोहक व्यक्ति हैं और सम्भाषणकर्ता के रूप मे शायद पश्चिमी देशो के शहरो की किसी भी बैठक मे उनसे बढकर कोई भी नही निकल सकता। वे केवल स्पष्टतापूर्वक ही अग्रेजी नही बोलते, धारा-प्रवाह भी बोलते हैं और उनके भाव, स्फुलिंग के समान नये होते हुए भी, उनकी जिह्वा से आलकारिक भाषा के आश्चर्यजनक प्रवाह मे निकलते हैं।

स्वामी विव कानन्द अपने पैतृक धर्म अथवा प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा एक ब्राह्मण के रूप मे बडे हुए। किन्तु हिन्दू धर्म मे दीक्षित होकर उन्होंने अपनी जाति को त्याग दिया और हिन्दू पुरोहित अथवा जैसा कि हिन्दू आदर्श के अनुसार उनके देश मे विदित है, वे सन्यासी हुए। ईश्वर के उच्च भाव से उद्भूत प्रकृति के आश्चर्यजनक और रहस्यमय क्रिया-कलापो के वे सदैव अन्यतम विद्यार्थी रहे हैं और उस पूर्वीय देश के उच्चतर विद्यालयो मे शिक्षक और विद्यार्थी दोनो रूपों में अनेक वर्ष बिताकर उन्होंने ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है, जिससे उनको युग के सर्वश्रेष्ठ विचारक विद्वानों मे गिने जाने की विश्वविश्रुत ख्याति प्राप्त हुई है।

विश्व-मेला सम्मेलन मे उनके प्रथम आश्चर्यजनक भाषण ने तुरन्त उनके धार्मिक विचारको की उस महान् सस्था के नेता होने की मुहर लगा दी। अधिवेशन मे बहुधा उन्हे अपने धर्म का समर्थन करते हुए सुना गया और मनुष्य के मनुष्य के प्रति तथा सृष्टिकर्ता के प्रति कर्तव्यो का चित्र खीचते समय उनके ओठो से अग्रेजी भाषा की शोभा बढानेवाले सर्वश्रेष्ठ सुन्दर और दार्शनिक रत्नो मे से कुछ प्राप्त हुए। वे विचारो में कलाकार, विश्वास में आदर्शवादी और मच पर नाटककार है।

जब वे मेमफ़िस आये, तब से मि० हु एल० ब्रिन्कले के अतिथि हैं, जहाँ पर अपने प्रति श्रद्धा प्रकट करने की इच्छा रखनेवाले बहुत से लोगो से उन्होंने दिन मे और सध्याकाल भेंट की है। वे टेनेसी क्लब के भी अनौपचारिक अतिथि हैं और शनिवार की शाम को श्रीमती एस० आर० शेपार्ड द्वारा आयोजित स्वागत मे अतिथि थे। रविवार को कर्नल आर० बी० स्नोडेन ने एनेसडेल मे अपने घर पर विशिष्ट अतिथि के सम्मान मे एक भोज दिया, जहाँ पर सहायक बिशप टामस एफ० गेलर, रेवरेण्ड डॉ० जार्ज पैटर्सन और अनेक दूसरे पादरियो से उनकी भेंट हुई।

कल अपराह्न उन्होंने रामबॉल्फ़ डिस्ट्रिक्ट में 'ट्वेन्टीयथ सेंचुरी क्लब' के कमरों में उसके सदस्यों के एक बड़े और शौकीन श्रोता-समूह के सम्मुख भाषण दिया। आज रात को ऑडिटोरियम में 'हिन्दुत्व' पर उनका भाषण होगा।

सहिष्णुता के लिए युक्ति

(मेमफ़िस कमर्शियल १७ जनवरी १८९४)

कल रात प्रसिद्ध हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के हिन्दुत्व पर होनेवाले भाषण में उनका स्वागत करने के लिए ऑडिटोरियम में पर्याप्त संख्या में श्रोता उपस्थित हुए। न्यायाधीश आर. जे. मारगन ने उनका संक्षिप्त किन्तु सूचनात्मक परिचय दिया और महान् आर्य जाति की जिसके विकास से यूरोपीय जातियों तथा हिन्दू जाति का समान रूप से आविर्भाव हुआ है, एक रूपरेखा प्रस्तुत की तथा इस प्रकार बोलने के लिए प्रस्तुत वक्ता और अमेरिकन जाति के बीच के जातीय सम्बन्ध का इतिहास बताया।

श्रोता ने सुविख्यात पूर्वदेशीय का उदार करतल ध्वनि के साथ स्वागत किया और आद्योपान्त ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनी। वे सुन्दर शारीरिक आकृति वाले व्यक्ति हैं और उनका सुगठित काँसे के रंग का रूप और सुन्दर अनुपात वाला शरीर है। वे गुलाबी रेशम की पोशाक पहने हुए थे जो कमर पर एक काले वस्त्र से कसी हुई थी काला पतलून पहने थे और उनके मस्तक पर भार तीय रेशम की पीली पगड़ी सँवार कर बाँधी गयी थी। उनका उच्चारण अति सुन्दर है और जहाँ तक शब्दों के चयन तथा व्याकरण की शुद्धता और रचना का सम्बन्ध है उनका अंग्रेजी का व्यवहार पूर्ण है। उच्चारण में जो कुछ भी अशुद्धता है वह केवल कभी कभी गलत अभ्यास पर बल दे देने की है। पर ध्यानपूर्वक सुननेवाले शायद ही कोई शब्द न समझ पाते हों और उनके अब धान का सुन्दर फल उन्हें मौलिक विचार, ज्ञान और व्यापक प्रज्ञा से परिपूर्ण भाषण के रूप में उपलब्ध हुआ। इस भाषण को सार्वभौम सहिष्णुता कहना उचित हो सकता है, जिसमें भारतीय धर्म से सम्बन्धित कथनों के उदाहरण हैं। उन्होंने कहा कि यह भावना सहिष्णुता और प्रेम की भावना सभी अच्छे धर्मों की केन्द्रीभूत प्रेरणा है और उनका विचार है कि उसको प्राप्त करना किसी भी मत का अभीष्ट लक्ष्य है।

हिन्दुत्व के सम्बन्ध मे उनकी परिचर्चा अधिकाशत वृत्तानुमेय नही थी। उनका प्रयत्न उसकी पुराण-कथाओ और उसके रूपो का चित्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसके भाव-तत्त्व का विश्लेषण करना था। उन्होंने अपने धर्म-विश्वास या अनुष्ठानो की प्रमुख विशिष्टताओ पर बहुत कम विवेचन किया। किन्तु उनको उन्होंने बडी स्पष्टता और पारदर्शिता के साथ समझाया। उन्होने हिन्दुत्व की उन रहस्यमय विशेषताओ का सजीव वर्णन किया, जिनसे बहुधा ग़लत समझा जानेवाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ है। उन्होंने समझाया कि किस प्रकार उनका धर्म समय के विभेदीकरण की अवहेलना करता है, किस प्रकार सभी लोगो की आत्मा के वर्तमान और भविष्य मे विश्वास करने के कारण 'ब्रह्म का धर्म' (हिंदुत्व) अपने अतीत पर भी विश्वास करता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार उनका धर्म 'मौलिक पाप' मे विश्वास नही करता और सभी प्रयत्नो और अभीप्साओ को मानवता की पूर्णता पर आधारित करता है। उनका कहना है कि सुधार और शुद्धि का आधार आशा होनी चाहिए। मनुष्य का विकास उसका मूल पूर्णता की ओर लौटना है। यह पूर्णत्व पवित्रता और प्रेम की साधना से ही आ सकता है। यहाँ उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार उनके देशवासियो ने इन गुणो की साधना की है, किस प्रकार भारत उत्पीडितो को शरण देनेवाला देश रहा है। उन्होंने उदाहरण दिया कि जब टिटस ने जेरुसलम का विध्वस किया, तब यहूदियो का हिन्दुओ द्वारा स्वागत किया गया था।

बडी स्पष्टतापूर्वक उन्होंने बताया कि हिन्दू लोग बाह्याकारो पर बहुत ज़ोर नही देते। कभी कभी तो परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रदायो के अनुसरण मे एक दूसरे से भिन्न होता है, किन्तु सभी ईश्वर के केन्द्रीय गुण प्रेम-भाव की उपासना करते हुए ईश्वर की उपासना करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू मानता है कि सभी धर्मों मे अच्छाई है, सभी धर्म मनुष्य की पवित्रता की अन्त प्रेरणा के प्रतीक हैं और इसलिए सभी का सम्मान किया जाना चाहिए। उन्होंने वेद (?) से एक उद्धरण देते हुए इसे समझाया, जिसमे विभिन्न धर्म भिन्न भिन्न रूप के बने हुए घडो के प्रतीक के रूप मे कहे गये हैं, जिनको लेकर विभिन्न लोग एक झरने मे पानी भरने आते हैं। घडो के रूप तो बहुत से हैं, किन्तु जिस चीज़ को सभी लोग अपने घडो मे भरना चाहते हैं, वह सत्य रूपी जल है, उनके अनुसार ईश्वर सभी प्रकार के विश्वासो को जानता है और चाहे जो भी कहकर पुकारा जाय, वह अपने नाम को अथवा मिलनेवाली श्रद्धा को, चाहे वह जिस ढग की हो, पहचान लेगा।

उन्होने आगे कहा कि हिन्दू उसी ईश्वर की उपासना करते हैं, जिसकी ईसाई

कल अपराह्न उन्होंने रानडॉल्फ बिल्डिंग में 'नाइन्टीन्थ सेंचुरी क्लब' के कमरों में उसके सदस्यों के एक बड़े और शौकीन श्रोता-समूह के सम्मुख भाषण दिया। आज रात को ऑडिटोरियम में 'हिन्दुत्व' पर उनका भाषण होगा।

सहिष्णुता के लिए मुक्ति

(मेमफिस कमर्शियल १७ जनवरी १८९४)

कल रात प्रसिद्ध हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के हिन्दुत्व पर होनेवाले भाषण में उनका स्वागत करने के लिए ऑडिटोरियम में पर्याप्त संख्या में श्रोता उपस्थित हुए। न्यायाधीश आर. जे. मारमन ने उनका संक्षिप्त किन्तु सूचनात्मक परिचय दिया और महान् आर्य जाति की, जिसके विकास से यूरोपीय जातियों तथा हिन्दू जाति का समान रूप से आविर्भाव हुआ है, एक रूपरेखा प्रस्तुत की तथा इस प्रकार बोलने के लिए प्रस्तुत वक्ता और अमेरिकन जाति के बीच के जातीय सम्बन्ध का इतिहास बताया।

श्रोताओं ने सुविख्यात पूर्वदेशीय का उदार करतल ध्वनि के साथ स्वागत किया और आद्योपान्त ध्यानपूर्वक उनकी बात सुनी। वे सुन्दर शारीरिक आकृति वाले व्यक्ति हैं और उनका सुगठित काँसे के रंग का रूप और सुन्दर अनुपात वाला शरीर है। वे गुलाबी रेशम की पोशाक पहने हुए थे, जो कमर पर एक काले वस्त्र से कसी हुई थी। काला पतलून पहने थे और उनके मस्तक पर भार तीय रेशम की पीली पगड़ी सँवार कर बाँधी गयी थी। उनका उच्चारण अति सुन्दर है और जहाँ तक शब्दों के चयन तथा व्याकरण की शुद्धता और रचना का सम्बन्ध है, उनका अंग्रेजी का व्यवहार पूर्ण है। उच्चारण में जो कुछ भी अशुद्धता है, वह केवल कभी कभी गलत सम्याश पर बल दे देने की है। पर ध्यानपूर्वक सुननेवाले शायद ही कोई शब्द न समझ पाते हों, और उनके ध्यान का सुन्दर फल उन्हें मौलिक विचार, ज्ञान और व्यापक प्रज्ञा से परिपूर्ण भाषण के रूप में उपलब्ध हुआ। इस भाषण को सार्वभौम सहिष्णुता कहना उचित हो सकता है, जिसमें भारतीय धर्म से सम्बन्धित कथनों के उदाहरण हैं। उन्होंने कहा कि यह भावना सहिष्णुता और प्रेम की भावना सभी अच्छे धर्मों की केन्द्रीभूत प्रेरणा है और उनका विचार है कि उसको प्राप्त करना किसी भी मत का अभीष्ट साध्य है।

हिन्दुत्व के सम्बन्ध मे उनकी परिचर्चा अधिकाशत वृत्तानुमेय नही थी। उनका प्रयत्न उसकी पुराण-कथाओ और उसके रूपो का चित्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा उसके भाव-तत्त्व का विश्लेषण करना था। उन्होने अपने धर्म-विश्वास या अनुष्ठानो की प्रमुख विशिष्टताओ पर बहुत कम विवेचन किया। किन्तु उनको उन्होंने बडी स्पष्टता और पारदर्शिता के साथ समझाया। उन्होने हिन्दुत्व की उन रहस्यमय विशेषताओ का सजीव वर्णन किया, जिनसे बहुधा ग़लत समझा जानेवाला पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित हुआ है। उन्होंने समझाया कि किस प्रकार उनका धर्म समय के विभेदीकरण की अवहेलना करता है, किस प्रकार सभी लोगो की आत्मा के वर्तमान और भविष्य मे विश्वास करने के कारण 'ब्रह्म का धर्म' (हिंदुत्व) अपने अतीत पर भी विश्वास करता है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि किस प्रकार उनका धर्म 'मौलिक पाप' मे विश्वास नही करता और सभी प्रयत्नो और अभीप्साओ को मानवता की पूर्णता पर आधारित करता है। उनका कहना है कि सुधार और शुद्धि का आधार आशा होनी चाहिए। मनुष्य का विकास उसका मूल पूर्णता की ओर लौटना है। यह पूर्णत्व पवित्रता और प्रेम की साधना से ही आ सकता है। यहाँ उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार उनके देशवासियो ने इन गुणो की साधना की है, किस प्रकार भारत उत्पीड़ितो को शरण देनेवाला देश रहा है। उन्होंने उदाहरण दिया कि जब टिटस ने जेरुसलम का विध्वस किया, तब यहूदियो का हिन्दुओ द्वारा स्वागत किया गया था।

बडी स्पष्टतापूर्वक उन्होंने बताया कि हिन्दू लोग बाह्याकारो पर बहुत ज़ोर नही देते। कभी कभी तो परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रदायो के अनुसरण मे एक दूसरे से भिन्न होता है, किन्तु सभी ईश्वर के केन्द्रीय गुण प्रेम-भाव की उपासना करते हुए ईश्वर की उपासना करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दू मानता है कि सभी धर्मो में अच्छाई है, सभी धर्म मनुष्य की पवित्रता की अन्त.प्रेरणा के प्रतीक हैं और इसलिए सभी का सम्मान किया जाना चाहिए। उन्होंने वेद (?) से एक उद्धरण देते हुए इसे समझाया, जिसमे विभिन्न धर्म भिन्न भिन्न रूप के बने हुए घडों के प्रतीक के रूप मे कहे गये हैं, जिनको लेकर विभिन्न लोग एक झरने मे पानी भरने आते हैं। घडो के रूप तो बहुत से हैं, किन्तु जिस चीज़ को सभी लोग अपने घडो मे भरना चाहते हैं, वह सत्य रूपी जल है, उनके अनुसार ईश्वर सभी प्रकार के विश्वासो को जानता है और चाहे जो भी कहकर पुकारा जाय, वह अपने नाम को अथवा मिलनेवाली श्रद्धा को, चाहे वह जिस ढग की हो, पहचान लेगा।

उन्होंने आगे कहा कि हिन्दू उसी ईश्वर की उपासना करते हैं, जिसकी ईसाई

करते हैं। हिन्दू त्रिदेव—ब्रह्मा विष्णु और शिव केवल सृष्टिकर्ता पालनकर्ता और विनाशकर्ता ईश्वर के प्रतीक हैं। इन तीन को एक के बजाय तीन मानना केवल एक ग़लतफ़हमी है जिसका कारण है कि सामान्य मानवता अपने नीतिशास्त्र को एक मूर्त रूप अवश्य प्रदान करती है। अतः इसी प्रकार हिन्दू देवताओं की भौतिक मूर्तियाँ दिव्य गुणों की प्रतीक मात्र हैं। पुनर्जन्म के हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने कृष्ण की कहानी सुनायी जो निष्कलंक गर्भाधान से उत्पन्न हुए और जिनकी कथा ईसा की कथा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उनका दावा है कि कृष्ण की शिक्षा प्रेम के लिए प्रेम की शिक्षा है और उन्होंने इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है यदि प्रभु का भय धर्म का प्रारम्भ है तो ईश्वर का प्रेम उसका अन्त है।

उनके समस्त भाषण को यहाँ अंकित करना कठिन है, किन्तु वह बन्धुता के प्रेम के लिए एक उत्कृष्ट प्रेरक और एक सुन्दर मत का ओजोपूर्ण समर्थन था। उनका उपसंहार विशेष रूप से सुन्दर था जब कि उन्होंने ईसा को स्वीकार करने के लिए अपने को तैयार बताया परन्तु वे कृष्ण और बुद्ध के सामने अवश्य शीश झुकायेंगे। उन्होंने सभ्यता की निर्दयता का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए प्रगति के अपराधों के लिए ईसा को ज़िम्मेदार ठहराने से इनकार कर दिया।

भारत के रीति-रिवाज

(अपील-एवलांश २१ जनवरी १८९४)

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने कल अपराह्न 'ला सैलेट एकेडमी' (मेम-फ़िस) में एक भाषण दिया। मूसलाधार वर्षा के कारण श्रोताओं की संख्या बहुत कम थी।

'भारत में रीति-रिवाज' विषय का विवेचन हो रहा था। विवेकानन्द जिन धार्मिक विचारों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं वह इस शहर तथा अम-रिका के अन्य शहरों के अधिकतर प्रगतिशील विचारकों के मन में सरलता से स्थान प्राप्त कर लेता है।

उनका सिद्धान्त ईसाई मिशनरियों द्वारा उपदिष्ट पुरातन विश्वास के लिए घातक है। अमेरिका के ईसाइयों का मूर्तिपूजक भारत के अज्ञानावृत मस्तिष्क को प्रकाश प्रदान करने का सर्वोपरि दायित्व रहा है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विवेकानन्द के धर्म के पूर्वीय तेज ने हमारे पूर्वजों द्वारा उपदिष्ट पुराकालीन ईसाई

धर्म के सौंदर्य को अभिभूत कर लिया है और श्रेष्ठतर शिक्षा पाये हुए अमेरिका-वासियो के मस्तिष्क मे फलने-फूलने के लिए उसे एक उर्वर भूमि प्राप्त हो गयी है।

यह 'धुनों' का युग है और ऐसा प्रतीत होता है कि कानन्द एक 'चिरकाल से अनुभूत अभाव' की पूर्ति कर रहे हैं। वे सम्भवत अपने देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान हैं और उनमे अद्‌भुत मात्रा मे व्यक्तिगत आकर्षण है तथा उनके श्रोता उनकी वक्तृता पर मुग्ध हो जाते है। यद्यपि वे अपने विचारो मे उदार हैं तथापि वे पुरातनवादी ईसाई मत मे बहुत कम सराहनीय बातें देखते हैं। मेमफिस मे आनेवाले किसी भी धर्मोपदेशक अथवा वक्ता की अपेक्षा कानन्द ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है।

यदि भारत मे जानेवाले मिशनरियो का ऐसा ही स्वागत होता, जैसा कि हिन्दू सन्यासी का यहाँ हुआ है, तो मूर्तिपूजक देशो मे ईसा की शिक्षाओ के प्रचार का कार्य विशेष गति प्राप्त करता। कल शाम का उनका भाषण ऐतिहासिक दृष्टि से रोचक था। वे अति प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के स्वदेश के इतिहास और परम्परा से पूर्ण परिचित हैं और वहाँ के विभिन्न रोचक स्थानो और वस्तुओं का सुन्दर और सहज शैली मे वर्णन कर सकते हैं।

अपने भाषण में महिला श्रोताओं के प्रश्नो से बीच बीच में उन्हे अनेक बार रुकना पडा और उन्होंने बिना ज़रा भी हिचकिचाहट के उत्तर दिया, केवल एक बार को छोडकर, जब एक महिला ने उन्हे एक धार्मिक विवाद मे घसीटने के उद्देश्य से प्रश्न पूछा। उन्होंने अपने प्रवचन के मूल विषय से अलग जाना अस्वीकार कर दिया और प्रश्नकर्त्री से कहा कि वे किसी दूसरे समय 'आत्मा के पुनर्जन्म' आदि पर अपने विचार प्रकट करेंगे।

अपनी चर्चा मे उन्होंने कहा कि उनके पितामह का विवाह तीन वर्ष की आयु मे तथा उनके पिता का अठारह वर्ष की आयु मे हुआ था, परन्तु उन्होंने विवाह नही किया। सन्यासी को विवाह करने की मनाही नही, किन्तु यदि वह पत्नी रखता है, तो वह भी उन्ही अधिकारो और सुविधाओ से युक्त सन्यासिनी बन जाती है और वही सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, जो उसका पति प्राप्त करता है।[1]

एक प्रश्न के उत्तर मे उन्होने कहा कि भारत मे किसी भी कारण तलाक

---

१ स्वामी जी के द्वारा सन्यासियों के विवाह के सम्बन्ध मे जिस कथन का यहाँ उल्लेख किया गया है, उसके ठीक होने की सम्भावना नहीं है। अवश्य ही यह रिपोर्टर का भ्रम होगा, क्योंकि यह सर्वविदित है कि हिन्दू समाज में यदि संन्यासी पत्नी अगीकार करता है, तो वह पतित और बहिष्कृत समझा जाता है। स०

की व्यवस्था नहीं थी किन्तु यदि चौदह वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात् भी परिवार में सन्तान न हुई हो तो पत्नी की सहमति से पति दूसरा विवाह कर सकता था किन्तु यदि वह आपत्ति करती तो वह विवाह नहीं कर सकता था। उनका प्राचीन स्मारकों और मंदिरों का वर्णन अनुपम था और इससे यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल के लोग आजकल के कुशलतम कारीगरों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ वैज्ञानिक ज्ञान रखते थे।

आज रात को स्वामी विवेकानन्द वाई एम सी ए हाल में इस शहर में अंतिम बार आयेंगे। उन्होंने शिकागो के 'स्लेटन लिसेयम ब्यूरो' से इस देश में तीन वर्ष के कार्यक्रम को पूरा करने का अनुबंध किया है। वे कल शिकागो के लिए प्रस्थान करेंगे जहाँ २५ की रात्रि में उनका एक कार्यक्रम है।

* * *

(डिट्राएट ट्रिब्यून १५ फरवरी १८९४ ई॰)

पिछली शाम को जब ब्राह्म समाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने यूनिटी क्लब के तत्त्वावधान में यूनिटेरियन चर्च में भाषण दिया तब श्रोताओं की एक बड़ी संख्या को उनका भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे अपने देश की वेषभूषा में थे और उनका सुन्दर चेहरा तथा हृष्ट-पुष्ट आकार उन्हें एक विशिष्ट रूप प्रदान कर रहा था। उनकी वक्तृता ने श्रोताओं को ध्यानमग्न कर रखा था और वे बारबार बीच बीच में सराहना प्राप्त कर रहे थे। वे भारतीय रीति-रिवाज पर बोल रहे थे। उन्होंने विषय को बड़ी सुन्दर अंग्रेजी में प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा कि वे न तो अपने देश को भारत कहते हैं और न अपने को हिन्दू। उनके देश का नाम हिन्दुस्तान है और देशवासी ब्राह्मण हैं। प्राचीन काल में वे संस्कृत बोलते थे। उस भाषा में शब्द के अर्थ तथा हेतु की व्याख्या की जाती थी तथा उसे बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जाता था परन्तु अब वह सब नहीं है। संस्कृत में 'जुपिटर' का अर्थ था—'स्वर्ग में पिता'। आजकल उत्तरी भारत की सभी भाषाएँ व्यवहारतः एक ही हैं किन्तु यदि वे देश के दक्षिणी भाग में जायें तो लोगों से बात नहीं कर सकते। पिता माता बहन भाई आदि शब्दों को संस्कृत ने मिलते-जुलते उच्चारण प्रदान किये। यह तथा दूसरे तथ्य उन्हें यह सोचने को बाध्य करते हैं कि हम सब एक ही तत्त्व के हैं—आर्य। प्रायः इस जाति की सभी शाखाओं ने अपनी पहचान खो दी है।

जातियाँ चार थी—ब्राह्मण, भूमिपति और क्षत्रिय, व्यापारी और कारीगर, तथा श्रमिक और सेवक। पहली तीन जातियो मे क्रमश दस, ग्यारह और तेरह वर्ष की अवस्था से तीस, पच्चीस या वीस वर्ष की आयु तक वच्चो को विश्वविद्यालयो के आचार्यों के सिपुर्द कर दिया जाता था। प्राचीन काल मे वालक और वालिका, दोनो को शिक्षा दी जाती थी, किन्तु आज केवल वालको के लिए यह सुविधा है। पर इस चिरकालीन अन्याय को दूर करने की चेष्टा की जा रही है। वर्वर जातियो द्वारा देश का शासन प्रारम्भ होने के पूर्व प्राचीन काल मे देश के दर्शनशास्त्र और विधि का एक वडा अश स्त्रियो के द्वारा सपादित कार्य है। हिन्दुओ की दृष्टि मे अव स्त्रियो के अपने अधिकार हैं। उन्हे अव अपना स्वत्व प्राप्त है और कानून अव उनके पक्ष मे है।

जव विद्यार्थी विद्यालय से वापस लौटता है, तव उसे विवाह करने की अनुमति प्रदान की जाती है और वह गृहस्थ वनता है। पति और पत्नी के लिए कार्य का भार लेना आवश्यक है और दोनो के अपने अधिकार होते है। क्षत्रिय जाति मे लडकियाँ कभी कभी अपना पति चुन सकती हैं, किन्तु अन्य सभी मे माता-पिता के द्वारा ही व्यवस्था की जाती है। अव वाल विवाह को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न चल रहा है। विवाह-सस्कार वडा सुन्दर होता है, एक दूसरे का हृदय स्पर्श करता है और वे ईश्वर तथा उपस्थित लोगो के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक दूसरे के प्रति सच्चे रहेंगे। विना विवाह किये कोई पुरोहित नही हो सकता। जव कोई व्यक्ति, किसी सार्वजनिक पूजा मे भाग लेता है, तव उसकी पत्नी उसके साथ रहती है। अपनी उपासना मे हिन्दू पाँच सस्कारो का अनुष्ठान करता है—ईश्वर, पितरो, दीनो, मूक पशुओ तथा ज्ञान की उपासना। जब तक किसी हिन्दू के घर मे कुछ भी है, अतिथि को किसी वात की कमी नही होती। जब वह सतुष्ट हो जाता है, तब बच्चे, और तब पिता, फिर माँ भोजन ग्रहण करते है। वे दुनिया की सबसे ग़रीब जाति हैं, फिर भी अकाल के समय के सिवा कोई भी भूख से नही मरता। सभ्यता एक महान् कार्य है। किन्तु तुलना मे यह बात कही जाती है कि इग्लैण्ड मे प्रत्येक चार सौ मे एक मद्यप मिलता है, जब कि भारत मे यह अनुपात एक लाख मे एक है। मृत व्यक्तियो के भी दाह-सस्कार का वर्णन किया गया। कुछ महान् सामन्तो को छोडकर और किसीके सम्वन्ध मे प्रचार नही किया जाता। पन्द्रह दिन के उपवास के बाद अपने पूर्वजो की ओर से सम्बन्धियो द्वारा गरीबो को अथवा किसी सस्था की स्थापना के हेतु दान दिया जाता है। नैतिक मामलो मे वे सभी जातियो से सर्वोपरि ठहरते हैं।

१०–१७

हिन्दू दर्शन

(डिट्राएट फ्री प्रेस १६ फरवरी १८९४)

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का दूसरा भाषण कल शाम को यूनिटेरियन चर्च में बहुसंख्यक और गुणग्राही श्रोताओं के सम्मुख हुआ। श्रोताओं की यह आशा कि वक्ता उन्हें हिन्दू दर्शन की जानकारी देंगे, जैसा कि भाषण का शीर्षक था, एक सीमित मात्रा में ही पूर्ण हुई। बुद्ध के दर्शन के प्रसंग उठाये गये और जब वक्ता ने कहा कि बौद्ध धर्म दुनिया का सर्वप्रथम मिशनरी धर्म है और उसने बिना रक्त का एक बूँद गिराये सबसे बड़ी संख्या में लोगों को धर्म-दीक्षा दी है, तब लोगों ने बहुत अधिक हर्षध्वनि की। किन्तु उन्होंने श्रोताओं को बुद्ध के धर्म अथवा दर्शन की कोई बात नहीं बतायी। उन्होंने ईसाई धर्म के ऊपर बहुत से हल्के प्रहार किये और उन कष्टों और मुसीबतों की चर्चा की जो मूर्तिपूजक देशों में उसके प्रचार के कारण उत्पन्न हो गयी थीं। किन्तु उन्होंने कुशलतापूर्वक अपने देश के लोगों की तथा अपने श्रोताओं के देश के लोगों की सामाजिक दशा की तुलना करने से अपने को दूर रखा।

सामान्य ढंग से उन्होंने बताया कि हिन्दू तत्त्ववेत्ताओं ने निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की शिक्षा दी, जब कि नये ईसाई सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति से कहा जाता है और आशा की जाती है कि वह अपने पूर्व विश्वास को छोड़ दे तथा नवीन को पूर्णरूपेण स्वीकार कर ले। उन्होंने कहा, 'यह एक दिवास्वप्न है कि हम लोगों में सभी के धार्मिक विचार एक ही हो जायँगे। जब तक विरोधी तत्त्वों का मन में संघर्ष नहीं होता, तब तक मनोवेग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परिवर्तन की प्रतिक्रिया, नया प्रकाश और प्राचीन को नवीन का अनुदान ही उद्वेगों की उत्पत्ति करता है।'

[चूँकि प्रथम भाषण ने कुछ लोगों में विरोध-भाव पैदा कर दिया, 'फ्री प्रेस' के संवाददाता ने बहुत सावधानी बरती। तो भी सौभाग्यवश 'डिट्राएट ट्रिब्यून' ने स्वामी जी का निरन्तर समर्थन किया और इस प्रकार उसकी १६ फरवरी की रिपोर्ट में हमें उनके द्वारा 'हिन्दू दर्शन' पर दिये गये भाषण का कुछ आशय प्राप्त होता है, यद्यपि ट्रिब्यून संवाददाता ने कुछ व्यंग्यात्मक विवरण ही लिखा था, ऐसा प्रतीत होता है।]

* *

(डिट्राएट ट्रिब्यून, १६ फरवरी, १८९४ ई०)

ब्राह्मण सन्यासी स्वामी विव कानन्द ने कल शाम को यूनिटेरियन चर्च मे पुन भाषण दिया। उनका विषय 'हिन्दू दर्शन' था। वक्ता ने कुछ समय तक सामान्य दर्शन और तत्त्वज्ञान की चर्चा की, परन्तु उन्होने वताया कि वे धर्म से सम्वन्धित अश की चर्चा के लिए अपने भाषण का उपयोग करेंगे। एक ऐसा सम्प्रदाय है, जो आत्मा मे विश्वास करता है, किन्तु वह ईश्वर के सम्वन्ध मे अज्ञेयवादी है। बुद्धवाद (?) एक महान् नैतिक धर्म था, किन्तु ईश्वर मे विश्वास न करने के कारण वह वहुत दिन तक जीवित नही रह सका। दूसरा सम्प्रदाय 'जाइन्ट्स' (जैन) आत्मा मे विश्वास करता है, परन्तु देश के नैतिक शासन मे नही। भारत मे इस सम्प्रदाय के कई लाख लोग है। यह विश्वास करके कि यदि उनकी गर्म साँस यदि किसी मनुष्य या जीव को लगेगी, तो उसका परिणाम मृत्यु होगा, उनके पुरोहित और सन्यासी अपने चेहरे पर एक रूमाल वाँधे रहते हैं।

सनातनियो मे सभी लोग श्रुति मे विश्वास करते हैं। कुछ लोग सोचते हैं, बाइबिल का प्रत्येक शब्द सीधे ईश्वर से आता है। एक शब्द के अर्थ का विस्तार शायद अधिकाश धर्मों मे होता है, किन्तु हिन्दू धर्म मे सस्कृत भाषा है, जो शब्द के पूर्ण आशय और हेतु को सदैव सुरक्षित रखती है।

इस महान् पूर्वीय के विचार से एक छठी इन्द्रिय है, जो उन पाँचो से, जिन्हें कि हम जानते हैं, कही अधिक सवल है। वह प्रकाशनारूपी सत्य है। व्यक्ति धर्म की सभी पुस्तके पढ सकता है और फिर भी देश का सबसे बडा धूर्त हो सकता है। प्रकाशना का अर्थ है, आध्यात्मिक खोजो के वाद का विवरण।

दूसरी स्थिति, जिसे कुछ लोग मानते हैं, वह सृष्टि है, जिसका आदि या अन्त नही है। मान लो कि कोई समय था, जब सृष्टि नही थी। तब ईश्वर क्या कर रहा था? हिन्दुओ की दृष्टि मे सृष्टि केवल एकरूप है। एक मनुष्य स्वस्थ शरीर लेकर उत्पन्न होता है, अच्छे परिवार का है और एक धार्मिक व्यक्ति के रूप मे बडा होता है। दूसरा व्यक्ति विकलाग और अपग शरीर लेकर जन्म लेता है और एक दुष्ट के रूप में बडा होता है तथा दड भोगता है। पवित्र ईश्वर एक को इतनी सुविधाओं के साथ और दूसरे को इतनी असुविधाओ के साथ क्यो उत्पन्न करता है? व्यक्ति के पास कोई चारा नही है। बुरा काम करनेवाला अपने दोष को जानता है। उन्होंने पुण्य और पाप के अन्तर को स्पष्ट किया। यदि ईश्वर ने सभी चीजो को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया है, तव तो सभी विज्ञानो की इतिश्री हो गयी।

मनुष्य कितने नीचे जा सकता है? क्या मनुष्य के लिए फिर से पशु की ओर वापस जाना सम्भव है?

कामन्द को इस बात की प्रसन्नता थी कि वे हिन्दू थे। जब रोमनों ने जेरूसलम को नष्ट भ्रष्ट कर दिया तब कई हजार यहूदी भारत में आकर बसे। जब पारसियों को अरबवासों ने उनके देश से भगाया तब कई हजार लोगों ने इसी देश में शरण पायी और किसीके साथ दुर्व्यवहार नहीं किया गया। हिन्दू विश्वास करते हैं कि सभी धर्म सत्य हैं, किन्तु उनका धर्म और सभी से प्राचीन है। हिन्दू कभी भी मिशनरियों के प्रति दुर्व्यवहार नहीं करते। प्रथम अंग्रेज मिशनरी अंग्रेजों के द्वारा ही उस देश में उतरने से रोके गये और एक हिन्दू ही ने उनके लिए सिफारिश की और सर्वप्रथम उनका स्वागत किया। धर्म वह है, जो सबमें विश्वास करता है। उन्होंने धर्म की तुलना हाथी और अंधे आदमियों से की। प्रत्येक अपने स्थान पर ठीक था परन्तु सम्पूर्ण रूप के लिए सभी की आवश्यकता थी। हिन्दू दार्शनिक कहते हैं 'सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर।' जो लोग यह सोचते हैं कि किसी समय सभी लोग एक ही तरह सोचेंगे वे व्यर्थ एक निरर्थक स्वप्न देखते हैं क्योंकि यह तो धर्म की मृत्यु होगी। प्रत्येक धर्म छोटे छोटे सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है, प्रत्येक अपने को सत्य कहता है और दूसरों को असत्य। बौद्ध धर्म में यन्त्रणा को कोई स्थान नहीं दिया गया है। सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रचारक भेजे और वही एक ऐसे हैं, जिन्होंने बिना रक्त का एक बूँद गिराये करोड़ों लोगों को धर्म की दीक्षा दी। अपने तमाम दोषों और अंधविश्वासों के बावजूद हिन्दू कभी यन्त्रणा नहीं देते। वक्ता ने यह जानना चाहा कि ईसाइयों ने उन अन्यायों को कैसे होने दिया जो ईसाई देशों में प्रत्येक जगह वर्तमान हैं।

* *

चमत्कार

(इवनिंग न्यूज १७ फरवरी १८९४ ई०)

इस विषय पर 'न्यूज' में सम्पादकीय के दिखाये जाने पर विवेकानन्द ने इस पत्र के प्रतिनिधि से कहा "मैं अपने धर्म के प्रमाण में कोई चमत्कार करके 'न्यूज' की इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकता। पहले तो मैं चमत्कार करनेवाला नहीं हूँ और दूसरे जिस विशुद्ध हिन्दू धर्म का मैं प्रतिपादन करता हूँ वह चमत्कारों पर

आधारित नही है। मैं चमत्कार जैसी किसी चीज़ को नही मानता। हमारी पचेन्द्रियो के परे कुछ आश्चर्य किये जाते है, किन्तु वे किसी नियम के अनुसार चलते हैं। मेरे धर्म का उनसे कोई सम्बन्ध नही है। बहुत सी आश्चर्यजनक चीज़ें, जो भारत मे की जाती हैं और विदेशी पत्रो मे जिनका विवरण दिया जाता है, वे हाथ की सफाई और सम्मोहनजन्य भ्रम हैं। वे ज्ञानियो के कार्य नही है। वे पैसे के लिए बाज़ारो मे अपने चमत्कार प्रदर्शित करते हुए नही घूमते। उन्हें वे ही देखते और जानते हैं, जो सत्य के ज्ञान के खोजी हैं और जो बालसुलभ उत्सुकता से प्रेरित नही हैं।"

* * *

मनुष्य का दिव्यत्व

(डिट्राएट फ्री प्रेस, १८ फरवरी, १८९४ ई०)

हिन्दू दार्शनिक और साधु स्वामी विव कानन्द ने पिछली रात को यूनिटेरियन चर्च मे ईश्वर (?)[१] के दिव्यत्व पर बोलते हुए अपनी भाषणमाला अथवा उपदेशो को समाप्त किया। मौसम खराब होने पर भी पूर्वीय बधु—यही कहलाना उन्हे पसद है—के आने के पूर्व चर्च दरवाज़ो तक लोगो से भर गया था।

उत्सुक श्रोताओ मे सभी पेशो और व्यापारिक वर्ग के लोग सम्मिलित थे—वकील न्यायाधीश, धार्मिक कार्यकर्ता, व्यापारी, यहूदी पडित, इसके अतिरिक्त बहुत सी महिलाएँ, जिन्होंने अपनी लगातार उपस्थिति और तीव्र उत्सुकता से रहस्यमय आगतुक के प्रति अपनी प्रशसा की वर्षा करने की निश्चित इच्छा प्रदर्शित की है, जिनके प्रति ड्राइगरूम मे श्रोताओ का आकर्षण उतना ही अधिक है, जितना कि उनकी मच की योग्यता के प्रति।

पिछली रात का भाषण पहले भाषणो की अपेक्षा कम वर्णनात्मक था और लगभग दो घटे तक विव कानन्द ने मानवीय और ईश्वरीय प्रश्नो का एक दार्शनिक ताना-बाना बुना। वह इतना युक्तिसगत था कि उन्होंने विज्ञान को एक सामान्य ज्ञान का रूप प्रदान कर दिया। उन्होने एक सुन्दर युक्तिपूर्ण वस्त्र बुना,

---

१ वास्तव मे विषय 'मनुष्य का दिव्यत्व' था।

जो अनेक रंगों से परिपूर्ण था तथा उतना ही आकर्षक और मोहक था जितना कि हाथ से बुना जानेवाला अनेक रंगों तथा पूर्व की लुभावनी सुगंध से युक्त उनके देश का वस्त्र होता है। ये रहस्यमय सज्जन काव्यात्मकारों का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार कोई चित्रकार रंगों का उपयोग करता है और रंग वहीं लगाये जाते हैं, जहाँ उन्हें लगना चाहिए। परिणामतः उनका प्रभाव कुछ विचित्र सा होता है, फिर भी उनमें एक विशेष आकर्षण है। तीव्र गति से निकलनेवाले तार्किक निष्कर्ष 'धूप-छाँह' की भाँति थे और समय समय पर कुशल वक्ता को अपने प्रयास की सिद्धि के रूप में उत्साहपूर्ण करतल ध्वनि प्राप्त हुई।

उन्होंने भाषण के प्रारम्भ में कहा कि वक्ता से बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं। उनमें से कुछ का उन्होंने अलग उत्तर देने के लिए स्वीकार किया किन्तु तीन प्रश्न उन्होंने मंच से उत्तर देने के लिए चुने जिसका कारण स्पष्ट हो जायगा। वे थे[1]

क्या भारत के लोग अपने बच्चों को नदियाओं के जबड़ों में झोंक देते हैं?

'क्या वे जगन्नाथ (जगन्नाथ) के पहियों के नीचे दबकर आत्महत्या करते हैं?

क्या वे विधवाओं को उनके (मृत) पतियों के साथ जला देते हैं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस ढंग से दिया जिस ढंग से कोई अमेरिकन यूरोपीय देशों में प्रचलित न्यूयार्क की सड़कों पर दौड़नेवाले 'रेड इंडियन्स' तथा वैसी ही किंवदन्तियों से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान करे। वक्तव्य इतना हास्यास्पद था कि उस पर गम्भीरता से सोचने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। जब कुछ नेकनीयत किन्तु अल्पज्ञ लोगों के द्वारा यह पूछा गया कि वे केवल लड़कियों को ही क्यों नदियाओं के आगे डाल देते हैं, तब वे केवल व्यंग्योक्ति में कह सके कि सम्भवतः यह इसलिए कि वे अधिक कोमल और मृदु होती थीं और उस विश्वासी देश की नदियों के जीवों द्वारा अधिक आसानी से चबायी जा सकती थीं। जगन्नाथ की किंवदन्ती के सम्बन्ध में वक्ता ने उस नगर की पुरानी प्रथा को स्पष्ट किया और कहा कि सम्भवतः कुछ लोग रस्सी पकड़ने तथा रथ खींचने के उत्साह में फिसलकर गिर जाते थे और इस प्रकार उनका अन्त होता था। कुछ ऐसी ही दुर्घटनाओं को विकृत विवरणों में अतिरंजित किया गया है जिनसे दूसरे देशों के अच्छे लोग सन्त्रस्त हो उठते हैं। विवेकानन्द ने यह अस्वीकार किया कि लोग विधवाओं को जला देते हैं। पर यह सत्य है कि विधवाओं ने अपने आपको जला

---

१ यह तथा दूसरे चार अनुच्छेद 'विवेकानन्द साहित्य' के प्रथम खण्ड में 'क्या भारत तमसाच्छादित देश है?' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। स

दिया। कतिपय उदाहरणो मे जहाँ यह हुआ है, वहाँ धार्मिक पुरुषो और पुरोहितो द्वारा, जो सदैव ही आत्महत्या के विरुद्ध रहे हैं, उन्हे ऐसा करने से रोका गया है। जहाँ पतिव्रता विधवाओ ने यह आग्रह किया कि इस होनेवाले देह-परिवर्तन मे वे अपने पतियो के साथ जलने की इच्छुक हैं, उन्हें अग्नि-परीक्षा देने के लिए बाध्य होना पडा। अर्थात् उन्होने अपने हाथो को आग मे डाला और जल जाने दिया, तो आगे उनकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग मे कोई बाधा नही डाली गयी। किन्तु भारत ही अकेला देश नही है, जहाँ स्त्रियो ने प्रेम किया और अपने प्रेमी का तुरन्त अमर लोक तक अनुसरण किया। ऐसी दशा मे प्रत्येक देश मे आत्महत्याएँ हुई हैं। यह किसी भी देश के लिए एक असाधारण कट्टरता है, जितनी असामान्य भारत मे, उतनी ही अन्यत्र। वक्ता ने दुहराया, नही, भारत मे लोग स्त्रियो को नही जलाते। न उन्होंने कभी डाइनो को ही जलाया है।

मूल भाषण की ओर आकर विवेकानन्द ने जीवन की भौतिक, मानसिक और आत्मिक विशेषताओ का विश्लेषण किया। शरीर केवल एक कोश है, मन एक लघु किंतु विचित्र कार्य करनेवाली वस्तु है, जब कि आत्मा का अपना अलग व्यक्तित्व है। आत्मा की अनन्तता का अनुभव करना 'मुक्ति' की प्राप्ति है, जो 'उद्धार' के लिए हिन्दू शब्द है। विश्वसनीय ढग से तर्क करते हुए वक्ता ने यह दर्शाया कि आत्मा एक मुक्त सत्ता है क्योकि यदि वह आश्रित होती, तो वह अमरता न प्राप्त कर सकती। जिस ढग से व्यक्ति को उसकी सिद्धि प्राप्त होती है, उस ढग को समझाने के लिए उन्होंने अपने देश की गाथाओ मे से एक कथा सुनायी। एक शेरनी ने एक भेड पर झपट्टा मारते समय एक बच्चे को जन्म दिया। शेरनी मर गयी और उस बच्चे को भेड ने दूध पिलाया। बच्चा बहुत वर्षों तक अपने को भेड समझता रहा और उसी तरह व्यवहार करता रहा। किन्तु एक दिन एक दूसरा शेर उधर आया और उस शेर को एक झील पर ले गया, जहाँ उसने अपनी परछाईं दूसरे शेर से मिलती हुई देखी। इस पर वह गरजा और तब उसे अपनी पूर्ण महिमा का ज्ञान हुआ। बहुत से लोग भेडो जैसा रूप बनाये सिह की भाँति हैं और एक कोने मे जा दुबकते हैं। अपने को पापी कहते हैं और हर तरह अपने को नीचे गिराते हैं। वे अभी अपने मे अन्तर्निहित पूर्णत्व और दिव्यत्व को नही देख पाते। स्त्री और पुरुष का अह आत्मा है। यदि आत्मा मुक्त है, तब वह सम्पूर्ण अनन्त से कैसे अलग की जा सकती है? जिस प्रकार सूर्य झील पर चमकता है और असख्य प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक प्रतिबिम्ब की भाँति अलग है, यद्यपि उसके महान् स्रोत को माना जाता है और उसके महत्त्व को समझा जाता है। आत्मा निलिंग है। वह जब पूर्ण मुक्ति की स्थिति प्राप्त कर लेती है, तब उसका भौतिक

जो अनेक रंगों से परिपूर्ण था तथा उतना ही आकर्षक और मोहक था जितना कि हाथ से बुना जानेवाला अनेक रंगों तथा पूर्व की सुमावनी सुगन्ध से युक्त उनके देश का वस्त्र होता है। वे रहस्यमय सज्जन काव्यालंकारों का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं जिस प्रकार कोई चित्रकार रंगों का उपयोग करता है और रंग वहीं लगाये जाते हैं जहाँ उन्हें लगना चाहिए। परिणामतः उनका प्रभाव कुछ विचित्र सा होता है, फिर भी उसमें एक विशेष आकर्षण है। तीव्र गति से निकलनेवाले तार्किक निष्कर्ष 'धूप-छाँह' की भाँति थे और समय समय पर कुशल वक्ता को अपने प्रयास की सिद्धि के रूप में उत्साहपूर्ण करतल ध्वनि प्राप्त हुई।

उन्होंने भाषण के प्रारम्भ में कहा कि वक्ता से बहुत से प्रश्न पूछे गये हैं। उनमें से कुछ का उन्होंने अलग उत्तर देने के लिए स्वीकार किया किन्तु तीन प्रश्न उन्होंने मंच से उत्तर देने के लिए चुने जिसका कारण स्पष्ट हो जायगा। वे थे[1]

'क्या भारत के लोग अपने बच्चों को घड़ियालों के जबड़ों में झोंक देते हैं?

'क्या वे जगन्नाथ (जगन्नाथ) के पहियों के नीचे दबकर आत्महत्या करते हैं?

'क्या वे विधवाओं को उनके (मृत) पतियों के साथ जला देते हैं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर उन्होंने इस ढंग से दिया जिस ढंग से कोई अमेरिकन यूरोपीय देशों में प्रकाशित न्यूयार्क की सड़कों पर दौड़नेवाले 'रेड इंडियन्स' तथा वैसी ही किंवदन्तियों से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान करे। वक्तव्य इतना हास्यास्पद था कि उस पर गम्भीरता से सोचने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती थी। जब कुछ नेकनीयत किन्तु अनभिज्ञ लोगों के द्वारा यह पूछा गया कि वे केवल लड़कियों को ही क्यों घड़ियालों के आगे डाल देते हैं तब वे केवल व्यंग्योक्ति में यह कहने लगे कि सम्भवतः यह इसलिए कि वे अधिक कोमल और मृदु होती थीं और अब विश्वासी देश की नदियों के जीवों द्वारा अधिक आसानी से चबायी जा सकती थीं। जगन्नाथ की किंवदन्ती के सम्बन्ध में वक्ता ने उस नगर की पुरानी प्रथा को स्पष्ट किया और कहा कि सम्भवतः कुछ लोग रस्सी पकड़ने तथा रथ खींचने के उत्साह में फिसलकर गिर जाते थे और इस प्रकार उनका अन्त होता था। कुछ ऐसी ही दुर्घटनाओं को विकृत विवरणों में अतिरंजित किया गया है, जिनसे दूसरे देशों के अच्छे लोग संत्रस्त हो उठते हैं। विवेकानन्द ने यह अस्वीकार किया कि लोग विधवाओं को जला देते हैं। पर यह सत्य है कि विधवाओं ने अपने आपको जला

१ यह तथा दूसरे चार अनुच्छेद 'विवेकानन्द साहित्य' के प्रथम खण्ड में 'क्या भारत तमसाच्छन्नित देश है?' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। स

दिया। कतिपय उदाहरणो मे जहाँ यह हुआ है, वहाँ धार्मिक पुरुषो और पुरोहितो द्वारा, जो सदैव ही आत्महत्या के विरुद्ध रहे हैं, उन्हे ऐसा करने से रोका गया है। जहाँ पतिव्रता विधवाओ ने यह आग्रह किया कि इस होनेवाले देह-परिवर्तन मे वे अपने पतियो के साथ जलने की इच्छुक हैं, उन्हें अग्नि-परीक्षा देने के लिए बाध्य होना पडा। अर्थात् उन्होंने अपने हाथो को आग मे डाला और जल जाने दिया, तो आगे उनकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग मे कोई बाधा नही डाली गयी। किन्तु भारत ही अकेला देश नही है, जहाँ स्त्रियो ने प्रेम किया और अपने प्रेमी का तुरन्त अमर लोक तक अनुसरण किया। ऐसी दशा मे प्रत्येक देश मे आत्महत्याएँ हुई हैं। यह किसी भी देश के लिए एक असाधारण कट्टरता है, जितनी असामान्य भारत मे, उतनी ही अन्यत्र। वक्ता ने दुहराया, नही, भारत मे लोग स्त्रियो को नही जलाते। न उन्होंने कभी डाइनो को ही जलाया है।

मूल भाषण की ओर आकर विवेकानन्द ने जीवन की भौतिक, मानसिक और आत्मिक विशेषताओ का विश्लेषण किया। शरीर केवल एक कोश है, मन एक लघु किंतु विचित्र कार्य करनेवाली वस्तु है, जब कि आत्मा का अपना अलग व्यक्तित्व है। आत्मा की अनन्तता का अनुभव करना 'मुक्ति' की प्राप्ति है, जो 'उद्धार' के लिए हिन्दू शब्द है। विश्वसनीय ढग से तर्क करते हुए वक्ता ने यह दर्शाया कि आत्मा एक मुक्त सत्ता है, क्योकि यदि वह आश्रित होती, तो वह अमरता न प्राप्त कर सकती। जिस ढग से व्यक्ति को उसकी सिद्धि प्राप्त होती है, उस ढग को समझाने के लिए उन्होंने अपने देश की गाथाओ मे से एक कथा सुनायी। एक शेरनी ने एक भेड पर झपट्टा मारते समय एक बच्चे को जन्म दिया। शेरनी मर गयी और उस बच्चे को भेड ने दूध पिलाया। बच्चा बहुत वर्षों तक अपने को भेड समझता रहा और उसी तरह व्यवहार करता रहा। किन्तु एक दिन एक दूसरा शेर उधर आया और उस शेर को एक झील पर ले गया, जहाँ उसने अपनी परछाइँ दूसरे शेर से मिलती हुई देखी। इस पर वह गरजा और तब उसे अपनी पूर्ण महिमा का ज्ञान हुआ। बहुत से लोग भेडो जैसा रूप बनाये सिंह की भाँति हैं और एक कोने मे जा दुबकते हैं। अपने को पापी कहते हैं और हर तरह अपने को नीचे गिराते हैं। वे अभी अपने मे अन्तर्निहित पूर्णत्व और दिव्यत्व को नही देख पाते। स्त्री और पुरुष का अह आत्मा है। यदि आत्मा मुक्त है, तब वह सम्पूर्ण अनन्त से कैसे अलग की जा सकती है? जिस प्रकार सूर्य झील पर चमकता है और असख्य प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते है, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक प्रतिबिम्ब की भाँति अलग है, यद्यपि उसके महान् स्रोत को माना जाता है और उसके महत्त्व को समझा जाता है। आत्मा निर्लिंग है। वह जब पूर्ण मुक्ति की स्थिति प्राप्त कर लेती है, तब उसका भौतिक

लिंग से क्या सम्बन्ध ? इस सम्बन्ध में वक्ता ने स्वेडेनबर्ग के दर्शन अथवा धर्म की गहरी छानबीन की जिससे हिन्दू विश्वासों तथा एक आधुनिकतर धार्मिक व्यक्ति के विश्वासों की धार्मिक अभिव्यक्ति के बीच का सम्बन्ध पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गया। स्वेडेनबर्ग प्राचीन हिन्दू सन्तों के यूरोपीय उत्तराधिकारी से प्रतीत हुए, जिन्होंने एक प्राचीन विश्वास को आधुनिक वेशभूषा से सुसज्जित किया—यह विचारधारा जिसे सर्वश्रेष्ठ फ्रांसीसी दार्शनिक और उपन्यासकार (बालज़ाक ?) ने परिपूर्ण आत्मा की अपनी उद्बोधक कथा में प्रतिपादित करना उचित समझा। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर पूर्णत्व विद्यमान है। वह उसकी भौतिक सत्ता की अन्धकारपूर्ण गुहाओं में अन्तर्निहित है। यह कहना कि कोई आदमी इसलिए अच्छा हो गया कि ईश्वर ने अपने पूर्णत्व का एक अंश उसे प्रदान कर दिया ईश्वरीय सत्ता को पूर्णता के उस अंश से रहित ईश्वर मानना है जिसे उसने पृथ्वी पर उस व्यक्ति को प्रदान किया। विज्ञान का अटल नियम इस बात को सिद्ध करता है कि आत्मा अविभाज्य है और पूर्णता स्वयं उसीके भीतर होनी चाहिए, जिसकी उपलब्धि का अर्थ मुक्ति और व्यक्ति को अनन्तता की प्राप्ति है उद्धार नहीं। प्रकृति ! ईश्वर ! धर्म ! यह सब एक है।

सभी धर्म अच्छे हैं। पानी से भरे हुए गिलास की हवा का बुलबुला बाहर की वायु-राशि से मिलने का प्रयास करता है। तेल सिरका और भिन्न भिन्न घनत्ववाले दूसरे पदार्थों में द्रव की प्रकृति के अनुसार उसका प्रयत्न कुछ न कुछ अवरुद्ध होता है। इसलिए आत्मा विभिन्न माध्यमों द्वारा अपनी व्यक्तिगत अनन्तता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है। जीवन के स्वभावों सम्पर्क वंशानुगत विशेषताओं और जलवायुगत प्रभावों के कारण कोई धर्म कुछ लोगों के सर्वाधिक अनुकूल होता है। दूसरा धर्म ऐसे ही कारणों से दूसरे लोगों के अनुकूल होता है। जो कुछ है वह सब श्रेष्ठ है यह वक्ता के निष्कर्षों का सारांश प्रतीत हुआ। अचानक किसी राष्ट्र का धर्म परिवर्तित करना उस व्यक्ति की भाँति होगा जो आल्प्स से कोई नदी बहती हुई देखकर, उसके मार्ग की आलोचना करता है। दूसरा व्यक्ति हिमालय से एक विशाल धारा गिरती हुई देखता है—वह धारा जो पीढ़ियों और सहस्रों वर्षों से बह रही है और कहता है कि इसने सबसे छोटा और अच्छा मार्ग नहीं अपनाया। ईसाई ईश्वर को हमसे ऊपर बैठे हुए एक व्यक्ति की भाँति चित्रित करता है। ईसाई स्वर्ग में तब तक निश्चय ही प्रसन्न नहीं हो सकता जब तक कि वह पुनहली सड़कों के किनारे खड़ा होकर समय समय पर नीचे दूसरे स्थान देखकर अन्तर का अनुभव नहीं कर लेता। स्वर्णिम नियम के स्थान पर हिन्दू इस सिद्धान्त पर विश्वास करता है कि वह के परे सभी कुछ अच्छा है और सभी अह

बुरा है और इस विश्वास के द्वारा समय आने पर व्यक्तिगत अनन्तता और आत्मा की मुक्ति प्राप्त हो जायगी। विव कानन्द ने कहा कि स्वर्णिम नियम कितना अधिक असस्कृत है। हमेशा अह! हमेशा अह! यही ईसाई मत है। दूसरो के प्रति वही करना, जैसा तुम दूसरो से अपने प्रति कराना चाहो। यह एक भयावह, असभ्य और जगली मत है, किन्तु वे ईसाई धर्म की निन्दा करना नही चाहते। जो इसमे सतुष्ट हैं, उनके लिए यह बिल्कुल अनुकूल है। महती धारा को बहने दो। जो इसके मार्ग को बदलने की चेष्टा करेगा, वह मूर्ख है। तब प्रकृति अपना समाधान ढूँढ लेगी। अध्यात्मवादी (शब्द के सही अर्थ मे) और भाग्यवादी विव कानन्द ने अपने मत के ऊपर बल देकर कहा कि सभी कुछ ठीक है और ईसाइयो के धर्म को परिवर्तित करने की उनकी इच्छा नही है। वे लोग ईसाई हैं, यह ठीक है। वे स्वय हिन्दू हैं, यह भी ठीक है। उनके देश मे विभिन्न स्तर के लोगो की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न मतो की रचना हुई है। यह सब आध्यात्मिक विकास की प्रगति की ओर निर्देश करता है। हिन्दू धर्म अह का, अपनी आकाक्षाओ मे केन्द्रित, सदैव पुरस्कारो के वादे और दड की धमकी देनेवाला धर्म नही है। वह व्यक्ति को अह से परे होकर अनन्तता की सिद्धि करने का मार्ग दिखाता है। यह मनुष्य को ईसाई बनने के लिए घूस देने की प्रणाली, जिसे उस ईश्वर से प्राप्त बताया जाता है, जिसने पृथ्वी पर कुछ मनुष्यो के बीच मे अपने को प्रकट किया, बडी अन्यायपूर्ण है। यह घोर अनैतिक बनानेवाली है और अक्षरश मान लेने पर ईसाई धर्म, इसे स्वीकार कर लेनेवाले उन धर्मान्धो की नैतिक प्रकृति के ऊपर बडा शर्मनाक प्रभाव डालता है, आत्मा की अनन्तता की उपलब्धि के समय को और दूर हटाता है।

* * *

[ट्रिब्यून के सवाददाता ने, शायद उसीने जिसने पहले 'जैन्स' (Jains, जैनो) के लिए 'जाइन्ट्स' (Giants, दैत्य) सुना था, इस समय 'बर्न' (Burn, जलाना) को 'बेरी' (Bury, गाडना) सुना। अन्यथा स्वामी जी के स्वर्णिम नियम सम्बन्धी कथन को छोडकर उसने लगभग सही विवरण दिया है]

(डिट्राएट ट्रिब्यून, १८ फरवरी, १८९४ ई०)

कल रात को यूनिटेरियन चर्च मे स्वामी विव कानन्द ने कहा कि भारत मे विधवाएँ धर्म अथवा कानून के द्वारा कभी जीवित दफनायी (जलायी) नही जाती, किन्तु सभी दशाओ मे यह कार्य स्त्रियो की ओर से स्वेच्छा का प्रश्न रहा है। इस

प्रथा पर एक बादशाह ने रोक लगा दी थी किन्तु यह अंग्रेजी सरकार के द्वारा समाप्त किये जाने के पूर्व धीरे धीरे पुनः बढ़ गयी थी। धर्मान्ध लोग हर धर्म म होते हैं, ईसाइयों मे भी और हिन्दुओ मे भी। भारत म धर्मान्ध लोगों के बारे में यहाँ तक सुना गया है कि उन्होंने अपने दोनो हाथों को अपने सिर से ऊपर इतने समय तक तपस्या के रूप म उठाये रखा कि धीरे धीरे हाथ उसी स्थिति म बड़े हो गये और बाद मे वैसे ही रह गये। इसी प्रकार लोग एक ही स्थिति मे खड़े रहने का भी व्रत लेते थे। ये लोग अपने निचले अंगों पर सारा नियन्त्रण खो बैठते थे और बाद मे कभी चलने मे समर्थ नही रह जाते थे। सभी धर्म सच्चे हैं और लोग इसलिए नैतिकता का पालन नही करते कि वह ईश्वरीय आज्ञा है, बल्कि इसलिए कि वह स्वय अच्छी चीज है। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म-परिवर्तन मे विश्वास नही करते यह तो विकृति है। धर्मों की सख्या अधिक होने के लिए सम्पर्क वातावरण और शिक्षा ही उत्तरदायी हैं और एक धर्म के व्याख्याता को दूसरे व्यक्ति के विश्वास को मिथ्या बतलाना नितात मूर्खतापूर्ण है। इसे उतना ही युक्ति-सगत कहा जा सकता है जितना कि एशिया से अमेरिका आनेवाले किसी व्यक्ति का मिसिसिपी की धारा को देखकर उससे यह कहना 'तुम बिल्कुल गलत बह रही हो। तुम्हें उद्गम-स्थान को लौट जाना होगा और फिर से बहना प्रारम्भ करना होगा।' यह ठीक उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना कि अमेरिका का कोई आदमी आल्प्स को देखने जाय और एक नदी के मार्ग पर जर्मन सागर तक चलकर उसे यह सूचित करे कि उसका मार्ग बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा है और इसका एक ही उपाय है कि वह निर्देशानुसार बहे। उन्होंने कहा कि स्वर्णिम नियम उतना ही प्राचीन है जितनी प्राचीन स्वय पृथ्वी है और यही से नैतिकता के सभी नियम उद्भूत हुए हैं (?)। मनुष्य स्वार्थ का पुज है। उनके विचार से नारकीय अग्नि का सारा सिद्धान्त बेतुका है। जब तक यह ज्ञान है कि दुःख है तब तक पूर्ण सुख नही प्राप्त हो सकता। उन्होने कुछ धार्मिक व्यक्तियो की प्रार्थना के समय की मुद्रा का उपहास किया। उन्होंने कहा कि हिन्दू अपनी आँखें बन्द करके अपनी आत्मा से तादात्म्य स्थापित करता है जब कि उन्होंने कुछ ईसाइयों को किसी बिन्दु पर दृष्टि जमाये देखा है मानो वे ईश्वर को अपने स्वर्णिम सिंहासन पर बैठा देख रहे हों। धर्म के सम्बन्ध मे दो अतियाँ हैं धर्मान्ध और नास्तिक की। नास्तिक मे कुछ अच्छाई है किन्तु धर्मान्ध तो केवल अपने क्षुद्र अहं के लिए जीवित रहता है। उन्होंने एक अज्ञातनामा व्यक्ति को धन्यवाद दिया जिसने उन्हें ईसा के हृदय का एक चित्र भेजा था। इसे वे धर्मान्धता की अभिव्यक्ति मानते हैं। धर्मान्धों का कोई धर्म नही होता। उनकी लीला अद्भुत है।

ईश्वर-प्रेम[1]

(डिट्राएट ट्रिब्यून, २१ फरवरी, १८९४ ई०)

कल रात को फर्स्ट यूनिटेरियन चर्च विव कानन्द का भापण सुनने के लिए लोगो से भरा हुआ था। श्रोताओ मे जेफर्सन एवेन्यू और उडवर्ड एवेन्यू के ऊपरी हिस्से से आये हुए लोग थे। अधिकाश स्त्रियाँ थी, जो भाषण मे अत्यधिक रुचि लेती प्रतीत हो रही थी, जिन्होने ब्राह्मण के अनेक कथनो पर बडे उत्साह के साथ करतल ध्वनि की।

वक्ता ने जिस प्रेम की व्याख्या की, वह प्रेम वासनायुक्त प्रेम नही है, वरन् वह भारत मे व्यक्ति के द्वारा अपने ईश्वर के प्रति रखा जानेवाला निर्मल पवित्र प्रेम है। जैसा कि विव कानन्द ने अपने भाषण के प्रारम्भ मे बताया, विषय था 'भारतीय के द्वारा अपने ईश्वर के प्रति किया जानेवाला प्रेम', किन्तु उनका प्रवचन उनके अपने मूल विषय के ऊपर नही था। उनके भाषण का अधिकाश ईसाई धर्म पर आक्रमण था। भारतीय का धर्म और उसका अपने ईश्वर के प्रति प्रेम भाषण का अल्पाश था। अपने भाषण की मुख्य बातो को उन्होंने इतिहास के प्रसिद्ध पुरुषो के सटीक दृष्टान्तो से स्पष्ट किया। उन दृष्टान्तो के पात्र देश के हिन्दू राजा न होकर, उनके देश के प्रसिद्ध मुग़ल सम्राट् थे।

उन्होंने धर्म के माननेवालो को दो श्रेणियो मे बाँटा, ज्ञानमार्गी और भक्ति-मार्गी। ज्ञानमार्गियो का लक्ष्य अनुभूति है। भक्त के जीवन का लक्ष्य प्रेम है।

उन्होंने कहा कि प्रेम एक प्रकार का त्याग है। वह कभी लेता नही है, बल्कि सदैव देता है। हिन्दू अपने ईश्वर से कभी कुछ माँगता नही, कभी अपने मोक्ष और सुखद परलोक की प्रार्थना नही करता, अपितु इसके स्थान पर उसकी सम्पूर्ण आत्मा प्रेम के वशीभूत होकर अपने ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। उस सुन्दर पद को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि व्यक्ति को ईश्वर का तीव्र अभाव अनुभव होता है। तब ईश्वर अपने पूर्णत्व के साथ उपलब्ध होता है।

ईश्वर को तीन भिन्न प्रकारो से देखा जाता है। कोई उसे एक शक्तिशाली व्यक्तित्व के रूप मे देखता है और उसकी शक्ति की पूजा करता है। दूसरा उसको पिता के रूप मे देखता है। भारत मे पिता अपने बच्चो को सदैव दड देता है और पिता के प्रति होनेवाले प्रेम और भाव मे भय का तत्त्व मिला रहता है। भारत मे

---

[1] डिट्राएट फ्री प्रेस के इस भाषण का विवरण 'विवेकानन्द साहित्य' के तीसरे खण्ड में छपा है।

प्रथा पर एक बादशाह ने रोक लगा दी थी किन्तु यह अंग्रेजी सरकार के द्वारा समाप्त किये जाने के पूर्व धीरे धीरे पुनः बढ़ गयी थी। धर्मान्ध लोग हर धर्म में होते हैं, ईसाइयों में भी और हिन्दुओं में भी। भारत में धर्मान्ध लोगों के बारे में यहाँ तक सुना गया है कि उन्होंने अपने दोनों हाथों को अपने सिर के ऊपर इतने समय तक तपस्या के रूप में उठाये रखा कि धीरे धीरे हाथ उसी स्थिति में कड़े हो गये और बाद में वैसे ही रह गये। इसी प्रकार लोग एक ही स्थिति में खड़े रहने का भी व्रत लेते थे। ये लोग अपने निचले अंगों पर सारा नियन्त्रण खो बैठते थे और बाद में कभी चलने में समर्थ नहीं रह जाते थे। सभी धर्म सच्चे हैं और लोग इसलिए नैतिकता का पालन नहीं करते कि यह ईश्वरीय आज्ञा है, बल्कि इसलिए कि यह स्वयं अच्छी चीज है। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म-परिवर्तन में विश्वास नहीं करते, यह तो विकृति है। धर्मों की संख्या अधिक होने के लिए सम्पर्क, वातावरण और शिक्षा ही उत्तरदायी हैं और एक धर्म के व्याख्याता को दूसरे व्यक्ति के विश्वास को मिथ्या बतलाना नितान्त मूर्खतापूर्ण है। इसे उतना ही युक्तिसंगत कहा जा सकता है, जितना कि एशिया से अमेरिका जानेवाले किसी व्यक्ति का मिसिसिपी की धारा को देखकर उससे यह कहना 'तुम बिल्कुल गलत बह रही हो। तुम्हें उद्गम-स्थान को लौट जाना होगा और फिर से बहना प्रारम्भ करना होगा।' यह ठीक उतना ही मूर्खतापूर्ण होगा जितना कि अमेरिका का कोई आदमी आल्प्स को देखने जाय और एक नदी के मार्ग पर जर्मन सागर तक चलकर उसे यह सूचित करे कि उसका मार्ग बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा है और इसका एक ही उपाय है कि वह निर्देशानुसार बहे। उन्होंने कहा कि स्वर्णिम नियम उतना ही प्राचीन है जितनी प्राचीन स्वयं पृथ्वी है और वहीं से नैतिकता के सभी नियम उद्भूत हुए हैं (?)। मनुष्य स्वार्थ का पुंज है। उनके विचार से नारकीय अग्नि का सारा सिद्धान्त बेतुका है। जब तक यह ज्ञान है कि दुःख है तब तक पूर्ण सुख नहीं प्राप्त हो सकता। उन्होंने कुछ धार्मिक व्यक्तियों की प्रार्थना के समय की मुद्रा का उपहास किया। उन्होंने कहा कि हिन्दू अपनी आँखें बन्द करके अपनी आत्मा में तादात्म्य स्थापित करता है, जब कि उन्होंने कुछ ईसाइयों को किसी बिन्दु पर दृष्टि जमाये देखा है, मानो वे ईश्वर को अपने स्वर्णिम सिंहासन पर बैठा देख रहे हों। धर्म के सम्बन्ध में दो अतियाँ हैं, धर्मान्ध और नास्तिक की। नास्तिक में कुछ अच्छाई है, किन्तु धर्मान्ध तो केवल अपने क्षुद्र अहं के लिए जीवित रहता है। उन्होंने एक अज्ञातनामा व्यक्ति को धन्यवाद दिया, जिसने उन्हें ईसा के हृदय का एक चित्र भेजा था। इसे वे धर्मान्धता की अभिव्यक्ति मानते हैं। धर्मान्धों का कोई धर्म नहीं होता। उनकी लीला अद्भुत है।

भारतीय नारी

(डिट्राएट फ्री प्रेस, २५ मार्च, १८९४ ई०)

कानन्द ने पिछली रात को यूनिटेरियन चर्च मे 'भारतीय नारी' विषय पर भाषण दिया। वक्ता ने भारत की स्त्रियो के विषय पर पुन लौटते हुए बतलाया कि धार्मिक ग्रथो मे उनको कितने आदर की दृष्टि से देखा गया है, जहाँ स्त्रियाँ ऋषि-मनीषी हुआ करती थी। उस समय उनकी आध्यात्मिकता सराहनीय थी। पूर्व की स्त्रियो को पश्चिमी मानदड से जाँचना उचित नही है। पश्चिम मे स्त्री पत्नी है, पूर्व मे वह माँ है। हिन्दू माँ-भाव की पूजा करते हैं, और सन्यासियो को भी अपनी माँ के सामने अपने मस्तक से पृथ्वी का स्पर्श करना पडता है। पातिव्रत्य का बहुत सम्मान है।

यह भाषण कानन्द द्वारा दिये गये सबसे अधिक दिलचस्प भाषणो मे एक था और उनका बडा स्वागत हुआ।

*　　　*　　　*

(डिट्राएट इवनिंग न्यूज़, २५ मार्च, १८९४ ई०)

स्वामी विव कानन्द ने पिछली रात को 'भारतीय नारी— प्राचीन, मध्यकालीन और वर्तमान' विषय पर भाषण दिया। उन्होने कहा कि भारत मे नारी ईश्वर की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है और उसका सम्पूर्ण जीवन इस विचार से ओत-प्रोत है कि वह माँ है और पूर्ण माँ बनने के लिए उसे पतिव्रता रहना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि भारत मे किसी भी माँ ने अपने बच्चे का परित्याग नही किया और किसीको भी इसके विपरीत सिद्ध करने की चुनौती दी। भारतीय लडकियो को यदि अमेरिकन लडकियों की भाँति अपने आधे शरीर को युवको की कुदृष्टि के लिए खुला रखने के लिए बाध्य किया जाय, तो वे मरना कबूल करेंगी। वे चाहते हैं कि भारत को उसी देश के मापदड से मापा जाय, इस देश के मापदड से नही।

*　　　*　　　*

(ट्रिब्यून, १ अप्रैल, १८९४ ई०)

जब स्वामी कानन्द डिट्राएट मे थे, तब उन्होंने अनेक वार्तालापो मे भाग लिया और उनमे उन्होंने भारतीय स्त्रियो से सम्बन्धित प्रश्नो का उत्तर दिया। इस प्रकार

माँ के प्रति सदैव ही सच्चा प्रेम और श्रद्धा रहती है। यही भारतीयों का अपने ईश्वर को देखने का ढंग है।

कानन्द ने कहा कि ईश्वर का सच्चा प्रेमी अपने प्रेम में इतना लीन हो जाता है कि उसके पास इतना समय नहीं रहता कि वह रुके और दूसरे सम्प्रदाय के सदस्यों से कहे कि मैं ईश्वर को प्राप्त करने के लिए गलत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं और फिर उन्हें अपनी विचारधारा में लाने का प्रयत्न करे।

* * *

(डिट्राएट जर्नल)

यदि ब्राह्मण सन्यासी विवेकानन्द को जिनकी इस नगर में एक व्याख्यानमाला चल रही है, एक सप्ताह और यहाँ रहने के लिए प्रेरित किया जा सकता तो डिट्राएट के सबसे बड़े हाल में भी उनको सुनने के लिए उत्सुक श्रोताओं को स्थान देना कठिन हो जाता। वास्तव में वे लोगों की एक धुन बन गये हैं क्योंकि पिछली शाम को यूनिटेरियन चर्च सचाखच भरा हुआ था और बहुत से लोगों को भाषण के अन्त तक खड़ा रहना पड़ा।

वक्ता का विषय 'ईश्वर प्रेम' था। उनकी प्रेम की परिभाषा थी—'पूर्ण-रूपेण नि स्वार्थ भाव जिसमे प्रेम-पात्र के महत्त्व और उसकी आराधना के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार नहीं आता। उन्होंने कहा कि प्रेम ऐसा गुण है जो झुकता है, पूजा करता है और बदले में कुछ नहीं चाहता। उनके विचार से ईश्वर का प्रेम भिन्न है। ईश्वर को हम इसलिए नहीं मानते कि हमें अपने स्वार्थ के परे उसकी वास्तव में आवश्यकता है। उनका भाषण उन कहानियों और दृष्टान्तों से पूर्ण था जो ईश्वर के प्रति प्रेम के पीछे स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को स्पष्ट करते थे। वक्ता ने 'सालोमन के गीत' के उद्धरण दिये और कहा कि वे ईसाई बाइबिल के सुन्दरतम अंश हैं तथापि उन्होंने यह बात सुनकर बड़े खेद का अनुभव किया कि उनके हटाये जाने की सम्भावना है। उन्होंने अन्त में एक अकाट्य तर्क के रूप में घोषणा की 'ईश्वर का प्रेम मैं इससे क्या पा सकता हूँ।' सिद्धान्त के ऊपर आधारित प्रतीत होता है। ईसाई अपनी प्रेम में इतने स्वार्थी हैं कि वे निरन्तर ईश्वर से कुछ देने के लिए प्रार्थना किया करते हैं जिनमें सभी प्रकार की स्वार्थपूर्ण वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं। अत आधुनिक धर्म एक मनोरंजन और फैशन छोड़कर और कुछ नहीं है और लोग चर्च में भेड़ों के झुंड की भाँति एकत्र होते हैं।

प्रकार की सकरताएँ उत्पन्न हुई। सूर्य की धूप झुलसानेवाली होती थी और जिन लोगो पर पडती थी, उनका रग श्याम हो गया।

हिमालय पहाड पर रहनेवालो के गोरे रग की पारदर्शक आभा को भारतीय हिन्दू के काँसे के रग का होने मे पाँच पीढियो का समय लगता है।

कानन्द का एक भाई बहुत गोरा है और दूसरा उनसे अधिक साँवला है। उनके माता-पिता गोरे हैं। मुसलमानो से रक्षा करने के लिए स्त्रियो को पर्दे की कठोर प्रथा का पालन करना आवश्यक होने के कारण उन्हे घर के भीतर रहना पडता है, अत वे अधिक गौर वर्ण की होती हैं।

अमेरिकन पुरुषो की एक आलोचना

कानन्द ने अपनी आँखो मे एक आमोदयुक्त चमक के साथ कहा कि अमेरिका के पुरुष उन्हे विस्मित करते हैं। वे स्त्रियो की पूजा करने का दावा करते है, किन्तु उनका (कानन्द का) विचार है कि वे केवल यौवन और सौन्दर्य की पूजा करते है। वे कभी झुर्रियो और पके बालो से प्यार नही करते। वास्तव मे वे (वक्ता) इस विचार से प्रभावित हैं कि अमेरिका के पुरुषो के पास वृद्धाओ को जला देने का कोई चमत्कार है, जिसे निश्चय ही उन्होंने अपने पूर्वजो से प्राप्त किया था। आधुनिक इतिहास इसे डाइनो का जलाना कहता है। पुरुष ही डाइनो को दोषी ठहराते और दड देते थे और दडित की वृद्धावस्था ही उसे मृत्यु-स्थल तक ले जाती थी। इसलिए यह देखा जाता है कि स्त्रियो का जीवित जलाना केवल हिन्दू प्रथा ही नही है। उनका विचार है कि यदि यह याद रखा जाय कि ईसाई सघ सभी वृद्धाओ को जीवित जला देता था, तो हिन्दू विधवाओं के जलाये जाने के ऊपर अपेक्षाकृत कम त्रास व्यक्त किया जायगा।

जलाये जाने की तुलना

हिन्दू विधवा समारोह और गीतो के बीच मे, अपने बहुमूल्य वस्त्रो से सुसज्जित, अधिकाश मे यह विश्वास करते हुए कि इस प्रकार के कार्य का फल उसके और उसके परिवार के लिए स्वर्ग का गौरव होगा, मृत्यु-यन्त्रणा भोगने जाती थी। वह शहीद के रूप मे पूजी जाती थी और परिवार के आलेखो मे उसका नाम श्रद्धापूर्वक अकित किया जाता था।

यह प्रथा हम लोगों को चाहे जितनी बीभत्स प्रतीत होती हो, उस ईसाई डाइन से तुलना करने पर तो यह एक अधिक शुभ्र चित्र ही है, जिसे पहले ही से अपराधिनी समझकर दम घुटानेवाली काल-कोठरी मे डाल दिया जाता था, दोष स्वीकार करने

दिये हुए उनके विवरण मे ही उनके द्वारा एक सार्वजनिक भाषण दिये जाने की बात सुझायी। परन्तु चूँकि वे बिना किसी प्रदेश के बोलते हैं कुछ बातें जो उन्होंने व्यक्तिगत वार्तालाप मे बतायी उनके सार्वजनिक भाषण मे नहीं आयी। तब उनके मित्रो को भारी निराशा हुई। किन्तु एक महिला श्रोता ने उनकी शाम की बातचीत मे कही गयी कुछ बातो को कागज पर लिख लिया था और वे सर्वप्रथम समाचार पत्र मे आ रही हैं।

उच्च हिमालय की पठारी भूमि मे सर्वप्रथम आर्य आये और वहाँ आज के दिन तक ब्राह्मणो की विशुद्ध नस्ल पायी जाती है। वे ऐसे लोग हैं जिनके सम्बन्ध मे हम पश्चिम के लोग कल्पना मात्र कर सकते हैं। विचार, कार्य और क्रिया मे पवित्र और इतने ईमानदार कि किसी सार्वजनिक स्थान मे सोने से भरे थैले को छोड़ने के बीस वर्ष बाद वह सुरक्षित मिल जायगा। वे इतने सुन्दर हैं कि कालन के शब्दो मे 'खेतो मे किसी लड़की को देखने पर रुककर इस बात पर चमत्कृत होना पड़ता है कि ईश्वर ने ऐसी सुन्दर वस्तु की रचना की।' उनका शरीर सुडौल है आँखें और बाल काले और चमड़ी उस रंग की है जो रक्त दूध के गिलास मे डुबोयी अंगुली से गिरी हुई बूँदा से बनता है। वे शुद्ध नस्ल के हिन्दू हैं निर्दोष और निष्कलंक।

जहाँ तक उनके सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों का सम्बन्ध है पत्नी का दहेज केवल उसकी अपनी सम्पत्ति होती है वह पति की सम्पत्ति कभी नहीं होती। वह बिना पति की स्वीकृति के दान कर सकती है अथवा उसे बेच सकती है। उसको जो भी उपहार दिये जाते हैं यहाँ तक कि पति के भी उसीके है। वह उनका जैसा चाहे उपयोग करे।

स्त्री निर्भय होकर बाहर निकलती है। जितना पूर्ण विश्वास उसे अपने पास के लोगो से मिलता है, उतना ही वह मुक्त रहती है। हिमालय के घरों मे कोई जनाना भाग नहीं होता और भारत के घरो का एक ऐसा भाग है जहाँ धर्मप्रचारक भी नहीं पहुँचते। इन गाँवो तक पहुँचना कठिन है। ये लोग मुसलमानी प्रभाव से अछूते हैं और यहाँ तक पहुँचने के लिए बहुत कठिन दु साध्य चढाई चढनी पड़ती है तथा ये मुसलमानो और ईसाइयो दोनो के लिए अज्ञात हैं।

भारत के आदि निवासी

भारत के जगलो मे जगली जातियाँ रहती हैं अति जगली यहाँ तक कि नर भक्षी भी। यह भारत के आदिवासी है वे कभी आर्य या हिन्दू नहीं थे।

जब हिन्दू भारत मे बस गये और इसके विस्तृत क्षेत्र मे फैल गये उनम अनेक

प्रकार की सकरताएँ उत्पन्न हुई। सूर्य की धूप झुलसानेवाली होती थी और जिन लोगो पर पडती थी, उनका रग श्याम हो गया।

हिमालय पहाड पर रहनेवालो के गोरे रग की पारदर्शक आभा को भारतीय हिन्दू के काँसे के रग का होने मे पाँच पीढियो का समय लगता है।

कानन्द का एक भाई बहुत गोरा है और दूसरा उनसे अधिक साँवला है। उनके माता-पिता गोरे हैं। मुसलमानो से रक्षा करने के लिए स्त्रियो को पर्दे की कठोर प्रथा का पालन करना आवश्यक होने के कारण उन्हे घर के भीतर रहना पडता है, अत वे अधिक गौर वर्ण की होती हैं।

अमेरिकन पुरुषो की एक आलोचना

कानन्द ने अपनी आँखो मे एक आमोदयुक्त चमक के साथ कहा कि अमेरिका के पुरुष उन्हें विस्मित करते हैं। वे स्त्रियो की पूजा करने का दावा करते हैं, किन्तु उनका (कानन्द का) विचार है कि वे केवल यौवन और सौन्दर्य की पूजा करते हैं। वे कभी झुर्रियो और पके बालो से प्यार नही करते। वास्तव मे वे (वक्ता) इस विचार से प्रभावित हैं कि अमेरिका के पुरुषो के पास वृद्धाओ को जला देने का कोई चमत्कार है, जिसे निश्चय ही उन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त किया था। आधुनिक इतिहास इसे डाइनो का जलाना कहता है। पुरुष ही डाइनो को दोषी ठहराते और दड देते थे और दडित की वृद्धावस्था ही उसे मृत्यु-स्थल तक ले जाती थी। इसलिए यह देखा जाता है कि स्त्रियो का जीवित जलाना केवल हिन्दू प्रथा ही नही है। उनका विचार है कि यदि यह याद रखा जाय कि ईसाई सघ सभी वृद्धाओ को जीवित जला देता था, तो हिन्दू विधवाओं के जलाये जाने के ऊपर अपेक्षाकृत कम त्रास व्यक्त किया जायगा।

जलाये जाने की तुलना

हिन्दू विधवा समारोह और गीतो के बीच मे, अपने बहुमूल्य वस्त्रो से सुसज्जित, अधिकाश मे यह विश्वास करते हुए कि इस प्रकार के कार्य का फल उसके और उसके परिवार के लिए स्वर्ग का गौरव होगा, मृत्यु-यत्रणा भोगने जाती थी। वह शहीद के रूप मे पूजी जाती थी और परिवार के आलेखो मे उसका नाम श्रद्धापूर्वक अकित किया जाता था।

यह प्रथा हम लोगो को चाहे जितनी बीभत्स प्रतीत होती हो, उस ईसाई डाइन से तुलना करने पर तो यह एक अधिक शुभ्र चित्र ही है, जिसे पहले ही से अपराधिनी समझकर दम घुटानेवाली काल-कोठरी मे डाल दिया जाता था, दोष स्वीकार करने

दिये हुए उनके विवरण में ही उनके द्वारा एक सार्वजनिक भाषण दिये जाने की बात सुझायी। परन्तु चूँकि वे बिना किसी प्रवेश के बोलते हैं कुछ बातें जो उन्होंने व्यक्तिगत वार्तालाप में बतायी उनके सार्वजनिक भाषण में नहीं आयीं। तब उनके मित्रों को थोड़ी निराशा हुई। किन्तु एक महिला श्रोता ने उनकी शाम की बातचीत में कही गयी कुछ बातों को कागज पर लिख लिया था और वे सर्वप्रथम समाचार पत्र में आ रही हैं।

उच्च हिमालय की पठारी भूमि में सर्वप्रथम आर्य आये और वहाँ आज के दिन तक ब्राह्मणों की विशुद्ध नस्ल पायी जाती है। ये ऐसे लोग हैं जिनके सम्बन्ध में हम पश्चिम के लोग कल्पना मात्र कर सकते हैं। विचार, कार्य और क्रिया में पवित्र और इतने ईमानदार कि किसी सार्वजनिक स्थान में सोने से भरे थैले को छोड़ने के बीस वर्ष बाद वह सुरक्षित मिल जायगा। वे इतने सुन्दर हैं कि कानन के शब्दों में खेतों में किसी लड़की को देखने पर रुककर इस बात पर आश्चर्य होना पड़ता है कि ईश्वर ने ऐसी सुन्दर वस्तु की रचना की। उनका शरीर सुडौल है, आँखें और बाल काले और चमड़ी उस रंग की है जो रंग दूध के गिलास में [illegible] अंगुली से गिरी हुई बूँद से बनता है। ये शुद्ध नस्ल के हिन्दू हैं निर्मल और निष्कलुष।

जहाँ तक उनके सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों का सम्बन्ध है पत्नी का दहेज केवल उसकी अपनी सम्पत्ति होती है, वह पति की सम्पत्ति कभी नहीं होती। वह बिना पति की स्वीकृति के दान कर सकती है अथवा उसे बेच सकती है। उसको जो भी उपहार दिये जाते हैं यहाँ तक कि पति के भी उसीके हैं। वह उनका जैसा चाहे उपयोग करे।

स्त्री निर्भय होकर बाहर निकलती है। जितना पूर्ण विश्वास उसे अपने पास के लोगों से मिलता है उतना ही वह मुक्त रहती है। हिमालय के भागों में कोई जनाना भाग नहीं होता और भारत के भागों का एक ऐसा भाग है जहाँ धर्मप्रचारक भी नहीं पहुँचते। इन गाँवों तक पहुँचना कठिन है। ये लोग मुसलमानी प्रभाव से अछूते हैं और वहाँ तक पहुँचने के लिए बहुत कठिन दुसाध्य चढ़ाई चढ़नी पड़ती है तथा वे मुसलमानों और ईसाइयों दोनों के लिए अज्ञात हैं।

भारत के आदि निवासी

भारत के जंगलों में जंगली जातियाँ रहती हैं अति जंगली यहाँ तक कि नर भक्षी भी। यह भारत के आदिवासी हैं वे कभी आर्य या हिन्दू नहीं थे।

जब हिन्दू भारत में बस गये और इसके विस्तृत क्षेत्र में फैल गये उनमें [illegible]

प्रकार की सकरताएँ उत्पन्न हुई। सूर्य की धूप झुलसानेवाली होती थी और जिन लोगो पर पडती थी, उनका रग श्याम हो गया।

हिमालय पहाड पर रहनेवालो के गोरे रग की पारदर्शक आभा को भारतीय हिन्दू के काँसे के रग का होने मे पाँच पीढियो का समय लगता है।

कानन्द का एक भाई बहुत गोरा है और दूसरा उनसे अधिक साँवला है। उनके माता-पिता गोरे हैं। मुसलमानो से रक्षा करने के लिए स्त्रियो को पर्दे की कठोर प्रथा का पालन करना आवश्यक होने के कारण उन्हे घर के भीतर रहना पडता है, अत वे अधिक गौर वर्ण की होती हैं।

अमेरिकन पुरुषो की एक आलोचना

कानन्द ने अपनी आँखो मे एक आमोदयुक्त चमक के साथ कहा कि अमेरिका के पुरुष उन्हें विस्मित करते हैं। वे स्त्रियो की पूजा करने का दावा करते हैं, किन्तु उनका (कानन्द का) विचार है कि वे केवल यौवन और सौन्दर्य की पूजा करते हैं। वे कभी झुर्रियो और पके बालो से प्यार नही करते। वास्तव मे वे (वक्ता) इस विचार से प्रभावित हैं कि अमेरिका के पुरुषो के पास वृद्धाओ को जला देने का कोई चमत्कार है, जिसे निश्चय ही उन्होने अपने पूर्वजो से प्राप्त किया था। आधुनिक इतिहास इसे डाइनो का जलाना कहता है। पुरुष ही डाइनो को दोषी ठहराते और दड देते थे और दडित की वृद्धावस्था ही उसे मृत्यु-स्थल तक ले जाती थी। इसलिए यह देखा जाता है कि स्त्रियो का जीवित जलाना केवल हिन्दू प्रथा ही नही है। उनका विचार है कि यदि यह याद रखा जाय कि ईसाई सघ सभी वृद्धाओ को जीवित जला देता था, तो हिन्दू विधवाओ के जलाये जाने के ऊपर अपेक्षाकृत कम त्रास व्यक्त किया जायगा।

जलाये जाने की तुलना

हिन्दू विधवा समारोह और गीतो के बीच मे, अपने बहुमूल्य वस्त्रो से सुसज्जित, अधिकाश मे यह विश्वास करते हुए कि इस प्रकार के कार्य का फल उसके और उसके परिवार के लिए स्वर्ग का गौरव होगा, मृत्यु-यत्रणा भोगने जाती थी। वह शहीद के रूप मे पूजी जाती थी और परिवार के आलेखो मे उसका नाम श्रद्धापूर्वक अकित किया जाता था।

यह प्रथा हम लोगो को चाहे जितनी बीभत्स प्रतीत होती हो, उस ईसाई डाइन से तुलना करने पर तो यह एक अधिक शुभ्र चित्र ही है, जिसे पहले ही से अपराधिनी समझकर दम घुटानेवाली काल-कोठरी मे डाल दिया जाता था, दोष स्वीकार करने

के लिए जिसे निर्दयतापूर्ण यंत्रणा दी जाती थी, जिसकी छिनौनी सी सुनवाई होती थी, जिसे खिल्ली उड़ाते हुए लोगों के बीच से खम्भे (जिसमें बाँधकर आदमी को जिन्दा जला दिया जाता था) तक खींच लाया जाता था, और जिसे अपने यातना-काल में दर्शकों द्वारा यह सान्त्वना मिलती थी कि उसके शरीर का जलाना तो केवल नरक की उस अनन्त आग का प्रतीक है, जिसमें उसकी आत्मा इससे भी अधिक यंत्रणा भोगेगी।

माताएँ पवित्र हैं

स्वामी जी कहते हैं कि हिन्दू को मातृत्व के सिद्धान्त की उपासना करने की शिक्षा दी जाती है। माता पत्नी से बढ़कर होती है। माँ पवित्र होती है। उसके मन में ईश्वर के प्रति पितृभाव की अपेक्षा मातृभाव अधिक है।

सभी स्त्रियाँ चाहे वे किसी जाति की हों, शारीरिक दंड से मुक्त रहती हैं। यदि कोई स्त्री हत्या कर डाले तो उसकी जान नहीं ली जाती। उसे एक गधे पर पूँछ की ओर मुँह करके बैठाया जा सकता है। इस प्रकार सड़क पर घुमाते समय डुग्गी पीटनेवाला उसके अपराध को उच्च स्वर में कहता चलता है, जिसके बाद वह मुक्त कर दी जाती है। उसका इस तिरस्कार को भविष्य के अपराधों की रोक-थाम के लिए पर्याप्त दंड माना जाता है।

यदि वह प्रायश्चित्त करना चाहे, तो उसके लिए धार्मिक आश्रमों के द्वार खुले हैं, जहाँ वह शुद्ध हो सकती है और अपनी इच्छानुसार तुरन्त संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर सकती है तथा इस प्रकार वह पवित्र स्त्री बन सकती है।

स्वामी जी से पूछा गया कि उनके ऊपर बिना किसी वरिष्ठ अधिकारी के उन्हें संन्यास-आश्रम में इस प्रकार प्रविष्ट होने की स्वतंत्रता देने से, जैसा उन्होंने स्वीकार किया है, क्या हिन्दू दार्शनिकों की पवित्रतम व्यवस्था में दम्भ की उत्पत्ति नहीं हो जाती है? स्वामी जी ने इसे स्वीकार किया, किन्तु बताया कि जनता और संन्यासी के बीच में कोई नहीं आता। संन्यासी जातिगत बंधन को तोड़ डालता है। एक निम्नजातीय हिन्दू को ब्राह्मण स्पर्श नहीं करता, किन्तु यदि वह संन्यासी हो जाय तो बड़े से बड़े लोग उस निम्नजातीय संन्यासी के चरणों में नत होंगे।

लोगों के लिए संन्यासी का भरण-पोषण करना कर्तव्य है, लेकिन तभी तक जब तक वे उसकी सच्चाई में विश्वास करते हैं। यदि एक बार भी उसके ऊपर दम्भ का आरोप हुआ, तो उसे ढोंगी कहा जाता है और वह अपमानजनक भिक्षुक मात्र बनकर रह जाता है—दर दर का भिखारी, आदर भाव जगाने में असमर्थ।

अन्य विचार

एक राजपुत्र भी स्त्री को मार्ग देता है। जब विद्याकाक्षी यूनानी भारत मे हिन्दुओ के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने आये, उनके लिए सभी द्वार खुले थे, किन्तु जब मुसलमान अपनी तलवार के साथ और अंग्रेज अपनी गोलियो के साथ आये, तब वे द्वार बद हो गये। ऐसे अतिथियो का स्वागत नही हुआ। जैसा कि कानन्द ने सुन्दर शब्दो मे कहा, "जब बाघ आता है, तब हम लोग उसके चले जाने तक द्वार बन्द रखते हैं।"

कानन्द कहते है कि सयुक्त राज्य ने उनके हृदय मे भविष्य मे महान् सम्भावनाओ की आशा उत्पन्न की है। किन्तु हमारा भाग्य, सारे ससार के भाग्य के सदृश, आज क़ानून बनानेवालो पर निर्भर नही करता, वरन् स्त्रियो पर निर्भर करता है। श्री कानन्द के शब्द हैं 'तुम्हारे देश का उद्धार उसकी स्त्रियो के ऊपर निर्भर करता है।'

*　　　*　　　*

मनुष्य का दिव्यत्व

(एडा रेकार्ड, २८ फरवरी, १८९३ ई०)

गत शुक्रवार (२२ फरवरी) की शाम को 'मनुष्य का दिव्यत्व' विषय पर हिन्दू सन्यासी स्वामी विव कानन्द (विवेकानन्द) का व्याख्यान सुनने के लिए सगीत-नाट्यशाला श्रोताओ से भर गयी थी।

उन्होने कहा कि सभी धर्मों का मूलभूत आधार आत्मा मे विश्वास करना है। आत्मा मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है और वह मन तथा जड दोनो से परे है। फिर उन्होंने इस कथन का प्रतिपादन आरम्भ किया। जड वस्तुओ का अस्तित्व किसी अन्य पर निर्भर है। मन मरणशील है, क्योकि वह परिवर्तनशील है। मृत्यु परिवर्तन मात्र है।

आत्मा मन का प्रयोग एक उपकरण के रूप मे करती है और उसके माध्यम से शरीर को प्रभावित करती है। आत्मा को उसके सामर्थ्य के बारे मे सचेत बनाना चाहिए। मनुष्य की प्रकृति निर्मल और पवित्र है, लेकिन वह आच्छादित हो जाती है। हमारे धर्म का मत है कि प्रत्येक आत्मा अपने प्रकृतस्वरूप को पुन प्राप्त करने

की चेष्टा कर रही है। हमारे यहाँ धन-समाज का विश्वास है कि आत्मा की व्यक्तिगत सत्ता है। हमें यह उपदेश देने का निषेध है कि केवल हमारा ही धर्म सही है। अपना व्याख्यान जारी रखते हुए वक्ता ने कहा "मैं आत्मा हूँ जड़ नहीं हूँ। पाश्चात्य धर्म यह आशा प्रकट करता है कि हम अपने शरीर के साथ पुन रहना है। हम लोगों का धर्म सिखाता है कि ऐसी अवस्था हो नहीं सकती। हम उद्धार के स्थान पर आत्मा की मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं।" मुख्य व्याख्यान केवल ३ मिनट तक हुआ लेकिन व्याख्यान-समिति के अध्यक्ष ने घोषणा की थी कि वक्तृता की समाप्ति के उपरान्त वक्ता महोदय से जो भी प्रश्न पूछे जायेंगे वे उनका उत्तर देंगे। उन्होंने इस प्रकार जो अवसर दिया उसका खूब लाभ उठाया गया। इन प्रश्नों को पूछनेवालों में धर्मोपदेशक और प्रोफ़ेसर, डॉक्टर और दार्शनिक नागरिक और छात्र सन्त तथा पातकी सभी थे। कुछ प्रश्न लिखकर पूछे गये थे और दर्जनों व्यक्तियों ने तो अपने स्थान पर खड़े होकर सीधे ही प्रश्न किया। वक्ता महोदय ने सभी के प्रश्नों का जवाब बड़ी नम्रतापूर्वक दिया—उनके द्वारा प्रयुक्त 'नम्रता' शब्द पर ध्यान दीजिए—और कई दृष्टान्त तो ऐसे मिले, जब प्रश्नकर्ता हँसी के पात्र बन गये। लगभग एक घंटे तक उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगाये रखी। तब वक्ता महोदय ने और अधिक श्रम से त्राण पाने की अनुमति माँगी। फिर भी ऐसे प्रश्नों की ढेरी लगी थी जिनका तब तक उत्तर नहीं दिया जा सका था। कई प्रश्नों को वह बड़ी कुशलता से टाल गये। उनके उत्तरों से हिन्दू धर्म तथा उसकी शिक्षा के विषय में हम निम्नलिखित अतिरिक्त वक्तव्य संग्रह कर सके—वे मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। उनके यहाँ एक यह भी उल्लेख है कि उनके भगवान् कृष्ण का जन्म उत्तर भारत में किसी कुमारी से ५ वर्ष पूर्व हुआ था। बाइबिल में ईसा का जो इतिहास दिया गया है उससे यह कथा बहुत मिलती-जुलती है, केवल अन्तर यह है कि उनके भगवान् दुर्घटना में मारे गये। विकास और आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति पर उनका विश्वास है अर्थात् हमारी आत्माओं का निवास किसी समय पशी मछली और पशुशरीरों में था हम कोई दूसरे प्राणी थे और मृत्यु के उपरान्त हम किसी दूसरी योनि में जन्म लेंगे। जब उनसे पूछा गया कि इस लोक में आने के पूर्व ये आत्माएँ कहाँ थीं तो उन्होंने कहा कि दूसरे लोकों में थीं। समस्त सत्ता का स्थायी आधार आत्मा है। कोई ऐसा काल नहीं है जब ईश्वर नहीं था इसलिए कोई ऐसा काल नहीं है जब सृष्टि नहीं थी। बौद्ध लोग किसी सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं करते मैं बौद्ध नहीं हूँ। मुहम्मद की पूजा उस दृष्टि से नहीं होती जिस दृष्टि से ईसा की होती है। ईसा में मुहम्मद की आस्था तो थी परन्तु उनके ईश्वर होने का वे खंडन करते थे। पृथ्वी पर मानवता का आविर्भाव विकास

क्रम से हुआ और विशेष चयन (सृष्टि) द्वारा नही। ईश्वर स्रष्टा है, प्रकृति सृष्टि है। बच्चो के लिए प्रार्थना करने के अतिरिक्त हम लोग प्रार्थना नही करते और वह भी केवल मन को सुधारने के लिए। पाप के लिए दण्ड अपेक्षाकृत तत्काल मिल जाता है। हमारे कर्म आत्मा के नही है और इसलिए वे अपवित्र हो सकते हैं। वह हमारी जीवात्मा है, जो पूर्ण और पवित्र बनती है। आत्मा के लिए कोई विश्राम-स्थल नही है। उसमे जड तत्त्व के गुण नही है। मनुष्य तब पूर्णावस्था प्राप्त कर लेता है, जब उसे अपने आत्मा होने का पक्का अनुभव हो जाता है। आत्मा की प्रकृति की अभिव्यक्ति धर्म है। जो अन्त करण की जितनी ही अधिक गहराई तक देखता है, वह अन्य की अपेक्षा उतना ही अधिक पवित्र है। ईश्वर की पावनता का अनुभव करना ही उपासना है। हमारा धर्म धार्मिक प्रचार पर विश्वास नही करता और वह सिखाता है कि मनुष्य को प्रेम के लिए ईश्वर-प्रेम करना चाहिए और स्वय की अपेक्षा पडोसी के प्रति प्रेम रखना चाहिए। पश्चिम के लोग अत्यधिक सघर्ष करते हैं, विश्रान्ति सभ्यता का अवयव है। हम अपनी दुर्बलताओ को ईश्वर को अर्पित नही करते। हमारे यहाँ धर्मो के सम्मिलन की प्रवृत्ति रही है।

एक हिन्दू सन्यासी

(बे सिटी टाइम्स प्रेस, २१ मार्च, १८९४ ई०)

कल रात उन्होंने सगीत-नाट्यशाला मे रोचक व्याख्यान दिया। ऐसा बिरला ही अवसर मिलता है, जब बे सिटी की जनता को स्वामी विव कानन्द की कल सायकाल की सी वक्तृता सुनने को सुलभ होती हो। ये सज्जन भारतीय हैं, जिनका जन्म लगभग ३० वर्ष पूर्व कलकत्ते मे हुआ था। जब वक्ता को डॉक्टर सी० टी० न्यूकर्क ने परिचित कराया, तब सगीत-नाट्यशाला की निचली मजिल लगभग आधी भरी हुई थी। उन्होने अपने प्रवचन मे इस देश के लोगो की यह विशेषता बतायी कि वे सर्वशक्तिमान डालर देव की पूजा करते हैं। यह सच है कि भारत मे जाति-व्यवस्था है। वहाँ कोई हत्यारा शीर्ष तक नही पहुँच सकता। यहाँ अगर वह सौ डालर पाता है, तो उतना ही भला माना जाता है, जितना अन्य कोई आदमी। भारत मे यदि कोई एक बार अपराधी हो गया, तो सदा के लिए पतित मान लिया जाता है। हिन्दू धर्म मे एक बडी विशेषता यह है कि वह अन्य धर्मो तथा धार्मिक विश्वासो के प्रति सहिष्णु है। मिशनरी अन्य पूर्वी देशो के धर्मों की अपेक्षा भारत के धर्मों के प्रति अत्यधिक कठोर हैं, क्योकि हिन्दू सहिष्णुता के अपने आधारभूत विश्वास का परिपालन करते हैं और इस प्रकार उन्हें कठोर होने

की चेष्टा कर रही है। हमारे यहाँ जन-समाज का विश्वास है कि आत्मा की व्यक्तिगत सत्ता है। हमें यह उपदेश देने का निषेध है कि केवल हमारा ही धर्म सही है। अपना व्याख्यान जारी रखते हुए वक्ता ने कहा "मैं आत्मा हूँ जड़ नहीं हूँ। पाश्चात्य धर्म यह आशा प्रकट करता है कि हमें अपने शरीर के साथ पुनः रहना है। हम लोगों का धर्म सिखाता है कि ऐसी अवस्था हो नहीं सकती। हम उद्धार के स्थान पर आत्मा की मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। मुख्य व्याख्यान केवल ३ मिनट तक हुआ लेकिन व्याख्यान-समिति के अध्यक्ष ने घोषणा की थी कि वक्तृता की समाप्ति के उपरान्त वक्ता महोदय से जो भी प्रश्न पूछे जायँगे वे उनका उत्तर देंगे। उन्होंने इस प्रकार जो अवसर दिया उसका खूब लाभ उठाया गया। इन प्रश्नों को पूछनेवालों में धर्मोपदेशक और प्रोफेसर, डॉक्टर और दार्शनिक नागरिक और छात्र सन्त तथा पातकी सभी थे। कुछ प्रश्न लिखकर पूछे गये थे और दर्जनों व्यक्तियों ने तो अपने स्थान पर खड़े होकर सीधे ही प्रश्न किया। वक्ता महोदय ने सभी के प्रश्नों का जवाब बड़ी भद्रतापूर्वक दिया—उनके द्वारा प्रयुक्त 'कृपया' शब्द पर ध्यान दीजिए—और कई दृष्टान्त तो ऐसे मिले जब प्रश्नकर्ता हँसी के पात्र बन गये। लगभग एक घंटे तक उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगाये रखी। तब वक्ता महोदय ने और अधिक श्रम से त्राण पाने की अनुमति माँगी। फिर भी ऐसे प्रश्नों की ढेरी लगी थी जिनका तब तक उत्तर नहीं दिया जा सका था। कई प्रश्नों को वह बड़ी कुशलता से टाल गये। उनके उत्तरों से हिन्दू धर्म तथा उसकी शिक्षा के विषय में हम निम्नलिखित अतिरिक्त वक्तव्य संग्रह कर सके—वे मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। उनके यहाँ एक यह भी उल्लेख है कि उनके भगवान् कृष्ण का जन्म उत्तर भारत में किसी कुमारी से ५ वर्ष पूर्व हुआ था। बाइबिल में ईसा का जो इतिहास दिया गया है, उससे यह कथा बहुत मिलती-जुलती है, केवल अन्तर यह है कि उनके भगवान् दुर्घटना में मारे गये। विकास और आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति पर उनका विश्वास है अर्थात् हमारी आत्माओं का निवास किसी समय पक्षी, मछली और पशुशरीरों में था, हम कोई दूसरे प्राणी थे और मृत्यु के उपरान्त हम किसी दूसरी योनि में जन्म लेंगे। जब उनसे पूछा गया कि इस लोक में आने के पूर्व ये आत्माएँ कहाँ थीं तो उन्होंने कहा कि दूसरे लोकों में थीं। समस्त सत्ता का स्थायी आधार आत्मा है। कोई ऐसा काल नहीं है, जब ईश्वर नहीं था इसलिए कोई ऐसा काल नहीं है जब सृष्टि नहीं थी। बौद्ध लोग किसी सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं करते मैं बौद्ध नहीं हूँ। मुहम्मद की पूजा उस दृष्टि से नहीं होती जिस दृष्टि से ईसा की होती है। ईसा में मुहम्मद की आस्था तो थी परन्तु उनके ईश्वर होने का वे खण्डन करते थे। पृथ्वी पर प्राणियों का आविर्भाव विकास-

६,००,००० ईसाई हैं और उनमे से २,५०,००० कैथोलिक हैं। हमारे देश के लोग आम तौर पर ईसाई धर्म को अगीकार नही करते, वे स्वधर्म मे ही सन्तुष्ट है। कुछ लोग धन के लोभ से ईसाई बन जाते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जो कुछ करने के लिए वे स्वतन्त्र हैं। हम लोगो का कहना है कि हर एक को स्वय अपना अपना धर्म अपनाने दो। हम लोगो का राष्ट्र चतुर है। रक्तपात मे हमारी आस्था नही है। हमारे देश मे, तुम लोगो के देश की भाँति, खल लोग है, जो बहुसख्या मे हैं। यह आशा करना युक्तिसगत नही है कि सब लोग देवदूत है।"

आज रात विव कानन्द सैगिना मे व्याख्यान देंगे।

कल रात का भाषण

कल सायकाल जब भाषण आरम्भ हुआ, तब सगीत-नाट्यशाला का निचला भाग काफी भरा हुआ था। ठीक ८ बज कर १५ मिनट पर स्वामी विव कानन्द मच पर पधारे। वे सुन्दर पूर्वी वेशभूषा मे थे। डॉ० सी० टी० न्यूकर्क ने थोडे से शब्दो मे उनका परिचय दिया।

प्रवचन के पूर्वार्द्ध मे भारत के विभिन्न धर्मों तथा आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति के सिद्धान्त की व्याख्या थी। आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति के विषय मे वक्ता महोदय ने कहा कि इसका आधार वही है, जो वैज्ञानिक के लिए जड पदार्थों के अविनाशत्व का है। इस दूसरे सिद्धान्त का प्रथम प्रणेता, उनके कथनानुसार, उन्हीके देश का एक दार्शनिक था। वे सृष्टि-रचना मे विश्वास नही करते। किसी सृष्टि-रचना के अन्तर्गत बिना किसी उपादान के किसी वस्तु की रचना का भाव निहित है। वह असम्भव है। जैसे काल का कोई आदि नही, वैसे ही सृष्टि का कोई आदि नही है। ईश्वर तथा काल दो रेखाएँ हैं—अनन्त, अनादि और अ (?) समानान्तर। सृष्टि के बारे मे उनका सिद्धान्त है कि 'वह है, थी, और रहेगी।' उनका विचार है कि दण्ड प्रतिक्रिया मात्र हैं। यदि हम अपना हाथ आग मे डालते हैं, तो वह जल जाता है। वह क्रिया की प्रतिक्रिया है। वर्तमान दशा से जीवन की भावी दशा निर्धारित होती है। उनका यह विश्वास नही है कि ईश्वर दण्ड देता है। वक्ता ने कहा कि इस देश मे तुम उस मनुष्य की प्रशसा करते हो, जो क्रोध नही करता और उस व्यक्ति की भर्त्सना करते हो, जो क्रुद्ध हो जाता है। और फिर भी इस देश मे नित्य हज़ारो व्यक्ति ईश्वर पर अभियोग लगाते हैं कि वह कुपित है। प्रत्येक व्यक्ति नीरो की भर्त्सना करता है, क्योकि जब रोम जल रहा था, तब वह बैठा हुआ अपना वेला बजा रहा था, और आज भी तुम्हारे देश के लोग वैसा ही अभियोग ईश्वर पर लगाते हैं।

का अवसर प्रदान करते हैं। कानन्द (स्वामी विवेकानन्द) उच्च शिक्षा-प्राप्त और सुसंस्कृत सज्जन हैं। कहा जाता है कि डिट्रायट में उनसे पूछा गया कि क्या हिन्दू अपने बच्चों को नदी में फेंक देते हैं, तो उन्होंने जवाब दिया कि वे ऐसा नहीं करते और न वे जादू-टोना करनेवाली स्त्रियों को चिता में जलाते हैं। आज रात वक्ता महोदय का भाषण सैगिना में होगा।

भारत पर स्वामी विव कानन्द के विचार

(बे सिटी डेली ट्रिब्यून २१ मार्च १८९४ ई)

कल बे सिटी में विशिष्ट आगन्तुक हिन्दू संन्यासी स्वामी विव कान " का पदार्पण हुआ जिनकी बड़ी चर्चा है। वे डिट्रायट से दोपहर में यहाँ पहुँचे और तुरत सैगर हाउस रवाना हो गये। डिट्रायट में वे सेनेटर पामर के अतिथि थे।

कानन्द ने अपने देश का मनोरंजक वर्णन किया और इस देश के विषय में अपने अनुभव सुनाये। वे प्रशान्त महासागर के मार्ग से अमेरिका आये और अटला न्टिक के मार्ग से लौटेंगे। उन्होंने कहा यह महान् देश है, लेकिन यहाँ रहना मुझे पसन्द न होगा। अमरिकन लोग पैसे के बारे में बहुत सोचते हैं। वे उसे और सब चीजों से बढ़कर मानते हैं। तुम्हारे देश के लोगों को बहुत कुछ सीखना है। जब तुम्हारा राष्ट्र उतना प्राचीन हो जायगा जितना हमारा है तब तुम लोग आज की अपेक्षा अधिक विचारशील हो जाओगे। मुझे शिकागो बहुत पसंद है और डिट्रायट बढ़िया स्थान है।

जब उनसे पूछा गया कि आपका कब तक अमेरिका में रहने का इरादा है तब उन्होंने उत्तर दिया 'मुझे मालूम नहीं। मैं तुम्हारे देश का अधिकांश देखना चाहता हूँ। यहाँ से मैं पूर्व जाऊँगा और कुछ समय बोस्टन तथा न्यूयार्क में बिता ऊँगा। मैं बोस्टन गया हूँ लेकिन ठहरने के लिए नहीं। जब मैं अमरिका देख लूँगा तब मैं यूरोप जाऊँगा। यूरोप जाने को मैं बहुत इच्छुक हूँ। मैं वहाँ कभी नहीं गया हूँ।

[illegible] ने अपने विषय में बताया कि उनकी आयु ३[illegible] वर्ष है। उनका जन्म [illegible] में हुआ और उस नगर के कॉलेज में उन्हें शिक्षा मिली। अपने [illegible] धर्म के [illegible] देश के सभी भागों में जाना पड़ता है और हर समय वे [illegible] के [illegible] में रहते हैं।

उन्होंने कहा भारत की जनसंख्या २८५ [illegible] है। इनमें से ६५ [illegible] मुसलमान हैं और [illegible] में से अधिकांश हिन्दू हैं। [illegible] में केवल [illegible]

६,००,००० ईसाई है और उनमे से २,५०,००० कैथोलिक है। हमारे देश के लोग आम तौर पर ईसाई धर्म को अगीकार नही करते, वे स्वधर्म मे ही सन्तुष्ट हैं। कुछ लोग धन के लोभ से ईसाई बन जाते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जो कुछ करने के लिए वे स्वतन्त्र है। हम लोगो का कहना है कि हर एक को स्वय अपना अपना धर्म अपनाने दो। हम लोगो का राष्ट्र चतुर है। रक्तपात मे हमारी आस्था नही है। हमारे देश मे, तुम लोगो के देश की भाँति, खल लोग हैं, जो बहुसख्या मे हैं। यह आशा करना युक्तिसगत नही है कि सब लोग देवदूत हैं।"

आज रात विव कानन्द सैगिना मे व्याख्यान देंगे।

कल रात का भाषण

कल सायकाल जब भाषण आरम्भ हुआ, तब सगीत-नाट्यशाला का निचला भाग काफी भरा हुआ था। ठीक ८ बज कर १५ मिनट पर स्वामी विव कानन्द मच पर पधारे। वे सुन्दर पूर्वी वेशभूषा मे थे। डॉ० सी० टी० न्यूकर्क ने थोडे से शब्दो मे उनका परिचय दिया।

प्रवचन के पूर्वार्द्ध मे भारत के विभिन्न धर्मों तथा आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति के सिद्धान्त की व्याख्या थी। आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति के विषय मे वक्ता महोदय ने कहा कि इसका आधार वही है, जो वैज्ञानिक के लिए जड पदार्थों के अविनाशत्व का है। इस दूसरे सिद्धान्त का प्रथम प्रणेता, उनके कथनानुसार, उन्हींके देश का एक दार्शनिक था। वे सृष्टि-रचना में विश्वास नहीं करते। किसी सृष्टि-रचना के अन्तर्गत बिना किसी उपादान के किसी वस्तु की रचना का भाव निहित है। वह असम्भव है। जैसे काल का कोई आदि नहीं, वैसे ही सृष्टि का कोई आदि नही है। ईश्वर तथा काल दो रेखाएँ हैं—अनन्त, अनादि और अ (?) समानान्तर। सृष्टि के बारे मे उनका सिद्धान्त है कि 'वह है, थी, और रहेगी।' उनका विचार है कि दण्ड प्रतिक्रिया मात्र हैं। यदि हम अपना हाथ आग मे डालते हैं, तो वह जल जाता है। वह क्रिया की प्रतिक्रिया है। वर्तमान दशा से जीवन की भावी दशा निर्धारित होती है। उनका यह विश्वास नही है कि ईश्वर दण्ड देता है। वक्ता ने कहा कि इस देश मे तुम उस मनुष्य की प्रशसा करते हो, जो क्रोध नही करता और उस व्यक्ति की भर्त्सना करते हो, जो क्रुद्ध हो जाता है। और फिर भी इस देश मे नित्य हजारो व्यक्ति ईश्वर पर अभियोग लगाते हैं कि वह कुपित है। प्रत्येक व्यक्ति नीरो की भर्त्सना करता है, क्योकि जब रोम जल रहा था, तब वह बैठा हुआ अपना बेला बजा रहा था, और आज भी तुम्हारे देश के लोग वैसा ही अभियोग ईश्वर पर लगाते हैं।

हिन्दुओं के धर्म में उद्धारवाद का कोई सिद्धान्त नहीं है। ईसा केवल पथ प्रदर्शक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष दिव्य प्राणी है पर मानो वह एक पर्दे से ढका है जिसे उसका धर्म हटाने का प्रयत्न कर रहा है। उसे हटाने को ईसाई उद्धार कहते हैं और वे मुक्ति कहते हैं। ईश्वर जगत् का रचयिता, पालक और संहारक है।

फिर वक्ता महोदय ने अपने देश के धर्म का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि यह सिद्ध किया जा चुका है कि रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की पूरी धर्म-व्यवस्था बौद्ध धर्मग्रंथों से ली गयी है। पश्चिम के लोगों को भारत से एक चीज सीखनी चाहिए—सहिष्णुता।

जिन अन्य विषयों पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया और जिनकी सांगोपांग विवेचना की, वे निम्नलिखित हैं—ईसाई धर्मप्रचारक, प्रेसबिटेरियन चर्च का धर्मोत्साह और उसकी असहिष्णुता, इस देश में डालर-पूजा और पुरोहित। उन्होंने कहा कि ये पुरोहित लोग डालरों के बारे में हैं और उसी में लिप्त हैं और उन्होंने यह जानना चाहा कि यदि उन्हें अपने वेतन के लिए ईश्वर पर अवलम्बित रहना पड़े तो वे कितने दिनों तक चर्च में टिक सकेंगे। भारत की जाति-प्रथा, दक्षिण की हमारी सभ्यता और मतविषयक हमारे सामान्य ज्ञान तथा अन्य विविध विषयों पर संक्षेप में भाषण करने के बाद वक्ता महोदय ने उपसंहार किया।

धार्मिक समन्वय

(सैगिना इवनिंग न्यूज़, २२ मार्च, १८९४ ई०)

कल सायंकाल संगीत एकेडेमी में छोटी सी किन्तु गहरी दिलचस्पी रखनेवाली श्रोतामण्डली के समक्ष अधिक पर्यालोचित हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने 'धर्मों के समन्वय' विषय पर भाषण किया। वे पूर्वी वेशभूषा धारण किये हुए थे और उनका बड़ा ही हार्दिक स्वागत किया गया। माननीय रोलैंड कोनोर ने बड़े ललित ढंग से वक्ता महोदय का परिचय कराया, जिन्होंने अपनी वक्तृता के पूर्वार्द्ध में भारत के विभिन्न धर्मों की व्याख्या की। उन्होंने आत्मा के देहान्तर-गमन के सिद्धान्त की भी व्याख्या की। आर्यों ने भारत पर सर्वप्रथम आक्रमण किया लेकिन उन्होंने भारत की जनता के मूलोच्छेदन का प्रयास नहीं किया, जैसा कि ईसाइयों ने हर नये देश में प्रवेश करने पर किया है, बल्कि उन व्यक्तियों को ऊपर उठाने का प्रयास किया गया, जिनका स्वभाव पाशविक था। हिन्दू अपने ही देश के उन लोगों से भिन्न हैं, जो स्नान नहीं करते और मृत पशुओं का मांस भक्षण करते हैं। उत्तर

भारत के लोगो ने दक्षिण भारतीयो पर अपना आचार लादने का प्रयत्न नही किया, लेकिन दक्षिणवालो ने उत्तरवालो की बहुत सी रीतियो को धीरे धीरे अपना लिया। भारत के धुर दक्षिणी भाग में कुछ ईसाई हैं, जो उस धर्म मे हजारो (?) वर्षों से रहे है। स्पेनी लोग ईसाई मत को लेकर लका पहुँचे। स्पेनवाले सोचते थे कि उन्हे उनके भगवान् का आदेश है कि गैर ईसाइयो को मार डालो और उनके मदिरो को विध्वस्त कर दो।

यदि विभिन्न धर्म न हो, तो कोई धर्म जीवित नही रह सकता। ईसाई को अपने स्वार्थपरायण धर्म की आवश्यकता है। हिन्दू को अपने धर्म की आवश्यकता है। जिनकी स्थापना किसी धर्मग्रथ पर की गयी थी, वे आज भी टिके हैं। ईसाई लोग यहूदियो को अपने धर्म मे क्यो नही ला सके ? वे फारस के निवासियो को ईसाई क्यो नही बना सके ? वैसा ही मुसलमानो के साथ क्यो नही कर सके ? चीन या जापान पर उस तरह का प्रभाव क्यो नही डाला जा सकता ? प्रथम मिशनरी धर्म बौद्धो का था। उनके धर्म मे अन्य किसी भी धर्म की तुलना मे धर्म-परिवर्तन द्वारा आये हुए लोगो की सख्या दुगुनी है और उन्होंने एतदर्थ तलवार का प्रयोग नही किया था। मुसलमानो ने शक्ति का प्रयोग सर्वाधिक किया और तीन मिशनरी धर्मों मे से इसलाम को माननेवालो की सख्या सबसे कम है। मुसलमानो के अपने वैभव के दिन थे। प्रतिदिन तुम रक्तपात द्वारा ईसाई राष्ट्रों के नये देशो पर आधिपत्य के समाचार पढ़ते हो। कौन से मिशनरी इसके विरोध मे उपदेश देते हैं ? सर्वाधिक रक्तपिपासु राष्ट्र एक ऐसे तथाकथित धर्म की प्रशसा के गीत क्यो गाते हैं, जो ईसा का धर्म नही था ? यहूदी और अरब ईसाई मत के जनक थे और ईसाइयो द्वारा उनका कितना उत्पीडन हुआ है। भारत मे ईसाइयो की ठीक तौल हो गयी है और वे सदोष सिद्ध हुए हैं।

वक्ता महोदय ने ईसाइयो के प्रति अनुदार होने की इच्छा न होने पर भी यह प्रकट करना चाहा कि दूसरो की दृष्टि मे वे कैसे दिखायी पडते हैं। जो मिशनरी प्रज्वलित गर्त का उपदेश देते हैं, उनके प्रति लोगो मे सत्रास का भाव है। मुसलमानो न नगी तलवारें नचाते हुए वारबार भारत को पदाक्रान्त किया, और आज वे कहाँ हैं ? सभी धर्म जहाँ सुदूरतम देख सकते हैं, वह है एक आध्यात्मिक तत्त्व। इसलिए कोई धर्म इस बिंदु से आगे की शिक्षा नही दे सकता। प्रत्येक धर्म मे सारभूत सत्य होता है और असारभूत मजूषा होती है, जिसमे यह रत्न रखा रहता है। यहूदी धर्मशास्त्र या हिन्दू धर्मशास्त्र मे विश्वास रखना गौण है। परिस्थितियाँ बदलती हैं, पात्र भिन्न हो जाता है, किन्तु सारभूत सत्य बना रहता है। सारभूत सत्य वही रहते हैं, इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के शिक्षित लोग सारभूत सत्यो को अपने

हिन्दुओं के धर्म में उद्धारवाद का कोई सिद्धान्त नहीं है। ईसा केवल पथ प्रदर्शक हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष दिव्य प्राणी है, पर मानो वह एक पर्दे से ढका है जिसे उसका धर्म हटाने का प्रयत्न कर रहा है। उसे हटाने को ईसाई उद्धार कहते हैं और वे मुक्ति कहते हैं। ईश्वर जगत् का रचयिता, पालक और संहारक है।

फिर वक्ता महोदय ने अपने देश के धर्म का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि यह सिद्ध किया जा चुका है कि रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की पूरी धर्म-व्यवस्था बौद्ध धर्मग्रन्थों से ली गयी है। पश्चिम के लोगों को भारत से एक चीज सीखनी चाहिए—सहिष्णुता।

जिन अन्य विषयों पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया और जिनकी सांगोपांग विवेचना की वे निम्नलिखित हैं—ईसाई धर्मप्रचारक, प्रेसबिटेरियन चर्च का धर्मोत्साह और उसकी असहिष्णुता, इस देश में डालर-पूजा और पुरोहित। उन्होंने कहा कि ये पुरोहित लोग डालरों के धंधे में हैं और उसी में लिप्त हैं और उन्होंने यह जानना चाहा कि यदि उन्हें अपने वेतन के लिए ईश्वर पर अवलम्बित रहना पड़े तो वे कितने दिनों तक चर्च में टिक सकेंगे। भारत की जाति-प्रथा, दक्षिण की हमारी सभ्यता और मनविषयक हमारे सामान्य ज्ञान तथा अन्य विविध विषयों पर संक्षेप में भाषण करने के बाद वक्ता महोदय ने उपसंहार किया।

धार्मिक समन्वय

(सैगिना इवनिंग न्यूज, २२ मार्च १८९४ ई.)

कल शाम सगीनॉ एकेडेमी में छोटी सी किन्तु गहरी दिलचस्पी रखनेवाली श्रोतामण्डली के समक्ष प्रसिद्ध पर्यालोचित हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने धर्मों के समन्वय विषय पर भाषण किया। वे पूर्वी वेशभूषा धारण किये हुए थे और उनका बड़ा ही हार्दिक स्वागत किया गया। माननीय रोलैंड कानोर ने बड़े ललित ढंग से वक्ता महोदय का परिचय कराया, जिन्होंने अपनी वक्तृता के पूर्वार्द्ध में भारत के विभिन्न धर्मों की व्याख्या की। उन्होंने आत्मा के देहान्तर-गमन के सिद्धान्त की भी व्याख्या की। आर्यों ने भारत पर सर्वप्रथम आक्रमण किया, किन्तु उन्होंने भारत की जनता के मूलोच्छेदन का प्रयास नहीं किया, जैसा कि ईसाइयों ने हर नये देश में प्रवेश करने पर किया है, बल्कि उन व्यक्तियों को ऊपर उठाने का प्रयास किया गया जिनका स्वभाव पाशविक था। हिन्दू ऐसे ही देश के उन भागों के निवासी हैं, जो स्नान नहीं करते और मृत पशुओं का मांस भक्षण करते हैं। उत्तर

भारत के लोगो ने दक्षिण भारतीयो पर अपना आचार लादने का प्रयत्न नही किया, लेकिन दक्षिणवालो ने उत्तरवालो की बहुत सी रीतियो को धीरे धीरे अपना लिया। भारत के धुर दक्षिणी भाग मे कुछ ईसाई है, जो उस धर्म मे हजारो (?) वर्षो से रहे है। स्पेनी लोग ईसाई मत को लेकर लका पहुँचे। स्पेनवाले सोचते थे कि उन्हे उनके भगवान् का आदेश है कि गैर ईसाइयो को मार डालो और उनके मदिरो को विध्वस्त कर दो।

यदि विभिन्न धर्म न हो, तो कोई धर्म जीवित नही रह सकता। ईसाई को अपने स्वार्थपरायण धर्म की आवश्यकता है। हिन्दू को अपने धर्म की आवश्यकता है। जिनकी स्थापना किसी धर्मग्रथ पर की गयी थी, वे आज भी टिके है। ईसाई लोग यहूदियो को अपने धर्म मे क्यो नही ला सके ? वे फारस के निवासियो को ईसाई क्यो नही बना सके ? वैसा ही मुसलमानो के साथ क्यो नही कर सके ? चीन या जापान पर उस तरह का प्रभाव क्यो नही डाला जा सकता ? प्रथम मिशनरी धर्म बौद्धो का था। उनके धर्म मे अन्य किसी भी धर्म की तुलना मे धर्म-परिवर्तन द्वारा आये हुए लोगो की सख्या दुगुनी है और उन्होंने एतदर्थ तलवार का प्रयोग नही किया था। मुसलमानो ने शक्ति का प्रयोग सर्वाधिक किया और तीन मिशनरी धर्मों मे से इसलाम को माननेवालो की सख्या सबसे कम है। मुसलमानो के अपने वैभव के दिन थे। प्रतिदिन तुम रक्तपात द्वारा ईसाई राष्ट्रो के नये देशो पर आधिपत्य के समाचार पढ़ते हो। कौन से मिशनरी इसके विरोध मे उपदेश देते है ? सर्वाधिक रक्तपिपासु राष्ट्र एक ऐसे तथाकथित धर्म की प्रशसा के गीत क्यो गाते हैं, जो ईसा का धर्म नही था ? यहूदी और अरब ईसाई मत के जनक थे और ईसाइयो द्वारा उनका कितना उत्पीडन हुआ है। भारत मे ईसाइयो की ठीक तौल हो गयी है और वे सदोष सिद्ध हुए हैं।

वक्ता महोदय ने ईसाइयो के प्रति अनुदार होने की इच्छा न होने पर भी यह प्रकट करना चाहा कि दूसरो की दृष्टि मे वे कैसे दिखायी पडते हैं। जो मिशनरी प्रज्वलित गर्त का उपदेश देते हैं, उनके प्रति लोगो मे सत्रास का भाव है। मुसलमानो ने नगी तलवारें नचाते हुए बारबार भारत को पदाक्रान्त किया, और आज वे कहाँ हैं ? सभी धर्म जहाँ सुदूरतम देख सकते हैं, वह है एक आध्यात्मिक तत्त्व। इसलिए कोई धर्म इस बिदु से आगे की शिक्षा नही दे सकता। प्रत्येक धर्म मे सारभूत सत्य होता है और असारभूत मजूषा होती है, जिसमे यह रत्न रखा रहता है। यहूदी धर्मशास्त्र या हिन्दू धर्मशास्त्र में विश्वास रखना गौण है। परिस्थितियाँ बदलती है, पात्र भिन्न हो जाता है, किन्तु सारभूत सत्य बना रहता है। सारभूत सत्य वही रहते हैं, इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के शिक्षित लोग सारभूत सत्यो को अपने

पास बनाये रखते हैं। सीपी की खोल आकर्षक नहीं है लेकिन मोती उसके भीतर है। दुनिया के छोटे से भाग के लोगों को धर्म-परिवर्तित कर ईसाई बनाने से पहले ही ईसाई धर्म कई पंथों में विभाजित हो जायगा। प्रकृति का यही नियम है। पृथ्वी के महान् धार्मिक वाद्य-वृन्द से केवल एक वाद्य-यन्त्र क्यों हटा लिया जाय? हम इस महान् वाद्य-वृन्द-संगीत को जारी रहने दें। वक्ता महोदय ने जोर दिया कि पवित्र बनो, कुसंस्कार छोड़ो और प्रकृति का अद्भुत समन्वय देखो। अन्धविश्वास धर्म को दबा देता है। चूंकि सारभूत सत्य एक ही है इसलिए सब धर्म अच्छे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण प्रयोग की सुविधा होनी चाहिए। ये पृथक् पृथक् व्यक्तित्व मिलकर निरतिशय पूर्ण का निर्माण करते हैं। यह आश्चर्यजनक स्थिति पहले से ही विद्यमान है। इस अद्भुत निर्माण कार्य में प्रत्येक धार्मिक मत का कुछ न कुछ योगदान है।

आद्योपान्त वक्ता महोदय ने अपने देश के धर्म के समर्थन का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि यह सिद्ध हो चुका है कि रोमन कैथोलिक चर्च की पूरी धर्म-व्यवस्था बौद्ध धर्मग्रंथों से ली गयी है। बौद्ध आचार-संहिता के अन्तर्गत नैतिकता तथा जीवन की पवित्रता के उत्कृष्ट आचार-नियम की उन्होंने कुछ विस्तारपूर्वक समीक्षा की लेकिन बताया कि जहाँ तक ईश्वर की सगुणता में विश्वास का प्रश्न है उसमें अज्ञेयवाद प्रचलित रहा। अनुसरण के योग्य मुख्य बात थी बुद्ध के सदाचार के नियमों का पालन। ये नियम थे—'अच्छे बनो सदाचारी बनो पूर्ण बनो।'

सुदूर भारत से

(डीगिना कूरियर-हेरल्ड २२ मार्च १८९४ ई०)

कल सायंकाल 'होटल विलेट' के कक्ष में एक बलवान सुडौल आकृति का भव्यमूर्ति पुरुष बैठा हुआ था। उष्ण वर्ग होने के कारण जिसकी सम दन्त-पंक्ति की मुक्ता जैसी श्वेत आभा और भी अधिक प्रस्फुटित हो रही थी। विशाल तथा उन्नत मस्तक के नीचे नेत्रों से बुद्धि टपक रही थी। ये सज्जन थे हिन्दू धर्मोपदेशक स्वामी विवे कानन्द (विवेकानन्द)। श्री कानन्द बातचीत के समय जिन अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग करते हैं वे शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत होते हैं और उच्चारण में थोड़ा विदेशीपन मालूम होने पर भी रुचिकर लगता है। डिट्रायट के पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि श्री कानन्द ने उक्त नगर में कई बार व्याख्यान दिये हैं और ईसाइयों की कटु आलोचना करने के कारण उनके विरुद्ध कुछ लोगों में वैर भाव पैदा हो गया है। वे विद्वान् बौद्ध (?) जब एडेल्फी के लिए रवाना हुए,

जहाँ भाषण का आयोजन था, उसके ठीक पहले 'कूरियर हेरल्ड' के प्रतिनिधि ने कुछ मिनट तक उनसे बातचीत की। श्री कानन्द ने वार्तालाप के समय कहा कि ईसाइयो मे नैतिक आचार से स्खलन सामान्य सी बात है और इस पर उन्हे आश्चर्य होता है, किन्तु सभी धर्मो के अनुयायियो मे गुण-दोष पाये जाते है। उनका एक वक्तव्य निश्चय ही अमेरिका-विरोधी था। जब उनसे पूछा गया कि क्या हमारी सस्थाओ की जाँच-पडताल करते रहे है, तो उन्होंने जवाब दिया, "नही, मैं तो धर्मोपदेशक मात्र हूँ।" इससे कुतूहल का अभाव और सकीर्ण भावना दोनो प्रदर्शित होते हैं, जो किसी ऐसे व्यक्ति के लिए विजातीय प्रतीत होते हैं, जो धार्मिक विषयो मे इस बौद्ध (?) उपदेशक जैसा निष्णात हो।

होटल से एकेडमी बस एक कदम के फासले पर है और ८ बजे रोलैंड कोन्नोर ने वक्ता महोदय का परिचय छोटी सी श्रोतृमण्डली के समक्ष दिया। वे लम्बा गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए थे, जो एक लाल दुपट्टे से बँधा था और पगडी बाँधे हुए थे, जान पडता था कि शाल की पट्टी लपेट ली गयी हो।

आरम्भ मे ही वक्ता महोदय ने कहा कि मैं धर्मप्रचारक के रूप मे नही आया हूँ और किसी बौद्ध का यह कर्तव्य नही होता है कि अन्य लोगो से धर्म-परिवर्तन कराकर उन्हे अपने धर्म मे शामिल करे। उन्होंने कहा कि मेरे व्याख्यान का विषय होगा 'धर्मो का समन्वय।' श्री कानन्द ने कहा कि प्राचीन काल मे कितने ही धर्मो की नीव पडी और वे नष्ट हो गये।

उन्होंने कहा कि राष्ट्र के दो-तिहाई लोग बौद्ध (हिन्दू) हैं तथा शेष एक-तिहाई मे अन्य धर्मो के लोग हैं। उन्होंने कहा कि बौद्धो के धर्म मे इसके लिए कोई स्थान नही है कि भविष्य मे मनुष्यो को यातना सहनी पडेगी। इस प्रसग मे ईसाइयो से वे भिन्न हैं। ईसाई लोग किसी आदमी को इस लोक मे पाँच मिनट के लिए क्षमा प्रदान कर देंगे और आगामी लोक मे चिरतन दण्ड के भागी बना देंगे। बुद्ध ने सर्वप्रथम सार्वभौम भ्रातृत्व का पाठ सिखाया। आज यह बौद्ध मत का आधारभूत सिद्धान्त है। ईसाई इसका उपदेश तो देता है, पर अपनी ही सीख को व्यवहार मे नही लाता।

उन्होंने दक्षिण के नीग्रो लोगो की दशा का दृष्टान्त दिया, जिन्हें होटलो मे जाने की अनुमति नही है और न जो गोरो के साथ एक ही कार मे सवार हो सकते हैं और वह ऐसा प्राणी है, जिसके साथ कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति बातें नही करता। उन्होंने कहा कि मैं दक्षिण मे गया था और अपनी जानकारी तथा पर्यवेक्षण के आधार पर ये बातें कह रहा हूँ।

पास बनाये रखते हैं। सीपी की सीक आकर्षक नहीं है, लेकिन मोती उसके भीतर है। दुनिया के छोटे से भाग के लोगों को धर्म-परिवर्तित कर ईसाई बनाने से पहले ही ईसाई धर्म कई पन्थों में विभाजित हो जायगा। प्रकृति का यही नियम है। पृथ्वी के महान् धार्मिक वाद्य-वृन्द से केवल एक वाद्य-यन्त्र क्यों हटा लिया जाय? हम इस महान् वाद्य-वृन्द-संगीत को जारी रहने दें। वक्ता महोदय ने जोर दिया कि पवित्र बनो कुसंस्कार छोड़ो और प्रकृति का अद्भुत समन्वय देखो। अन्धविश्वास धर्म को धर दबाता है। चूँकि सारभूत सत्य एक ही है, इसलिए सब धर्म अच्छे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण प्रयोग की सुविधा होनी चाहिए। ये पृथक् पृथक् व्यक्तित्व मिलकर निरतिशय पूर्ण का निर्माण करते हैं। यह आश्चर्यजनक स्थिति पहले से ही विद्यमान है। इस अद्भुत निर्माण-कार्य में प्रत्येक धार्मिक मत का कुछ न कुछ योगदान है।

आद्योपान्त वक्ता महोदय ने अपने देश के धर्म के समर्थन का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि यह सिद्ध हो चुका है कि रोमन कैथोलिक चर्च की पूरी धर्म-व्यवस्था बौद्ध धर्मग्रन्थों से ली गयी है। बौद्ध आचार-संहिता के अन्तर्गत नैतिकता तथा जीवन की पवित्रता के उत्कृष्ट आचार-नियम की उन्होंने कुछ विस्तारपूर्वक समीक्षा की लेकिन बताया कि जहाँ तक ईश्वर की सगुणता में विश्वास का प्रश्न है उसमें अज्ञेयवाद प्रचलित रहा। अनुसरण के योग्य मुख्य बात थी बुद्ध के सदाचार के नियमों का पालन। ये नियम थे—'अच्छे बनो सदाचारी बनो पूर्ण बनो।

सुदूर भारत से

(डैगिना कूरियर-हेरल्ड २२ मार्च १८९४ ई०)

कल सायंकाल 'होटल विसेंट' के कक्ष में एक बलवान सुडौल आकृति का भव्यमूर्ति पुरुष बैठा हुआ था। ताम्र वर्ण होने के कारण जिसकी सम दन्त-पंक्ति की मुक्ता जैसी श्वेत आभा और भी अधिक प्रस्फुटित हो रही थी। विशाल तथा उन्नत मस्तक के नीचे नेत्रों से बुद्धि टपक रही थी। ये सज्जन थे हिन्दू धर्मोपदेशक स्वामी विवे कानन्द (विवेकानन्द)। श्री कानन्द बातचीत के समय जिन अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग करते हैं, वे शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत होते हैं और उच्चारण में थोड़ा विदेशीपन पट् होने पर भी रुचिकर लगता है। डिट्रायट के पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि श्री कानन्द ने उक्त नगर में कई बार व्याख्यान दिये हैं और ईसाइयों की कटु आलोचना करने के कारण उनके विरुद्ध कुछ लोगों में वैर भाव पैदा हो गया है। ये विद्वान् बौद्ध (?) जब एकेडमी के लिए रवाना हुए

चना करने लगते और सबका निष्कर्ष स्पष्टत अपने ही देश के लोगो के पक्ष मे निकालते, यद्यपि ऐसा करने मे वह अत्यन्त शिष्टता, उदारता और शालीनता से काम लेते थे। उनके कुछ श्रोताओ को हिन्दुओ की सामाजिक और पारिवारिक दशाओ की साधारणत अच्छी जानकारी थी तथा जिन बातो का वक्ता महोदय ने जिक्र किया, उन पर वे उनसे दो-एक चुनौती के प्रश्न पूछना पसद करते। दृष्टान्त के तौर पर, जब उन्होने नारीत्व के प्रति हिन्दू भावना को मातृत्व के आदर्श के रूप मे बडल्ले से सुन्दरतापूर्वक चित्रित किया और बताया कि वह सदा श्रद्धास्पद है, यहाँ तक कि इतनी आस्थामयी भक्ति के साथ उसकी पूजा की जाती है कि नारी के प्रति सर्वाधिक सम्मान की भावना रखनेवाले नि स्वार्थ तथा सच्चे अमेरिकी सपूत, पति एव पिता उसकी कल्पना तक नही कर सकते, तब कोई व्यक्ति यह प्रश्न पूछकर उसका उत्तर जानना चाहता कि अधिकाश हिन्दू घरो मे, जहाँ पत्नियो, माताओ, पुत्रियो और बहनो का निवास है, यह सुन्दर सिद्धान्त कहाँ तक चरितार्थ होता है।

लाभ के प्रति लोभ, विलासपरायणता के राष्ट्रीय दुर्गुण, स्वार्थपरायणता और 'डालर-उपासक जाति' के मनोभाव के विरुद्ध, जो दबग गोरी यूरोपीय तथा अमेरिकी जातियो को नैतिक तथा नागरिक दृष्टि से घातक खतरे की ओर ले जानेवाली सक्रामक व्याधि है, उनकी फटकार बिल्कुल ठीक थी और अन्यतम प्रभावोत्पादक ढग से उपस्थित की गयी थी। मन्द, कोमल, धीमी, आवेशरहित सगीतमयी वाणी मे जो विचार सन्निविष्ट थे, उनमे शब्दोच्चार की दृढतम शारीरिक चेष्टा की शक्ति और आग भरी थी, तथा वह पैगम्बर के इस वचन के सदृश कि 'तू ही वह मनुष्य है', लक्ष्य पर सीधे पहुँचती थी। किन्तु जब यह विद्वान् हिन्दू, जो जन्म, स्वभाव तथा सस्कार से अभिजात है, यह सिद्ध करने का प्रयास करता है—जैसा कि बहुधा, और जान पडता है कि अर्द्ध अचेतन स्थिति मे विशेष विचारणीय विषय से दूर हटकर उसने बार बार किया—कि उसकी जाति का धर्म ईसाई धर्म की अपेक्षा विश्व के लाभ की दृष्टि से श्रेष्ठतर सिद्ध हुआ है, तो वह धर्म का भारी ठेका लेने का प्रयत्न करता है, यद्यपि हिन्दू धर्म सबसे निराला, स्वकेन्द्रित, निर्णयात्मक रूप से स्वात्मपरित्राणात्मक, निषेधात्मक और निष्क्रिय है तथा उसके स्वार्थपरक आलस्यपूर्ण होने के बारे मे तो न कहना ही ठीक है, और ईसाई धर्म जानदार, कर्मठ, स्वार्थ-विस्मृत, आदि-मध्यान्त परोपकारपरायण और विश्व भर में व्याप्त हुआ क्रियात्मक धर्म है, जिसके नाम पर दुनिया के नब्बे प्रतिशत सच्चे व्यावहारिक, नैतिक, आध्यात्मिक और लोककल्याणकारी कार्य हुए हैं तथा हो रहे हैं, चाहे उसके अविवेकी कट्टर अनुयायियो ने जो भी खेदपूर्ण और भद्दी भूलें क्यो न की हो।

हमारे हिन्दू भाइयों के साथ एक शाम

(नॉर्थम्प्टन डेली हेरल्ड १६ अप्रैल १८९४ ई)

चूँकि स्वामी विवेकानन्द ने निर्णयात्मक रूप से यह सिद्ध कर दिया कि समुद्र पार के हमारे सभी पड़ोसी यहाँ तक कि जो सुदूरतम भागो मे रहते है, हमारे निकट चचेरे भाई है जिनसे केवल रग भाषा रीति और धर्म जैसी छोटी छोटी बातो मे भिन्नता है इस मृदुभाषी हिन्दू सन्यासी ने शनिवार की शाम (१४ अप्रैल) को अपने भाषण की भूमिका के रूप मे स्वय अपने राष्ट्र तथा पृथ्वी के अन्य प्रमुख राष्ट्रो के उद्भव की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत की जिससे यह सत्य प्रमाणित हुआ कि जातियों का पारस्परिक भ्रातृत्व जितना बहुत से लोग जानते है या मानने के लिए प्रस्तुत है, उसकी अपेक्षा कही अधिक सरल तथ्य है।

उसके पश्चात् हिन्दुओं की कुछ रीतियो के बारे मे उन्होने जो अनौपचारिक वक्तृता दी वह किसी बैठने के कमरे मे होनेवाली रुचिकर बातचीत के समान अधिक थी। वक्तृत्व-पटुता की सहज स्वच्छन्दता के साथ वह विचार व्यक्त कर रहे थे और उनके श्रोताओ मे से जिन लोगो मे स्वाभाविक या अभ्यासवश उस विषय के प्रति अभिरुचि थी उनके लिए उक्त व्यक्ति तथा उनके विचार, दोनो ही कई कारणो से जिन सबका उल्लेख यहाँ नही किया जा सकता बड़े ही दिल-चस्प थे। अन्य श्रोताओ को वक्ता महोदय से निराशा हुई, क्योकि अमेरिकी व्याख्यान-मच की दृष्टि से यद्यपि भाषण बहुत लम्बा था तथापि उन्होने अपने शब्द-चित्र अर्थात् भाषण मे और अधिक विस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश नही डाला। विचित्र समझे जानेवाले उन लोगो के बहुत कम रीति-रिवाजो और रहन-सहन का जिक्र किया गया। इस प्राचीनतम जाति के सर्वोत्तम प्रतिनिधियो मे से एक के मुख से उस जाति के व्यक्तिगत नागरिक घरेलू सामाजिक और धार्मिक जीवन के विषय मे लोग और बहुत अधिक बात प्रसन्नतापूर्वक सुनते। मानव प्रकृति के औसत दर्जे के विद्यार्थी के लिए यह विशिष्ट अभिरुचि का विषय होगा लेकिन वास्तव मे उसे इस बारे मे सबसे कम जानकारी है।

हिन्दू जीवन के विषय मे अप्रत्यक्ष चर्चा हिन्दू बालक के जन्म के विषय उसके विद्याध्ययन-प्रवेश विवाह घरेलू जीवन की सक्षिप्त चर्चा से आरम्भ हुई, लेकिन जो आशा की गयी थी वह सुनने को नही मिली। वक्ता महोदय बहुधा मुख्य विषय से दूर चले जाते थे और अपने देश के लोगों तथा अंग्रेजी बोलनेवाली जातियो की सामाजिक नैतिक और धार्मिक रीतियो एव भावनाओ की तुलनात्मक आलो-

चना करने लगते और सबका निष्कर्ष स्पष्टत अपने ही देश के लोगो के पक्ष मे निकालते, यद्यपि ऐसा करने मे वह अत्यन्त शिष्टता, उदारता और शालीनता से काम लेते थे। उनके कुछ श्रोताओ को हिन्दुओ की सामाजिक और पारिवारिक दशाओ की साधारणत अच्छी जानकारी थी तथा जिन बातो का वक्ता महोदय ने ज़िक्र किया, उन पर वे उनसे दो-एक चुनौती के प्रश्न पूछना पसद करते। दृष्टान्त के तौर पर, जब उन्होंने नारीत्व के प्रति हिन्दू भावना को मातृत्व के आदर्श के रूप मे धडल्ले से सुन्दरतापूर्वक चित्रित किया और बताया कि वह सदा श्रद्धास्पद है, यहाँ तक कि इतनी आस्थामयी भक्ति के साथ उसकी पूजा की जाती है कि नारी के प्रति सर्वाधिक सम्मान की भावना रखनेवाले नि स्वार्थ तथा सच्चे अमेरिकी सपूत, पति एव पिता उसकी कल्पना तक नही कर सकते, तब कोई व्यक्ति यह प्रश्न पूछकर उसका उत्तर जानना चाहता कि अधिकाश हिन्दू घरो मे, जहाँ पत्नियो, माताओ, पुत्रियो और बहनो का निवास है, यह सुन्दर सिद्धान्त कहाँ तक चरितार्थ होता है।

लाभ के प्रति लोभ, विलासपरायणता के राष्ट्रीय दुर्गुण, स्वार्थपरायणता और 'डालर-उपासक जाति' के मनोभाव के विरुद्ध, जो दबग गोरी यूरोपीय तथा अमेरिकी जातियो को नैतिक तथा नागरिक दृष्टि से घातक खतरे की ओर ले जानेवाली सक्रामक व्याधि है, उनकी फटकार बिल्कुल ठीक थी और अन्यतम प्रभावोत्पादक ढग से उपस्थित की गयी थी। मन्द, कोमल, धीमी, आवेशरहित सगीतमयी वाणी मे जो विचार सन्निविष्ट थे, उनमे शब्दोच्चार की दृढतम शारीरिक चेष्टा की शक्ति और आग भरी थी, तथा वह पैग़म्बर के इस वचन के सदृश कि 'तू ही वह मनुष्य है', लक्ष्य पर सीधे पहुँचती थी। किन्तु जब यह विद्वान् हिन्दू, जो जन्म, स्वभाव तथा सस्कार से अभिजात है, यह सिद्ध करने का प्रयास करता है—जैसा कि बहुधा, और जान पडता है कि अर्द्ध अचेतन स्थिति मे विशेष विचारणीय विषय से दूर हटकर उसने बार बार किया—कि उसकी जाति का धर्म ईसाई धर्म की अपेक्षा विश्व के लाभ की दृष्टि से श्रेष्ठतर सिद्ध हुआ है, तो वह धर्म का भारी ठेका लेने का प्रयत्न करता है, यद्यपि हिन्दू धर्म सबसे निराला, स्वकेन्द्रित, निर्णयात्मक रूप से स्वात्मपरित्राणात्मक, निषेधात्मक और निष्क्रिय है तथा उसके स्वार्थपरक आलस्यपूर्ण होने के बारे मे तो न कहना ही ठीक है, और ईसाई धर्म जानदार, कर्मठ, स्वार्थ-विस्मृत, आदि-मध्यान्त परोपकारपरायण और विश्व भर मे व्याप्त हुआ क्रियात्मक धर्म है, जिसके नाम पर दुनिया के नब्बे प्रतिशत सच्चे व्यावहारिक, नैतिक, आध्यात्मिक और लोककल्याणकारी कार्य हुए हैं तथा हो रहे हैं, चाहे उसके अविवेकी कट्टर अनुयायियो ने जो भी खेदपूर्ण और भद्दी भूलें क्यो न की हो।

परन्तु जब हम लोग अपनी जाति की उम्र सैकड़ों वर्षों में गिनते हैं तब उस जाति की जो अपनी उम्र हजारों वर्षों में गिनती है, मानसिक नैतिक और आध्यात्मिक संस्कृति की अत्यन्त उत्तम विभूति की देदीप्यमान ज्योति का दर्शन करने की जिसे चिंता हो उस प्रत्येक निष्पक्ष विचारवाले अमेरिकन को चाहिए कि वह स्वामी विवेकानन्द के दर्शन करने और उनके भाषण सुनने के अवसर को हाथ से न जाने दे। प्रत्येक मस्तिष्क के लिए वे अध्ययनयोग्य सम्पन्न पात्र हैं।

रविवार (१५ अप्रैल) को दिन में तीसरे पहर इस विशिष्ट हिन्दू ने स्मिथ कॉलेज के छात्रों के समक्ष सायंकालीन प्रार्थना के समय भाषण किया। 'ईश्वर का पितृत्व और मनुष्य का भ्रातृत्व' वस्तुत यह उनके भाषण का विषय था। प्रत्येक श्रोता ने जो विवरण दिया है उससे प्रकट होता है कि भाषण का गम्भीर प्रभाव पड़ा। उनकी पूरी विचारधारा की यह विशेषता थी कि उसमें सच्चे धार्मिक मनोभाव और उपदेश की सर्वाधिक विशद उदारता थी।

* *

(मई १८९४ की स्मिथ कॉलेज मासिक पत्रिका)

रविवार, १५ अप्रैल को हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने जिनकी ब्राह्मणवाद (?) की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या पर धर्म-सम्मेलन में अनुकूल टीकाएँ की गयी सायंकालीन प्रार्थना-सभा में अपने भाषण में कहा—हम मनुष्य के भ्रातृत्व और ईश्वर के पितृत्व के विषय में बहुत कहते हैं लेकिन बहुत कम लोग इन शब्दों का अर्थ समझते हैं। सच्चा भ्रातृत्व तभी सम्भव है, जब आत्मा परम पिता परमात्मा के इतने सन्निकट खिंच जाये कि द्वेष भाव और दूसरों की अपेक्षा वरिष्ठता के दावे मिट जायें क्योंकि हम लोग इनसे अत्यधिक अतीत हैं। हमें सावधान रहना चाहिए कि हम कहीं प्राचीन हिन्दू कथा के उस कूपमण्डूक के सदृश न बन जायें जो दीर्घ काल तक एक सङ्कुचित स्थान में रहने के कारण अन्त में बृहत्तर देश के अस्तित्व का ही खण्डन करने लगा।

भारत और हिन्दुत्व

(न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून २५ अप्रैल १८९४ ई०)

स्वामी विवेकानन्द ने कल सायंकाल वाल्डोर्फ में श्रीमती आर्थर स्मिथ के गोष्ठी-सम्मेलन के समक्ष 'भारत और हिन्दुत्व' विषय पर भाषण किया। सम्मान

गानेवाली (Contralto) कुमारी सारा हम्बर्ट और उच्च कठ की गायिका (Soprano) कुमारी एनी विल्सन ने कई चुने हुए गीत गाये। वक्ता महोदय गेरुआ रग का कोट और पीली पगडी धारण किये हुए थे, जो भिक्षु की वेशभूषा कही जाती है। यह तब धारण किया जाता है, जब कोई बौद्ध(?) 'ईश्वर तथा मानवता के लिए सब कुछ' त्याग देता है। पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त पर विचार-विमर्श किया गया। वक्ता महोदय ने कहा कि बहुत से पादरी, जो विद्वान् की अपेक्षा झगडालू अधिक हैं, पूछते हैं, "यदि कोई पूर्व जन्म हुआ है, तो उसके प्रति कोई आदमी अचेत क्यो रहता है?" उत्तर यह था, "चेतना के लिए आधार की कल्पना करनी बच्चो जैसी चेष्टा है, क्योकि आदमी को इस जीवन के अपने जन्म तथा वैसी ही अन्य बहुत सी बीती हुई घटनाओ की भी चेतना नही है।"

वक्ता महोदय ने कहा कि उनके धर्म में 'न्याय-दिवस' जैसी कोई चीज नही है और उनके ईश्वर न तो किसी को दडित करते हैं और न पुरस्कृत। यदि किसी प्रकार कोई बुरा कर्म किया जाता है, तो प्राकृतिक दड तत्काल मिलता है। उन्होंने बताया कि जब तक वह ऐसी पूर्ण आत्मा नही बन जाती, जिसे शरीर का कोई प्रयोजन नही रह जाता, तब तक आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करती रहती है।

भारतीयो के आचार-विचार और रीति-रिवाज़

(बोस्टन हेरल्ड, १५ मई, १८९४ ई०)

वार्ड के षोडश दिवसीय नर्सरी (वस्तुत टाइलर स्ट्रीट डे नर्सरी) के लाभार्थ कल ब्राह्मण सन्यासी स्वामी विवेकानन्द की वार्ता 'भारत का धर्म' (वस्तुत भारत की रहन-सहन और रीति-रिवाज) विषय पर आयोजित थी, जिसे सुनने के लिए 'एसोसियेशन-हाल' महिलाओं से पूरा भरा हुआ था। पिछले वर्ष के शिकागो की भाँति बोस्टन में भी इस ब्राह्मण सन्यासी के दर्शन के लिए लोग बावले रहते हैं। अपने गम्भीर, सच्चे और सुसस्कृत व्यवहार से उन्होने बहुतो को अपना मित्र बना लिया है।

उन्होंने कहा कि हिन्दू राष्ट्र को विवाह का व्यसन नही है, इसलिए नही कि हम लोग नारी जाति से घृणा करते हैं, बल्कि इसलिए कि हमारा धर्म महिलाओ को पूज्य मानने की शिक्षा देता है। हिन्दू को शिक्षा दी जाती है कि वह प्रत्येक स्त्री को अपनी माता समझे। कोई पुरुष अपनी माता से विवाह नही करना चाहता।

ईश्वर हमारे लिए माता समझती है। स्वर्गस्थ भगवान् की हम किंचित् परवाह नहीं करते। वह तो हमारे लिए माता है। हम विवाह को निम्न संस्कारहीन अवस्था समझते हैं और यदि कोई आदमी विवाह करता ही है तो इसका कारण यह है कि उसे धर्म-कार्य में सहायतार्थ सहचरी की आवश्यकता है।

तुम कहते हो कि हम लोग अपने देश की महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। संसार का कौन सा ऐसा राष्ट्र है जिसने अपनी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया है? यूरोप या अमेरिका में पैसे के लोभ में कोई पुरुष किसी महिला से विवाह कर सकता है और उसके डालरों को हथिया लेने के बाद उसे ठुकरा सकता है। इसके विपरीत भारत में जब कोई स्त्री धन के लोभ में किसी पुरुष से विवाह करती है तो *शास्त्रों के अनुसार उसकी सन्तानों को दास समझा जाता* है और जब कोई धनी पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है तब उसका सारा रुपया-पैसा पत्नी के हाथ में चला जाता है जिससे ऐसा बहुत कम सम्भव होता है कि अपने खजाने की स्वामिनी को वह घर से बाहर निकाल सके।

तुम लोग कहते हो कि हमारे देश के लोग अधार्मिक अशिक्षित और संस्कारहीन हैं। किन्तु ऐसी बातें कहने में शालीनता का जो अभाव है उस पर हम लोगों को हँसी आती है। हमारे यहाँ गुण और जन्म के आधार पर जाति बनती है, धन के आधार पर नहीं। तुम्हारे पास कितनी भी दौलत क्या न हो उससे भारत में कोई *उच्चता नहीं प्राप्त होगी। जाति में सबसे गरीब और सबसे धनी बराबर माने* जाते हैं। यह उसकी सर्वोत्तम विशेषताओं में से एक है।

धन से विश्व में युद्धों का सूत्रपात हुआ है। धन के कारण ईसाइयों ने एक दूसरे को पाँवों तले कुचला है। द्वेष घृणा और लोभ का जनक धन है। यहाँ तो बस काम ही काम और धक्कामुक्का है। जाति मनुष्य को इन सबसे बचाती है। कम धन में जीवन-यापन इसके कारण सम्भव है और इससे सबको रोजगार मिलता है। वर्ण-धर्म माननेवाले व्यक्ति को आत्म-चिन्तन के लिए समय मिलता है और भारतीय समाज में यही हम अभीष्ट है।

ब्राह्मण का जन्म ईश्वरोपासना के लिए हुआ है। जितना उच्चतर वर्ण होगा उतने ही अधिक सामाजिक प्रतिबन्धों का निर्वाह करना पड़ेगा। वर्ण-व्यवस्था ने हमें राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है और यद्यपि इसमें बहुत से दोष हैं पर उनसे भी अधिक इससे लाभ हैं।

श्री विवेकानन्द ने प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों का वर्णन किया विशेषकर वाराणसी के विश्वविद्यालय का जिसमें २ छात्र तथा आचार्य थे।

उन्होंने कहा कि जब तुम लोग मेरे धर्म के बारे मे अपना निर्णय देते हो, तब यह मान लेते हो कि तुम्हारा धर्म पूर्ण है और मेरा सदोष है, और जब भारत के समाज की आलोचना करते हो, तो उस हद तक उसे सस्कारहीन मान लेते हो, जिस हद तक वह तुम्हारे मानदण्ड से मेल नही खाता। यह मूर्खतापूर्ण है।

शिक्षा के सदर्भ मे वक्ता महोदय ने कहा कि भारत मे शिक्षित व्यक्ति आचार्य बनते है तथा उनसे कम शिक्षित व्यक्ति पौरोहित्य करते है।

भारत के धर्म

(बोस्टन हेरल्ड, १७ मई, १८९४ ई०)

कल अपराह्न मे ब्राह्मण सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने 'वार्ड सिक्सटीन डे नर्सरी' की सहायता के लिए 'एसोसियेशन हाल' मे 'भारत के धर्म' विषय पर व्याख्यान दिया। श्रोता बडी सख्या मे उपस्थित थे।

वक्ता महोदय ने सर्वप्रथम बताया कि भारत मे मुसलमानो की जनसख्या पूरी आबादी का पचमाश है। उन्होंने इसलाम की समीक्षा की और कहा कि वे 'प्राचीन व्यवस्थान' और 'नव व्यवस्थान', दोनो के प्रति आस्था (?) रखते है। लेकिन ईसा मसीह को वे केवल पैगम्बर मानते है। उनका कोई धार्मिक सघ नही है, हाँ, वे कुरान का पाठ करते हैं।

एक और जाति पारसियो की है, जिनके धर्मग्रथ को ज़ेद-अवेस्ता कहते है। उनका विश्वास है कि दो प्रतिद्वद्वी देवता हैं—एक शुभ, अहुर्मज्द और दूसरा अशुभ, अहिर्मन। उनका यह भी विश्वास है कि अन्त मे अशुभ पर शुभ की विजय होती है। उनकी नीति-सहिता का साराश है—'शुभ सकल्प, शुभ वचन और शुभ कर्म।'

खास हिन्दू वेदो को अपना प्रामाणिक धर्मग्रथ मानते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण के आचार-विचार के पालन के लिए बाध्य करते हैं, किन्तु धार्मिक मामलो मे विचार के लिए पूरी स्वतन्त्रता देते हैं। उनके विधान का एक अग यह है कि वे किसी महात्मा अथवा पैग़म्बर का वरण करते हैं, जिससे वे उससे नि सृत आध्यात्मिक प्रवाह से अपने को कृतार्थ कर सकें।

हिन्दुओ की तीन विभिन्न धार्मिक विचारधाराएँ थी—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और अद्वैतवादी—और इन तीनो को अवस्थाएँ समझा जाता है, जिनसे होकर प्रत्येक व्यक्ति को अपने धार्मिक विकास-क्रम के अन्तर्गत गुज़रना पडता है।

ईश्वर हमारे लिए माता समझती है। स्वर्गस्थ भगवान् की हम किंचित् परवाह नहीं करते। वह तो हमारे लिए माता है। हम विवाह को निम्न संस्कारहीन अवस्था समझते हैं और यदि कोई आदमी विवाह करता ही है, तो इसका कारण यह है कि उसे धर्म-कार्य मे सहायतार्थ सहचरी की आवश्यकता है।

तुम कहते हो कि हम लोग अपने देश की महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। ससार का कौन सा ऐसा राष्ट्र है जिसने अपनी महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया है? यूरोप या अमेरिका मे पैसे के लोभ मे कोई पुरुष किसी महिला से विवाह कर सकता है और उसके डालरों को हथिया लेने के बाद उसे ठुकरा सकता है। इसके विपरीत भारत मे जब कोई स्त्री धन के लोभ मे किसी पुरुष से विवाह करती है, तो शास्त्रों के अनुसार उसकी सन्तानों को दास समझा जाता है और जब कोई धनी पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है, तब उसका सारा रुपया-पैसा पत्नी के हाथ मे चला जाता है, जिससे ऐसा बहुत कम सम्भव होता है कि अपने खजाने की स्वामिनी को वह घर से बाहर निकाल सके।

तुम लोग कहते हो कि हमारे देश के लोग अधार्मिक अशिक्षित और संस्कारहीन हैं। किन्तु ऐसी बातें कहने मे शालीनता का जो अभाव है उस पर हम लोगों को हँसी आती है। हमारे यहाँ गुण और जन्म के आधार पर जाति बनती है, धन के आधार पर नहीं। तुम्हारे पास कितनी भी दौलत क्यों न हो उससे भारत मे कोई उच्चता नहीं प्राप्त होगी। जाति मे सबसे गरीब और सबसे धनी बराबर माने जाते हैं। यह उसकी सर्वोत्तम विशेषताओं मे से एक है।

धन से विश्व म युद्धों का सूत्रपात हुआ है। धन के कारण ईसाइयो ने एक दूसरे को पाँवों तले कुचला है। द्वेष घृणा और लोभ का जनक धन है। यहाँ तो बस काम ही काम और धक्कमधुक्का है। जाति मनुष्य को इन सबसे बचाती है। कम धन म जीवन-यापन इसके कारण सम्भव है और इससे सबको रोजगार मिलता है। वर्ण-धर्म माननेवाले व्यक्ति को आत्म-चिन्तन के लिए समय मिलता है और भारतीय समाज म यही हम अभीष्ट है।

ब्राह्मण का जन्म ईश्वरोपासना के लिए हुआ है। जितना उच्चतर वर्ण होगा उतने ही अधिक सामाजिक प्रतिबन्धों का निर्वाह करना पड़ेगा। वर्ण-व्यवस्था ने हम राष्ट्र के रूप म जीवित रखा है और यद्यपि इसमे बहुत से दोष है पर उनसे भी अधिक इसमें लाभ है।

श्री विवेकानन्द न प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों का वर्णन किया विशेषकर वाराणसी के विश्वविद्यालय का जिसम २ [illegible] छात्र तथा आचार्य थे।

उन्होंने कहा कि जब तुम लोग मेरे धर्म के बारे मे अपना निर्णय देते हो, तब यह मान लेते हो कि तुम्हारा धर्म पूर्ण है और मेरा सदोष है, और जब भारत के समाज की आलोचना करते हो, तो उस हद तक उसे सस्कारहीन मान लेते हो, जिस हद तक वह तुम्हारे मानदण्ड मे मेल नही खाता। यह मूर्खतापूर्ण है।

शिक्षा के सदर्भ मे वक्ता महोदय ने कहा कि भारत मे शिक्षित व्यक्ति आचार्य बनते है तथा उनमे कम शिक्षित व्यक्ति पौरोहित्य करते हैं।

भारत के धर्म

(बॉस्टन हेरल्ड, १७ मई, १८९४ ई०)

कल अपराह्न मे ब्राह्मण सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने 'वार्ड सिक्सटीन डे नर्सरी' की सहायता के लिए 'एसोसियेशन हाल' मे 'भारत के धर्म' विषय पर व्याख्यान दिया। श्रोता बडी सख्या मे उपस्थित थे।

वक्ता महोदय ने सर्वप्रथम बताया कि भारत मे मुसलमानो की जनसख्या पूरी आबादी का पचमाश है। उन्होने इसलाम की समीक्षा की और कहा कि वे 'प्राचीन व्यवस्थान' और 'नव व्यवस्थान', दोनो के प्रति आस्था (?) रखते है। लेकिन ईसा मसीह को वे केवल पैगम्बर मानते हैं। उनका कोई धार्मिक सघ नही है, हाँ, वे कुरान का पाठ करते हैं।

एक और जाति पारसियो की है, जिनके धर्मग्रथ को ज़ेद-अवेस्ता कहते है। उनका विश्वास है कि दो प्रतिद्वद्वी देवता है—एक शुभ, अहुर्मज्द और दूसरा अशुभ, अहिर्मन। उनका यह भी विश्वास है कि अन्त मे अशुभ पर शुभ की विजय होती है। उनकी नीति-सहिता का साराश है—'शुभ सकल्प, शुभ वचन और शुभ कर्म।'

खास हिन्दू वेदो को अपना प्रामाणिक धर्मग्रथ मानते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति को वर्ण के आचार-विचार के पालन के लिए बाध्य करते हैं, किन्तु धार्मिक मामलो मे विचार के लिए पूरी स्वतन्त्रता देते हैं। उनके विधान का एक अग यह है कि वे किसी महात्मा अथवा पैगम्बर का वरण करते हैं, जिससे वे उससे नि सृत आध्यात्मिक प्रवाह से अपने को कृतार्थ कर सकें।

हिन्दुओ की तीन विभिन्न धार्मिक विचारधाराएँ थी—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और अद्वैतवादी—और इन तीनो को अवस्थाएँ समझा जाता है, जिनसे होकर प्रत्येक व्यक्ति को अपने धार्मिक विकास-क्रम के अन्तर्गत गुजरना पडता है।

तीना ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु द्वैतवादियों का विश्वास है कि ब्रह्म तथा जीव पृथक सत्ताएँ हैं, जब कि अद्वैतवादियों का कहना है कि ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सत्ता है और यह एक सत्ता न तो ईश्वर है और न जीव बल्कि इन दोनों से अतीत है।

वक्ता महोदय ने हिन्दू धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए वेदों के उद्धरण सुनाये और कहा कि ईश्वर के साक्षात्कार के लिए अपने ही हृदय को अवश्य ढूँढना पड़ेगा।

पुस्तक-पुस्तिकाओं को धर्म नहीं कहते। अन्तर्दृष्टि द्वारा मानव-हृदय में प्रवेश कर ईश्वर तथा अमरत्व सम्बन्धी सत्यों को ढूँढ निकालने को धर्म कहते हैं। वेद कहते हैं 'जो कोई भी मुझे प्रिय होता है, उसे मैं ऋषि या द्रष्टा बना देता हूँ और ऋषि बन जाना धर्म का सर्वस्व है।

वक्ता महोदय ने जैनों के धर्म के सम्बन्ध में विवरण सुनाकर अपने व्याख्यान का उपसंहार किया। जैन धर्मावलम्बी लोग मूक जीव-जन्तुओं के प्रति उल्लेखनीय दया का व्यवहार करते हैं। उनके नैतिक विधान का मूलमन्त्र है—अहिंसा परमो धर्मः।

भारत में सम्प्रदाय और मत-मतान्तर

(हार्वर्ड क्रिमसन १७ मई, १८९४ ई०)

कल सायंकाल हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने 'हार्वर्ड रिलिजस यूनियन' के तत्त्वावधान में सेवर हाल में वक्तृता दी। भाषण बड़ा दिलचस्प था। स्पष्ट तथा धाराप्रवाह वाणी में मृदुता तथा गम्भीरता के कारण वक्ता महोदय के व्याख्यान का अनुपम प्रभाव पड़ा।

विवेकानन्द ने कहा कि भारत में विभिन्न सम्प्रदाय तथा मत-मतान्तर हैं। इनमें से कुछ सगुण ब्रह्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अन्य सम्प्रदाय तथा मतों का विश्वास है कि ब्रह्म तथा जगत् एक हैं। किन्तु हिन्दू चाहे जिस सम्प्रदाय का अनुयायी क्यों न हो वह यह नहीं कहता कि मेरा ही धार्मिक विश्वास सही है और अन्य सबका अवश्यमेव गलत है। उसकी धारणा है कि ईश्वर-साक्षात्कार के अनेक मार्ग हैं जो सच्चा धार्मिक है वह सम्प्रदायों तथा मत-मतान्तरों के क्षुद्र विवादों से परे रहता है। भारत में जब किसी आदमी में यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि वह आत्मा है और शरीर नहीं है तब कहा जाता है कि वह धर्म परायण है—इसके पहले नहीं।

भारत मे सन्यासी होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विशेष इस विचार को अपने मन से दूर भगा दे कि वह शरीर है, वह अन्य मनुष्यो को भी आत्मा समझे। अत सन्यासी कभी विवाह नही कर सकता। जब कोई व्यक्ति सन्यासी वनता है, तव उसे दो प्रतिज्ञाएँ करनी पडती है। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन करने का व्रत लेना पडता है। उसे धन ग्रहण करने या अपने पास रखने की अनुमति नही रहती। सन्यास धर्म की दीक्षा लेने पर प्रथम अनुष्ठान यह होता है कि उसका पुतला जलाया जाता है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि उसका पुराना शरीर, पुराना नाम और जाति, सब नष्ट हो गये। तव उसका नया नाम-करण होता है और उसे बाहर जाने तथा धर्मोपदेश करने या परिव्राजक बनने की अनुमति मिलती है, किन्तु वह जो भी कर्म करे, उसके लिए पैसा नही ले सकता।

ससार को भारत की देन

(ब्रुकलिन स्टैन्डर्ड यूनियन, फरवरी २७, १८९५ ई०)

हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने सोमवार की रात को ब्रुकलिन एथिकल एसोसियेशन के तत्त्वावधान मे पियरेपोट और क्लिटन स्ट्रीटो के कोने पर स्थित लाग आइलेड हिस्टोरिकल सोसाइटी के हाल मे बहुसख्यक श्रोताओ के सम्मुख एक भाषण दिया। उनका विषय था 'ससार को भारत की देन।'

उन्होने अपनी मातृभूमि की अद्भुत सुन्दरता का विवरण दिया, 'जहाँ सबसे पहले आचार-शास्त्र, कला, विज्ञान और साहित्य का उदय हुआ और जिसके पुत्रो की सत्यप्रियता और जिसकी पुत्रियो की पवित्रता की प्रशसा सभी यात्रियो ने की है।' इसके बाद वक्ता ने तेजी से उन सब वस्तुओ का दिग्दर्शन कराया, जो भारत ने ससार को दी हैं।

"धर्म के क्षेत्र मे", उन्होंने कहा, "उसने ईसाई धर्म पर अत्यधिक प्रभाव डाला है, क्योकि ईसा द्वारा दी गयी सब शिक्षाएँ पूर्ववर्ती बुद्ध की शिक्षाओ मे देखी जा सकती हैं।" उन्होंने यूरोपीय और अमेरिकी वैज्ञानिको की पुस्तको से उद्धरण देकर बुद्ध और ईसा मे बहुत सी बातो मे समानता दिखलायी। ईसा का जन्म, ससार से उनका वैराग्य, उनके शिष्यो की सख्या और स्वय उनकी शिक्षा के आचार-शास्त्र वही हैं, जो उन बुद्ध के थे, जो उनसे कई सौ वर्ष पहले हो चुके थे।

वक्ता ने पूछा, "क्या यह केवल सयोग की बात है, अथवा बुद्ध का धर्म सचमुच ईसा के धर्म का पूर्व बिम्ब था ? तुम्हारे विचारको मे से अधिकाश पिछली व्याख्या

से सन्तुष्ट जान पड़ते हैं पर कुछ ने साहसपूर्वक यह भी कहा है कि ईसाई मत उसी प्रकार बुद्ध मत की सन्तान है, जिस प्रकार ईसाई धर्म के सर्वप्रथम अपधर्म—मैनिकीयन अपधर्म—को अब आम तौर से बौद्धों के एक सम्प्रदाय की शिक्षा माना जाता है। इस बात के अब और भी अधिक प्रमाण हैं कि ईसाई धर्म की नींव बुद्ध धर्म में है। ये हमें भारतीय सम्राट् अशोक लगभग ३ वर्ष ईसा पूर्व के राज्य काल के उन लेखों में मिलते हैं, जो अभी हाल में सामने आये हैं। अशोक ने समस्त यूनानी नरेशों से सन्धि की थी और उसके धर्मोपदेशकों ने उन्हीं भूभागों में बुद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया था जहाँ शताब्दियों बाद ईसाई धर्म का उदय हुआ। इस प्रकार, इस तथ्य की व्याख्या हो जाती है कि तुम्हारे पास हमारे त्रिदेव और ईश्वर के अवतार का सिद्धान्त और हमारा आचार-शास्त्र कैसे पहुँचा और हमारे मन्दिरों की सेवा-पद्धति तुम्हारे वर्तमान कैथोलिक चर्चों की सेवा-पद्धति, 'मास' (Mass) से लेकर 'चैंट' (Chant) और 'बेनीडिक्शन' (Benediction) तक से इतनी मिलती-जुलती क्यों है? बुद्ध धर्म में ये बातें तुमसे बहुत पहले विद्यमान थीं। अब तुम इन बातों के सम्बन्ध में अपनी निर्णय-बुद्धि का उपयोग करो। प्रमाणित होने पर हम हिन्दू तुम्हारे धर्म की प्राचीनता स्वीकार करने को तैयार हैं यद्यपि हमारा धर्म उस समय से लगभग तीन सौ वर्ष पुराना है, जब कि तुम्हारे धर्म की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी।

'यही बात विज्ञानों के सम्बन्ध में भी सत्य है। भारत ने पुरातन काल में सब से पहले वैज्ञानिक चिकित्सक उत्पन्न किये थे और सर विलियम हंटर के मतानुसार उसने विभिन्न रासायनिकों का पता लगाकर और तुम्हें विकृत कानों और नाकों को सुडौल बनाने की विधि सिखाकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में भी योग दिया है। गणित में तो उसने और भी अधिक किया है क्योंकि बीजगणित रेखागणित ज्योतिष और आधुनिक विज्ञान की विजय—मिश्र गणित—सबका आविष्कार भारत में हुआ था यहाँ तक कि वे दस अंक जो सम्पूर्ण वर्तमान सभ्यता की मूल आधारशिला हैं भारत में आविष्कृत हुए हैं और वास्तव में संस्कृत के शब्द हैं।

'दर्शन में तो जैसा कि महान् जर्मन दार्शनिक शापेनहॉवर ने स्वीकार किया है हम अब भी दूसरे राष्ट्रों से बहुत ऊँचे हैं। संगीत में भारत ने संसार को सात प्रधान स्वरों और उनके आरोह-अवरोहसहित अपनी वह स्वरलिपि-पद्धति प्रदान की है जिसका आनन्द हम ईसा से लगभग तीन सौ पचास वर्ष पहले से ले रहे थे जब कि वह यूरोप में केवल ग्यारहवीं शताब्दी में पहुँची। भाषा-विज्ञान में अब हमारी संस्कृत भाषा सभी लोगों द्वारा समस्त यूरोपीय भाषाओं की आधार स्वीकार की

जाती है, जो वास्तव मे अनर्गलित सस्कृत के अपभ्रशो के अतिरिक्त और कुछ नही है।

"साहित्य मे हमारे महाकाव्य तथा कविताएँ और नाटक किसी भी भाषा की ऐसी सर्वोच्च रचनाओ के समकक्ष हैं। जर्मनी के महानतम कवि ने शकुतला के सार का उल्लेख करते हुए कहा है कि यह 'स्वर्ग और धरा का सम्मिलन है।' भारत ने ससार को ईसप की कहानियाँ दी है। इन्हे ईसप ने एक पुरानी सस्कृत पुस्तक से लिया है। उसने 'सहस्र रजनीचरित' (Arabian Nights) दिया है और, हाँ, सिन्ड्रेला और बीन स्टाक्स की कहानियाँ भी वही से आयी है। वस्तुओ के उत्पादन मे, सबसे पहले भारत ने रुई और बैगनी रग बनाया। वह रत्नो से सबधित सभी कौशलो मे निष्णात था, और 'शुगर' शब्द स्वय तथा यह वस्तु भी भारतीय उत्पादन है। अत मे उसने शतरज, ताश और चौपड के खेलो का आविष्कार भी किया है। वास्तव मे सभी बातो मे भारत की उच्चता इतनी अधिक थी कि यूरोप के भूखे सिपाही उसकी ओर आकृष्ट हुए, जिससे परोक्ष रूप से अमेरिका का पता चला।

"और अब, इस सबके बदले मे ससार ने भारत को क्या दिया है? बदनामी, अभिशाप और अपमान के अतिरिक्त और कुछ नही। ससार ने उसकी सतान के जीवन-रक्त को रौंदा है, उसने भारत को दरिद्र और उसके पुत्रो तथा पुत्रियो को दास बनाया है, और इतनी हानि पहुँचाने के बाद वह वहाँ एक ऐसे धर्म का प्रचार करके उसका अपमान करता है, जो अन्य सब धर्मो का विनाश करके ही फल-फूल सकता है। पर भारत भयभीत नही है। वह किसी राष्ट्र से दया की भीख नही माँगता। हमारा एकमात्र दोष यह है कि हम जीतने के लिए लड नही सकते, पर हम सत्य की नित्यता मे विश्वास करते हैं। ससार के प्रति भारत का सबसे पहला सदेश उसकी सद्भावना है। वह अपने प्रति की गयी बुराई के बदले मे भलाई कर रहा है और इस प्रकार वह उस पुनीत विचार को कार्यान्वित कर रहा है, जो भारत मे ही उदय हुआ था। अत मे, भारत का सदेश है कि शाति, शुभ, धैर्य और नम्रता की अत मे विजय होगी। क्योकि वे यूनानी कहाँ हैं, जो एक समय पृथ्वी के स्वामी थे? समाप्त हो गये। वे रोमवाले कहाँ हैं, जिनके सैनिको की पदचाप से ससार काँपता था? मिट गये। वे अरब वाले कहाँ हैं, जिन्होंने पचास वर्षों मे अपने झडे अटलान्तिक (अध) महासागर से प्रशात महासागर तक फहरा दिये थे? और वे स्पेनवाले, करोडो मनुष्यो के निर्दय हत्यारे, कहाँ हैं? दोनो जातियाँ लगभग मिट गयी हैं, पर अपनी सतान की नैतिकता के कारण, यह दयालुतर जाति कभी नही मरेगी, और वह फिर अपनी विजय की घडी देखेगी।"

इस भाषण के अंत में जिस पर खूब तालियाँ बजीं स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय रीति-रिवाजों के बारे में कुछ प्रश्नों के उत्तर दिये। उन्होंने निश्चयात्मक रूप से उस कथन की सत्यता को अस्वीकार किया जो कल (फरवरी २५) के स्टैंडर्ड यूनियन में प्रकाशित हुआ था और जिसमें कहा गया था कि भारत में विधवाओं के प्रति बुरा व्यवहार किया जाता है। उन्होंने कहा कि उनके लिए कानून द्वारा न केवल वह सम्पत्ति सुरक्षित है जो विवाह से पहले उनकी थी वरन् वह सब भी जो उन्हें अपने पति से प्राप्त होती है जिसकी मृत्यु के उपरान्त यदि कोई सीधा उत्तराधिकारी नहीं होता तो सम्पत्ति उसकी हो जाती है। भारत में विधवाएँ पुरुषों की कमी के कारण बहुत कम विवाह करती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि पतियों की मृत्यु पर उनकी पत्नियों का आत्म-बलिदान और जगन्नाथ के पहियों के नीचे उनका यह आत्म-विनाश पूर्णतया बंद हो गया है और इस संबंध में उन्होंने प्रमाण के लिए सर विलियम हंटर की 'हिस्ट्री ऑफ द इंडियन एम्पायर' का हवाला दिया।

भारत की बाल विधवाएँ

(डेली ईगल फरवरी २७ १८९५)

हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने सोमवार की रात को ब्रुकलिन एथिकल एसोसियेशन के तत्त्वावधान में हिस्टॉरिकल सोसाइटी हाल में 'संसार को भारत की देन' पर एक भाषण दिया। जब स्वामी मंच पर आये तो हाल में लगभग २५ व्यक्ति थे। श्रोताओं में विशेष रुचि का कारण यह था कि भारत में ईसाई धर्म के प्रचार में रुचि रखनेवाले ब्रुकलिन रामाबाई सर्कल की अध्यक्षा श्रीमती जेम्स मैकफीन ने कभी के इस कथन का विरोध प्रकट किया था कि भारत में बाल विधवाओं की रक्षा की जाती है अर्थात् उनके प्रति दुर्व्यवहार नहीं किया जाता। उन्होंने अपने भाषण में इस विरोध की कहीं चर्चा नहीं की पर जब वह अपना भाषण समाप्त कर चुके तो श्रोताओं में से एक ने पूछा कि आप इस कथन के उत्तर में क्या कहना चाहते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने बताया कि यह बात गलत है कि बाल विधवाओं के प्रति किसी प्रकार का अशोभनीयता अथवा बुरा व्यवहार किया जाता है। उन्होंने कहा

"यह सत्य है कि कुछ हिन्दू बहुत छोटी आयु में विवाह कर लेते हैं। दूसरे उस समय विवाह करते हैं जब वे काफी बड़े हो जाते हैं और कुछ कभी विवाह ही नहीं करते। मेरे पितामह का विवाह उस समय हुआ था जब वह बिल्कुल बालक थे।

मेरे पिता ने चौदह वर्ष की आयु मे विवाह किया था और मैं तीस वर्ष का हूँ और तो भी अविवाहित हूँ। जब पति की मृत्यु होती है, तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति विधवा को मिलती है। यदि कोई विधवा निर्धन होती है, तो वह वैसी ही होती है, जैसी कि किसी भी अन्य देश मे गरीब विधवाएँ होती है। कभी कभी बूढे पुरुष बच्चियो से विवाह करते है, पर पति यदि धनवान होता है, तो विधवा के लिए यह अच्छा ही होता है कि वह जल्दी से जल्दी मर जाय। मैं सारे भारत मे घूमा हूँ, पर मुझे ऐसे दुर्व्यवहार का एक भी उदाहरण नही मिला, जिसका उल्लेख किया गया है। एक समय था, जब लोग अध धार्मिक थे, विधवाएँ थी, जो आग मे कूद जाती थी और अपने पति की मृत्यु पर ज्वाला मे भस्म हो जाती थी। हिन्दुओ को इसमे विश्वास नही था, पर उन्होंने इसे रोका नही, और जब अग्रेजो ने भारत पर नियत्रण प्राप्त किया, तभी इसका अतिम रूप से वर्जन हुआ। ये नारियाँ सत समझी जाती थी और अनेक दिशाओ मे उनकी स्मृति मे स्मारक बने हुए हैं।

हिन्दुओ के कुछ रीति-रिवाज

(ब्रुकलिन स्टैंडर्ड यूनियन, अप्रैल ८, १८९५ ई०)

पिछली रात ब्रुकलिन एथिकल सोसाइटी की एक विशेष बैठक, क्लिन्टन एवेन्यू की पाउच गैलरी मे हुई, जिसमे प्रमुख बात हिन्दू सन्यासी स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण था। इस भाषण का विषय था 'हिन्दुओ के कुछ रीति-रिवाज. उनका क्या अर्थ है और उनको किस प्रकार गलत समझा जाता है।' इस विशाल गैलरी मे बहुत से लोगो की भीड थी।

अपने पूर्वीय वस्त्रो को धारण किये हुए, दीप्त नयनो और तेजस्वी चेहरेवाले स्वामी विवेकानन्द ने अपने लोगो, अपने देश और उसके रीति-रिवाजो के बारे मे बताना आरम्भ किया। उन्होंने केवल यह इच्छा प्रकट की कि उनके और उनके लोगो के प्रति न्याय किया जाय। प्रवचन के आरम्भ मे उन्होने कहा कि वे भारत के विषय मे एक सामान्य आभास उपस्थित करेंगे। उन्होने कहा कि वह देश नही है, वरन् एक महाद्वीप है, और ऐसे यात्रियो ने, जिन्होंने उस देश को कभी देखा भी नही, उसके बारे मे भ्रामक धारणाएँ फैलायी हैं। उन्होंने कहा कि देश मे नौ विभिन्न भाषाएँ और सौ से अधिक बोलियाँ हैं। उन्होंने उन लोगो की तीव्र आलोचना की, जिन्होंने उनके देश के बारे मे लिखा है, और कहा कि उनके मस्तिष्क अधविश्वास के रोगी हैं। उनकी यह धारणा है कि जो कोई भी उनके अपने धर्म की सीमा से बाहर है, वह महा असभ्य है। एक रिवाज, जिसको अक्सर गलत रूप मे उपस्थित

किया गया है, हिन्दुओं द्वारा दाँतों को साफ करना है। वे कभी ब्रश अथवा दातुन को मुँह में नहीं डालते बरन् पौधा इस्तेमाल करते हैं। वक्ता ने कहा "इसलिए एक व्यक्ति ने लिखा है कि हिन्दू प्रातः तड़के उठते हैं और एक पौधा निगलते हैं।" उन्होंने कहा कि विधवाओं द्वारा जगन्नाथ के पहियों के नीचे कुचले जाने के लिए लेटने का रिवाज न भारत में है न कभी था और पता नहीं ऐसी कहानी किस प्रकार चल पड़ी।

जाति-व्यवस्था के विषय में स्वामी विवेकानन्द की वार्ता अत्यधिक व्यापक और रोचक थी। उन्होंने बताया कि यह जातियों की ऊँच-नीच की नियमित व्यवस्था नहीं है बरन् ऐसा है कि प्रत्येक जाति अपने को दूसरी सब जातियों से ऊँची समझती है। उन्होंने कहा कि ये व्यावसायिक संगठन हैं धार्मिक संस्था नहीं। उन्होंने कहा कि ये अनादि काल से चली आयी हैं और समझाया कि आरम्भ में केवल कुछ विशेष अधिकार ही पैतृक थे पर बाद में बन्धन कठोर होते गये और विवाह तथा खान-पान के बन्धन प्रत्येक जाति में ही सीमित हो गये।

वक्ता ने बताया कि हिन्दू घर में किसी ईसाई अथवा मुसलमान की उपस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने कहा कि जब एक गोरा हिन्दू के सम्मुख जाता है तो हिन्दू मानो अपवित्र हो जाता है और किसी विधर्मी से मिलने के बाद हिन्दू सदा स्नान करता है।

हिन्दू संन्यासी ने अस्पृश्यों की मोर्टे तौर से यह कहकर निन्दा (?) की कि वे सब नीच कार्य करते हैं, मृत-मांस खाते हैं, और मेहतरों साफ करनेवाले हैं। उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग भारत के विषय में पुस्तकें लिखते हैं, वे केवल ऐसे ही लोगों के सम्पर्क में आते हैं और वास्तविक हिन्दुओं से नहीं मिलते। उन्होंने जाति के नियमों का उल्लंघन करनेवाले व्यक्ति का दृष्टांत दिया और कहा कि उसे जो दंड दिया जाता है वह यह है कि जाति उसके और उसकी सन्तान के साथ विवाह और खान-पान का सम्बन्ध तोड़ देती है। इसके अतिरिक्त अन्य सब बातें भ्रान्त हैं।

जाति-व्यवस्था के दोष बताते हुए वक्ता ने कहा कि प्रतियोगिता को रोकने के कारण इसने कूपमण्डूकता को जन्म दिया है और जाति की प्रगति को बिल्कुल रोक दिया है। उन्होंने कहा कि इसने पशुता का निवारण करके समाज के सुधार का मार्ग बन्द कर दिया है। प्रतियोगिता को रोकने की क्रिया में इसने जनसंख्या को बढ़ाया है। उन्होंने कहा कि इसके पक्ष में तथ्य यह है कि यह समानता और भ्रातृभाव का एकमात्र आदर्श रहा है। जाति में किसीकी प्रतिष्ठा का सम्बन्ध उसके धन से नहीं होता। सब बराबर होते हैं। उन्होंने कहा कि सब महान्

सुधारको ने यह गलती की है कि उन्होने जाति-भेद का कारण केवल धार्मिक प्रतिनिधित्व को समझा है, उसके वास्तविक स्रोत, जातियो की विशिष्ट सामाजिक स्थितियो को नही। उन्होंने बहुत कटुता के साथ अग्रेजो तथा मुसलमानो द्वारा सगीन, अग्नि और तलवार की सहायता से देश को सभ्य बनाने के प्रयत्नो की बात कही। उन्होंने कहा कि जाति-भेद को मिटाने के लिए हमे सामाजिक परिस्थितियो को पूर्णतया बदलना होगा और देश की पूरी आर्थिक व्यवस्था का विनाश करना होगा। पर इससे अच्छा तो यह होगा कि बगाल की खाडी से लहरे आयें और सबको डुबो दें। अग्रेजी सभ्यता का निर्माण तीन 'बीओ' (Three B's)—बाइबिल, बायोनेट (सगीन) और ब्राडी—से हुआ है। यह सभ्यता है, जो अब ऐसी सीमा तक पहुँचा दी गयी है कि औसत हिन्दू की आय ५० सेंट प्रति मास रह गयी है। रूस बाहर से कहता है, 'हम तनिक सभ्य बनें, और इग्लैण्ड आगे बढ़ा ही जा रहा है।'

हिन्दुओ के प्रति कैसा व्यवहार किया जा रहा है, इसका विवरण देते हुए तेजी से सन्यासी मच पर इधर-उधर टहलने लगे और उत्तेजित हो गये। उन्होंने विदेशो मे शिक्षाप्राप्त हिन्दुओ की आलोचना की और कहा कि वे 'शैम्पेन और नवीन विचारो से भरे हुए' अपनी मातृभूमि को लौटते है। उन्होंने कहा कि बाल विवाह बुरा है, क्योंकि पश्चिम ऐसा कहता है, और यह कि सास स्वतन्त्रतापूर्वक बहू पर इसलिए अत्याचार कर सकती है कि पुत्र कुछ बोल नही सकता। उन्होंने कहा कि विदेशी ग़ैर ईसाई को लाछित करने के लिए प्रत्येक अवसर का उपयोग करते हैं, इसलिए कि उनमे ऐसी बहुत सी बुराइयाँ हैं, जिन्हें वे छिपाना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वय बनाना चाहिए और कोई दूसरा उसकी समस्याओ को नही सुलझा सकता।

भारत के उपकारकर्ताओ की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि क्या अमेरिका ने उन डेविड हेयर का नाम सुना है, जिन्होंने प्रथम महिला कॉलिज की स्थापना की है और जिन्होंने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग शिक्षा-प्रचार को अर्पित किया है।

वक्ता ने कई भारतीय कहावतें सुनायी, जो अग्रेजो के प्रति तनिक भी प्रशसात्मक नही थी। भाषण समाप्त करते हुए उन्होने सच्चे हृदय से अपने देश के लिए अनुरोध किया। उन्होने कहा

"पर जब तक भारत अपने प्रति और अपने धर्म के प्रति सच्चा है, इससे कुछ आता-जाता नही। इस भयावह निरीश्वरवादी पश्चिम ने उसके बीच मे पाखड और नास्तिकता भेजकर उसके हृदय पर प्रहार किया है। अब अपशब्दो की बोरियाँ, भर्त्सनाओ की गाडियाँ और दोषारोपणो के जहाज भेजने बद हो, प्रेम की एक अनन्त धारा उस ओर को बहे। हम सब मनुष्य बनें।"

धर्म-सिद्धान्त कम, रोटी अधिक

(बाल्टीमोर अमेरिकन अक्तूबर १५, १८९४ ई०)

पिछली रात धूमन बन्धुओं की पहली सभा में लीसियम थियेटर खूब भरा हुआ था। विवेचन का विषय था 'सत्यात्मक धर्म'।

भारतीय सन्यासी स्वामी विवेकानन्द अन्तिम वक्ता थे। वे संक्षेप में बोले और विशेष ध्यान के साथ सुने गये। उनकी अंग्रेजी और उनकी भाषण-शैली अति उत्तम थी। उनके शब्दों में एक विदेशी बलाघात है पर इतना नहीं कि वे स्पष्ट समझ में न आयें। वे अपनी मातृभूमि की वेशभूषा में थे जो निश्चय ही आकर्षक थी। उन्होंने कहा कि उनसे पहले जो भाषण दिये जा चुके हैं उनके बाद वे संक्षेप में ही बोलेंगे पर जो कुछ कहा गया है उस सबको वे अपना समर्थन देना चाहेंगे। उन्होंने बहुत यात्राएँ की हैं और सभी प्रकार के लोगों को उपदेश दिया है। उन्होंने कहा कि किसी विशेष प्रकार के सिद्धांत के उपदेश से कोई अंतर नहीं पड़ता। जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है व्यावहारिक कार्य। यदि ऐसे विचारों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता तो मनुष्य में उनके प्रति विश्वास का अंत हो जायगा। सारे संसार की पुकार है 'सिद्धांत कम और रोटी अधिक'। वे समझते हैं कि भारत में मिशनरियों का भेजना ठीक है उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। पर यह अच्छा होगा कि मनुष्य कम जायँ और धन अधिक। जहाँ तक भारत का संबंध है उसके पास धार्मिक सिद्धांत आवश्यकता से अधिक हैं। केवल सिद्धांतों की अपेक्षा उन सिद्धांतों के अनुसार रहने की आवश्यकता अधिक है। भारत के लोगों को और संसार के अन्य लोगों को भी प्रार्थना करना सिखाया जाता है। पर प्रार्थना में केवल ओठ हिलाना ही काफी नहीं है प्रार्थना लोगों के हृदय से उठनी चाहिए। उन्होंने कहा "संसार में कुछ थोड़े से लोग वास्तव में भलाई करना चाहते हैं। दूसरे देखते हैं और तालियाँ बजाते हैं, और समझते हैं कि स्वयं हमने बहुत भला कर डाला है। जीवन प्रेम है और जब मनुष्य दूसरों के प्रति भलाई करना बन्द कर देता है तो उसकी आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है।

(सन अक्तूबर १५, १८९४ ई०)

पिछली रात विवेकानन्द मंच पर अविचल शांत उस समय तक बैठे रहे, जब तक कि उनके भाषण की बारी नहीं आ गयी। तब उनका रंग-ढंग बदल गया और

वह शक्ति तथा भावावेश मे बोले। उन्होने ब्रूमन बन्धुओ का समर्थन किया और कहा कि जो कुछ कहा जा चुका है, उसमे 'पृथ्वी के दूसरी ओर के निवासी' की हैसियत से मेरे अनुमोदन के अतिरिक्त बहुत थोडा जोडा जा सकता है।

वे कहते गये, "हमारे पास सिद्धात काफी हैं, हमे अब जो चाहिए, वह है, इन भाषणो मे उपस्थित किये गये विचारो के अनुसार व्यवहार। जब मुझसे भारत मे मिशनरियो के भेजने के बारे मे पूछा जाता है, तो मैं कहता हूँ कि यह ठीक है, पर हमे आवश्यकता है मनुष्यो की कम, रुपयो की अधिक। भारत के पास सिद्धातो से भरी बोरियाँ हैं और आवश्यकता से अधिक। आवश्यकता है उन साधनों की, जिनसे उन्हें कार्यान्वित किया जाय।

"प्रार्थना विभिन्न प्रकारो से की जा सकती है। हाथो से की गयी प्रार्थना ओठो से की गयी प्रार्थना की अपेक्षा ऊँची होती है और उससे त्राण भी अधिक होता है।

"सब धर्म हमे अपने भाइयो के प्रति भलाई करने की शिक्षा देते हैं। भलाई करना कोई विचित्र बात नही है—यह जीने की रीति ही है। प्रकृति मे प्रत्येक वस्तु की प्रवृत्ति जीवन को विस्तृत और मृत्यु को सकीर्ण बनाने की हैं। यही बात धर्म पर भी लागू होती है। स्वार्थी भावनाओ को त्यागो और दूसरो की सहायता करो। जिस क्षण यह क्रिया बन्द हो जाती है, सकोच और मृत्यु का पदार्पण होता है।"

बुद्ध का धर्म

(मार्निग हेरल्ड, अक्तूबर २२, १८९४ ई०)

कल रात ब्रूमन बन्धुओ द्वारा 'गत्यात्मक धर्म' के सबध मे की गयी दूसरी सभा में श्रोता लीसियम थियेटर, बाल्टीमोर, मे नीचे से ऊपर तक भरे हुए थे। पूरे ३००० व्यक्ति उपस्थित थे। रेव० हिरम ब्रूमन, रेव० वाल्टर ब्रूमन और पूज्य ब्राह्मण सन्यासी विवेकानन्द, जो आजकल नगर मे आये हैं, के भाषण हुए। वक्ता मच पर बैठे थे। पूज्य विवेकानन्द सब लोगो के लिए विशेष आकर्षण के विषय थे। वे पीला साफा और लाल रग का चोगा पहने हुए थे, जो उसी रग के पटुके से कमर मे कसा हुआ था। इससे उनके चेहरे की पूर्वी काट उभरती थी और उनका आकर्षण बढ गया था। उनका व्यक्तित्व उस सभा की प्रधान बात जान पडती थी। उनका भाषण सरल, अकृत्रिम रूप से दिया गया, उनका शब्द-चयन निर्दोष था और उनका उच्चारण लेटिन जाति के उस सस्कृत व्यक्ति के समान था, जो अग्रेज़ी भाषा जानता हो। उन्होंने अशत कहा

सन्यासी का भाषण

'बुद्ध ने भारत के धर्म की स्थापना ईसा के जन्म से ६   वर्ष पूर्व आरम्भ की थी। उन्होंने देखा कि भारत का धर्म उस समय प्रधान रूप से मानवात्मा की प्रकृति के सम्बन्ध में अनन्त विवाद में फँसा हुआ है। उस समय जिन विचारों का प्रचार था उनके अनुसार पशुओं के बलिदान बलिवेदियों और इसी प्रकार के अनुष्ठानों के अतिरिक्त धार्मिक दोषों के निवारण का और कोई उपाय न था।

'इस परिस्थिति के बीच यह सन्यासी उत्पन्न हुआ जो तत्कालीन एक महत्त्वपूर्ण परिवार का सदस्य था और जो बुद्ध मत का प्रवर्तक बना। उनका यह कार्य प्रथम तो एक नये धर्म का प्रवर्तन नहीं था वरन् एक सुधार-आन्दोलन था। वे सबके कल्याण में विश्वास करते थे। उनका धर्म जैसा कि उन्होंने बताया है तीन बातों की खोज में है प्रथम 'संसार में अशुभ है' दूसरे 'इस अशुभ का कारण क्या है?' उन्होंने बताया कि यह मनुष्य की दूसरों से ऊँचे चढ़ जाने की इच्छा में है। यह वह दोष है जिसका निवारण नि स्वार्थपरता से किया जा सकता है। तीसरे, इस अशुभ का इलाज नि स्वार्थ बनकर किया जा सकता है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बल से इसका निवारण नहीं किया जा सकता मल से मल को नहीं धोया जा सकता घृणा से घृणा को नहीं मिटाया जा सकता।

यह उनके धर्म का आधार था। जब तक समाज मानव-स्वार्थपरता की चिकित्सा उन नियमों और संस्थाओं के द्वारा करना चाहता है जिनका उद्देश्य लोगों से उनके पड़ोसियों के प्रति बलात् भलाई करवाना है, तब तक कुछ किया नहीं जा सकता। उपाय छल के विरुद्ध छल और चालाकी के विरुद्ध चालाकी रचना नहीं है। एकमात्र उपाय है नि स्वार्थ नर-नारियों का निर्माण करना। तुम वर्तमान अशुभ को दूर करने के लिए कानून बना सकते हो पर उनसे कोई काम न होगा।

"बुद्ध ने पाया कि भारत में ईश्वर और उसके सार-तत्त्व के विषय में बातें बहुत होती हैं और काम बहुत ही कम। वह सदा इस मौलिक सत्य पर बल देते थे कि हम शुद्ध और पवित्र बनें और हम दूसरों को पवित्र बनने में सहायता दें। उनका विश्वास था कि मनुष्य को काम और दूसरों की सहायता करनी चाहिए अपनी आत्मा को दूसरों में पाना चाहिए अपने जीवन को दूसरों में पाना चाहिए। उनका विश्वास था कि दूसरों के प्रति भलाई करना ही अपने प्रति भलाई करने का एकमात्र उपाय है। उनका विश्वास था कि संसार में सदा ही आवश्यकता से अधिक सिद्धान्त और अत्यल्प व्यवहार रहा है। आजकल भारत में एक दर्जन बुद्ध

होने से बहुत अच्छा होगा और इस देश मे भी एक बुद्ध का आविर्भाव लाभदायक सिद्ध होगा।

"जब आवश्यकता से अधिक सिद्धात, अपने पिता के धर्म मे आवश्यकता से अधिक विश्वास, आवश्यकता से अधिक बौद्धिक अधविश्वास हो जाता है, तो परिवर्तन आवश्यक होता है। ऐसा सिद्धात अशुभ को जन्म देता है और सुधार की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।"

श्री विवेकानन्द के भाषण के अत मे तुमुल करतल ध्वनि हुई।

* * *

(बाल्टीमोर अमेरिकन, अक्तूबर २२, १८९४ ई०)

कल रात भ्रूमन बन्धुओ द्वारा 'गत्यात्मक धर्म' पर की गयी दूसरी सभा मे लीसियम थियेटर दरवाजे तक भरा हुआ था। प्रधान भाषण भारत के स्वामी विवेकानन्द का था। वह बुद्ध धर्म पर बोले और उन्होंने उन बुराइयो की चर्चा की, जो भारत के लोगो मे बुद्ध के जन्म के समय विद्यमान थी। उन्होंने कहा कि उस काल मे भारत मे सामाजिक असमानताएँ ससार के अन्य किसी भी स्थान की अपेक्षा हजार गुनी अधिक थी।

उन्होंने कहा, "ईसा से छ सौ वर्ष पहले, भारत के पुजारियो का प्रभाव वहाँ के लोगो के मन पर बुरी तरह छाया हुआ था और जनता बौद्धिकता तथा विद्वत्ता के उपरले और निचले पाटो के बीच मे पिस रही थी। बुद्ध धर्म, जो मानव परिवार के दो-तिहाई से अधिक का धर्म है, एक पूर्णतया नवीन धर्म के रूप मे प्रवर्तित नही किया गया, वरन् एक सुधार के रूप मे आया, जिससे उस युग का भ्रष्टाचार दूर हो गया। बुद्ध ही कदाचित् ऐसे पैग़म्बर थे, जिन्होंने दूसरो के लिए सब कुछ और अपने लिए बिल्कुल कुछ भी नही किया। उन्होंने अपने घर और ससार के सुखो का त्याग इसलिए किया कि वे अपने दिन मानव-दु खरूप की भयानक व्याधि की औषधि खोजने मे बितायें। एक ऐसे काल मे, जिसमे जनता और पुजारी ईश्वर के सार-तत्त्व के सबध मे विवाद मे लगे हुए थे, उन्होंने वह देखा, जो लोग नही देख सके थे—कि ससार मे दु ख का अस्तित्व है। अशुभ का कारण है हमारी दूसरो से बढ जाने की इच्छा और हमारी स्वार्थपरता। जिस क्षण ससार नि स्वार्थ हो जायगा, सारा अशुभ तिरोहित हो जायगा। जब तक समाज अशुभ का इलाज नियमो और सस्थाओं से करने का प्रयत्न करता है, अशुभ का निराकरण नही होगा।

और भूमिसात कर सकते हो, पर मेरे लिए यह इस बात का कोई प्रमाण नही होगा कि ईश्वर का अस्तित्व है, अथवा यदि वह है भी, तो तुमने उसके द्वारा यह चमत्कार किया है।

यह उनका अधविश्वास है

"पर वर्तमान अस्तित्व को समझने के वास्ते मेरे लिए यह आवश्यक होता है कि मैं उसके अतीत और उसके भविष्य पर विश्वास करूँ। और यदि हम यहाँ से आगे बढते हैं, तो हमे दूसरे रूपो मे जाना चाहिए और इस प्रकार पुनर्जन्म मे मेरा विश्वास सामने आता है। पर मैं कुछ प्रमाणित नही कर सकता। मैं ऐसे किसी भी व्यक्ति का स्वागत करूँगा, जो मुझको इस पुनर्जन्म के सिद्धात से मुक्त कर दे, और इसके स्थान पर किसी अन्य तर्कसगत वस्तु की स्थापना करे। पर अब तक ऐसी कोई बात मेरे सामने नही आयी है, जिससे इतनी सतोषजनक व्याख्या होती हो।"

श्री विवेकानन्द कलकत्ते के निवासी और वहाँ के सरकारी विश्वविद्यालय के स्नातक हैं। उन्होंने अपनी विश्वविद्यालय की शिक्षा अग्रेज़ी मे पायी है और उस भाषा को एक भारतीय की भाँति बोलते हैं। उन्हें भारतीयो और अग्रेजो के बीच के सम्पर्को को देखने का अवसर मिला है। वे जिस उदासीनता के साथ भारतीयो से धर्म-परिवर्तन कराने के प्रयत्नो की बात करते हैं, उसे सुनकर विदेशी मिशनरी कार्यकर्ताओ को बडी निराशा होगी। इस सबध मे उनसे पूछा गया कि पश्चिम की शिक्षाओ का पूर्व के विचारो पर क्या प्रभाव पड रहा है।

उन्होंने कहा, "निश्चय ही ऐसा नही हो सकता कि कोई विचार देश मे आये और उसका कुछ प्रभाव न पडे, पर पूर्वीय विचार पर ईसाई शिक्षा का प्रभाव, यदि वह है तो, इतना कम है कि दिखायी नही देता। पश्चिमी सिद्धातो ने वहाँ उतनी ही छाप डाली है, जितनी कि पूर्वीय सिद्धातो ने यहाँ, कदाचित इतनी भी नही। यह मैं देश के उच्च विचारवानो की बात कह रहा हूँ। सामान्य जनता मे मिशनरियो के कार्य का प्रभाव दिखायी नही देता। जब लोग धर्म-परिवर्तन करते हैं, तो उसके फलस्वरूप वे देशी पथो से तुरत कट जाते हैं, पर जनसख्या इतनी अधिक है कि मिशनरियो द्वारा कराये गये धर्म-परिवर्तनो का प्रकट प्रभाव बहुत कम पडता है।"

योगी बाजीगर है

जब उनसे यह पूछा गया कि क्या वे योगियो और सिद्धो के चमत्कारी करतबो के बारे मे कुछ जानते हैं, तो श्री विवेकानन्द ने उत्तर दिया कि उन्हें चमत्कारो मे रुचि

नहीं है और जब कि निश्चय ही देश में बहुत से चतुर बाजीगर हैं उनके करतब हाथ की सफाई हैं। श्री विवेकानन्द ने कहा कि उन्होंने आम का करतब केवल एक बार देखा है। और वह एक फकीर के द्वारा छोटे पैमाने पर। लामाओं की सिद्धियों के बारे में भी उनके विचार यही हैं। उन्होंने कहा "इन बदमाशों के सब विवरणों में प्रशिक्षित वैज्ञानिक और निष्पक्ष दर्शकों का अभाव है जिसके कारण सच को झूठ से अलग करना कठिन हो गया है।

जीवन पर हिन्दू दृष्टिकोण

(ब्रुकलिन टाइम्स दिसम्बर ३१ १८९४ ई)

कल रात पाउच गैलरी में ब्रुकलिन एथिकल एसोसियेशन ने स्वामी विवेकानन्द का स्वागत किया। स्वागत से पहले विशिष्ट अतिथि ने 'भारत के धर्म' विषय पर एक बहुत रोचक भाषण दिया। अन्य बातों के साथ उन्होंने कहा

'जीवन के विषय में हिन्दू का दृष्टिकोण यह है कि हम यहाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिए आये हैं जीवन का समस्त सुख सीखने में है मनुष्य की आत्मा यहाँ ज्ञान से प्रेम करने अनुभूति प्राप्त करने के लिए है। मैं अपने धर्मग्रंथों को तुम्हारी बाइबिल की सहायता से अच्छी तरह पढ़ सकता हूँ और तुम अपनी बाइबिल को मेरे धर्मग्रंथों की सहायता से अधिक अच्छी तरह पढ़ सकते हो। यदि केवल एक धर्म भी सच्चा है तो शेष सब धर्म भी सच्चे होने चाहिए। एक ही सत्य ने अपने को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया है और ये विभिन्न रूप विभिन्न जातियों की मानसिक और भौतिक प्रकृति की विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप हैं।

"यदि जड़ पदार्थ और उसके रूप-परिवर्तनों से हमारे सभी प्रश्नों की व्याख्या हो जाती है, तो आत्मा के अस्तित्व की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। पर यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि चेतन भावना का विकास जड़ पदार्थ में से हुआ है। हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि शरीरों को पूर्वजों से कुछ प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं पर इन प्रवृत्तियों का अर्थ केवल वह भौतिक स्वरूप होता है, जिसके द्वारा केवल एक विशिष्ट मन ही विशिष्ट रीति से कार्य कर सकता है। ये विशिष्ट प्रवृत्तियाँ उस जीवात्मा में पिछले कर्मों के द्वारा उत्पन्न होती हैं। एक विशिष्ट प्रवृत्तिवाली जीवात्मा आकर्षण के नियम से ऐसे शरीर में जन्म लेगी, जो उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति की अभिव्यंजना के लिए सर्वोत्तम साधन होगा। और यह पूर्णतया विज्ञान के अनुसार है क्योंकि विज्ञान प्रत्येक वस्तु की व्याख्या स्वभाव के आधार पर करना चाहता है और स्वभाव अभ्यास से बनता है। इस प्रकार

एक नवजात जीवात्मा के सहज स्वभावो की व्याख्या करने के लिए भी इन अभ्यासो की आवश्यकता होती है। इन्हें हमने अपने वर्तमान जीवन मे प्राप्त नही किया है, इसलिए वे पिछले जन्मो से ही आये होगे।

"सब धर्म इतनी सारी स्थितियाँ है। इनमे से प्रत्येक धर्म ऐसी स्थिति को बताता है, जिसमे होकर मानव जीवात्मा को ईश्वर की उपलब्धि के लिए गुज़रना होता है। इसलिए इनमे से किसी एक के प्रति भी उदासीन नही होना चाहिए। काई भी स्थिति खतरनाक अथवा बुरी नहीं है। वे अच्छी हैं। जिस प्रकार एक बालक युवक होता है और युवक वृद्ध होता है, उसी प्रकार वे उत्तरोत्तर सत्य से सत्य पर पहुँच रहे है। वे केवल उसी समय खतरनाक होते हैं, जब वे जडीभूत हो जाते हैं और आगे नही बढते—जब उनका विकास रुक जाता है। जब बालक वृद्ध होने से इन्कार करता है, तो वह रोगी होता है। पर यदि वे सतत विकसित होते रहते हैं, तो प्रत्येक ढग उन्हें उस समय तक आगे बढाता है, जब तक कि वे पूर्ण सत्य पर नही पहुँच जाते। इसलिए हम सगुण और निर्गुण, दोनो ही ईश्वरो मे विश्वास करते है, और इसके साथ ही हम उन सब धर्मो मे विश्वास करते हैं, जो ससार मे थे, जो हैं और जो आगे होगे। हमारा विश्वास यह भी है कि हमे इन धर्मों के प्रति सहिष्णु ही नही होना चाहिए, वरन् उन्हें स्वीकार करना चाहिए।

"इस जड-भौतिक ससार मे प्रसार ही जीवन है और सकोच मृत्यु। जिसका प्रसार रुक जाता है, वह जीवित नही रहता। नैतिकता के क्षेत्र मे इसको लागू करें, तो निष्कर्ष होगा यदि कोई प्रसार चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह प्रेम करे, और जब वह प्रेम करना बद कर देता है, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। यह तुम्हारा स्वभाव है, यह अवश्य तुमको करना होता है, क्योंकि यही जीवन का एकमात्र नियम है। इसलिए हमे ईश्वर से प्रेम के लिए प्रेम करना चाहिए। इसी प्रकार, हमे कर्तव्य के लिए अपना कर्तव्य करना चाहिए, कर्म के लिए बिना फल की अभिलाषा किये, कर्म करना चाहिए—जानो कि तुम पवित्र-तर और पूर्णतर हो, जानो कि यह ईश्वर का वास्तविक मन्दिर है।"

(ब्रुकलिन डेली ईगल, दिसम्बर ३१, १८९४ ई०)

मुसलमानो, बौद्धो और भारत के अन्य धार्मिक सम्प्रदायो के मतो की चर्चा करने के बाद वक्ता ने कहा कि हिन्दुओ का अपना धर्म वेदो के आप्तज्ञान द्वारा मिला है। वेद बताते है कि सृष्टि अनादि और अनन्त है। वे बताते है कि मनुष्य एक आत्मा है, जो शरीर मे निवास करती है। शरीर मर जायगा, पर मनुष्य नही मरेगा। आत्मा जीती रहेगी। जीवात्मा की रचना किसी वस्तु से नही हुई है, क्योकि

सृष्टि का अर्थ है संयोजन और उसका अर्थ होता है एक निश्चित भावी विघटन। इसलिए यदि जीवात्मा की सृष्टि की गयी है तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। इसलिए जीवात्मा की सृष्टि नहीं की गयी है। मुझसे यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो हम पुराने जन्मों की कुछ बातें याद क्यों नहीं रखते ? इसकी व्याख्या सरलता से की जा सकती है। चेतना केवल मानसिक महासागर के धरातल का नाम है और हमारी सब अनुभूतियाँ इसकी गहराइयों में समृहीत हैं। उद्देश्य ऐसी किसी वस्तु को प्राप्त करना था जो स्थायी हो। मन शरीर, सम्पूर्ण प्रकृति वास्तव में परिवर्तनशील है। किसी ऐसी वस्तु को जो असीम हो प्राप्त करने के इस प्रश्न की बहुत विवेचना की गयी है। एक सम्प्रदाय आधुनिक बौद्ध जिसके प्रतिनिधि हैं बताता है कि वे सब वस्तुएँ, जिनका समाधान पाँच इन्द्रियों के द्वारा किया जा सकता है अस्तित्वहीन है। प्रत्येक वस्तु अन्य सभी वस्तुओं पर निर्भर है यह एक भ्रम है कि मनुष्य एक स्वतंत्र सत्ता है। दूसरी ओर प्रत्ययवादियों का दावा है कि प्रत्येक व्यक्ति एक स्वतंत्र सत्ता है। इस समस्या का सच्चा समाधान यह है कि प्रकृति परतंत्रता और स्वतंत्रता का यथार्थ और आदर्श का एक मिश्रण है। इसमें से एक परतंत्रता की उपस्थिति इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि हमारे शरीर की गतियाँ हमारे मन द्वारा शासित होती है, और हमारे मन हमारे भीतर स्थित उस आत्मा द्वारा शासित होते हैं जिसे ईसाई 'सोल' कहते हैं। मृत्यु एक परिवर्तन मात्र है। जो आगे निकल गये हैं और ऊँचाइयों पर स्थित हैं, वे वैसे ही हैं, जैसे वे जो यहाँ पीछे रह गये हैं। और जो नीची स्थितियों में हैं वे भी वैसे ही हैं, जैसे कि दूसरे यहाँ हैं। प्रत्येक मनुष्य एक पूर्ण सत्ता है। यदि हम अँधेरे में बैठ जायें और विलाप करने लगें कि इतना घना अँधेरा है, तो उसमें हमें कोई लाभ न होगा पर यदि हम दियासलाई प्राप्त करें, उसे जलायें तो अन्धकार तुरत नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार, यदि हम बैठे रहें और इस बात से दुःखी होते रहें कि हमारे शरीर अपूर्ण हैं हमारी आत्माएँ अपूर्ण हैं तो इससे हमें कोई लाभ न होगा। पर जब हम तर्क के प्रकाश को लाते हैं तो सन्देह का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जीवन का उद्देश्य है ज्ञान प्राप्त करना। ईसाई हिन्दुओं से सीख सकते हैं और हिन्दू ईसाइयों से सीख सकते हैं। वे हमारे धर्मग्रन्थ पढ़ने के बाद अपनी बाइबिल अधिक अच्छी तरह पढ़ सकते हैं। उन्होंने कहा 'अपने बच्चों से कहो कि धर्म सकारात्मक है नकारात्मक नहीं। यह विविध पुरुषों की शिक्षाएँ मात्र नहीं है, वरन् हमारे भीतर उस उच्चतर वस्तु की वृद्धि और विकास है जो बाहर व्यक्त होना चाहती है। संसार में जो शिशु जन्म लेता है वह कुछ संगृहीत अनुभूतियों के साथ आता है। हम जिस स्वतंत्रता के विचार के वशीभूत हैं वह दर्शाता है कि हम मन और

शरीर के अतिरिक्त कुछ और भी हैं। शरीर और मन परतत्र हैं। वह आत्मा, जो हमे जीवन देती है, एक स्वतत्र तत्त्व है, जो इस मुक्ति की इच्छा को उत्पन्न करती है। यदि हम मुक्त नही हैं, तो हम इस ससार को शुभ अथवा पूर्ण बनाने की आशा कैसे कर सकते हैं? हमारा विश्वास है कि हम स्वय अपने निर्माता हैं, जो हमारा है, उसे हम स्वय बनाते है। हमने इसे बनाया है और हम इसे बिगाड भी सकते हैं। हम ईश्वर मे, सबके पिता मे, अपनी सतान के सर्जक और पालक मे, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान मे विश्वास करते है। हम तुम्हारी भाँति एक सगुण ईश्वर मे विश्वास करते हैं पर हम इससे आगे भी जाते हैं। हम विश्वास करते हैं कि हमी वह (ईश्वर) हैं। हम विश्वास करते हैं, उन सब धर्मो मे, जो पहले हो चुके हैं, जो अब हैं और जो आगे होंगे। हिन्दू सब धर्मों को शीश झुकाता है, क्योकि इस ससार मे असली विचार है जोडना, घटाना नही। हम ईश्वर के लिए, स्रष्टा, वैयक्तिक ईश्वर के लिए सब सुन्दर रगो का एक गुलदस्ता तैयार करना चाहते है। हमे ईश्वर के प्रेम के लिए प्रेम करना चाहिए, कर्तव्य के लिए उसके प्रति अपना कर्तव्य करना चाहिए और कर्म के लिए उसके निमित्त कर्म करना चाहिए तथा उपासना के लिए उसकी उपासना करनी चाहिए।

"पुस्तकें अच्छी हैं, पर वे केवल मानचित्र मात्र हैं। एक मनुष्य के आदेश से मैंने पुस्तक मे पढ़ा कि वर्ष भर मे इतने इच पानी गिरा है। इसके बाद उसने मुझसे कहा कि मैं पुस्तक को लूं और उसे हाथो से निचोडूं। मैंने वैसा किया, पर पुस्तक मे से पानी की एक बूंद भी नही गिरी। पुस्तक ने जो दिया, वह केवल विचार था। इसी प्रकार, हम पुस्तको से, मन्दिर से, चर्च से, किसी भी वस्तु से, जब तक वह हमे आगे और ऊपर, ले जाती हैं, लाभ उठा सकते हैं। बलि देना, घुटने टेकना, बुद-बुदाना, बडबडाना धर्म नही है। यदि वे हमे उस पूर्णता का अनुभव करने मे सहायता देती हैं, जिसकी उपलब्धि हमे ईसा के सम्मुख प्रस्तुत होने पर होती है, तभी वे सब लाभदायक हैं। ये हमारे प्रति कहे वे शब्द अथवा शिक्षाएँ हैं, जिनसे हम लाभ उठा सकते हैं। जब कोलम्बस ने इस महाद्वीप का पता लगा लिया, तो वह वापस गया और उसने अपने देशवासियो से कहा कि उसने नयी दुनिया को खोज लिया है। उन्होंने उसका विश्वास नही किया, अथवा कुछ ने उसका विश्वास नहीं किया, और उसने उनसे कहा कि जाओ और स्वय देखो। यही बात हमारे साथ है। हम सब सत्यो के विषय मे पढते हैं, अपने भीतर अन्वेषित कर स्वय सत्य को प्राप्त करते हैं, और तब हम विश्वास प्राप्त करते हैं, जिसे हमसे कोई छीन नही सकता।"

१०–२०

नारीत्व का आदर्श

(बुकलिन स्टैंडर्ड यूनियन जनवरी २१ १८९५ ई)

एथिकल एसोसिएशन के प्रधान डॉ जेम्स द्वारा श्रोताओं के सामने प्रस्तुत किये जाने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने कहा

किसी देश की दरिद्र बस्तियों की जाँच के आधार पर हम उस देश के सबंध मे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। हम ससार के प्रत्येक सेब के वृक्ष के नीचे से कीडे लगे हुए खराब सेब इकट्ठे कर सकते हैं और उनमे से प्रत्येक के विषय मे एक पुस्तक लिख सकते है और फिर भी सेब वृक्ष की सुन्दरता और सम्भावनाओ के विषय म बिल्कुल अनजान रह सकते हैं। हम किसी राष्ट्र का मूल्यांकन उसके उच्चतम और सर्वोत्तम से ही कर सकते हैं—पतित स्वय मे एक पृथक जाति हैं। इस प्रकार यह न केवल उचित वरन् न्यायपुक्त और सही है कि किसी परम्परा का मूल्यांकन उसके सर्वोत्तम से उसके आदर्श से किया जाय।

'नारीत्व का आदर्श भारत की उस आर्य जाति मे केन्द्रित है जो ससार के इतिहास म प्राचीनतम है। उस जाति म नर और नारी पुरोहित थे अथवा जैसा वेद उन्हे कहते है वे सहधर्मी थे। प्रत्येक परिवार का अपना अग्निकुण्ड अथवा वेदी थी जिस पर विवाह के समय विवाह की अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और उसे उस समय तक जीवित रखा जाता था जब तक कि पति-पत्नी मे से किसी एक की मृत्यु नहीं हो जाती थी और तब उसकी चिनगारी से चिता को अग्नि दी जाती थी। यहाँ पति और पत्नी एक साथ यज्ञ मे बलि चढाते थे और यह भावना यहाँ तक पहुँच गयी थी कि पुरुष अकेला पूजा भी नहीं कर सकता था क्योकि यह माना जाता था कि वेवल वह अधूरा है और इसी कारण कोई अविवाहित मनुष्य पुरोहित नहीं बन सकता था। यह बात प्राचीन रोम और यूनान के बारे मे भी सत्य है।

पर एक पृथक और विशिष्ट पुरोहित-वर्ग के उदय हो जाने से इन सब देशो म नारी का सह-पौरोहित्य पीछे पड जाता है। पहले यह सेमेटिक रक्तवाली असीरियन जाति थी जिसने इस सिद्धात की घोषणा की थी कि लडकियो को विवाहित होने पर भी न कोई हक और न कोई अधिकार है। ईरानियो ने बेबिलोनिया से इस विचार को विशेष गहराई से साथ हृदयगम किया और उनके द्वारा यह रोम म और यूनान मे पहुँचाया गया और नारी की स्थिति का सभी स्थानो पर पतन हुआ।

"ऐसा होने का एक दूसरा कारण था—विवाह की प्रणाली मे परिवर्तन। प्राचीनतम प्रणाली मातृकेन्द्रिक थी, अर्थात् उसमे केन्द्र माँ थी और जिसमे लडकियाँ उसके पद पर प्रतिष्ठित होती थी। इससे वहुपतित्व की एक विचित्र प्रथा उत्पन्न हुई, जिसमे प्राय पाँच या छ भाई एक पत्नी से विवाह करते थे। वेदो मे भी इस प्रकार के सकेत मिलते हैं कि जब कोई पुरुष नि सतान मर जाता था, तो उसकी विधवा को उस समय तक दूसरे पुरुष के साथ रहने की अनुमति थी, जब तक कि वह माँ न वन जाय। होनेवाले बच्चे अपने पिता के नही, वरन् उसके मृत पति के होते थे। आगे चलकर विधवा को पुन विवाह करने की अनुमति हो गयी थी, जिसका कि आधुनिक विचार निषेध करता है।

"पर इन उद्भावनाओ के साथ साथ राष्ट्र मे वैयक्तिक पवित्रता का एक अति तीव्र विचार उदय हुआ। वेद प्रत्येक पृष्ठ पर वैयक्तिक पवित्रता की शिक्षा देते हैं। इस विषय मे नियम अत्यन्त कठोर हैं। प्रत्येक लडका और लडकी विश्वविद्यालय भेजा जाता था, जहाँ वे अपने बीसवें अथवा तीसवें वर्ष तक अध्ययन करते थे। यहाँ तनिक सी अपवित्रता का दड भी प्राय निर्दयतापूर्वक दिया जाता था। वैयक्तिक पवित्रता के इस विचार ने अपने को जाति के हृदय पर इतनी गहराई के साथ अकित किया है कि वह लगभग पागलपन बन गया है। इसका ज्वलत उदाहरण मुसलमानो द्वारा चित्तौड-विजय के अवसर पर मिलता है। अपने से कही अधिक प्रबल शत्रु के विरुद्ध पुरुष नगर की रक्षा मे सलग्न थे, और जब नारियो ने देखा कि पराजय निश्चित है, तो उन्होंने चौक मे एक भीषण अग्नि प्रज्वलित की, और जैसे ही शत्रु ने द्वार तोडे, ७४,५०० नारियाँ उस विशाल चिता मे कूद पडी तथा लपटो मे जल गयी। यह शानदार उदाहरण भारत मे आज तक चला आया है। जब किसी पत्र पर ७४,५०० लिखा होता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि जो कोई अनधिकृत रूप से उस पत्र को पढेगा वह, उस अपराध के समान विशाल अपराध का दोषी होगा, जिसने चित्तौड की उन पवित्र नारियो को मौत के मुँह में भेजा था।

"इसके वाद भिक्षुओ, सन्यासियो का युग आता है। यह बौद्ध धर्म के उदय के साथ आया। यह धर्म कहता है कि केवल भिक्षु ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है, जो ईसाई 'हैवेन' के समान कोई वस्तु है। फल यह हुआ कि सम्पूर्ण भारत एक अत्यत विशाल मठ बन गया। केवल एक उद्देश्य था, एक सतत सघर्ष था—पवित्र रहना। सब दोष नारी के सिर मढा गया, लोकोक्तियाँ भी उनके विरुद्ध चेतावनी देने लगी। उनमे से एक थी, 'नरक का द्वार क्या है'? और इसका उत्तर था 'नारी'। दूसरी थी, 'वह जजीर क्या है, जो हमे मिट्टी से बाँधती हैं'?—'नारी'।

एक और भी — धर्मों में सबसे अधिक ठगा कौन है?—'वह जो नारी द्वारा ठगा जाता है।

'पश्चिम के मठों में भी ऐसे ही विचार पाये जाते हैं। सब मठ-व्यवस्थाओं के विकास का अर्थ सदा नारियों की अवहेलना रहा है।

'पर अंततः नारीत्व की एक दूसरी कल्पना का उदय हुआ। पश्चिम में उसे अपना आदर्श पत्नी में और भारत में माँ में मिला। पर यह न सोचो कि यह परिवर्तन पुरोहितों के द्वारा हुआ। मैं जानता हूँ कि वे संसार की प्रत्येक वस्तु पर सदा अपना दावा रखते हैं और मैं यह कहता हूँ यद्यपि मैं स्वयं एक पुरोहित (?) हूँ। मैं प्रत्येक धर्म और देश के मसीहा के सामने नतजानु हूँ पर निष्पक्षता मुझे यह कहने को बाध्य करती है कि यहाँ पश्चिम में नारी का उत्थान जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे लोगों और क्रांतिकारी फ्रांसीसी दार्शनिकों के द्वारा किया गया। धर्म ने निःसन्देह कुछ किया है पर सब नहीं। ऐसा क्यों है कि एशिया माइनर में ईसाई पादरी आज तक हरम रखते हैं?

"ईसाई आदर्श वह है जो ऐंग्लो-सैक्सन जाति में मिलता है। मुसलमान नारी अपनी पश्चिम की बहनों से इस बात में बहुत भिन्न है, उसका सामाजिक और मानसिक विकास उतना अधिक नहीं हुआ है। पर यह न सोचो कि इस कारण मुसलमान नारी दुःखी है क्योंकि ऐसी बात नहीं है। भारत में नारी को सम्पत्ति का अधिकार हजारों वर्षों से प्राप्त है। यहाँ एक पुरुष अपनी पत्नी को उत्तराधिकार से वंचित कर सकता है भारत में मृत पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति पत्नी को प्राप्त होती है वैयक्तिक सम्पत्ति पूर्णतया और अचल सम्पत्ति जीवन भर के लिए।

"भारत में माँ परिवार का केन्द्र और हमारा उच्चतम आदर्श है। वह हमारे लिए ईश्वर की प्रतिनिधि है, क्योंकि ईश्वर ब्रह्माण्ड की माँ है। एक नारी ऋषि ने ही सबसे पहले ईश्वर की एकता को प्राप्त किया और इस सिद्धांत को वेदों की प्रथम ऋचाओं में कहा। हमारा ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है निर्गुण रूप में पुरुष है और सगुण रूप में नारी। और इस प्रकार अब हम कहते हैं 'ईश्वर की प्रथम अभिव्यक्ति वह हाथ है जो पालना झुलाता है। जो प्रार्थना के द्वारा जन्म पाता है वह आर्य है और जिसका जन्म कामुकता से होता है, वह अनार्य है।

"जन्मपूर्व के प्रभाव का यह सिद्धान्त अब धीरे धीरे मान्यता प्राप्त कर रहा है और विज्ञान तथा धर्म भी घोषणा कर रहा है अपने को पवित्र और शुद्ध रखो'। भारत में इस बात ने इतनी गम्भीर मान्यता प्राप्त कर ली है कि वहाँ यदि

विवाह की परिणति प्रार्थना मे न हो, तो हम विवाह मे भी व्यभिचार की वात कहते हैं। मेरा और प्रत्येक अच्छे हिन्दू का विश्वास है कि मेरी माँ शुद्ध और पवित्र थी, और इसलिए मैं जो कुछ हूँ, उस सवके लिए उसका ऋणी हूँ। यह है जाति का रहस्य—सतीत्व।

सच्चा बुद्धमत

(ब्रुकलिन स्टैंडर्ड यूनियन, फरवरी ४, १८९५ ई०)

एथिकल एसोसियेशन, जिसके तत्त्वावधान मे ये भाषण हो रहे है, के अध्यक्ष डॉ० जेन्स द्वारा परिचय दिये जाने के वाद, स्वामी विवेकानन्द ने अशत कहा "वुद्धमत के प्रति हिन्दू की एक विशिष्ट स्थिति है। जिस प्रकार ईसाई ने यहूदियो को अपना विरोधी वनाया था, उसी प्रकार बुद्ध ने तत्कालीन भारत मे प्रचलित धर्म को अपना विरोधी वनाया, पर जहाँ ईसा को उनके देशवासियो ने अगीकार नही किया, वुद्ध ईश्वर के अवतार के रूप मे स्वीकार किये गये। उन्होंने पुरोहितो की भर्त्सना उनके मदिरो के ठीक द्वार पर खडे होकर की, फिर भी आज वे उनके द्वारा पूजे जाते हैं।

"पर वह मत पूजा नही पाता, जिसके साथ उनका नाम जुडा हुआ है। बुद्ध ने जो सिखाया, उसमे हिन्दू विश्वास करता है, पर वौद्ध जिसकी शिक्षा देते हैं, उसे हम स्वीकार नही करते। क्योकि इस महान् गुरु की शिक्षाएँ देश मे चारो ओर व्याप्त होकर, जिन मार्गो मे से गुज़रीं, उनके द्वारा रँगी जाकर, फिर देश की परम्परा मे लौट आयी हैं।

"वुद्धमत को पूर्णतया समझने के लिए हमे उस मातृधर्म मे जाना होगा, जिससे वह प्रसूत हुआ था। वेदग्रथो के दो खड हैं—प्रथम, कर्मकाड मे यज्ञ सवधी विवरण हैं, दूसरा, वेदात, जो यज्ञो की निन्दा करता है, दया और प्रेम सिखाता है, मृत्यु नही। विभिन्न सम्प्रदायो ने उस खड को अपना लिया, जो उन्हे पसन्द आया। चार्वाक अथवा जडवादियो ने अपने सिद्धान्त का आधार प्रथम भाग को वनाया। उनका विश्वास है कि जगत् मे सब कुछ जड पदार्थ मात्र है, और न स्वर्ग है, न नरक, न जीवात्मा है और न ईश्वर। एक अन्य सम्प्रदायवाले, जैन, बहुत नैतिक नास्तिक थे, जिन्होंने ईश्वर के सिद्धान्त को तो अस्वीकार किया, पर एक ऐसी जीवात्मा के अस्तित्व मे विश्वास किया, जो अधिक पूर्ण विकास के लिए प्रयत्नशील है। ये दोनो सम्प्रदाय वेदविरोवी कहलाये। तीसरा सम्प्रदाय आस्तिक कहलाया, क्योकि वह वेदो को स्वीकार करता था, यद्यपि वह सगुण ईश्वर के

अस्तित्व को नहीं मानता था और विश्वास करता था कि सब वस्तुएँ परमाणु अथवा प्रकृति से उत्पन्न हुई हैं।

बुद्ध के आगमन से पूर्व वैदिक जगत् इस प्रकार विभक्त था। पर उनके धर्म को ठीक ठीक समझने के लिए उस जाति-व्यवस्था की चर्चा करनी भी आवश्यक है जो उन दिनों प्रचलित थी। वेद कहते हैं कि जो ईश्वर को जानता है, वह ब्राह्मण है वह जो अपने साथियों की रक्षा करता है, क्षत्रिय है जब कि वह, जो वाणिज्य से जीविका उपार्जन करता है वैश्य है। ये विभिन्न सामाजिक विभाग लौहकठोर जातियों के रूप में विकसित अथवा पतित हो गये और एक सुसंगठित पुरोहित वर्ग राष्ट्र की गर्दन पर पैर रखकर खड़ा हो गया। ऐसे समय में बुद्ध का जन्म हुआ और इसलिए उनका धर्म एक सामाजिक और धार्मिक सुधार के प्रयत्न की सम्पूर्ति है।

वातावरण वाद विवाद के कोलाहल से पूर्ण था २ सभी पुरोहित २, (?) अपने मनुष्यों का नेतृत्व करने के प्रयत्न में आपस में झगड़ रहे थे। ऐसे समय में बुद्ध की शिक्षाओं से अधिक और किसकी आवश्यकता हो सकती थी? झगड़ना छोड़ो अपनी पुस्तकों को एक ओर फेंको पूर्ण बनो। बुद्ध ने कभी सच्ची जाति-व्यवस्था का विरोध नहीं किया क्योंकि वे विशिष्ट प्राकृतिक प्रवृत्तियों के समुदायों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं और वे सदा मूल्यवान हैं। पर बुद्ध ने विशेष उत्तराधिकारों की परम्परावाली विकृत जाति-व्यवस्था का विरोध किया और ब्राह्मणों से कहा 'सच्चे ब्राह्मण न लालची होते हैं न अपराधी होते हैं न क्रोध करते हैं। क्या तुम ऐसे हो? यदि नहीं तो असली वास्तविक लोगों का स्वाँग न भरो। जाति एक स्थिति है, लौहवेष्टित वर्ग नहीं और प्रत्येक मनुष्य जो ईश्वर को जानता और प्रेम करता है सच्चा ब्राह्मण है। और बलि के विषय में उन्होंने कहा वेद कहाँ कहते हैं कि बलि हमें पवित्र बनाती है? उससे कदाचित् देवता प्रसन्न हो सकते हैं पर वह हमें कोई लाभ नहीं पहुँचाती। इसलिए, इन आडम्बरी दिखावों को छोड़ो—ईश्वर से प्रेम करो और पूर्ण बनने का प्रयत्न करो।

"बाद के वर्षों में बुद्ध के ये सिद्धांत भुला दिये गये। वे ऐसे देशों को गये जो इन महान् सत्यों को प्राप्त करने के लिए तैयार नहीं थे और वहाँ से वे उनकी दुर्बलताओं से रंजित होकर वापस आये। इस प्रकार शून्यवादियों का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय का विश्वास था कि ब्रह्माण्ड ईश्वर और जीवात्मा का कोई आधार नहीं है वरन् प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित हो रही है। वे तात्कालिक आनन्द के उपभोग के अतिरिक्त और किसीमें विश्वास नहीं करते थे जिससे

लस्वरूप अत मे अत्यन्त घृणास्पद भ्रष्टाचार का प्रचार हुआ। पर वह बुद्ध का द्धात नही है, वरन् उसका भयावह पतन है, और उस हिन्दू राष्ट्र की जय हो, सने उसका विरोध किया और उसे बाहर खदेड दिया।

"बुद्ध की प्रत्येक शिक्षा का आधार वेदान्त है। वह उन सन्यासियो मे से , जो उन पुस्तकों और तपोवनो मे छिपे सत्यो को प्रकट करना चाहते थे। झे विश्वास नही कि ससार उनके लिए आज भी तैयार है। इसे अब भी उन नम्न स्तर के धर्मो की आवश्यकता है, जो सगुण ईश्वर की शिक्षा देते हैं। इसी ारण, असली बुद्धमत उस समय तक जन-मन को नही पकड सका, जब तक के उसमे वे परिवर्तन सम्मिलित नही हो गये, जो तिब्बत और तातार से परा- र्तित हुए थे। मौलिक बुद्धमत किंचित् भी शून्यवादी नही था। वह केवल जाति-व्यवस्था और पुरोहित वर्ग को रोकने का एक प्रयत्न था, वह ससार मे मूक पशुओ का सर्वप्रथम पक्षपाती था, वह उस जाति को तोडनेवालो मे सर्व- प्रथम था, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती है।"

स्वामी विवेकानन्द ने उन महान् बुद्ध के जीवन के कुछ चित्र उपस्थित करके अपना भाषण समाप्त किया, 'जिन्होने दूसरो की भलाई के अतिरिक्त न कोई अन्य विचार और न कोई अन्य काम किया, जिनमे उच्चतम बुद्धि थी और जिनके हृदय मे समस्त मानव जाति और सब पशुओ, सभी के लिए स्थान था और जो उच्चतम देवताओ के लिए तथा निम्नतम कीट के लिए भी अपना जीवन उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे।' उन्होंने दिखाया कि राजा की बलि के निमित्त आये हुए भेडो के एक समूह की रक्षा के लिए किस प्रकार बुद्ध ने अपने को वेदी पर डाल दिया और अपने अभीष्ट की प्राप्ति की। इसके बाद उन्होने यह चित्र उपस्थित किया कि उस महान् धर्म-प्रवर्तक ने पीडित मानव जाति की पीडाभरी चीत्कार पर अपनी पत्नी और पुत्र का किस प्रकार परित्याग किया, और, अन्त मे, जब उनका उपदेश भारत मे आम तौर से स्वीकार कर लिया गया, उन्होने एक घृणा के पात्र चाडाल का निमत्रण स्वीकार किया, जिसने उन्हे सूअर का मास खिलाया, जिसके परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हुई।

संस्मरण

स्वामी जी के साथ दो-चार दिन[1]

१

पाठको ! मेरी स्मृति के दो-एक पृष्ठ यदि आप पढना चाहते हैं, तो प्रथमत आपको यह जान लेना आवश्यक है कि पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द जी का साक्षात्कार होने से पूर्व घर्म के सम्वन्व मे मेरी घारणा क्या थी, और मेरी विद्या-वुद्धि एव स्वभाव-प्रकृति कैसी थी , अन्यथा उनके सत्सग एव उनके साथ वार्तालाप आदि करने का कितना मूल्य है, यह ठीक समझ न सकेंगे। जव से मैंने होश सँभाला, तव से एट्रेन्स पास करने तक (५ से १८ वर्ष की आयु तक) मैं घर्माघर्म कुछ भी नही समझता था, किन्तु चौथी कक्षा मे आते ही तया अग्रेजी शिक्षा का प्रभाव मन पर पडते ही प्रचलित हिन्दू घर्म के प्रति अत्यन्त अनास्था जाग्रत हो गयी। फिर भी मिशनरी स्कूल मे मुझे पढना नही पडा। एट्रेन्स पास करने के वाद प्रचलित हिन्दू घर्म मे पूरी अनास्था हुई। उसके वाद कॉलेज मे अध्ययन के समय, अर्यात् उन्नीस वर्ष से पच्चीस वर्ष की अवस्था के वीच, भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र इत्यादि वैज्ञानिक विषय थोडे-वहुत पढे, एव हक्स्ले, डार्विन, मिल, टिन्डल, स्पेन्सर आदि पाश्चात्य विद्वानो के विषय मे थोडी-वहुत जानकारी भी हुई। इसका फल वही हुआ, जो ज्ञान के अपच से होता है—यानी मैं घोर नास्तिक हो गया।—किसीमे भी विश्वास नही। भक्ति किसे कहते हैं, यह जानता ही न था। और यदि कहा जाय कि उस समय मैं हाथ-पैरवाला एक अत्यन्त गर्वित अजीव जानवर था, तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी। उस समय सभी घर्मो मे मैंने दोष ही देखा और सभी को अपनी अपेक्षा नीच माना—पर हाँ, यह भावना मेरे मन मे ही रहती थी, ऊपर से मैं कुछ दूसरा ही प्रकट किया करता था।

ईसाई मिशनरी इस समय मेरे पास आने-जाने लगे। अन्य घर्मों की निन्दा एव दाँव-पेच के साथ अनेक तर्क-युक्ति करके अन्त मे उन्होंने मुझे समझाया कि विश्वास के बिना घर्म-राज्य मे कुछ भी नही हो सकता। ईसाई घर्म में पहले विश्वास करना आवश्यक है, तभी उसकी नवीनता तथा अन्य सब घर्मों की अपेक्षा

---

१ श्री हरिपद मित्र द्वारा वगला में लिपिबद्ध सामग्री का अनुवाद।

उसकी श्रेष्ठता समझी जा सकती है। परन्तु अद्भुत गवेषणा और पाण्डित्य से भरी उन बातो से मुझ कट्टर नास्तिक का मन बदला नही। पाश्चात्य शिक्षा की कृपा से सीखा है 'प्रमाण बिना किसीमे भी विश्वास नही करना चाहिए। किन्तु मिशनरी प्रभु बोले "पहले विश्वास पीछे प्रमाण। पर मन समझे कैसे? अतएव वे अपनी बातो से किसी भी मत मे मेरा विश्वास पैदा नही कर सके। तब उन्होने कहा "मनोयोगपूर्वक समस्त बाइबिल पढना आवश्यक है तभी विश्वास होगा। अच्छा वैसा ही किया। दैवयोग से फादर रिविंगटन रेवरेन्ड सेड्वार्ड मोरे और वोमेन्ट आदि बहुत से विद्वान् निःस्पृह और वास्तविक भक्त मिशनरियों से भी भेंट हुई किन्तु किसी भी तरह ईसाई धर्म मे विश्वास उत्पन्न नही हुआ। उनमे से कुछ ने मुझसे यह भी कहा तुम्हारी बहुत उन्नति हो गयी है ईसा के धर्म मे विश्वास भी हो गया है किन्तु जाति जाने के भय से ईसाई नही हो रहे हो। उन लोगो की उस बात का फल यह हुआ कि क्रमश मुझे सन्देह के ऊपर भी सन्देह होने लगा। अन्त मे यह निश्चय हुआ कि वे मेरे दस प्रश्नो के उत्तर देंगे और प्रत्येक प्रश्न के यथोचित समाधान के बाद मेरे हस्ताक्षर लेंगे। इस तरह जब दसवे प्रश्न के उत्तर मे मेरे हस्ताक्षर होंगे तभी मेरी हार होगी और वे मुझे बपतिस्मा देंगे अर्थात् अपने धर्म के लिए अभिषिक्त कर लेंगे। पर तीन से अधिक प्रश्नो के समाधान के पहले ही कॉलेज छोड़कर मैंने ससार मे प्रवेश किया। ससार मे प्रवेश करने के बाद भी सभी धर्मों के ग्रन्थो को पढता रहा। कभी चर्च मे कभी मन्दिर मे तो कभी ब्राह्म मन्दिर मे जाया करता था किन्तु कौन सा धर्म सत्य है कौन सा असत्य कौन सा अच्छा है, कौन सा बुरा कुछ भी समझ न पाया। अन्त मे मेरी धारणा हो गयी कि परलोक या आत्मा के सम्बन्ध मे कोई भी नही जानता—परलोक है या नही आत्मा नश्वरशील है अथवा अमर, इन सब बातो का ज्ञान किसीको भी नही है। तो भी धर्म जो भी हो उसमे दृढ विश्वास कर लेने पर इस जीवन मे बहुत कुछ सुख-शान्ति रहती है और वह विश्वास मनुष्य के अभ्यास से ही दृढ होता है। तर्क विचार अथवा बुद्धि के द्वारा धर्म का सत्यासत्य समझने के लिए किसीमे भी क्षमता नही। भाग्य अनुकूल था—अधिक वेतन की नौकरी भी मिली। उस समय मुझे रुपये-पैसों की कमी न थी दस लोगो मे प्रतिष्ठा भी थी सुखी होने के लिए साधारण मनुष्य को जो जो आवश्यक होता है, उस सबका भी कोई अभाव न था। किन्तु यह सब होने पर भी मन मे सुख-शान्ति का उदय नही हुआ। किसी एक वस्तु का अभाव मन मे सर्वदा ही खटकता रहता था। इस प्रकार दिन पर दिन और वर्ष पर वर्ष बीतने लगे।

२

वेलगाँव—१८ अक्तूवर १८९२, मगलवार। सन्ध्या हुए लगभग दो घण्टे हुए हैं। एक स्थूलकाय प्रसन्नमुख युवा सन्यासी मेरे एक परिचित महाराष्ट्रीय वकील के साथ मेरे घर पर पधारे। मेरे वकील मित्र ने कहा, "ये एक विद्वान् वगाली सन्यासी हैं, आपसे मिलने आये है।" घूमकर देखा—प्रशान्त मूर्ति, नेत्रो से मानो विद्युत्प्रकाश निकल रहा हो, दाढी-मूँछ मुडी हुई, शरीर पर गेरुआ अँगरखा, पैर मे मरहठी चप्पल, सिर पर गेरुआ पगडी। सन्यासी की उस भव्य मूर्ति का स्मरण होने पर अभी भी जैसे उनको अपनी आँखो के सामने देखता हूँ। देखकर आनन्द हुआ, और उनकी ओर मैं आकृष्ट हुआ। किन्तु उस समय उसका कारण नही समझ सका। उस समय मेरा विश्वास था कि गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासी मात्र ही पाखडी होते है। सोचा, ये भी कुछ आशा लेकर मेरे पास आये हैं। फिर, वकील वावू हैं महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, और ये ठहरे वगाली। वगालियो का महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के साथ मेल होना कठिन है, इसीलिए, मालूम होता है, ये मेरे घर मे रहने के लिए आये हैं। मन मे इस प्रकार अनेक सकल्प-विकल्प करके उन्हे अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा, और उनसे पूछा, "आपका सामान अपने यहाँ मँगवा लूँ।" उन्होंने कहा, "मैं वकील वावू के यहाँ अच्छी तरह से हूँ। और वगाली देखकर यदि उनके यहाँ से मैं चला आऊँ, तो उनके मन मे दु ख होगा, क्योकि वे सभी लोग वडी भक्ति और स्नेह करते हैं, अतएव ठहरने-ठहराने के विषय मे पीछे विचार किया जायगा।" उस रात कोई अधिक बातचीत न हो सकी, किन्तु उन्होने जो कुछ दो-चार बातें कही, उसीसे अच्छी तरह समझ गया कि वे मेरी अपेक्षा हजार गुना अधिक विद्वान् और बुद्धिमान हैं, इच्छा मात्र से ही वे बहुत धन उपार्जित कर सकते हैं, तथापि रुपया-पैसा छूते तक नही, और सुखी होने के सभी साधनो के न होते हुए भी मेरी अपेक्षा हजार गुना सुखी हैं। ज्ञात हुआ, उन्हे किसी वस्तु का अभाव नही, क्योकि उन्हे स्वार्थसिद्धि की इच्छा नही है। मेरे यहाँ नही रहेगे, यह जानकर मैंने फिर कहा, "यदि चाय पीने मे कोई आपत्ति न हो, तो कल प्रात काल मेरे साथ चाय पीजिए, मुझे वडी प्रसन्नता होगी।" उन्होने आना स्वीकार किया और वकील बाबू के साथ उनके घर लौट गये। रात मे उनके विषय मे बडी देर तक सोचता रहा, मन मे आया—ऐसा नि स्पृह, चिरसुखी, सदा सन्तुष्ट, प्रफुल्लमुख पुरुष तो कभी देखा नही! मन मे सोचा करता था—जिसके पास पैसा नही, उसका मर जाना अच्छा, जगत् मे वास्तविक नि स्पृह सन्यासी का होना असम्भव है। किन्तु इतने दिनो बाद उस विश्वास को सन्देह ने घेरकर शिथिल कर दिया।

दूसरे दिन (१९ अक्तूबर, १८९२ ई०) प्रातःकाल ६ बजे उठकर स्वामी जी की प्रतीक्षा करने लगा। देखते देखते आठ बज गये किन्तु स्वामी जी नहीं दिखायी पड़े। अन्त में अधीर होकर मैं अपने एक मित्र को साथ ले स्वामी जी के वास-स्थान की ओर चल पड़ा। वहाँ जाकर देखता हूँ एक महासभा जुटी हुई है। स्वामी जी बैठे हैं और उनके समीप अनेक प्रतिष्ठित वकील तथा विद्वान् लोग बैठे हैं उनके साथ बातचीत हो रही है। स्वामी जी किसीको अंग्रेजी में किसीको संस्कृत में और किसीको हिन्दी में उनके प्रश्नों का उत्तर तुरन्त बिना समय लिये ही दे रहे हैं। मेरे समान कोई कोई हक्सले के दर्शन को प्रामाणिक मानकर उसके आधार पर स्वामी जी के साथ तर्क करने को उद्यत हैं। किन्तु वे किसीको हँसी में किसीको गंभीर भाव से यथोचित उत्तर देकर सभी को चुप कर रहे हैं। मैंने जाकर प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया और अवाक् होकर सुनने लगा। सोचने लगा—ये मनुष्य हैं या देवता? इसीलिए उनकी सभी बातें स्मृति में नहीं रह पायीं। जो कुछ स्मरण हैं उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण वकील ने प्रश्न किया 'स्वामी जी सन्ध्या आदि आह्निक कृत्य के मन्त्र संस्कृत में हैं हम लोग उन्हें समझ नहीं पाते। हमारे इन सब मन्त्रोच्चारण का क्या कुछ फल है?

स्वामी जी ने उत्तर दिया अवश्य उत्तम फल है। ब्राह्मण की सन्तान होने के नाते इन संस्कृत मन्त्रों का अर्थ तो इच्छा रखने से सहज ही समझ ले सकते हो। फिर भी समझने की चेष्टा नहीं करते इसमें भला दोष किसका! और यद्यपि तुम मन्त्रों का अर्थ नहीं समझते तो भी जब सन्ध्या-वन्दन आदि आह्निक कृत्य करने बैठते हो उस समय क्या सोचते हो—धर्म-कर्म कर रहा हूँ ऐसा सोचते हो या यह कि कोई पाप कर रहा हूँ? यदि धर्म-कर्म समझकर सन्ध्या वन्दन करने के लिए बैठते हो तो उत्तम फल पाने के लिए वही यथेष्ट है।

इसी समय दूसरे एक व्यक्ति संस्कृत में बोले धर्म के सम्बन्ध में म्लेच्छ भाषा द्वारा चर्चा करना उचित नहीं है अमुक पुराण में इसका उल्लेख है।

स्वामी जी ने उत्तर दिया 'किसी भी भाषा के द्वारा धर्म-चर्चा की जा सकती है। और अपने इस कथन के समर्थन में वेद आदि का प्रमाण देकर बोले "हाईकोर्ट के फैसले को छोटी अदालत नहीं काट सकती।

इस प्रकार नौ बज गये। जिन लोगों को आफिस या कोर्ट जाना था वे सब चले गये। कोई कोई उस समय भी बैठे रहे। स्वामी जी की दृष्टि मेरे ऊपर पड़ते ही उन्हें पूर्व दिवस की चाय पीने के लिए जाने की बात याद आ गयी। वे बोले बच्चा बहुतों का मन दुखाकर नहीं जा सकता था। कुछ बुरा मत मानना।

बाद मे मैंने उनसे अपने निवास-स्थान पर रहने के लिए विशेष अनुरोध किया। इस पर वे बोले, "मैं जिनका अतिथि हूँ, उन्हे यदि मना लो, तो मैं तुम्हारे ही पास रहने को प्रस्तुत हूँ।" वकील महाशय को समझा-बुझाकर स्वामी जी को साथ ले अपने स्थान पर आया। उनके साथ एक कमण्डलु और गेरुए वस्त्र मे लपेटी हुई एक पुस्तक, बस इतना ही सामान था। स्वामी जी उस समय फ्रास देश के सगीत के सम्बन्ध मे एक पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। घर पर आकर लगभग दस बजे चाय-पानी हुआ, इसके बाद ही स्वामी जी ने एक गिलास ठडा जल भी मँगवाकर पिया। यह देखकर कि मुझे अपने मन की कठिन समस्याओ के बारे मे पूछने का साहस नही हो रहा है, उन्होने स्वय ही मुझसे दो-एक बातें की, और उसीसे उन्होने मेरी विद्या-बुद्धि को नाप लिया।

इसके कुछ समय पहले 'टाइम्स' नामक समाचारपत्र मे किसी व्यक्ति ने एक सुन्दर कविता लिखी थी, जिसका भाव था—'ईश्वर क्या है, कौन सा धर्म सत्य है—आदि तत्त्वो को समझना अत्यन्त कठिन है।' वह कविता मेरे तत्कालीन धर्म-विश्वास के साथ खूब मिलती थी, इसलिए मैंने उसे यत्नपूर्वक रख छोडा था। उसी कविता को उन्हे पढने के लिए दिया। पढकर वे बोले, "यह व्यक्ति तो भ्रान्ति मे पडा हुआ है।" मेरा भी क्रमश साहस बढने लगा। 'ईश्वर एक ही साथ न्यायवान और दयामय नही हो सकता'—इस तर्क की मीमासा ईसाई मिशनरियो से नही हो सकी थी। मन मे सोचा, इस समस्या को स्वामी जी भी नही सुलझा सकते। मैंने यह प्रश्न स्वामी जी से पूछा। वे बोले, "तुमने तो विज्ञान का यथेष्ट अध्ययन किया है। क्या प्रत्येक जड पदार्थ मे केन्द्रापसारी (centrifugal) तथा केन्द्रगामी (centripetal)—ये दो विरुद्ध शक्तियाँ कार्य नही करती ! यदि दो विरुद्ध शक्तियो का जड पदार्थ मे रहना सम्भव है, तो दया और न्याय, ये दोनो विरुद्ध होते हुए भी क्या ईश्वर मे नही रह सकते ? मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अपने ईश्वर के सम्बन्ध मे तुम्हारा ज्ञान नही के बराबर है।" मैं तो निस्तब्ध हो गया। मैंने फिर पूछा, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि सत्य निरपेक्ष (absolute) है। सभी धर्म एक ही समय कभी सत्य नही हो सकते।" उन्होने उत्तर दिया "हम लोग किसी विषय मे जो कुछ भी सत्य के नाम से जानते हैं या कालान्तर मे जानेंगे, वह सभी सापेक्ष सत्य (relative truth) है—निरपेक्ष सत्य (absolute truth) की धारणा तो हमारी सीमाबद्ध मन-बुद्धि के द्वारा असम्भव है। इसीलिए सत्य निरपेक्ष होता हुआ भी विभिन्न मन-बुद्धि के निकट विभिन्न रूपों मे प्रकाशित होता है। सत्य के वे विभिन्न रूप या भाव उस नित्य निरपेक्ष सत्य का अवलम्बन करके

ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे सभी एक ही प्रकार या एक ही श्रेणी के हैं। जिस तरह दूर और पास से फोटोग्राफ लेने पर एक ही सूर्य का चित्र अनेक प्रकार से दीख पड़ता है और ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक चित्र भिन्न भिन्न सूर्यों का है, उसी तरह सापेक्ष सत्य के विषय में भी समझना चाहिए। सभी सापेक्ष सत्य निरपेक्ष सत्य के साथ ठीक इसी रीति से सम्बद्ध हैं। अतएव प्रत्येक सापेक्ष सत्य या धर्म उसी नित्य निरपेक्ष सत्य का आभास होने के कारण सत्य है।

'विश्वास ही धर्म का मूल है'—मेरे इस कथन पर स्वामी जी ने मुसकराकर कहा, "राजा होने पर फिर खाने-पीने का कष्ट नहीं रहता, किन्तु राजा होना ही तो कठिन है। क्या विश्वास कभी जोर-जबरदस्ती करने से होता है? बिना अनुभव के ठीक ठीक विश्वास होना असम्भव है।"

किसी प्रसंग में उनको 'साधु' कहने पर उन्होंने उत्तर दिया, 'हम लोग क्या साधु हैं? ऐसे अनेक साधु हैं, जिनके दर्शन या स्पर्श मात्र से ही दिव्य ज्ञान का उदय होता है।'

'संन्यासी इस प्रकार आलसी होकर क्यों समय बिताते हैं? दूसरों की सहायता के ऊपर क्यों निर्भर रहते हैं और समाज के लिए कोई हितकर काम क्यों नहीं करते?'—इन सब प्रश्नों के उत्तर में स्वामी जी बोले, "अच्छा बताओ तो भला, तुम इतने कष्ट से अर्थोपार्जन कर रहे हो। उसका बहुत थोड़ा सा अंश केवल अपने लिए व्यय करते हो, शेष में से कुछ अंश दूसरे लोगों के लिए, जिन्हें तुम अपना समझते हो, व्यय करते हो। वे लोग उसके लिए न तुम्हारा उपकार मानते हैं और न उनके लिए जितना व्यय करते हो, उससे सन्तुष्ट ही होते हैं। स्वयं तुम कौड़ी कौड़ी जोड़ते जा रहे हो। तुम्हारे मर जाने पर कोई दूसरा उसका भोग करेगा, और हो सकता है, यह कहकर गाली भी दे कि तुम अधिक रुपया नहीं रख गये। ऐसा तो गया-गुजरा तुम्हारा हाल है। और मैं तो वैसा कुछ भी नहीं करता। भूख लगने पर पेट पर हाथ रखकर, हाथ को मुँह के पास ले जाकर दिखला देता हूँ, जो पाता हूँ खा लेता हूँ, कुछ भी कष्ट नहीं उठाता, कुछ भी संग्रह नहीं करता। हम दोनों में कौन बुद्धिमान है?—तुम या मैं!" मैं तो सुनकर अवाक् रह गया। इसके पहले मैंने अपने सामने किसी को भी इस प्रकार स्पष्ट रूप से बोलने का साहस करते नहीं देखा था।

आहार आदि करके कुछ विश्राम कर चुकने के बाद फिर उन्हीं वकील महाशय के निवास-स्थान पर गया। वहाँ अनेक प्रकार के वार्तालाप और चर्चा चलने लगी। लगभग नौ बजे रात को स्वामी जी को लेकर मैं अपने निवास-स्थान की ओर

लौटा। आते आते मैंने कहा, "स्वामी जी, आपको आज तर्क-वितर्क मे बहुत कष्ट हुआ।"

वे बोले, "बच्चा, तुम लोग तो ठहरे उपयोगितावादी (utilitarian)। यदि मैं चुप होकर बैठा रहूँ, तो क्या तुम लोग मुझे एक मुट्ठी भी खाने को दोगे! मैं इस प्रकार अनवरत बकता हूँ, लोगो को सुनकर आनन्द होता है, इसीलिए वे दल के दल आते हैं। किन्तु यह जान लो, जो लोग सभा मे तर्क-वितर्क करते हैं, अनेक प्रश्न पूछते हैं, वे वास्तविक सत्य को समझने की इच्छा से वैसा नही करते। मैं भी समझ जाता हूँ, कौन किस भाव से क्या कह रहा है और उसे उसी तरह उत्तर देता हूँ।"

मैंने स्वामी जी से पूछा, "अच्छा स्वामी जी, सभी प्रश्नो के इस प्रकार उत्तम उत्तम उत्तर आप तुरन्त किस प्रकार दे लेते हैं?"

वे बोले, "ये सब प्रश्न तुम्हारे लिए नवीन हैं, किन्तु मुझसे तो कितने ही मनुष्य कितनी बार इन प्रश्नो को पूछ चुके हैं, और उनका उत्तर कितनी ही बार दे चुका हूँ।" रात मे भोजन करते समय और भी अनेक बातें उन्होने कही। पैसा न छूते हुए देश-भ्रमण करते करते कहाँ कैसी कैसी घटनाएँ हुईं, यह सब वर्णन करने लगे। सुनते सुनते मेरे मन मे हुआ—अहा! न जाने इन्होने कितना कष्ट, कितनी विपत्तियाँ सही हैं। किन्तु वे तो उन सब घटनाओ को इस प्रकार हँसते हँसते सुनाने लगे, मानो वे अत्यन्त मनोरजक कहानियाँ हो। कही पर उनका तीन दिन तक बिना कुछ खाये रहना, किसी स्थान मे मिर्चा खाने के कारण पेट में ऐसी जलन होना, जो एक कटोरी इमली का पना पीने पर भी शान्त नही हुई, कही पर 'यहाँ साधु-सन्यासियो को स्थान नही'—इस प्रकार झिडके जाना, और कही खुफिया पुलिस की कडी नजर मे रहना—आदि सब घटनाएँ, जिन्हे सुनकर हमारे शरीर का खून पानी हो जाय, उनके लिए तो मानो एक तमाशा थी।

रात अधिक हुई देखकर उनके लिए सोने का प्रबन्ध कर मैं भी सोने के लिए चला गया, किन्तु रात मे नीद नही आयी। सोचने लगा—कैसा आश्चर्य, इतने वर्षों का दृढ सन्देह और अविश्वास स्वामी जी को देखकर और उनकी दो-चार बातें सुनकर ही दूर हो गया! अब और कुछ पूछने को नही रहा। जैसे जैसे दिन बीतने लगे, हमारी ही क्या—हमारे नौकर-चाकरो की भी उनके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति हो गयी कि कभी कभी स्वामी जी उन लोगो की सेवा और आग्रह के मारे परेशान हो उठते थे।

२० अक्तूबर, १८९२ ई०। सबेरे उठकर स्वामी जी को प्रणाम किया। इस समय साहस कुछ बढ गया है, श्रद्धा-भक्ति भी हुई है। स्वामी जी भी मुझसे

अनेक वन नदी अरण्य आदि का विवरण सुनकर सन्तुष्ट हुए है। इस शहर मे आज उनका चौथा दिन है। पाँचवें दिन उन्होने कहा 'सन्यासियो को नगर में तीन दिन से और गाँव में एक दिन से अधिक ठहरना उचित नही । मैं अब जल्दी चला जाना चाहता हूँ।" परन्तु मैं किसी प्रकार उनकी यह बात मानने को राजी न था। बिना तर्क द्वारा समझे मैं कैसे मानूँ ! फिर अनेक वाद-विवाद के बाद वे बोले 'एक स्थान मे अधिक दिन रहने पर माया-ममता बढ जाती है। हम लोगो ने घर और आत्मीय जनो का परित्याग किया है। अत जिन बातों से उस प्रकार की माया मे मुग्ध होने की सम्भावना है उनसे दूर रहना ही हम लोगों के लिए अच्छा है।

मैंने कहा 'आप कभी भी मुग्ध होनेवाले नही है। अन्त मे मेरा अतिशय आग्रह देखकर और भी दो-चार दिन ठहरना उन्होने स्वीकार कर लिया। इस बीच मेरे मन मे हुआ यदि स्वामी जी सर्वसाधारण के लिए व्याख्यान दें तो हम लोग भी उनका व्याख्यान सुनेंगे और दूसरो का भी कल्याण होगा। मैंने इसके लिए बहुत अनुरोध किया किन्तु व्याख्यान देने पर शायद नाम-यश की स्पृहा जग उठे, ऐसा कहकर उन्होने मेरे अनुरोध को किसी भी तरह नही माना। पर उन्होने यह भी बात मुझे बतायी कि उन्हे सभा मे प्रश्नों का उत्तर देने मे कोई आपत्ति नही है।

एक दिन बातचीत के सिलसिले मे स्वामी जी 'पिकविक् पेपर्स' (Pickwick Papers) के दो-तीन पृष्ठ कण्ठस्थ बोल गये। मैंने उस पुस्तक को अनेक बार पढा है। समझ गया—उन्होने पुस्तक के किस स्थान से आवृत्ति की है। सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। सोचने लगा—सन्यासी होकर सामाजिक ग्रन्थ मे से इन्होने इतना कैसे कण्ठस्थ किया ? हो न हो इन्होने पहले इस पुस्तक को अनेक बार पढा है। पूछने पर उन्होने कहा 'दो बार पढा है। एक बार स्कूल मे पढने के समय और दूसरी बार आज से पाँच-छ मास पहले।

आश्चर्यचकित होकर मैंने पूछा 'फिर आपको किस प्रकार यह स्मरण रहा ? और हम लोगो को क्यो नही रहता ?

स्वामी जी ने उत्तर दिया "एकाग्र मन से पढना चाहिए और खाद्य के सार भाग द्वारा निर्मित वीर्य का नाश न करके उसका अधिकाधिक परिपाक (assimilation) कर लेना चाहिए।

और एक दिन की बात है। स्वामी जी दोपहर मे बिछौने पर लेटे हुए एक पुस्तक पढ रहे थे। मैं दूसरे कमरे मे था। एकाएक स्वामी जी इतने जोर से हँस पड़े कि क्या ही बात सोचकर मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास आकर खड़ा

हो गया। देखा, बात कोई विशेष नही है। वे जैसे पुस्तक पढ रहे थे, वैसे ही पढ़ रहे हैं। लगभग पन्द्रह मिनट खडा रहा, तो भी उनका ध्यान मेरी ओर नही गया। पुस्तक छोडकर उनका ध्यान किसी दूसरी ओर नही था। कुछ देर बाद मुझे देखकर अन्दर आने के लिए कहा, और मैं इतनी देर से खडा हूँ, यह सुनकर बोले, "जब जो काम करना हो, तब उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करना चाहिए। गाजीपुर के पवहारी बाबा ध्यान, जप, पूजा-पाठ जिस प्रकार एकचित्त से करते थे, उसी प्रकार वे अपने पीतल के लोटे को भी एकचित्त से माँजते थे। ऐसा माँजते थे कि सोने के समान चमकने लगता था।"

एक बार मैंने स्वामी जी से पूछा, "स्वामी जी, चोरी करना पाप क्यो है? सभी धर्म चोरी करने का निषेध क्यो करते है? मेरे विचार मे तो 'यह मेरा है', 'यह दूसरे का'—ये सब भावनाएँ केवल कल्पना मात्र हैं। मुझसे बिना पूछे ही जब कोई मेरा आत्मीय बन्धु मेरी किसी वस्तु का व्यवहार करता है, तो वह चोरी क्यो नही कहलाती? और पशु-पक्षी आदि जब हमारी कोई वस्तु नष्ट कर देते हैं, तो हम उसे चोरी क्यो नही कहते?"

स्वामी जी ने कहा, "हाँ, ऐसी कोई वस्तु या कार्य नहीं है, जो सभी अवस्था में और सभी समय बुरा और पाप कहा जा सके। फिर दूसरी ओर, अवस्था-भेद से प्रत्येक वस्तु ही बुरी और प्रत्येक कार्य ही पाप कहा जा सकता है। फिर भी, जिससे दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट हो एव जिसके आचरण से शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी प्रकार की दुर्बलता आये, उस कर्म को नही करना चाहिए, वह पाप है, और उससे विपरीत कर्म ही पुण्य है। सोचो, तुम्हारी कोई वस्तु किसीने चुरा ली, तो तुम्हे दु ख होगा या नही? तुम्हे जैसा लगता है, वैसा ही सम्पूर्ण जगत् के बारे मे भी समझो। इस दो दिन की दुनिया मे जब किसी छोटी वस्तु के लिए तुम एक प्राणी को दु ख दे सकते हो, तो धीरे धीरे भविष्य मे क्या बुरा काम नही कर सकोगे? फिर, यदि पाप-पुण्य न रहे, तो समाज ही न चले। समाज मे रहने पर उसके नियम आदि पालन करने पडते हैं। वन मे जाकर नगे होकर नाचो—कोई कुछ न कहेगा, किन्तु शहर मे इस प्रकार का आचरण करने पर पुलिस द्वारा तुम्हे पकड़वाकर किसी निर्जन स्थान में बन्द रख देना ही उचित होगा।"

स्वामी जी कई बार हास-परिहास के भीतर से विशेष शिक्षा दिया करते थे। वे गुरु होते हुए भी, उनके पास बैठना मास्टर के पास बैठने के समान नही था। अभी खूब रग-रस चल रहा है, बालक के समान हँसते हँसते हँसी के बहाने कितनी ही बातें कहे जा रहे हैं, सभी लोगो को हँसा रहे हैं, और दूसरे

ही साथ ऐसे गम्भीर होकर जटिल प्रश्नों की व्याख्या करना आरम्भ कर देते हैं कि उपस्थित सभी लोग विस्मित होकर सोचने लगते हैं, 'इनके भीतर इतनी शक्ति! अभी तो देख रहे थे कि ये हमारे ही समान एक व्यक्ति हैं!

लोग सभी समय उनके पास शिक्षा लेने के लिए आते। उनका द्वार सभी समय खुला रहता। दर्शनार्थियों में से अनेक भिन्न भिन्न उद्देश्य से भी आते—कोई उनकी परीक्षा लेने के लिए, तो कोई मजेदार बात सुनने के लिए, कोई इसलिए कि उनके पास जाने से बड़े बड़े धनी लोगों से बातचीत हो सकेगी, और कोई संसार-ताप से जर्जरित होकर उनके पास दो घड़ी शीतल होने एवं ज्ञान और धर्म का लाभ करने के लिए। किन्तु उनकी ऐसी अद्भुत क्षमता थी कि कोई किसी भाव से क्यों न आये उसे उसी क्षण समझ जाते थे और उसके साथ उसी तरह व्यवहार करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से किसीके लिए बचना या कुछ छिपाकर रखना सम्भव नहीं था। एक समय किसी प्रतिष्ठित धनी का एकमात्र पुत्र विश्वविद्यालय की परीक्षा से बचने के लिए स्वामी जी के निकट बारम्बार आने लगा और साधु होऊँगा ऐसा भाव प्रकाशित करने लगा। वह मेरे एक मित्र का पुत्र था। मैंने स्वामी जी से पूछा 'यह लड़का आपके पास किस मतलब से इतना अधिक आता-जाता है? उसे क्या आप सन्यासी होने का उपदेश देंगे? उसका बाप मेरा मित्र है।

स्वामी जी ने कहा 'वह केवल परीक्षा के भय से साधु होना चाहता है। मैंने उससे कहा है एम ए पास कर चुकने के बाद साधु होने के लिए आना साधु होने की अपेक्षा एम ए पास करना कहीं सरल है।

स्वामी जी जितने दिन मेरे यहाँ ठहरे, प्रत्येक दिन सन्ध्या समय उनका वार्तालाप सुनने के लिए इतनी अधिक संख्या में लोगों का आगमन होता था मानो कोई सभा लगी हो। इसी समय एक दिन मेरे निवास-स्थान पर, एक बबूल के वृक्ष के नीचे तकिया के सहारे बैठकर उन्होंने जो बात कही थी उन्हें आजन्म न भूल सकूँगा। उस प्रसंग को उठाने में बहुत सी बात कहनी होगी। इसलिए उसे दूसरे समय के लिए ही रख छोड़ना युक्तिसंगत है। इस समय और एक अपनी बात कहूँगा। कुछ समय पहले से मेरी पत्नी की इच्छा किसी गुरु से मन्त्र-दीक्षा लेने की थी। मुझे उसमें आपत्ति नहीं थी। उस समय मैंने उससे कहा था "ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाना जिसकी भक्ति मैं भी कर सकूँ। गुरु के घर में प्रवेश करते ही यदि मुझमें अन्यथा भाव आ जाय तो तुम्हें किसी प्रकार का आनन्द या उपकार नहीं होगा। यदि किसी सत्पुरुष को गुरु रूप में पाऊँगा तो हम दोनों साथ ही दीक्षा-मन्त्र लेंगे अन्यथा नहीं। इस बात को उसने भी स्वीकार किया।

स्वामी जी के आगमन के बाद मैंने उससे पूछा, "यदि ये सन्यासी तुम्हारे गुरु हो, तो तुम उनकी शिष्या हो सकती हो ?"

वह उत्कण्ठा से बोली, "क्या वे गुरु होंगे ? होने से तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी !"

स्वामी जी से एक दिन डरते डरते मैंने पूछा, "स्वामी जी, मेरी एक प्रार्थना पूर्ण करेंगे ?" स्वामी जी ने पूछा, "कहो, क्या कहना है ?" तब मैंने उनसे अनुरोध-पूर्वक कहा, "आप हम दोनो को दीक्षा दें।"

वे बोले, "गृहस्थ के लिए गृहस्थ गुरु ही ठीक है। गुरु होना बहुत कठिन है। शिष्य का समस्त भार ग्रहण करना पडता है। दीक्षा के पहले गुरु के साथ शिष्य का कम से कम तीन बार साक्षात्कार होना आवश्यक है।" इस प्रकार स्वामी जी ने मुझे टालने की चेष्टा की। जब उन्होने देखा कि मैं किसी भी तरह माननेवाला नही, तो अन्त मे उन्हे स्वीकृति देनी ही पडी और २५ अक्तूबर, १८९२ ई० को उन्होने हम दोनो को दीक्षा दी। इस समय मेरी प्रबल इच्छा हुई कि स्वामी जी का फोटो खिचवाऊँ। परन्तु इसके लिए वे शीघ्र राजी नही हुए। अन्त मे बहुत वाद-विवाद के बाद, मेरा तीव्र आग्रह देखकर २८ तारीख को फोटो खिचवाने के लिए सम्मत हुए, फोटो खीचा गया। इसके पहले एक व्यक्ति के अतिशय आग्रह पर भी स्वामी जी ने फोटो नही खिचवाया था, इसलिए फोटो की दो प्रतियाँ उस व्यक्ति को भी भेज देने के लिए उन्होने मुझसे कहा। मैंने स्वामी जी की इस आज्ञा को बडी प्रसन्नता से स्वीकार किया। एक दिन बातचीत के सिलसिले मे स्वामी जी ने कहा, "कुछ दिन तुम्हारे साथ जगल मे तम्बू डालकर रहने की मेरी इच्छा है। किन्तु शिकागो मे धर्म-महासभा होगी, यदि वहाँ जाने की सुविधा हुई, तो वही जाऊँगा।" मैंने चन्दे की सूची तैयार कर धनसग्रह करने का प्रस्ताव किया, परन्तु उन्होने न जाने क्या सोचकर उसे स्वीकार नही किया। स्वामी जी का इस समय व्रत ही था—रुपये-पैसे का स्पर्श या ग्रहण न करना। मेरे अत्यधिक अनुरोध करने पर स्वामी जी मरहठी चप्पल के बदले एक जोडा जूता और बेत की एक छडी स्वीकार करने के लिए राजी हुए। इसके पहले कोल्हापुर की रानी ने स्वामी जी से बहुत अनुरोध किया था कि वे कुछ ग्रहण करें, पर स्वामी जी इससे सहमत नही हुए थे। अन्त मे रानी ने दो गेरुए वस्त्र स्वामी जी के लिए भेजे, स्वामी जी ने यह ग्रहण कर लिया, और पुराने वस्त्र वही छोडते हुए बोले, "सन्यासियो के पास जितना कम बोझा हो, उतना ही अच्छा।"

इसके पहले मैंने भगवद्गीता पढने की अनेक बार चेष्टा की थी, किन्तु समझ न सकने के कारण मैंने ऐसा सोच लिया कि उसमे समझने के लायक ऐसी कोई बडी बात नही है, और उसे पढना ही छोड दिया। स्वामी जी एक दिन

गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे। तब ज्ञात हुआ कि गीता कैसा अद्भुत ग्रन्थ है। गीता का मर्म समझना जिस प्रकार मैंने उनसे सीखा उसी प्रकार दूसरी ओर ज्यूलिस वर्ने के वैज्ञानिक उपन्यास एवं कार्लाइल का 'सार्टोर रिसार्टस' पढ़ना भी उन्हींसे सीखा।

उस समय स्वास्थ्य के लिए मैं औषधियों का अत्यधिक व्यवहार करता था। इस बात को जानकर वे एक दिन बोले 'जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर चारपाई पर डाल दिया है, उठने की शक्ति नहीं रही तभी औषधि का सेवन करना, अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डॉक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा रोग रोग करते रहने से क्या होगा? जितने दिन जियो आनन्द से रहो। पर जिस आनन्द से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर और कभी न दौड़ना। तुम्हारे-हमारे समान एक के मर जाने से पृथ्वी अपने केन्द्र से कोई दूर तो हट न जायगी और न जगत् का किसी तरह का कोई नुकसान ही होगा। इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफसरों के साथ मेरी बनती नहीं थी। उनके सामान्य कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था और इस प्रकार इस अच्छी नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामी जी से मैंने जब ये सब बातें कहीं तो वे बोले 'नौकरी किसलिए करते हो? वेतन के लिए ही न वेतन तो ठीक महीने के महीने नियमित रूप से पाते ही रहते हो? फिर मन में दुःख क्यों? और यदि नौकरी छोड़ देने की इच्छा हो तो कभी भी छोड़ दे सकते हो किसीने तुम्हें बाँधकर तो रखा नहीं है फिर विषम बन्धन में पड़ा हूँ' सोचकर इस दुःखमय संसार में और भी दुःख क्यों बढ़ाते हो? और एक बात जरा सोचो जिसके लिए तुम वेतन पाते हो आफिस के उन सब कामों को करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए कभी कुछ किया भी है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नहीं की फिर भी वे लोग तुमसे सन्तुष्ट नहीं हैं ऐसा सोचकर उनके ऊपर खीझे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानों का काम है? यह जान लो हम लोग दूसरों के प्रति हृदय में जैसा भाव रखते हैं, वही कार्य में प्रकाशित होता है और प्रकाशित न होने पर भी उन लोगों के भी भीतर हमारे प्रति ठीक उसी भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं—हमारे भीतर जैसा है वैसा ही जगत् में प्रकाशित देखते हैं। 'आप भला तो जग भला'—यह उक्ति कितनी सत्य है कोई नहीं समझता। आज से किसीकी बुराई देखना एकदम छोड़ देने की चेष्टा करो। देखोगे तुम जितना ही वैसा

कर सकोगे, उतना ही उनके भीतर का भाव और उनके कार्य तक परिवर्तित हो जायँगे।" बस, उसी दिन से औषधि-सेवन का मेरा पागलपन दूर हो गया, और दूसरो के दोष ढूंढने की चेष्टा को त्याग देने के फलस्वरूप क्रमश मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया।

एक बार स्वामी जी के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया गया—"अच्छा क्या है और बुरा क्या है?" इस पर वे बोले, "जो अभीष्ट कार्य का साधनभूत है, वही अच्छा है और जो उसका प्रतिरोधक है, वही बुरा। अच्छे-बुरे का विचार जगह की ऊँचाई-निचाई के विचार के समान है। तुम जितने ऊपर उठोगे, उतने ही वे दोनो एक होते जायँगे। कहा जाता है, चन्द्रमा मे पहाड और समतल दोनो हैं, किन्तु हम लोग सब एक देखते हैं, वैसा ही अच्छे-बुरे के सम्बन्ध मे भी समझो।" स्वामी जी मे यह एक असाधारण शक्ति थी कि कोई चाहे कैसा भी प्रश्न क्यो न पूछे, तुरन्त उनके भीतर से ऐसा सुन्दर और उपयुक्त उत्तर आता था कि मन का सन्देह एकदम दूर हो जाता था।

और एक दिन की बात है—स्वामी जी ने समाचारपत्र मे पढा कि अनाहार के कारण कलकत्ते मे एक मनुष्य मर गया। यह समाचार पढकर स्वामी जी इतने दु खी हुए कि उसका वर्णन नही हो सकता। वे बारम्बार कहने लगे, "अब तो देश गया!" कारण पूछने पर बोले, "देखते नही, दूसरे देशो मे गरीबो की सहायता के लिए 'पूवर-हाउस', 'वर्क-हाउस', 'चैरिटी फड' आदि सस्थाओ के रहने पर भी प्रतिवर्ष सैकडो मनुष्य अनाहार की ज्वाला मे समाप्त हो जाते हैं—समाचारपत्रो मे ऐसा देखने मे आता है। पर हमारे देश मे एक मुट्ठी भिक्षा की प्रथा होने से अनाहार के कारण लोगो का मरना कभी सुना नही गया। मैंने आज पहली बार अखबार मे यह समाचार पढा कि दुर्भिक्ष न होते हुए भी कलकत्ता जैसे शहर मे अन्न के बिना मनुष्य मरे।"

अग्रेजी शिक्षा की कृपा से मैं भिखारियो को दो-चार पैसे देना अपव्यय समझता था। सोचता था, इस प्रकार जो कुछ थोडा सा दान किया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नही, अपितु बिना परिश्रम के पैसा पाकर, उसे शराब-गाँजा आदि मे खर्च कर वे और भी अध पतित हो जाते हैं। लाभ इतना ही है कि दाता का व्यर्थ खर्च कुछ वढ़ जाता है। इसलिए सोचता था, वहुत लोगो को कुछ कुछ देने की अपेक्षा एक को अधिक देना अच्छा है। स्वामी जी से इस विषय मे जब मैंने पूछा, तो वे बोले, "भिखारी के आने पर यदि शक्ति हो, तो कुछ देना ही अच्छा है। दोगे तो केवल दो-एक पैसा, उसके लिए, वह किसमे खर्च करेगा सद्व्यय होगा या अपव्यय, ये सव वातें लेकर माथापच्ची

करने की क्या आवश्यकता? और यदि [illegible] हो, वह उस पैसे का गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज का लाभ ही है नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करने लगेगा। वैसा न कर वह जो दो पैसे माँगकर गाँजा पीकर चुप होकर बैठा रहता है, यह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है? अतएव इस प्रकार के दान में भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।"

मैंने पहले से ही स्वामी जी को बाल्य विवाह का बिलकुल विरुद्ध देखा है। वे सदैव सभी को विशेषतः बालकों को हिम्मत बाँधकर समाज के इस प्रकार के विरोध में खड़ा होने के लिए तथा उद्योगी और [illegible] होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। स्वामी जी के पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद जिन लोगों ने उनके प्रथम दर्शन किये थे, वे नहीं जानते कि वहाँ जाने के पूर्व वे संन्यास-आश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए, कांचन का स्पर्श तक न करते हुए कितने दिनों तक भारत के समस्त प्रान्तों में भ्रमण करते रहे। किसी ने एक बार ऐसा कहने पर कि उनके समान शक्तिमान पुरुष के लिए नियम आदि का इतना बन्धन आवश्यक नहीं है, वे बोले, 'देखो, मन बड़ा पागल है, बड़ा उन्मत्त है, कभी भी शान्त नहीं रहता, थोड़ा मौका पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसलिए सभी को निर्धारित नियमों के भीतर रहना आवश्यक है। संन्यासी को भी मन पर अधिकार रखने के लिए नियम के अनुसार चलना पड़ता है। सभी मन में सोचते हैं कि मन के ऊपर उनका पूरा अधिकार है, वे तो जान-बूझकर कभी कभी मन को थोड़ी छूट दे देते हैं। किन्तु मन पर किसका कितना अधिकार हुआ है, यह एक बार ध्यान करने के लिए बैठते ही मालूम हो जाता है। 'एक विषय पर चिन्तन करूँगा' ऐसा सोचकर बैठने पर दस मिनट भी उस विषय में मन स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। सभी सोचते हैं कि वे पत्नी के वशीभूत नहीं हैं, वे तो केवल प्रेम के कारण पत्नी को अपने ऊपर आधिपत्य करने देते हैं। मन को वशीभूत कर लिया है—यह सोचना भी ठीक उसी तरह है। मन पर विश्वास करके कभी निश्चिन्त न रहना।

एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा, "स्वामी जी, देखता हूँ धर्म को ठीक ठीक समझने के लिए बहुत अध्ययन की आवश्यकता है।

वे बोले, 'अपने धर्म समझने के लिए अध्ययन की आवश्यकता नहीं, किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। भगवान् श्री रामकृष्ण देव तो 'रामकेष्ट' नाम से हस्ताक्षर करते थे, किन्तु धर्म का सार-तत्त्व उनसे अधिक भला किसने समझा है?

मेरा विश्वास था, साधु-सन्यासियो का स्थूलकाय और सर्वदा सन्तुष्टचित्त होना असम्भव है। एक दिन हँसते हँसते उनके ऊपर ऐसा कटाक्ष करने पर उन्होंने भी मज़ाक मे कहा, "यही तो मेरा 'अकाल रक्षाकोष' (फैमिन इन्श्योरेन्स फड) है। यदि मैं पाँच-सात दिन तक भोजन न पाऊँ, तो भी मेरी चर्बी मुझे जीवित रखेगी। तुम लोग तो एक दिन न खाने से ही चारो ओर अन्धकार देखने लगोगे। जो धर्म मनुष्य को सुखी नही बनाता, वह वास्तविक धर्म है ही नही, उसे मन्दाग्नि-प्रसूत रोगविशेष समझो।" स्वामी जी सगीत-विद्या मे विशेष पारगत थे। एक दिन एक गाना भी उन्होंने प्रारम्भ किया था, किन्तु मैं तो 'सगीत मे औरगज़ेब' था, फिर मुझे सुनने का अवसर ही कहाँ? उनके वार्तालाप ने ही हम लोगो को मोहित कर लिया था।

आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सभी विभाग, जैसे—रसायनशास्त्र, भौतिक-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मिश्रित गणित आदि पर उनका विशेष अधिकार था एव उन विषयो से सम्बद्ध सभी प्रश्नो को वे बडी सरल भाषा मे दो-चार बातो मे ही समझा देते थे। फिर, पाश्चात्य विज्ञान की सहायता एव दृष्टान्त से धर्मविषयक तथ्यो को विशद रूप से समझाने तथा यह दिखाने मे कि धर्म और विज्ञान का एक ही लक्ष्य है, एक ही दिशा मे गति है—उनकी क्षमता अद्वितीय थी।

लाल मिर्च, काली मिर्च आदि तीखे पदार्थ उन्हें बडे प्रिय थे। इसका कारण पूछने पर उन्होने एक दिन कहा, "पर्यटन-काल मे सन्यासियो को देश-विदेश मे अनेक प्रकार का दूषित जल पीना पडता है, यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। इस दोष को दूर करने के लिए उनमे से बहुत से गाँजा, चरस आदि मादक द्रव्य पीते हैं। मैं भी इसीलिए इतनी मिर्च खाता हूँ।"

खेतडी के राजा, कोल्हापुर के छत्रपति एव दक्षिण के अनेक राजा उन पर विशेष भक्ति करते थे। उनका भी उन लोगो पर बडा प्रेम था। असाधारण त्यागी होकर, राजे-रजवाडो के साथ इतनी घनिष्ठता वे क्यो रखते हैं, यह बात बहुतो की समझ मे नही आती थी। कोई कोई निर्बोध तो इस बात को लेकर उनके ऊपर आक्षेप करने मे भी नही चूकते थे।

इसका कारण पूछने पर एक दिन उन्होने कहा, "ज़रा सोच तो देखो, हज़ार हज़ार दरिद्र लोगो को उपदेश देने और सत्कार्य के अनुष्ठान मे तत्पर कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को इस दिशा मे ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायगा। निर्धन प्रजा की इच्छा करने पर भी सत्कार्य करने की क्षमता उसके पास कहाँ? किन्तु राजा के हाथ मे सहस्रो प्रजाओ के मगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल उसे करने की इच्छा भर नही है। वह इच्छा यदि

करने की क्या आवश्यकता? और यदि सचमुच ही वह उस पैसे को गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से तुम्हारा तो लाभ ही है नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करके लेगा। वैसा न कर वह जो दो पैसे माँगकर गाँजा पीकर चुप होकर बैठा रहता है, यह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है? अतएव इस प्रकार के दान से भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।"

मैंने पहले से ही स्वामी जी को बाल्य विवाह के बिल्कुल विरुद्ध देखा है। वे सर्वदा सभी को विशेषतः बालकों को हिम्मत बाँधकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए तथा उद्योगी और [illegible] होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। स्वामी जी के पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद जिन लोगों ने उनके प्रथम दर्शन किए थे वे नहीं जानते कि वहाँ जाने से पूर्व वे सन्यास-आश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए, कांचन का स्पर्श तक न करते हुए कितने दिनों तक भारत के समग्र प्रान्तों में भ्रमण करते रहे। किसी ने एक बार कहा कि उनके समान शक्तिमान पुरुष के लिए नियम आदि का इतना बन्धन आवश्यक नहीं है। वे बोले, 'देखो, मन बड़ा पागल है, बड़ा उन्मत्त है, कभी भी शान्त नहीं रहता, थोड़ा मौका पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसलिए सभी को निर्धारित नियमों के भीतर रहना आवश्यक है। सन्यासी को भी मन पर अधिकार रखने के लिए नियम के अनुसार चलना पड़ता है। सभी मन में सोचते हैं कि मन के ऊपर उनका पूरा अधिकार है, वे तो जान-बूझकर कभी कभी मन को थोड़ी छूट दे देते हैं। किन्तु मन पर किसका कितना अधिकार हुआ है यह एक बार ध्यान करने के लिए बैठते ही मालूम हो जाता है। 'एक विषय पर चिन्तन करूँगा' ऐसा सोचकर बैठने पर दस मिनट भी उस विषय में मन स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। सभी सोचते हैं कि वे पत्नी के वशीभूत नहीं हैं, वे तो केवल प्रेम के कारण पत्नी को अपने ऊपर आधिपत्य करने देते हैं। मन को वशीभूत कर लिया है—यह सोचना भी ठीक उसी तरह है। मन पर विश्वास करके कभी निश्चिन्त न रहना।"

एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा, "स्वामी जी देखता हूँ धर्म को ठीक ठीक समझने के लिए बहुत अध्ययन की आवश्यकता है।"

वे बोले, "अपने धर्म समझने के लिए अध्ययन की आवश्यकता नहीं, किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। भगवान् श्री रामकृष्ण देव तो 'रामकेष्ट' नाम से हस्ताक्षर करते थे, किन्तु धर्म का सार-तत्त्व उनसे अधिक किसने समझा है?

अनन्त है, यह नही समझा। जो भी हो, एक वस्तु अनन्त है, यह वात समझ मे आती है, किन्तु दो वस्तुएं यदि अनन्त हो, तो कौन कहाँ रहेगी ? कुछ और आगे वढो, तो देखोगे, काल जो है, देश भी वही है, फिर और अग्रसर होने पर समझोगे, सभी वस्तुएं अनन्त हैं, और वे सभी अनन्त वस्तुएं एक है, दो या दस नही।"

इस प्रकार स्वामी जी के पदार्पण से २६ अक्तूवर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को वे वोले, "और नही ठहरूँगा, रामेश्वर जाने के विचार से वहुत दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी प्रकार चला, तो इस जन्म मे शायद रामेश्वर पहुँचना न हो सकेगा।" मैं वहुत अनुरोध करके भी उन्हे नही रोक सका। २७ अक्तूबर की 'मेल' से उनका मरमागोआ जाना ठहरा। इस थोडे से समय मे उन्होंने कितने लोगो को मुग्ध कर लिया था, यह कहा नही जा सकता। टिकट खरीदकर उन्हें गाडी मे विठाया और साष्टाग प्रणाम कर मैंने कहा, "स्वामी जी, मैंने जीवन मे आज तक किसीको भी आन्तरिक भक्ति के साथ प्रणाम नही किया। आज आपको प्रणाम कर मैं कृतार्थ हो गया।"

* * *

स्वामी जी को मैंने केवल तीन वार देखा। प्रथम, उनके अमेरिका जाने से पूर्व। उस समय की बहुत सी वातें आप लोगो को सुना चुका हूँ। वेलगाँव मे उनके साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। द्वितीय, जव उन्होंने दूसरी वार इग्लैण्ड और अमेरिका की यात्रा की थी, उसके कुछ दिन पहले। तृतीय एव अन्तिम वार दर्शन हुआ उनके देहत्याग के छ-सात मास पहले। पर इतने ही अवसरो पर मैंने उनसे जो कुछ सीखा, उसका आद्योपान्त वर्णन करना असम्भव है। वहुत सी वातें मेरे अपने सम्बन्ध की हैं, इसलिए उन्हें कहने की आवश्यकता नही, और वहुत सी वातो को भूल भी गया हूँ। जो कुछ स्मरण है, उसमे से पाठको के लिए उपयोगी विषयो को वतलाने की चेष्टा करूँगा।

इग्लैण्ड से लौट आने के वाद उन्होंने हिन्दुओ के जाति-विचार के सम्वन्ध मे और किसी किसी सम्प्रदाय के व्यवहार के ऊपर तीव्र आलोचना करते हुए मद्रास मे जो व्याख्यान दिये थे, उन्हें पढकर मैंने सोचा, स्वामी जी की भाषा कुछ अधिक कडी हो गयी है। और उनके समीप मैंने अपने इस अभिप्राय को प्रकट भी किया। सुनकर वे बोले, "जो कुछ मैंने कहा है, सब सत्य कहा है। और जिनके सम्बन्ध मे मैंने इस प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है, उनके कार्यो की तुलना मे वह विन्दु मात्र भी कडी नही है। सत्य बात मे सकोच का या उसे छिपाने का तो मैं कोई कारण नही देखता। यह न सोचना कि जिनके कार्यों पर मैंने इस प्रकार समालोचना की है, उनके ऊपर मेरा क्रोध था या है, अथवा जैसा कोई कोई सोचते हैं कि कर्तव्य

उसके भीतर किसी प्रकार कामरिल कर सकूँ तो ऐसा होने पर उसके साथ साथ उसके अधीन सारी प्रजा की अवस्था बदल सकती है और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सकता है।

धर्म वाद-विवाद में नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, इसको समझाने के लिए वे बात बात में कहा करते थे 'गुड़ का स्वाद खाने में ही है। अनुभव करो, बिना अनुभव किये कुछ भी न समझोगे।' उन्हें ढोंगी सन्यासियों से अत्यन्त चिढ़ थी। वे कहते थे "घर में रहकर मन पर अधिकार स्थापित करके फिर बाहर निकलना अच्छा है, नहीं तो नव अनुराग कम होने पर ऐसे सन्यासी प्रायः गाँजा खोर सन्यासियों के दल में मिल जाते हैं।

मैंने कहा, "किन्तु घर में रहकर वैसा होना तो अत्यन्त कठिन है। सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखना, राग-द्वेष का त्याग करना आदि जिन बातों को आप धर्मलाभ में प्रधान सहायक कहते हैं उनका अनुष्ठान करना यदि मैं आज से ही आरम्भ कर दूँ, तो कल से ही मेरे नौकर-चाकर और अधीनस्थ कर्मचारीगण यहाँ तक कि सगे-सम्बन्धी लोग भी मुझे एक क्षण भी शान्ति से न रहने देंगे।"

उत्तर में भगवान् श्री रामकृष्ण देव की सर्प और सन्यासीवाली कथा का दृष्टान्त देकर उन्होंने कहा, 'फुफकारना कभी बन्द मत करना और कर्तव्य-पालन करने की बुद्धि से सभी काम किये जाना। कोई अपराध करे, तो दण्ड देना, किन्तु दण्ड देते समय कभी भी क्रुद्ध न होना।' फिर पूर्वोक्त प्रसंग को छेड़ते हुए बोले 'एक समय मैं एक तीर्थस्थान के पुलिस इन्स्पेक्टर का अतिथि हुआ। वह बड़ा धार्मिक और भक्तालु था। उसका वेतन १२५ रु० था, किन्तु देखा उसके घर का खर्च मासिक दो-तीन सौ का रहा होगा। जब अधिक परिचय हुआ तो मैंने पूछा, आय की अपेक्षा आपका खर्च तो अधिक देख रहा हूँ—यह कैसे चलता है? वह थोड़ा हँसकर बोला, 'आप ही लोग चलाते हैं। इस तीर्थस्थल में जो साधु-सन्यासी आते हैं वे सब आपके समान तो नहीं होते। सन्देह होने पर उनके पास क्या है क्या नहीं, इसकी तलाशी करता हूँ। बहुतों के पास प्रचुर मात्रा में *रुपया-पैसा* निकलता है। जिन पर मुझे चोरी का सन्देह होता है वे *रुपया-पैसा* छोड़कर भाग जाते हैं, और मैं उन पैसों को अपने कब्जे में कर लेता हूँ। पर अन्य किसी प्रकार का घूस आदि नहीं लेता।' "

स्वामी जी के साथ एक दिन अनन्त (infinity) वस्तु के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ। उन्होंने जो बात कही वह बड़ी ही सुन्दर एवं सत्य है। वे बोले, 'दो अनन्त वस्तुएँ कभी नहीं रह सकतीं।' पर मैंने कहा, "काल तो अनन्त है और देश भी अनन्त है।" इस पर वे बोले, "देश अनन्त है यह तो समझा, किन्तु काल

है, दूसरे की नही, इस प्रकार का भाव क्या अन्याय नही है?' मैं तो सुनकर दग रह गया।

"नाक और पैर की लघुता लेकर ही चीन मे सौन्दर्य का विचार होता है, यह सभी जानते हैं। आहार आदि के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। अंग्रेज हम लोगों के समान खुशबूदार चावल का भात खाना पसन्द नही करते। एक समय किसी जगह के एक जज साहब की अन्यत्र बदली हो जाने पर वहाँ के बहुत से वकीलो ने उनके सम्मान के लिए बढिया अनाज आदि भेजा। उसमे कुछ सेर खुशबूदार चावल भी थे। जज साहब ने उस चावल का भात खाकर मन मे सोचा—यह सडा हुआ चावल है, और वकीलो से भेंट होने पर कहा, 'तुम लोगो को मेरे लिए सडा चावल भेजना उचित न था।'

"किसी समय मैं रेलगाडी मे जा रहा था। उसी डब्बे मे चार-पाँच साहब भी बैठे थे। बातचीत के सिलसिले मे तम्बाकू के बारे मे मैंने कहा, 'सुगन्धित गुडाकू का पानी से भरे हुए हुक्के मे व्यवहार करना ही तम्बाकू का श्रेष्ठ उपभोग है।' मेरे पास खूब अच्छा तम्बाकू था। मैंने उन लोगो को देखने के लिए दिया। वे सूँघकर बोले, 'यह तो अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त है। इसे आप सुगन्धित कहते हैं!' इस प्रकार गन्ध, आस्वाद, सौन्दर्य आदि सभी विषयो मे समाज, देश और काल के भेद से भिन्न भिन्न मत हैं।"

स्वामी जी की पूर्वोक्त कथाओ को हृदयगम करते मुझे देरी नही लगी। मैंने सोचा, पहले मुझे शिकार करना कितना प्रिय था, किसी पशु-पक्षी को देखने पर उसे मारने के लिए मन छटपटाने लगता था। न मार सकने पर अत्यन्त कष्ट भी मालूम होता था। पर अब उस प्रकार प्राणियो का वध करना बिल्कुल ही अच्छा नही लगता। अतएव किसी वस्तु का अच्छा या बुरा लगना केवल अभ्यास पर निर्भर है।

अपने मत को अक्षुण्ण रखने मे प्रत्येक मनुष्य का एक विशेष आग्रह देखा जाता है। धर्म के क्षेत्र मे तो उसका विशेष प्रकाश दिखायी देता है। स्वामी जी इस सम्बन्ध मे एक कहानी बतलाया करते थे. एक समय एक छोटे राज्य को जीतने के लिए एक दूसरे राजा ने दल-बल के साथ चढाई की। शत्रुओ के हाथ से बचाव कैसे हो, इस सम्बन्ध मे विचार करने के लिए उस राज्य मे एक बड़ी सभा बुलायी गयी। सभा मे इजीनियर, बढई, चमार, लोहार, वकील, पुरोहित आदि सभी उपस्थित थे। इजीनियर ने कहा, "शहर के चारो ओर एक बहुत बडी खाई खुदवाइए।" बढई बोला, "काठ की एक दीवाल खडी कर दी जाय।" चमार बोला, "चमडे के समान मजबूत और कोई चीज नही है, चमडे की ही दीवाल खडी की जाय।" लोहार बोला, "इस सबकी कोई आवश्यकता नही है, लोहे की दीवाल

समझकर जो कुछ मैंने किया है उसके लिए अब मैं दुःखित हूँ। इन सब बातों में कोई सार नहीं। मैंने क्रोध के कारण ऐसा नहीं किया है और जो मैंने किया है उसके लिए मैं दुःखित नहीं हूँ। आज भी यदि उस प्रकार का कोई अप्रिय कार्य करना कर्तव्य मालूम होगा तो अवश्य निःसंकोच वैसा करूँगा।

ढोंगी सन्यासियों के विषय में उनका मत पहले कुछ कह चुका हूँ। किसी दूसरे दिन इस सम्बन्ध में प्रसंग उठने पर उन्होंने कहा 'हाँ अवश्य बहुत से बदमाश वारन्ट के डर से अथवा घोर दुष्कर्म करके छिपने के लिए सन्यासी के वेष में घूमते फिरते हैं किन्तु तुम लोगों का भी कुछ दोष है। तुम लोग सोचते हो सन्यासी होते ही उसे ईश्वर के समान त्रिगुणातीत हो जाना चाहिए। उसे पेट भर अच्छी तरह खाने में दोष बिछौने पर सोने में दोष यहाँ तक कि उसे जूता और छाता तक व्यवहार में लाने की गुंजाइश नहीं। क्यों वह भी तो मनुष्य है। तुम लोगों के मत में जब तक कोई पूर्ण परमहंस न हो जाय तब तक उसे गेरुआ वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं। पर यह भूल है। एक समय एक सन्यासी के साथ मेरा वार्तालाप हुआ। अच्छी पोशाक पर उनकी खूब रुचि थी। तुम लोग उन्हें देखकर अवश्य ही घोर विलासी समझते। किन्तु वे सचमुच यथार्थ सन्यासी थे।

स्वामी जी कहा करते थे "देश काल और पात्र के भेद से मानसिक भावों और अनुभवों में काफी तारतम्य हुआ करता है। धर्म के सम्बन्ध में भी ठीक वैसा ही है। प्रत्येक मनुष्य की भी एक न एक विषय में अधिक रुचि पायी जाती है। जगत् में सभी अपने को अधिक बुद्धिमान समझते हैं। ठीक है यहाँ तक कोई विशेष हानि नहीं। किन्तु जब मनुष्य सोचने लगता है कि केवल मैं ही समझता हूँ दूसरा कोई नहीं तभी सारे बखेड़े उपस्थित हो जाते हैं। सभी चाहते हैं कि दूसरे सब लोग भी उन्हीं के समान प्रत्येक वस्तु को देखें और समझें। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने जिस बात को सत्य समझा है या जिसे जाना है उसे छोड़कर और कोई सत्य हो ही नहीं सकता। सांसारिक विषय के क्षेत्र में हो अथवा धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार के भाव को मन में किसी तरह न आने देना चाहिए।

'जगत् के किसी भी विषय में सब पर एक ही नियम लागू नहीं हो सकता। देश काल और पात्र के भेद से नीति एवं सौन्दर्य-ज्ञान भी विभिन्न देखा जाता है। तिब्बत की स्त्रियों में बहु-पति की प्रथा प्रचलित है। हिमालय भ्रमणकाल में मेरी इस प्रकार के एक तिब्बती परिवार से भेंट हुई थी। इस परिवार में छः पुरुष थे उन छः पुरुषों की एक ही स्त्री थी। अधिक परिचय हो जाने के बाद मैंने एक दिन उनकी इस कुप्रथा के बारे में कुछ कहा इस पर वे कुछ खीझकर बोले 'तुम साधु-सन्यासी होकर लोगों को स्वार्थपरता सिखाना चाहते हो? यह मेरी ही उपभोग्य

अपनी माँ को खाना नही देता, वह दूसरे की माँ का क्या पालन करेगा ?" स्वामी जी यह स्वीकार करते थे कि हमारे प्रचलित धर्म मे, आचार-व्यवहार मे, सामाजिक प्रथा मे अनेक दोष हैं। वे कहते थे, "उन सभी का सशोधन करने की चेष्टा करना हम लोगो का मुख्य कर्तव्य है, किन्तु इसके लिए सवाद-पत्रो मे अग्रेज़ो के समीप उन दोषो को घोषित करने की क्या आवश्यकता है ? घर की गलतियो को जो बाहर दिखलाता है, उसके समान गधा और कौन है ? गन्दे कपडे को लोगो की आँखो के सामने नही रखना चाहिए।"

ईसाई मिशनरियो के बारे मे एक दिन चर्चा हुई। बातचीत के सिलसिले मे मैंने कहा कि उन लोगो ने हमारे देश का कितना उपकार किया है और कर रहे हैं। सुनकर वे बोले, "किन्तु अपकार भी तो कोई कम नही किया। देशवासियो के मन की श्रद्धा को बिल्कुल नष्ट कर देने का अद्भुत प्रबन्ध उन्होने कर छोडा है। श्रद्धा के साथ साथ मनुष्यत्व का भी नाश हो जाता है। इस बात को क्या कोई समझता है ? हमारे देव-देवियो और हमारे धर्म की निन्दा किये बिना वे अपने धर्म की श्रेष्ठता क्यो नही दिखा पाते ? और एक बात है जो जिस धर्म-मत का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हे उसमे पूर्ण विश्वास होना चाहिए और तद-नुरूप कार्य करना चाहिए। अधिकाश मिशनरी कहते कुछ हैं और करते कुछ। मुझे कपट से बडी चिढ है।"

एक दिन उन्होंने धर्म और योग के सम्बन्ध मे अत्यन्त सुन्दर ढग से बहुत सी बातें कही। उनका मर्म जहाँ तक स्मरण है, उद्धृत कर रहा हूँ

"समस्त प्राणी सतत सुखी होने की चेष्टा मे रत रहते हैं, किन्तु बहुत ही थोडे लोग सुखी हो पाते हैं। काम-धाम भी सभी सतत करते रहते है, किन्तु उसका ईप्सित फल पाना प्राय देखा नही जाता। इस प्रकार विपरीत फल उप-स्थित होने का कारण क्या है, वह भी समझने की कोई चेष्टा नही करता। इसी-लिए मनुष्य दु ख पाता है। धर्म के सम्बन्ध मे कैसा भी विश्वास क्यो न हो, यदि कोई उस विश्वास के बल से अपने को यथार्थ सुखी अनुभव करता है, तो ऐसी स्थिति मे उसके उस मत को परिवर्तित करने की चेष्टा करना किसीके लिए भी उचित नही है, और ऐसा करने से कोई अच्छा फल भी नही होगा। पर हाँ, मुँह से कोई कुछ भी क्यो न कहे, जब देखो कि किसीका केवल धर्म सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनने मे ही आग्रह है, पर उसके आचरण मे नही, तो जानना कि उसे किसी भी विषय मे दृढ विश्वास नही है।

"धर्म का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को सुखी करना। किन्तु अगले जन्म मे सुखी होने के लिए इस जन्म मे दु ख-भोग करना कोई बुद्धिमानी का काम नही

सबसे अच्छी होगी उसे भेदकर पौधी या गोला नहीं जा सकता। वकील बोले, "कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है हमारा राज्य लेने का शत्रु को कोई अधिकार नहीं है—यही एक बात शत्रु को तर्क-युक्ति द्वारा समझा दी जाय। पुरोहित बोले 'तुम लोग तो पागल जैसे बकते हो। होम-याग करो स्वस्त्ययन करो तुलसी दो शत्रु कुछ भी नहीं कर सकता।" इस प्रकार उन्होंने राज्य बचाने का कोई उपाय निश्चित करने के बदले अपने अपने मत का पक्ष लेकर घोर तर्क-वितर्क आरम्भ कर दिया। यही है मनुष्य का स्वभाव।

यह कहानी सुनकर मुझे भी मानव मन के एकतरफे झुकाव के सम्बन्ध मे एक कथा याद आ गयी। स्वामी जी से मैंने कहा 'स्वामी जी मुझे लड़कपन में पागलो के साथ बातचीत करना बड़ा अच्छा लगता था। एक दिन मैंने एक पागल देखा—खासा बुद्धिमान थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी जानता था वह केवल पानी ही चाहता था। उसके पास एक फूटा लोटा था। पानी की कोई नयी जगह देखते ही चाहे नाला हो हौज हो बस वहीं का पानी पीने लगता था। मैंने उससे इतना पानी पीने का कारण पूछा तो वह बोला 'Nothing like water Sir ! (पानी जैसी दूसरी कोई चीज ही नहीं महाशय!) मैंने उसे एक अच्छा लोटा देने की इच्छा प्रकट की पर वह किसी प्रकार राजी नहीं हुआ। कारण पूछने पर बोला 'यह लोटा फूटा हुआ है, इसीलिए इतने दिनो तक मेरे पास टिका हुआ है। अच्छा रहता तो कब का चोरी चला गया होता।"

स्वामी जी यह कथा सुनकर बोले "वह तो बड़ा मजे का पागल दिखता है। ऐसे लोगो को सनकी कहते हैं। हम सभी लोगो मे इस प्रकार का कोई आग्रह या सनकीपन हुआ करता है। हम लोगो मे उसे दबा रखने की क्षमता है। पागल मे वह नहीं है। हम लोगों मे और पागलो मे भेद केवल इतना ही है। रोग शोक अहकार, काम क्रोध ईर्ष्या या अन्य कोई अत्याचार अथवा अनाचार से दुर्बल होकर, मनुष्य के अपने इस सयम को खो बैठने से ही सारी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। मन के आवेग को वह फिर सँभाल नहीं पाता। हम लोग तब कहते है, 'यह पागल हो गया है। बस इतना ही।

स्वामी जी का स्वदेश के प्रति अत्यन्त अनुराग था यह बात पहले ही बता चुका हूँ। एक दिन इस सम्बन्ध मे बातचीत के प्रसग मे उनसे कहा गया कि ससारी लोगों का अपने अपने देश के प्रति अनुराग रखना नित्य कर्तव्य है, परन्तु सन्यासियों को अपने देश की माया छोड़कर, सभी देशो पर समदृष्टि रखकर, सभी देशो की कल्याण-चिन्ता हृदय मे रखना अच्छा है। इसके उत्तर मे स्वामी जी ने जो ज्वलन्त बातें कहीं उनको जीवन मे कभी नहीं भूल सकता। वे बोले "जो

हुए कहते हैं—'काम करो, किन्तु फल मुझे अर्पण करो, अर्थात् मेरे लिए ही काम करो।'"

किसी विषय का इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिखा जा सकता है, इस विषय मे लेखक को बहुत सन्देह है। उसके अनेक कारण है। गवर्नर जनरल साहब के किसी शहर मे पदार्पण से लेकर उस शहर से जाने तक की घटना अपनी आँखो से देखने और बाद मे उसीका विवरण प्रसिद्ध प्रसिद्ध सवाद-पत्रो मे पढने की सुविधा हमारे सदृश लोगो को अधिकतर होती है। आदि से अन्त तक हम लोगो की देखी हुई घटनाओ के साथ इन सभी विवरणो की इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि विस्मित हो जाना पडता है! चार दिन पहले जो घटना हुई है, उसीको लिपिबद्ध करना जब इतना कठिन है, तो चार सौ, चार हजार अथवा चार लाख वर्ष पहले जो घटना हुई है, उसका इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिपिबद्ध हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

और एक बात है, ईसाई मिशनरियो मे से बहुत से कहा करते है—'उनकी बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिल्कुल सामने घडी रखकर लिपिबद्ध की गयी है।' किंतु एक ओर conflict between religion and science (धर्म और विज्ञान मे द्वन्द्व) आदि पुस्तको मे बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनके ही देश के आधुनिक पण्डितो का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशनरियो द्वारा अनूदित हिन्दू धर्मशास्त्रो का अपूर्व विवरण पढकर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने मे कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव जाति के सत्यानुराग एव इतिहास मे लिपिबद्ध घटनाओ के ऊपर श्रद्धा प्राय बिल्कुल उड सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थो मे निबद्ध घटनाओ की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे इसीलिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामी जी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोडी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान् श्री कृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता मे लिपिबद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही? उत्तर मे उन्होने जो कहा, वह बडा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल में इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नही थी, इसलिए तुम्हारे सदृश लोगों के सामने भगवद्गीता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु गीता मे उक्त घटना घटी थी

है। इस जन्म में ही इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है। इन्द्रिय-भोगजनित सुख क्षणिक है और उसके साथ अवश्यम्भावी दुःख भी अनिवार्य है। शिशु, अज्ञानी और पाशविक स्वभाववाले मनुष्य ही इस क्षणस्थायी दुःखमिश्रित सुख को वास्तविक सुख समझते हैं। यदि इस सुख को भी कोई जीवन का एकमेव उद्देश्य बनाकर चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त और सुखी रह सके, तो वह भी कुछ बुरा नहीं है। किन्तु आज तक तो इस प्रकार का मनुष्य देखा नहीं गया। साधारणतः देखा यही जाता है कि जो इन्द्रिय चरितार्थता को ही सुख समझते हैं, वे धनवान एवं विलासी लोगों को अपने से अधिक सुखी समझकर उनसे द्वेष करने लगते हैं और बहुत व्यय से प्राप्त होनेवाले उनके उच्च श्रेणी के इन्द्रिय-भोग पदार्थों को देखकर उन्हें पाने के लिए लालायित होकर दुःखी हो जाते हैं। सम्राट् सिकन्दर समस्त पृथ्वी को जीतकर यही सोचकर दुःखी हुए थे कि अब पृथ्वी में जीतने को और कोई देश नहीं रह गया। इसीलिए बुद्धिमान मनीषियों ने बहुत देख-सुनकर, सोच-विचारकर अन्त में सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी एक धर्म में यदि पूर्ण विश्वास हो तभी मनुष्य निश्चिन्त और यथार्थ सुखी हो सकता है।

"विद्या बुद्धि आदि सभी विषयों में प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव पृथक् पृथक् देखा जाता है। इसी कारण उनके उपयुक्त धर्म का भी भिन्न भिन्न होना आवश्यक है, अन्यथा वह किसी भी तरह उनके लिए सन्तोषप्रद न होगा, वे किसी भी तरह उसका अनुष्ठान करके यथार्थ सुखी नहीं हो सकेंगे। अपने अपने स्वभाव के अनुरूप धर्म-मत को स्वयं ही देख-भालकर, सोच-विचारकर चुन लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं। धर्मग्रन्थ का पाठ, गुरु का उपदेश, साधु-दर्शन, सत्पुरुषों का संग आदि उसे इस मार्ग में केवल सहायता मात्र देते हैं।

"धर्म के सम्बन्ध में भी यह जान लेना आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का कर्म किये बिना कोई भी रह नहीं सकता और जगत् में केवल अच्छा या केवल बुरा, इस प्रकार का कोई कर्म नहीं है। सत्कर्म करने में कुछ न कुछ बुरा कर्म भी करना ही पड़ता है। और इसीलिए उस कर्म के द्वारा जैसे सुख होगा वैसे ही साथ ही साथ कुछ न कुछ दुःख एवं अभाव का बोध भी होगा—यह अवश्यम्भावी है। अतएव यदि उस थोड़े से दुःख को भी ग्रहण करने की इच्छा न हो तो फिर विषय-भोगजनित काल्पनिक सुख की आशा भी छोड़ देनी होगी, अर्थात् स्वार्थ-सुख का अन्वेषण करना छोड़कर कर्तव्य-बुद्धि से सभी कार्य करने होंगे। इसीका नाम है निष्काम कर्म। भगवान् गीता में अर्जुन को उसीका उपदेश देते

हुए कहते हैं—'काम करो, किन्तु फल मुझे अर्पण करो, अर्थात् मेरे लिए ही काम करो।'"

किसी विषय का इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिखा जा सकता है, इस विषय मे लेखक को बहुत सन्देह है। उसके अनेक कारण हैं। गवर्नर जनरल साहब के किसी शहर मे पदार्पण से लेकर उस शहर मे जाने तक की घटना अपनी आँखो से देखने और बाद मे उसीका विवरण प्रसिद्ध प्रसिद्ध सवाद-पत्रो मे पढने की सुविधा हमारे सदृश लोगो को अधिकतर होती है। आदि से अन्त तक हम लोगो की देखी हुई घटनाओ के साथ इन सभी विवरणो की इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि विस्मित हो जाना पडता है! चार दिन पहले जो घटना हुई है, उसीको लिपिबद्ध करना जब इतना कठिन है, तो चार सौ, चार हजार अथवा चार लाख वर्ष पहले जो घटना हुई है, उसका इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिपिबद्ध हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

और एक बात है, ईसाई मिशनरियो मे से बहुत से कहा करते हैं—'उनकी बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिल्कुल सामने घडी रखकर लिपिबद्ध की गयी है।' किंतु एक ओर conflict between religion and science (धर्म और विज्ञान मे द्वन्द्व) आदि पुस्तको मे बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनके ही देश के आधुनिक पण्डितो का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशन-रियो द्वारा अनूदित हिन्दू धर्मशास्त्रो का अपूर्व विवरण पढकर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने मे कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव जाति के सत्यानुराग एव इतिहास मे लिपिबद्ध घटनाओ के ऊपर श्रद्धा प्राय बिल्कुल उड सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थो मे निबद्ध घटनाओ की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे इसीलिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामी जी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोडी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान् श्री कृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता मे लिपि-बद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही? उत्तर मे उन्होंने जो कहा, वह बडा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल मे इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नही थी, इसलिए तुम्हारे सदृश लोगो के सामने भगवद्गीता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु गीता मे उक्त घटना घटी थी

मा नहीं इसके लिए तुम लोग भी माथापच्ची करते हो इसका कोई र
मुझे नहीं मिलता। यदि कोई अकाट्य प्रमाण से तुम्हें यह समझा सके कि भग
श्री कृष्ण ने सारथी होकर अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था तब क्या
तुम लोग गीता मे वर्णित बातों पर विश्वास करोगे? जब अपने सामने सा
भगवान् के मूर्तिमान होकर आने पर भी तुम लोग उनकी परीक्षा करने म
दौड़ते हो और उनका ईश्वरत्व प्रमाणित करने के लिए कहते हो तब गीता ऐ
हासिक है या नहीं इस व्यर्थ की समस्या को लेकर क्यो परेशान होते।
यदि हो सके तो गीता के उपदेशो को जितना बने ग्रहण करो और उसे ज
मे परिणत कर कृतार्थ हो जाओ। श्री रामकृष्ण देव कहते थे—'आम ख
पेड़ के पत्ते गिनने से क्या होगा!' मेरी राय मे धर्मशास्त्र मे लिपिबद्ध घटन
ऊपर विश्वास या अविश्वास करना वैयक्तिक अनुभव-मेल का विषय है—म
मनुष्य किसी एक विशेष अवस्था मे पड़कर, उससे उद्धार पाने की इच्छा से रा
ढूंढ़ता और धर्मशास्त्र मे लिपिबद्ध किसी घटना के साथ उसकी अवस्था का
ठीक मेल होने पर वह उस घटना को ऐतिहासिक कहकर उस पर निश्चित विश
करता है तथा धर्मशास्त्रोक्त उस अवस्था के उपयोगी उपायों को भी स
ग्रहण करता है।

स्वामी जी ने एक दिन शारीरिक एवं मानसिक शक्ति को अभीष्ट
के लिए सरक्षित रखना प्रत्येक के लिए कहाँ तक कर्तव्य है इसे बड़े सुन्दर
से समझाते हुए कहा था—"अनधिकार चर्चा अथवा वृथा कार्य मे जो शक्ति
करता है वह अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त शक्ति कहाँ से प्र
करेगा? The sum total of the energy which can be exhib
by an ego is a constant quantity—अर्थात् 'प्रत्येक जीवात्मा के भी
विविध भाव प्रकाशित करने की जो शक्ति रहती है वह एक नियत मात्रा मे है
है अतएव उस शक्ति का अधिकांश एक भाव मे प्रकाशित होने पर उतना
और किसी दूसरे भाव मे प्रकाशित नहीं हो सकता। धर्म के गम्भीर सत्य
प्रत्यक्ष करने के लिए बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है इसीलिए धर्म-
के पथिकों के प्रति विषय-भोग आदि मे शक्ति क्षय न कर ब्रह्मचर्य के द्वारा श
सरक्षण का उपदेश सभी जातियों के धर्मग्रन्थो मे पाया जाता है।

स्वामी जी बगाल के ग्रामों तथा वहाँ के लोगों के अनेक व्यवहारों से सन्
नहीं थे। ग्राम के एक ही तालाब मे स्नान शौच आदि करना एव उसीका प
पीना यह प्रथा उन्हें बिल्कुल पसन्द न थी। वे प्राय कहा करते थे 'जि
मस्तिष्क मल-मूत्र से भरा है, उन लोगों से आशा-भरोसा कहाँ! और यह

ग्रामीण लोगो का अनधिकार चर्चा करना है, वह तो बडी खराब चीज है। शहर के लोग अनधिकार चर्चा न करते हो, ऐसी बात नही, परन्तु उन्हे समय कम मिलता है, क्योकि शहर का खर्च अधिक है, इसलिए उन्हे काम भी बहुत करना पडता है। इतना परिश्रम करने के बाद, खाली बैठकर हुक्का पीने और परनिन्दा करने का समय नही मिलता। अन्यथा ये शहरी भूत इस विषय मे तो ग्रामीण भूतो की गर्दन पर चढकर नाचते।"

स्वामी जी की प्रत्येक दिन की कथा-वार्ता यदि सगृहीत होती, तो प्रत्येक दिन की बातें एक एक मोटी पुस्तक होती। एक ही प्रश्न का बार बार एक ही भाव से उत्तर देना एव एक ही दृष्टान्त की सहायता से उसे समझाना उनकी रीति नही थी। एक ही प्रश्न का उत्तर जितनी बार देते, उतनी बार नये भाव और नये दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार देते कि वह सुननेवालो को एकदम नया मालूम होता था, और उनकी वाणी सुनते सुनते थकावट आना तो दूर की बात रही, बल्कि और अधिक सुनने का अनुराग उत्तरोत्तर बढता जाता था। व्याख्यान देने की भी उनकी यही शैली थी। पहले से सोचकर व्याख्यान की रूपरेखा को लिखकर वे कभी भी व्याख्यान नही देते थे। व्याख्यान-प्रारम्भ से कुछ देर पहले तक वे हँसी-मजाक, साधारण भाव से बातचीत एव व्याख्यान से बिल्कुल सम्बन्ध न रखनेवाले विषयो को लेकर भी चर्चा करते रहते थे। व्याख्यान मे क्या कहेगे, यह उन्हे स्वय नही मालूम रहता था। हम लोग जो कुछ दिन उनके सस्पर्श मे रहकर धन्य हुए हैं, उन्ही कुछ दिनो की कथा-वार्ता का विवरण जहाँ तक और भी सम्भव है, क्रमश लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

२

पहले ही कह चुका हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म को समझाने एव विज्ञान और धर्म का सामजस्य प्रदर्शित करने मे स्वामी जी के समान मैंने और कोई नही देखा। आज उसी प्रसग मे दो-चार बातें लिखने की इच्छा है। किन्तु यह जान लेना होगा, मुझे जहाँ तक स्मरण है, उतना ही लिख रहा हूँ। अतएव इसमे यदि कोई भूल रहे, तो वह मेरे समझने की भूल है, स्वामी जी की व्याख्या की नही।

स्वामी जी कहते थे—"चेतन-अचेतन, स्थूल-सूक्ष्म—सभी एकत्व की ओर दम साधकर दौड रहे हैं। पहले मनुष्य ने जिन भिन्न भिन्न पदार्थों को देखा, उनमे से प्रत्येक को भिन्न भिन्न समझकर उनको भिन्न भिन्न नाम दिये। बाद मे

विचार करके मैं समस्त पदार्थ ६३ मूल द्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा निश्चित किया।

'इन मूल द्रव्यों में अनेक मिश्रद्रव्य हैं, ऐसा इस समय बहुतों को सन्देह हो रहा है। और जब रसायनशास्त्र अन्तिम मीमांसा पर पहुँचेगा, उस समय सभी पदार्थ एक ही पदार्थ के अवस्था-भेद मात्र समझे जायँगे। पहले ताप, आलोक और विद्युत् को सभी विभिन्न समझते थे। अब प्रमाणित हो गया है, ये सब एक हैं, एक ही शक्ति के अवस्थान्तर मात्र हैं। लोगों ने पहले समस्त पदार्थों को चेतन, अचेतन और उद्भिद इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया था। उसके बाद देखा कि उद्भिद में भी दूसरे सभी चेतन प्राणियों के समान प्राण हैं, केवल गमन-शक्ति नहीं है, इतना ही। तब बाकी रहीं दो श्रेणियाँ—चेतन और अचेतन। फिर कुछ दिनों बाद देखा जायगा, हम लोग जिन्हें अचेतन कहते हैं, उनमें भी थोड़ा-बहुत चैतन्य है।[1]

"पृथ्वी में जो ऊँची-नीची जमीन देखी जाती है, वह भी समतल होकर एक रूप में परिणत होने की सतत चेष्टा कर रही है। वर्षा के जल से पर्वत आदि ऊँची जमीन धुल जाने पर उस मिट्टी से गड्ढे भर रहे हैं। एक उष्ण पदार्थ को किसी स्थान में रखने पर वह चारों ओर के द्रव्यों के साथ समान उष्ण भाव धारण करने की चेष्टा करता है। उष्णता-शक्ति इस प्रकार सञ्चालन, संवाहन, विकिरण आदि उपायों से सर्वदा समभाव या एकत्व की ओर ही अग्रसर हो रही है।

'वृक्ष के फल, फूल, पत्ते और उसकी जड़, हम लोगों द्वारा भिन्न भिन्न देखे जाने पर भी ये सब वस्तुतः एक ही हैं, विज्ञान इसे प्रमाणित कर चुका है। त्रिकोण काँच के भीतर से देखने पर सफेद रंग इन्द्रधनुष के सात रंग के समान पृथक् पृथक् विभक्त दिखायी पड़ता है। खाली आँखों से देखने पर एक ही रंग, और लाल या नीले चश्मे से देखने पर सभी कुछ लाल या नीला दिखायी देता है।

'इसी प्रकार, जो सत्य है, वह तो एक ही है। माया के द्वारा हम लोग उसे पृथक् पृथक् देखते हैं, बस इतना ही। यद्यपि देश और काल से अतीत जो अखण्ड अद्वैत सत्य है, उसीके कारण मनुष्य को सब प्रकार के भिन्न भिन्न पदार्थों का ज्ञान होता है, फिर भी वह उस सत्य को नहीं पकड़ पाता, उसे नहीं देख सकता।

---

१ स्वामी जी ने जिस समय पूर्वोक्त विषयों का प्रतिपादन किया था, उस समय विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु द्वारा प्रचारित तडित्प्रवाह से जड़ पदार्थों का चेतनस्वरूप अपूर्व तत्त्व प्रकाशित नहीं हुआ था। स

इन सब बातो को सुनकर मैंने कहा, "स्वामी जी, हम लोग आँखो से जो कुछ देखते हैं, वही क्या सब समय सत्य है? दो समानान्तर रेल की पटरियो को देखने पर प्रतीत होता है, मानो वे अन्त मे एक जगह मिल गयी हैं। उसीका नाम है, 'लुप्त विन्दु'। मृगतृष्णा, रज्जु मे सर्प-भ्रम आदि (optical illusion) (दृष्टि-विभ्रम) सर्वदा ही होता रहता है। Calcspar नामक पत्थर के नीचे एक रेखा double refraction (द्वि-आवर्तन) से दो दिखायी देती है। एक पेन्सिल को आधे गिलास पानी मे डुबाकर रखने पर पेन्सिल का जलमग्न भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा मोटा दिखायी देता है। फिर सभी प्राणियो के नेत्र भिन्न भिन्न क्षमतायुक्त एक एक लेन्स मात्र हैं। हम लोग किसी वस्तु को जितनी वडी देखते हैं, घोडा आदि अनेक प्राणी उसको तदपेक्षा अधिक वडी देखते हैं, क्योकि उनके नेत्रो का लेन्स भिन्न शक्तिवाला है। अतएव हम जिसे अपनी आँखो से देखते है, वही सत्य है, इसका भी तो कोई प्रमाण नही। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है—मनुष्य सत्य सत्य करके ही पागल है, किन्तु निरपेक्ष सत्य (absolute truth) को समझने की क्षमता उसमे नही है, क्योकि, घटना-क्रम से प्रकृत सत्य के आँखो के सामने आने पर भी यही वास्तविक सत्य है, यह मनुष्य कैसे समझेगा? हम लोगो का समस्त ज्ञान सापेक्ष है, निरपेक्ष को समझने की क्षमता हममे नही है। अतएव निरपेक्ष (निर्गुण) भगवान् या जगत्कारण को मनुष्य कभी भी नही समझ सकता।"

स्वामी जी ने कहा, "हो सकता है, तुम्हे या और सव लोगो को निरपेक्ष ज्ञान न हो, पर इसीलिए किसीको भी वह ज्ञान नही है, यह कैसे कह सकते हो? ज्ञान और अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान नामक दो प्रकार के भाव या अवस्थाएँ है। इस समय तुम जिसे ज्ञान कहते हो, वह तो वस्तुत मिथ्या ज्ञान है। सत्य ज्ञान के उदित होने पर वह अन्तर्हित हो जाता है, उस समय सब एक दिखायी देता है। द्वैतज्ञान अज्ञानजनित है।"

मैंने कहा, "स्वामी जी, यह तो वडी भयानक बात है! यदि ज्ञान और अज्ञान, ये दो ही वस्तुएँ हैं, तो ऐसा होने पर आप जिसे सत्य ज्ञान समझते हैं, वह भी तो मिथ्या ज्ञान हो सकता है, और हम लोगो के जिस द्वैत ज्ञान को आप मिथ्या ज्ञान कहते हैं, वह भी तो सत्य ज्ञान हो सकता है?"

उन्होंने कहा, "ठीक कहते हो, इसीलिए तो वेद मे विश्वास करना चाहिए। हमारे पूर्वकालीन ऋषि-मुनिगण समस्त द्वैत ज्ञान को पारकर, इस अद्वैत सत्य का अनुभव कर जो कह गये हैं, उसीको वेद कहते हैं। स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओ मे से कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य, इसे विचारने की क्षमता हम लोगो

मे नही है। जब तक हम लोग इन दोनो अवस्थाओ को पारकर इनकी परीक्षा नही कर सकेंगे तब तक कैसे कह सकते हैं कि यह सत्य है और यह असत्य ? केवल दो विभिन्न अवस्थाओ का अनुभव होता है इतना ही कहा जा सकता है। जब तुम एक अवस्था मे रहते हो तो दूसरी अवस्था तुम्हे भूल मालूम पड़ती है। स्वप्न मे हो सकता है कलकत्ते मे तुमने क्रय-विक्रय किया पर दूसरे ही क्षण अपने को बिछौने पर लेटे हुए पाते हो। जब सत्य ज्ञान का उदय होगा तब एक से भिन्न और कुछ नही देखोगे उस समय यह समझ सकोगे कि पहले का द्वैत ज्ञान मिथ्या था। किन्तु यह सब बहुत दूर की बात है। हाथ मे खड़िया लेकर अक्षरारम्भ करते ही यदि कोई रामायण महाभारत पढ़ने की इच्छा करे, तो यह कैसे होगा ? धर्म अनुभव का विषय है बुद्धि के द्वारा समझने का नही। अनुभव के लिए प्रयत्न करना ही होगा तब उसका सत्यासत्य समझा जा सकेगा। यह बात तुम लोगो के पाश्चात्य विज्ञान रसायनशास्त्र भौतिकशास्त्र भूगर्भशास्त्र आदि से भी अनुमोदित है। दो भाग Hydrogen (उदजन) और एक भाग Oxygen (ओषजन) लेकर 'पानी कहाँ' कहने से क्या कही पानी होगा ? नही उनको एक बन्द स्थान मे रखकर उनके भीतर electric current (विद्युत्प्रवाह) चलाकर उनका combination (संयोग मिश्रण नही) करने पर ही पानी दिखायी देगा और ज्ञात होगा कि उदजन और ओषजन नामक गैस से पानी उत्पन्न हुआ है। अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए भी ठीक उसी तरह धर्म मे विश्वास चाहिए, आग्रह चाहिए, अध्यवसाय चाहिए और चाहिए प्राणपण से यत्न। तब कही अद्वैत लाभ होता है। एक महीने की आदत छोड़ना कितना कठिन होता है फिर दस साल की आदत की तो बात ही क्या ! प्रत्येक व्यक्ति के सैकड़ो जन्मो का कर्मफल पीठ पर बँधा हुआ है। एक मुहूर्त भर श्मशान वैराग्य हुआ नही कि बस कहने लगे कहाँ मुझे तो सब एक दिखायी नही पड़ता ?

मैंने कहा 'स्वामी जी आपकी यह बात सत्य होने पर तो Fatalism (अदृष्टवाद) आ जाता है। यदि बहुत जन्मो का कर्मफल एक जन्म मे जाने का नही तो उसके लिए फिर प्रयत्न ही क्यो ! जब सभी को मुक्ति मिलेगी तो मुझे भी मिलेगी।

वे बोले वैसा नही है। कर्म का फल तो अवश्य भोगना होगा किन्तु अनेक उपायो द्वारा ये सब कर्मफल बहुत थोड़े समय के भीतर समाप्त हो सकते हैं। मैजिक लैन्टर्न की पचास तस्वीरें दस मिनट के भीतर भी दिखायी जा सकती हैं और दिखाते दिखाते समस्त रात भी काटी जा सकती है। यह तो अपने आग्रह के ऊपर निर्भर है।

सृष्टि-रहस्य के सम्बन्ध मे भी स्वामी जी की व्याख्या अति सुन्दर है,—"सृष्ट वस्तु मात्र ही चेतन और अचेतन (सुविधा के लिए) इन दो भागो मे विभक्त है। मनुष्य मृष्ट वस्तु के चेतन-भाग का श्रेष्ठ प्राणीविशेष है। किसी किमी धर्म के मतानुमार ईश्वर ने अपने ही ममान रूपवाली सर्वश्रेष्ठ मानव जाति का निर्माण किया है, कोई कहते हैं—मनुष्य पुच्छरहित वानरविशेष है, कोई कहते है—केवल मनुष्य मे ही विवेचना-शक्ति है, उसका कारण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क मे जल का अश अधिक है। जो भी हो, मनुष्य प्राणीविशेष है और सब प्राणी सृष्ट पदार्थ के अश मात्र है, इस विषय मे मतभेद नही है। अब एक ओर पाश्चात्य विद्वान् 'सृष्ट पदार्थ क्या है,' यह समझने के लिए सश्लेषण-विश्लेषणात्मक उपायो का अवलम्बन कर 'यह क्या,' 'वह क्या,' इस प्रकार अनुसन्धान करने लगे, और दूसरी ओर हमारे पूर्वज लोग भारत की गर्म हवा और उर्वरा भूमि मे, शरीर-रक्षा के लिए बिल्कुल थोडा समय देकर, कौपीन धारण कर, टिमटिमाते दिये के प्रकाश मे बैठकर, कमर बाँधकर विचार करने लगे—**कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति**, अर्थात् 'ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है?' उन लोगो मे अनेक प्रकार के लोग थे। इसीलिए चार्वाक के, 'जो कुछ दिखता है, वही सत्य है', इस मत (ultra-materialistic theory) से लेकर शकराचार्य के अद्वैत मत तक सभी हमारे धर्म मे पाये जाते हैं। ये दोनो ही दल धीरे धीरे एक स्थान मे पहुँच रहे है और अब दोनो ने एक ही बात कहनी आरम्भ कर दी है। दोनो ही कहते है—इस ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ एक अनिर्वचनीय, अनादि, अनन्त वस्तु के प्रकाश मात्र हैं। देश एव काल भी वही हैं। काल अर्थात् युग, कल्प, वर्ष, मास, दिन और मुहूर्त आदि समयसूचक काल, जिसके अनुभव मे सूर्य की गति ही हमारी प्रधान सहायक है। जरा सोचकर तो देखो, वह काल क्या मालूम होता है? सूर्य अनादि नही है, ऐसा समय अवश्य था, जब सूर्य की सृष्टि नही हुई थी। और ऐसा समय भी आयेगा, जब यह सूर्य नही रहेगा, यह निश्चित है। अत अखण्ड समय एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तु विशेष के अतिरिक्त भला और क्या है? देश या आकाश कहने पर हम लोग पृथ्वी अथवा सौर जगत् सम्बन्धी सीमाबद्ध स्थानविशेष समझते हैं, किन्तु वह तो समग्र सृष्टि का अश मात्र छोड और कुछ भी नही है। ऐसा भी स्थान हो सकता है, जहाँ पर कोई सृष्ट वस्तु नही है। अतएव अनन्त देश भी काल के समान एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तुविशेष है। अब, सौर जगत् और सृष्ट पदार्थ कहाँ से और किस तरह आये? साधारणत हम लोग कर्ता के अभाव मे क्रिया नही देख पाते। अतएव समझते हैं कि इस सृष्टि का अवश्य कोई कर्ता है, किन्तु ऐसा

होने पर तो सृष्टिकर्ता का भी कोई सृष्टिकर्ता आवश्यक है। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। अतएव आदि कारण सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि अनिर्वचनीय अनन्त भाव या वस्तुविशेष है। पर अनन्त की अनेकता तो सम्भव नहीं है अतएव ये सब अनन्त वस्तुएँ एक ही हैं एवं एक ही विविध रूपों में प्रकाशित हैं।

एक समय मैंने पूछा था "स्वामी जी मन्त्र आदि में जो साधारणतया विश्वास प्रचलित है वह क्या सत्य है?

उन्होंने उत्तर दिया 'सत्य न होने का कोई कारण तो दिखता नहीं। तुमसे कोई यदि कमनीय स्वर एवं मधुर भाषा में कोई बात पूछे तो तुम सन्तुष्ट होते हो पर कठोर स्वर एवं तीखी भाषा में पूछे तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तब फिर भला प्रत्येक भूत के अधिष्ठाता देवता सुललित उत्तम श्लोकों द्वारा क्यों न सन्तुष्ट होंगे?

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा 'स्वामी जी मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ को तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, यह आप बतलाने की कृपा करें।

स्वामी जी ने कहा 'जिस प्रकार भी हो पहले मन को वश में लाने की चेष्टा करो बाद में सब आप ही हो जायगा। ध्यान रखो अद्वैत ज्ञान अत्यन्त कठिन है यही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, किन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के पहले अनेक चेष्टा और आयोजन की आवश्यकता होती है। साधु-संग और यथार्थ वैराग्य को छोड़ उसके अनुभव का और कोई साधन नहीं।

स्वामी जी की अस्फुट स्मृति[1]

१

आज से सोलह वर्ष पहले की बात है। सन् १८९७ ईस्वी, फरवरी मास। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशो को जीतकर अभी अभी भारत मे पदार्पण किया है। जिस क्षण से स्वामी जी ने शिकागो धर्म-महासभा मे हिन्दू धर्म की विजय-पताका फहरायी है, तब से उनके सम्बन्ध मे जो भी बात सवाद-पत्रो मे प्रकाशित होती है, बडे चाव से पढता हूँ। कॉलेज छोडे अभी दो-तीन वर्ष हुए हैं, किसी प्रकार का अर्थोपार्जन आदि नही कर रहा हूँ। इसलिए कभी मित्रो के घर जाकर, अथवा कभी घर के समीपवर्ती धर्मतला मुहल्ले मे 'इण्डियन मिरर' आफिस के बाहरी भाग मे बोर्ड पर चिपकी हुई 'इण्डियन मिरर' पत्रिका मे स्वामी जी से सम्बन्धित जो कोई सवाद या उनका व्याख्यान प्रकाशित होता है, उसे बडी उत्सुकता से पढा करता हूँ। इस प्रकार, स्वामी जी के भारत मे पदार्पण करने के समय से सिहल या मद्रास मे जो कुछ उन्होंने कहा है, प्राय सभी पढ चुका हूँ। इसके सिवाय आलमबाज़ार मठ मे जाकर उनके गुरुभाइयो के पास एव मठ मे आने-जानेवाले मित्रो के पास उनके विषय मे बहुत सी बातें सुन चुका हूँ और सुनता हूं, तथा विभिन्न सम्प्रदायो के मुखपत्र, जैसे--वगवासी, अमृतबाज़ार, होप, थियोसॉफिस्ट प्रभृति, अपनी अपनी समझ के अनुसार—कोई व्यग से, कोई उपदेश देने के बहाने, तो कोई बडप्पन के ढग से—उनके बारे मे जो कुछ लिखता है, वह भी लगभग सब पढ चुका हूँ।

आज वे ही स्वामी विवेकानन्द सियालदह स्टेशन पर अपनी जन्मभूमि कलकत्ता नगरी मे पदार्पण करेंगे। अब आज उनकी श्री मूर्ति के दर्शन से आँख-कान का विवाद समाप्त हो जायगा, इस हेतु बडे तडके ही उठकर सियालदह स्टेशन पर जा उपस्थित हुआ। इतने सवेरे से ही स्वामी जी की अभ्यर्थना के लिए बहुत से लोग एकत्र हो गये हैं। अनेक परिचित व्यक्तियो से भेंट हुई। स्वामी जी

---

१ बगला सन् १३२० के आषाढ़ मास के बगला मासिक-पत्र 'उद्बोधन' मे स्वामी शुद्धानन्द का यह लेख प्रकाशित हुआ था। स०

होने पर तो सृष्टिकर्ता का भी कोई सृष्टिकर्ता आवश्यक है। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। अतएव आदि कारण सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि, अनिर्वचनीय अनन्त भाव या वस्तुविशेष है। पर अनन्त की अनेकता तो सम्भव नहीं है अतएव ये सब अनन्त वस्तुएँ एक ही हैं एवं एक ही विविध रूपों में प्रकाशित हैं।

एक समय मैंने पूछा था 'स्वामी जी मन्त्र आदि में जो साधारणतया विश्वास प्रचलित है वह क्या सत्य है?

उन्होंने उत्तर दिया 'सत्य न होने का कोई कारण तो दिखता नहीं। तुमसे कोई यदि कठोर स्वर एवं मधुर भाषा में कोई बात पूछे तो तुम सन्तुष्ट होते हो पर कठोर स्वर एवं तीखी भाषा में पूछे तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तब फिर भला प्रत्येक भूत के अधिष्ठाता देवता सुललित उत्तम श्लोकों द्वारा क्यों न सन्तुष्ट होंगे?

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा 'स्वामी जी मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ को तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है यह आप बतलाने की कृपा करें।

स्वामी जी ने कहा "जिस प्रकार भी हो पहले मन को वश में लाने की चेष्टा करो बाद में सब आप ही हो जायगा। ध्यान रखो अद्वैत ज्ञान अत्यन्त कठिन है वही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, किन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के पहले अनेक चेष्टा और आयोजन की आवश्यकता होती है। साधु-संग और यथार्थ वैराग्य को छोड़ उसके अनुभव का और कोई साधन नहीं।

के इशारे से जनता को नियन्त्रित कर रहे हैं, और दूसरी गाडी मे गुडविन, हैरिसन (सिंहल से स्वामी जी के साथ आये हुए बौद्ध धर्मावलम्वी एक साहव), जी० जी०, किडी और आलासिगा नामक तीन मद्रासी शिष्य एव स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी बैठे हुए हैं।

थोडी देर गाडी रुकने के वाद, वहुतो के अनुरोधवश स्वामी जी रिपन कॉलेज मे प्रवेश कर दो-तीन मिनट अग्रेजी मे थोडा वोले और लौटकर गाडी मे आकर बैठ गये। यहाँ से जुलूस आगे नही गया। गाडी वागवाज़ार मे पशुपति वावू के घर की ओर चली। मैं भी मन ही मन स्वामी जी को प्रणाम कर अपने घर की ओर लौटा।

२

भोजन करने के वाद मध्याह्न काल मे चाँपातला मुहल्ले मे खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके टाँगे मे बैठकर पशुपति बोस के घर की ओर चले। स्वामी जी ऊपर के कमरे मे विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगो को नही जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश हमारे परिचित, स्वामी जी के अनेक गुरुभाइयो से भेंट हो गयी। स्वामी शिवानन्द जी हम लोगो को स्वामी जी के पास ले गये और हम लोगो का परिचय देते हुए कहा, "ये सव आपके खूब admirers (प्रेमी) हैं।"

स्वामी जी और स्वामी योगानन्द पशुपति वाबू के घर की दूसरी मजिल पर एक सुसज्जित बैठकखाने मे पास पास दो कुर्सियो पर बैठे थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किये हुए इधर-उधर घूम रहे थे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके दरी पर बैठे। स्वामी जी उस समय स्वामी योगानन्द से बातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप मे स्वामी जी ने क्या देखा, यह प्रसग चल रहा था। स्वामी जी कह रहे थे—

"देख योगेन, क्या देखा, बताऊँ? समस्त पृथ्वी मे एक महाशक्ति ही क्रीडा कर रही है। हमारे पूर्वजो ने उसको religion (धर्म) की ओर manifest (प्रकाशित) किया था, और आधुनिक पाश्चात्य देशीय लोग उसीको महा रजोगुणात्मक क्रिया के रूप मे manifest (प्रकाशित) कर रहे हैं। वस्तुत समग्र जगत् मे वही एक महाशक्ति भिन्न भिन्न रूप मे क्रीडा कर रही है।"

खगेन की ओर देखकर स्वामी जी ने कहा, "इस लडके को बहुत sickly (कमज़ोर) देखता हूँ।"

के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी। देखा अंग्रेजी में मुद्रित दो परचे वितरित किये जा रहे हैं। पढ़कर मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड और अमेरिकावासी उनके छात्रवृन्द ने उनके प्रस्थान के अवसर पर उनके गुणों का वर्णन करते हुए, उनके प्रति कृतज्ञता-सूचक जो दो अभिनन्दन-पत्र अर्पित किये थे वे ही ये हैं। धीरे धीरे स्वामी जी के दर्शनार्थी लोग झुण्ड के झुण्ड आने लगे। प्लेटफार्म लोगों से भर गया। सभी आपस में एक दूसरे से उत्कण्ठा के साथ पूछते हैं 'स्वामी जी के आने में और कितना विलम्ब है? सुना गया वे एक 'स्पेशल ट्रेन' से आयेंगे आने में अब और देरी नहीं है। अरे, यह तो है,—गाड़ी का शब्द सुनाई दे रहा है।' क्रमशः आवाज के साथ गाड़ी ने प्लेटफार्म के भीतर प्रवेश किया।

स्वामी जी जिस डिब्बे में थे वह जिस जगह आकर रुका सौभाग्य से मैं ठीक उसीके सामने खड़ा था। गाड़ी रुकते ही देखा स्वामी जी खड़े हाथ जोड़कर सबको नमस्कार कर रहे हैं। इस एक ही नमस्कार से स्वामी जी ने मेरे हृदय को आकृष्ट कर लिया। उस समय गाड़ी में बैठे हुए स्वामी जी की मूर्ति को मैंने साधारणतः देख लिया। उसके बाद स्वागत-समिति के श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन आदि व्यक्तियों ने आकर स्वामी जी को गाड़ी से उतारा और कुछ दूर खड़ी एक गाड़ी में बिठाया। बहुत से लोग स्वामी जी को प्रणाम करने और उनकी चरण रेणु लेने के लिए अग्रसर हुए। उस जगह बड़ी भीड़ जमा हो गयी। इधर दर्शकों के हृदय से आप ही 'जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय' 'जय श्री रामकृष्ण देव की जय' की आनन्द-ध्वनि निकलने लगी। मैं भी हृदय से उस आनन्द-ध्वनि में सह-योग देकर जनता के साथ अग्रसर होने लगा। क्रमशः जब स्टेशन के बाहर निकले तो देखा बहुत से युवक स्वामी जी की गाड़ी के घोड़े खोलकर स्वयं ही गाड़ी खींचने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। मैंने भी उन लोगों को सहयोग देना चाहा परन्तु भीड़ के कारण वैसा न कर सका। इसलिए उस चेष्टा को छोड़कर कुछ दूर से स्वामी जी की गाड़ी के साथ चलने लगा। स्टेशन पर स्वामी जी के स्वागतार्थ आये हुए एक हरिनाम-संकीर्तन-दल को देखा था। रास्ते में एक बैण्ड बजानेवाले दल को बैण्ड बजाते हुए स्वामी जी के साथ चलते देखा। रिपन कॉलेज तक का मार्ग अनेक प्रकार की पताकाओं एवं लता पत्र और पुष्पों से सुसज्जित था। गाड़ी आकर रिपन कॉलेज के सामने खड़ी हुई। इस बार स्वामी जी को देखने का अच्छा सुयोग मिला। देखा वे किसी परिचित व्यक्ति से कुछ कह रहे हैं। मुख उत्तप्तकांचनवर्ण है मानो ज्योति फूटकर बाहर निकल रही है। मार्गजनित श्रम के कारण कुछ पसीना आ रहा है। दो गाड़ियाँ हैं—एक में स्वामी जी एवं श्रीमान और श्रीमती सेवियर बैठे हैं जिसमें खड़े होकर माननीय चारुचन्द्र मित्र हाथ

के इशारे से जनता को नियन्त्रित कर रहे है, और दूसरी गाडी मे गुडविन, हैरिसन (सिंहल से स्वामी जी के साथ आये हुए वौद्ध धर्मावलम्वी एक साहव), जी० जी०, किडी और आलासिंगा नामक तीन मद्रासी शिष्य एव स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी वैठे हुए हैं।

थोडी देर गाडी रुकने के बाद, वहुतो के अनुरोधवश स्वामी जी रिपन कॉलेज मे प्रवेश कर दो-तीन मिनट अग्रेजी मे थोडा बोले और लौटकर गाडी मे आकर वैठ गये। यहाँ से जुलूस आगे नही गया। गाडी वागवाज़ार मे पशुपति वावू के घर की ओर चली। मैं भी मन ही मन स्वामी जी को प्रणाम कर अपने घर की ओर लौटा।

२

भोजन करने के वाद मध्याह्न काल मे चाँपातला मुहल्ले मे खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके टाँगे मे वैठकर पशुपति वोस के घर की ओर चले। स्वामी जी ऊपर के कमरे मे विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगो को नही जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश हमारे परिचित, स्वामी जी के अनेक गुरुभाइयो से भेंट हो गयी। स्वामी शिवानन्द जी हम लोगो को स्वामी जी के पास ले गये और हम लोगो का परिचय देते हुए कहा, "ये सब आपके खूब admirers (प्रेमी) हैं।"

स्वामी जी और स्वामी योगानन्द पशुपति वावू के घर की दूसरी मज़िल पर एक सुसज्जित वैठकखाने मे पास पास दो कुर्सियो पर वैठे थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किये हुए इधर-उधर घूम रहे थे। फर्श पर दरी विछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके दरी पर वैठे। स्वामी जी उस समय स्वामी योगानन्द से वातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप मे स्वामी जी ने क्या देखा, यह प्रसग चल रहा था। स्वामी जी कह रहे थे—

"देख योगेन, क्या देखा, वताऊँ? समस्त पृथ्वी मे एक महाशक्ति ही क्रीडा कर रही है। हमारे पूर्वजो ने उसको religion (धर्म) की ओर manifest (प्रकाशित) किया था, और आधुनिक पाश्चात्य देशीय लोग उसीको महा रजोगुणात्मक क्रिया के रूप मे manifest (प्रकाशित) कर रहे हैं। वस्तुत समग्र जगत् मे वही एक महाशक्ति भिन्न भिन्न रूप मे क्रीडा कर रही है।"

खगेन की ओर देखकर स्वामी जी ने कहा, "इस लडके को वहुत sickly (कमज़ोर) देखता हूँ।"

स्वामी जी अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर मे कह रहे हैं, "देखो बच्चा, मेरी भी एक दिन तुम्हारी जैसी अवस्था थी। फिर भय क्या ? अच्छा, भिन्न भिन्न लोगो ने तुमसे क्या क्या कहा था, और तुमने क्या क्या किया, बताओ तो सही ?"

युवक कहने लगा, "महाराज, हमारी सोसाइटी मे भवानीशकर नामक एक विद्वान् प्रचारक हैं। मूर्तिपूजा के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति मे जो विशेष सहायता मिलती है, उसे उन्होंने मुझे बहुत सुन्दर ढग से समझा दिया। मैंने भी तदनुसार कुछ दिनो तक खूब पूजा-अर्चना की, किन्तु उससे शान्ति नही मिली। उसी समय एक महाशय ने मुझे उपदेश दिया—'देखो, मन को बिल्कुल शून्य करने की कोशिश करो, उससे तुम्हे परम शान्ति मिलेगी।' मैं बहुत दिनो तक उसी कोशिश मे लगा रहा किन्तु उससे भी मेरा मन शान्त न हुआ। महाराज, मैं अब भी एक कोठरी मे, दरवाज़ा बन्द कर, जब तक बन पडता है, बैठा रहता हूँ, किन्तु शान्ति तो किसी भी तरह नही मिल रही है। क्या आप दया कर यह बता सकेंगे, शान्ति किससे मिलेगी ?"

स्वामी जी स्नेहभरे स्वर मे कहने लगे, "बच्चा, यदि तुम मेरी बात सुनो, तो तुम्हे अब पहले अपनी कोठरी का दरवाज़ा खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास कितने अभावग्रस्त लोग रहते हैं, उनकी तुम्हे यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो पीडित है, उसके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है, उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढा-लिखा है, अत जो अज्ञानी है, उसे वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके, समझाओ। यदि तुम मेरा परामर्श मानो, तो इस प्रकार लोगो की यथासाध्य सेवा करो। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे, तो तुम्हारे मन को अवश्य शान्ति मिलेगी।"

युवक बोला, "अच्छा, महाराज, मान लीजिए, मैं एक रोगी की सेवा करने के लिए गया, किन्तु उसके लिए रात भर जगने से, समय पर भोजन आदि न करने तथा अधिक परिश्रम से यदि मैं स्वय ही रोगग्रस्त हो जाऊं तो ?"

स्वामी जी अब तक उस युवक के साथ स्नेहपूर्ण स्वर मे सहानुभूति के साथ बातें कर रहे थे। इस अन्तिम वाक्य से ऐसा जान पडा कि वे कुछ विरक्त से हो गये। वे कुछ व्यग-भाव से कह उठे, "देखो जी, रोगी की सेवा करने के लिए जाने पर तुम अपने रोग की आशका कर रहे हो, किन्तु तुम्हारी बातचीत सुनने पर और तुम्हारा मनोभाव देखने पर मुझे तो मालूम पडता है—और जो यहाँ उपस्थित हैं, वे भी खूब अच्छी तरह समझ सकते हैं—कि तुम ऐसे रोगी की सेवा कभी भी नही करोगे, जिससे तुम्हें खुद को ही रोग हो जाय।"

युवक के साथ और कोई विशेष बातचीत नहीं हुई। हम लोग समझ गये यह व्यक्ति 'कैंची' श्रेणी का है, अर्थात् जैसे कैंची को कुछ भी मिले उसीको काट देती है, उसी प्रकार एक वर्ग के मनुष्य हैं, जो कोई सदुपदेश सुनने से ही उसमें त्रुटि निकालते हैं, जिनकी निगाह इन उपदिष्ट विषयों में दोष देखने के लिए बड़ी पैनी रहती है। ऐसे लोगों से चाहे कितनी ही अच्छी बात क्यों न कहिए, सभी की बात वे तर्क द्वारा काट देते हैं।

एक दूसरे दिन मास्टर महाशय (श्री रामकृष्ण वचनामृत के प्रणेता श्री 'म') के साथ वार्तालाप हो रहा है। मास्टर महाशय कह रहे हैं, "देखो, तुम जो दया, परोपकार और जीव-सेवा आदि की बातें करते हो, वे तो माया के राज्य की बातें हैं। जब वेदान्त-मत में मानव का चरम लक्ष्य मुक्ति-लाभ और माया-बन्धन का विच्छेद है, तो फिर उन सब मायाव्यापारों में लिप्त होकर लोगों को क्या परोपकार आदि विषयों का उपदेश देने में क्या लाभ ?"

स्वामी जी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "मुक्ति भी क्या माया के अन्तर्गत नहीं है? आत्मा तो नित्य मुक्त है, फिर उसकी मुक्ति के लिए चेष्टा क्यों?"

मास्टर महाशय चुप हो गये।

मैं समझ गया, मास्टर महाशय दया, सेवा, परोपकार आदि सब छोड़कर, सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए केवल जप-तप, ध्यान-धारणा या भक्ति का ही एकमात्र साधन के रूप में समर्थन कर रहे थे, किन्तु स्वामी जी के मतानुसार, एक प्रकार के अधिकारियों के लिए इन सबका अनुष्ठान जिस तरह मुक्ति-लाभ के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार ऐसे भी बहुत से अधिकारी हैं जिनके लिए परोपकार, दान, सेवा आदि आवश्यक है। एक को उड़ा देने से दूसरे को भी उड़ा देना होगा, एक को स्वीकार करने पर दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ेगा। स्वामी जी के इस प्रत्युत्तर से यह बात अच्छी तरह समझ में आ गयी कि मास्टर महाशय दया, सेवा आदि को 'माया' शब्द से उड़ाकर और जप-ध्यान आदि को ही मुख्य स्थान देकर संकीर्ण भाव का परिपोषण कर रहे थे। परन्तु स्वामी जी का उदार हृदय और छुरे की धार के समान उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसे सहन न कर सकी। अपनी अद्भुत युक्ति से उन्होंने मुक्ति-लाभ की चेष्टा को भी माया के अन्तर्गत ही निर्धारित किया एवं दया, सेवा आदि के साथ उसको एक श्रेणी में लाकर उन्होंने कर्मयोग के पथिक को भी आश्रय दिया।

टॉमस-ए-केम्पिस के "ईसा-अनुसरण" (Imitation of Christ) का प्रसंग उठा। बहुत से लोग जानते होंगे कि स्वामी जी संसार-त्याग करने से कुछ पहले इस ग्रन्थ की विशेष रूप से चर्चा किया करते थे और बराहनगर मठ में रहने

समय उनके सभी गुरुभाई उन्हीके समान इस ग्रन्थ को साधक-जीवन मे विशेष सहायक समझकर सर्वदा इस पर विचार किया करते थे। स्वामी जी इस ग्रन्थ के इतने अनुरागी थे कि उस समय के 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक मासिक पत्र मे उसकी एक प्रस्तावना लिखकर उन्होने 'ईसा-अनुसरण' नाम से उसका सुन्दर अनुवाद करना भी आरम्भ कर दिया था। प्रस्तावना पढने से ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी जी इस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार को कितनी गम्भीर श्रद्धा से देखते थे। वास्तव मे, उसमे विवेक, वैराग्य, दीनता, दास्य, भक्ति आदि के ऐसे सैकडो ज्वलन्त उपदेश है कि जो उसे पढेगे, उनके हृदय मे वे भाव कुछ न कुछ अवश्य उद्दीपित होगे। उपस्थित व्यक्तियो मे से एक सज्जन यह जानने के लिए कि स्वामी जी का इस समय उस ग्रन्थ के प्रति कैसा भाव है, उस ग्रन्थ मे वर्णित दीनता के उपदेश का प्रसग उठाते हुए बोले, "अपने को इस प्रकार अत्यन्त हीन समझे विना आध्यात्मिक उन्नति कैसे हो सकती है?" स्वामी जी यह सुनकर कहने लगे, "हम लोग हीन कैसे? हम लोगो के लिए अन्धकार कहाँ? हम लोग तो ज्योति के राज्य मे वास करते हैं, हम लोग तो ज्योति के तनय है!"

उनका इस प्रकार प्रत्युत्तर सुनकर मैं समझ गया कि स्वामी जी उक्त ग्रन्थ-निर्दिष्ट इन प्राथमिक साधन-सोपानो को पारकर साधना-राज्य की कितनी उच्च भूमि मे पहुँच गये हैं।

हम लोग यह विशेष रूप से देखते थे कि ससार की अत्यन्त सामान्य घटनाएँ भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि को धोखा नही दे सकती थी। वे उन घटनाओ की सहायता से भी उच्च धर्मभाव का प्रचार करने की चेष्टा करते थे।

श्री रामकृष्ण देव के भतीजे श्रीयुत रामलाल चट्टोपाध्याय (मठ के पुराने साधुगण, जिन्हे रामलाल दादा कहकर पुकारते हैं) दक्षिणेश्वर से एक दिन स्वामी जी से मिलने आये। स्वामी जी ने एक कुर्सी मँगवाकर उनसे बैठने के लिए अनुरोध किया और स्वय टहलने लगे। श्रद्धाविनम्र दादा इससे कुछ सकुचित होकर कहने लगे, "आप बैठें, आप बैठें।" पर स्वामी जी उन्हे किसी तरह छोडनेवाले नही थे। बहुत कह-सुनकर दादा को कुर्सी पर बिठाया और स्वय टहलते टहलते कहने लगे, "गुरुवत् गुरुपुत्रेषु।" (गुरु के पुत्र एव सम्बन्धियो के साथ गुरु जैसा ही व्यवहार करना चाहिए।) मैंने देखा, इतना ऐश्वर्य, इतना मान पाकर भी हमारे स्वामी जी को थोडा सा भी अभिमान नही हुआ है। यह भी समझा, गुरुभक्ति इसी तरह की जाती है।

बहुत से छात्र आये हुए हैं। स्वामी जी एक कुर्सी पर बैठे हुए हैं। सभी उनके पास बैठकर उनकी दो-चार वातें सुनने के लिए उत्सुक हैं। वहाँ पर और

स्वामी जी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण वे जब विश्राम-घर में प्रवेश कर रहे थे तब आगे बढ़कर उनके पास आकर यही बात बोले "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे?"

स्वामी जी ने कहा "जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता—मैं तो चाहता हूँ खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें train करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।

और एक दिन जाकर देखा स्वामी जी टहल रहे हैं श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामी जी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामी जी से एक प्रश्न पूछने की हमें अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था—अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है? हमने शरत् बाबू से स्वामी जी के सम्मुख इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अत उन्होंने स्वामी जी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरत् बाबू के पीछे पीछे यह सुनने के लिए गये कि देखें स्वामी जी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते है। स्वामी जी उस प्रश्न के सम्बन्ध में बिना कोई प्रकट उत्तर दिये कहने लगे 'विदेह-मुक्त ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था में भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था उस समय कितनी निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है मुक्ति प्राप्त नहीं हुई, यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है कितना ध्यान कितना साधन-भजन किया है! किन्तु अब मुक्ति-लाभ के लिए वह 'विजातीय' आग्रह नहीं रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं!

मैं तो स्वामी जी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं? सोचा स्वामी जी अब मुक्त हो गये हैं इसीलिए मालूम होता है, उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामी जी के पास गये। हरमोहन बाबू (श्री रामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामी जी से साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले "स्वामी जी ये दोनों आपके खूब admirers (प्रशंसक) हैं और वेदान्त का अध्ययन भी

धर्म-साधन के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, तथापि वे पूर्ण रूप से उसका अनुष्ठान नही कर पाते थे। वे सर्वदा लड़को को लेकर अध्यापन-कार्य मे ही लगे रहते थे, इसलिए धर्म-साधन और सत्-शिक्षा के अभाव एव कुसगति के कारण अत्यन्त अल्प अवस्था मे ही उन लोगो का ब्रह्मचर्य किस तरह नष्ट हो जाता है, इसे वे अच्छी तरह जानते थे, और किस उपाय से उसे रोका जाय, इसकी शिक्षा उन बच्चो को देने के लिए वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे। किन्तु **स्वयमसिद्ध• कथ परान् साधयेत्**—अर्थात् 'स्वय असिद्ध होकर दूसरो को कैसे सिद्ध किया जा सकता है।' अतएव किसी भी तरह अपने या दूसरे के भीतर ब्रह्मचर्य-भाव को प्रविष्ट करने मे असमर्थ हो समय समय पर वे अत्यन्त दु खित हो जाते थे। इस समय परम ब्रह्मचारी स्वामी जी की ज्वलन्त उपदेशावली और ओजस्विनी वाणी सुनकर अकस्मात् उनके हृदय मे यह भाव उदित हुआ कि ये महापुरुष एक बार इच्छा करने पर मेरे तथा बालको के भीतर उस प्राचीन ब्रह्मचर्य भाव को निश्चित ही उद्दीप्त कर सकते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि ये एक भावुक व्यक्ति थे। वे एकाएक पूर्वोक्त रूप से उत्तेजित हो अग्रेजी मे चिल्लाकर बोल उठे, "Oh Great Teacher ! tear up the veil of hypocrisy and teach the world the one thing needful—how to conquer lust" अर्थात् "हे आचार्यवर, जिस कपटता के आवरण से अपने यथार्थ स्वभाव को छिपाकर हम लोग दूसरो के निकट अपने को शिष्ट, शान्त या सभ्य बतलाने की चेष्टा करते है, उसे आप अपनी दिव्य शक्ति के बल से छिन्न करके दूर कर दें एव लोगो के भीतर जो घोर काम-प्रवृत्ति विद्यमान है, उसका जिससे समूल विनाश हो, वैसी शिक्षा दें।"

स्वामी जी ने चडी बाबू को शान्त और आश्वस्त किया।

बाद मे एडवर्ड कारपेन्टर का प्रसग उपस्थित हुआ। स्वामी जी ने कहा, "लन्दन मे ये बहुधा मेरे पास आते रहते थे। और भी बहुत से समाजवादी, प्रजा-तन्त्रवादी आदि आया करते थे। वे सब वेदान्तोक्त धर्म मे अपने अपने मत की पोषकता पाकर उसके प्रति विशेष आकृष्ट होते थे।"

स्वामी जी उक्त कारपेन्टर साहब की 'एडम्स पीक टु एलिफेन्टा' नामक पुस्तक पढ चुके थे। इसी समय उक्त पुस्तक मे दी हुई चडी बाबू की तस्वीर उन्हे याद आयी, वे बोले, "आपका चेहरा तो पुस्तक मे पहले ही देख चुका हूँ।" और भी कुछ देर बातचीत करने के बाद सन्ध्या हो जाने के कारण स्वामी जी विश्राम के लिए उठे। उठने के समय चडी बाबू को सम्बोधित करके बोले, "चडी बाबू, आप तो बहुत से लडको के ससर्ग मे आते है। क्या आप मुझे कुछ सुन्दर सुन्दर लडके दे सकते हैं?" शायद चडी बाबू कुछ अन्यमनस्क थे।

कोई आसन नहीं है, जिस पर स्वामी जी लड़कों से बैठने को कह सकें इसलिए उन लोगों को भूमि पर बैठना पड़ा। ऐसा ज्ञात हुआ कि स्वामी जी मन में सोच रहे हैं यदि इनके बैठने के लिए कोई आसन होता तो अच्छा है। किन्तु ऐसा लगा कि दूसरे ही क्षण उनके हृदय में दूसरा भाव उत्पन्न हो गया। वे बोल उठे, "यो ठीक है, तुम लोग ठीक बैठे हो थोड़ी थोड़ी तपस्या करना भी ठीक है।

एक दिन अपने मुहल्ले के चण्डीचरण वर्धन को साथ लेकर मैं स्वामी जी के पास गया। चण्डी बाबू 'हिन्दू ब्वायेज़' स्कूल' नामक एक संस्था के मालिक थे। वहाँ अंग्रेजी स्कूल की तृतीय श्रेणी तक पढ़ाया जाता था। वे पहले से ही खूब ईश्वरानुरागी थे बाद में स्वामी जी की वक्तृता आदि पढ़कर उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धावान हो गये। पहले कभी कभी धर्म-साधना के लिए व्याकुल हो संसार परित्याग करने की भी उन्होंने चेष्टा की थी किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। कुछ दिन शौक के लिए थियेटर में अभिनय आदि एवं एकाध नाटक की रचना भी की थी। ये भावुक व्यक्ति थे। विख्यात प्रजातन्त्रवादी एडवर्ड कारपेन्टर जब भारत भ्रमण कर रहे थे उस समय उनके साथ चण्डी बाबू का परिचय और बातचीत हुई थी। उन्होंने 'एडम्स पीक टू एलिफेन्टा' नामक अपने ग्रन्थ में चण्डी बाबू के साथ हुए वार्तालाप का संक्षिप्त विवरण और उनका एक चित्र भी दिया था।

चण्डी बाबू आकर भक्ति-भाव से स्वामी जी को प्रणाम कर पूछने लगे "स्वामी जी किस प्रकार के व्यक्ति को गुरु बनाना चाहिए ?

स्वामी जी—'जो तुम्हें तुम्हारा भूत-भविष्य बतला सके, वही तुम्हारा गुरु है। देखो न मेरे गुरु ने मेरा भूत-भविष्य सब बतला दिया था।

चण्डी बाबू ने पूछा "अच्छा स्वामी जी कौपीन पहनने से क्या काम-दमन में कुछ विशेष सहायता मिलती है।

स्वामी जी—"थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है। किन्तु इस वृत्ति के प्रबल हो उठने पर कौपीन भी भला क्या करेगा ? जब तक मन भगवान् में तन्मय नहीं हो जाता तब तक किसी भी बाह्य उपाय से काम पूर्णतया रोका नहीं जा सकता। फिर भी बात क्या है जानते हो जब तक मनुष्य उस अवस्था को पूर्णतया प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनेक प्रकार के बाह्य उपायों के अवलम्बन की चेष्टा स्वभावत ही किया करता है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में चण्डी बाबू स्वामी जी से बहुत से प्रश्न पूछने लगे। स्वामी जी भी बड़े सरल ढंग से सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे। चण्डी बाबू धर्म साधना के लिए आन्तरिक भाव से प्रयत्न करते थे किन्तु गृहस्थ होने के कारण इच्छानुसार नहीं कर पाते थे। यद्यपि उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि ब्रह्मचर्य

खूब करते हैं।" हरमोहन बाबू के वाक्य का प्रथम अश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयाश कुछ अतिरजित था, क्योकि हम लोगो ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगों ने वेदान्त के छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदो का अनुवाद एकाध बार देखा था, परन्तु इन सब शास्त्रो की हम लोगो ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नही की थी और न मूल सस्कृत ग्रन्थो को भाष्य आदि की सहायता से पढा था। जो हो, स्वामी जी वेदान्त की बात सुनकर बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोडा-बहुत देखा है।"

स्वामी जी ने पूछा, "कौन सा उपनिषद् पढा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठोपनिषद् पढा है।"

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ, कठोपनिषद् खूब grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीबत! स्वामी जी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् कण्ठस्थ है, इसीलिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके सस्कृत मत्रो को यद्यपि एकाध बार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढने और मुखाग्र करने की चेष्टा नही की थी। सो बडी मुश्किल मे पड गया। क्या करूँ? इसी समय एक बात स्मरण आयी। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोडा थोडा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकाश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोको की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामी जी को मुँह दिखाते न बनेगा। अतएव बोल उठा, "कठ तो कण्ठस्थ नही है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामी जी बोले, "अच्छा, वही सही।"

तब गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से **स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या** से आरम्भ करके अर्जुनकृत सपूर्ण स्तव स्वामी जी को सुना दिया। स्वामी जी उत्साह देते हुए "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामी जी के सम्मुख बडा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेब मे लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो पढने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके बगानुवाद का एक गुटका सस्करण था। उसे जेब मे रखकर हम लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ चले। आज

स्वामी जी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण वे जब विश्राम घर में प्रवेश कर रहे थे तब आगे बढ़कर उनके पास आकर यही बात बोले "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे ?

स्वामी जी ने कहा जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता— मैं तो चाहता हूँ खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें train करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।

और एक दिन जाकर देखा स्वामी जी टहल रहे हैं श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामी जी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामी जी से एक प्रश्न पूछने की हम अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था—अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है ? हमने शरत् बाबू से स्वामी जी के सम्मुख इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अत उन्होंने स्वामी जी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरत् बाबू के पीछे पीछे यह सुनने के लिए गये कि देखें स्वामी जी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। स्वामी जी उस प्रश्न के सम्बन्ध में बिना कोई प्रकट उत्तर दिये कहने लगे "विदेह-मुक्त ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था में भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था उस समय कितनी निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है, मुक्ति प्राप्त नहीं हुई, यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है कितना ध्यान कितना साधन-भजन किया है। किन्तु अब मुक्ति लाभ के लिए वह विजातीय' आग्रह नहीं रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।

मैं तो स्वामी जी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है ? क्या ये भी एक अवतार हैं ? सोचा स्वामी जी अब मुक्त हो गये हैं इसीलिए मालूम होता है उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामी जी के पास गये। हरमोहन बाबू (श्री रामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामी जी के साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले 'स्वामी जी, ये दोनों आपके खूब admirers (प्रशंसक) हैं और वेदान्त का अध्ययन भी

खूब करते हैं।" हरमोहन बाबू के वाक्य का प्रथम अंश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयांश कुछ अतिरंजित था, क्योंकि हम लोगों ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगों ने वेदान्त के छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदों का अनुवाद एकाध बार देखा था, परन्तु इन सब शास्त्रों की हम लोगों ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नहीं की थी और न मूल संस्कृत ग्रन्थों को भाष्य आदि की सहायता से पढ़ा था। जो हो, स्वामी जी वेदान्त की बात सुनकर बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढ़ा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोड़ा-बहुत देखा है।"

स्वामी जी ने पूछा, "कौन सा उपनिषद् पढ़ा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठोपनिषद् पढ़ा है।"

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ, कठोपनिषद् खूब grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीबत! स्वामी जी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् कण्ठस्थ है, इसीलिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके संस्कृत मन्त्रों को यद्यपि एकाध बार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढ़ने और मुखाग्र करने की चेष्टा नहीं की थी। सो बड़ी मुश्किल में पड़ गया। क्या करूँ? इसी समय एक बात स्मरण आयी। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोड़ा थोड़ा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकांश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोकों की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामी जी को मुँह दिखाते न बनेगा। अतएव बोल उठा, "कठ तो कण्ठस्थ नहीं है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामी जी बोले, "अच्छा, वही सही।"

तब गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से **स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या** से आरम्भ करके अर्जुनकृत सपूर्ण स्तव स्वामी जी को सुना दिया। स्वामी जी उत्साह देते हुए "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामी जी के सम्मुख बड़ा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेब में लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो पढ़ने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके बंगानुवाद का एक गुटका संस्करण था। उसे जेब में रखकर हम लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ चले। आज

अपराह्न मे स्वामी जी का कमरा लोगों से भरा हुआ था। जो सोचा था वही हुआ। आज भी यह तो ठीक स्मरण नही कि कैसे पर कठोपनिषद् का ही प्रसग उठा। मैंने झट जेब से उपनिषद् निकाला और उसे शुरू से पढना आरम्भ किया। पाठ के बीच मे स्वामी जी नचिकेता की श्रद्धा की कथा—जिस श्रद्धा के बल से वे निर्भीक चित्त से यम-सदन जाने के लिए भी साहसी हुए थे—कहने लगे। जब नचिकेता के द्वितीय वर स्वर्ग प्राप्ति की कथा का पाठ प्रारम्भ हुआ तब स्वामी जी ने उस स्थल को अधिक न पढकर कुछ कुछ छोडकर तृतीय वर का प्रसग पढने के लिए कहा।

नचिकेता के प्रश्न—मृत्यु के बाद लोगों का सन्देह—शरीर छूट जाने पर कुछ रहता है या नही —उसके बाद यम का नचिकेता को प्रलोभन दिखाना और नचिकेता का दृढ भाव से उन सभी का प्रत्याख्यान —इन सब स्थलो का पाठ हो जाने के बाद स्वामी जी ने अपनी स्वभाव-सुलभ ओजस्विनी भाषा मे क्या क्या कहा—क्षीण स्मृति सोलह वर्षों मे उसका कुछ भी चिह्न न रख सकी।

किन्तु इन दो दिनो के उपनिषद्-प्रसग मे स्वामी जी की उपनिषद् के प्रति श्रद्धा और अनुराग का कुछ अश मेरे अन्त करण मे भी सचरित हो गया क्योंकि उसके दूसरे ही दिन से जब कभी सुयोग पाता परम श्रद्धा के साथ उपनिषद् पढने की चेष्टा करता था। और यह कार्य आज भी कर रहा हूँ। विभिन्न समय मे उनके श्रीमुख से उच्चरित अपूर्व स्वर, लय और तेजस्विता के साथ पठित उपनिषद् के एक एक मन्त्र मानो आज भी मेरे कानो मे गूँज रहे हैं। जब परचर्चा मे मग्न हो आत्म-चर्चा भूल जाता हूँ तो सुन पाता हूँ—उनके उस सुपरिचित किन्नरकण्ठ से उच्चरित उपनिषद्-वाणी की दिव्य गभीर घोषणा—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः—'एकमात्र उस आत्मा को ही पहचानो अन्य सब बाते छोड दो—यही अमृत का सेतु है।

जब आकाश मे घोर घटाऍं छा जाती हैं और दामिनी दमकने लगती है उस समय मानो सुन पाता हूँ—स्वामी जी उस आकाशस्थ सौदामिनी की ओर इगित करते हुए कह रहे है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[2]

---

१ मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।५॥ २ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥

—'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नही होता—चन्द्रमा और तारे भी नही, ये सब विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नही होती—फिर इस सामान्य अग्नि की भला बात ही क्या ? उनके प्रकाशित होने से फिर सभी प्रकाशित होते है, उनका प्रकाश इन सबको प्रकाशित करता है।'

पुन , जब तत्त्वज्ञान को असाध्य जान हृदय हताश हो जाता है, तब जैसे सुन पाता हूँ—स्वामी जी आनन्दोत्फुल्ल हो उपनिषद् की आश्वासन देनेवाली इस वाणी की आवृत्ति कर रहे है—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु ॥
वेदाहमेत पुरुष महान्तम्
आदित्यवर्ण तमस परस्तात् ॥
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ॥[1]

—'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, तुम लोग सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञानान्धकार से अतीत है। उसको जानने से ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं—मुक्ति का और दूसरा कोई मार्ग नही।'

अस्तु, और एक दिन की घटना का विषय यहाँ पर सक्षेप मे कहूँगा। इस दिन की घटना का शरत् बाबू ने 'विवेकानन्द जी के सग मे' नामक अपने ग्रन्थ मे विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

मैं उस दिन दोपहर मे ही जा उपस्थित हुआ था। देखा, कमरे मे बहुत से गुजराती पण्डित बैठे हैं, स्वामी जी उनके पास बैठकर धाराप्रवाह रूप से सस्कृत भाषा मे धर्मविषयक विचार कर रहे हैं। भक्ति-ज्ञान आदि अनेक विषयो की चर्चा हो रही थी। इसी बीच हल्ला हो उठा। ध्यान देने पर समझा कि स्वामी जी सस्कृत भाषा मे बोलते बोलते कोई एक व्याकरण की भूल कर गये। इस पर पण्डित-गण ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्य आदि विषय की चर्चा छोडकर इस व्याकरण की त्रुटि को लेकर, 'हमने स्वामी जी को हरा दिया' यह कहते हुए खूब शोर-गुल मचा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं। उस समय श्री रामकृष्ण देव की वह बात याद आ गयी—'गिद्ध उडता तो खूब ऊपर है, किन्तु उसकी दृष्टि रहती है मरे पशुओ पर।'

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥२।५, ३।८॥

आदिष्ट होकर प्रचार-कार्य आदि करेंगे, उनके लिए भले वह आवश्यक हो, पर साधको के लिए तो उसका कोई प्रयोजन नही है, उलटे वह हानिकारक ही है। जो हो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि स्वभाव से मैं जरा forward (अग्रिम) और लापरवाह हूँ—मैं अग्रसर हो गया। स्वामी जी ने एक बार आकाश की ओर देखकर पूछा, "यह क्या रहेगा ?" (अर्थात् क्या मैं ब्रह्मचारी होकर वहाँ रहूँगा, अथवा दो-एक दिन मठ मे घूमने के लिए ही आया हूँ और बाद मे चला जाऊँगा।) सन्यासियो मे से एक ने कहा, "हाँ।" तब मैंने कागज-कलम आदि ठीक से लेकर गणेश का आसन ग्रहण किया। नियम लिखाने से पहले स्वामी जी कहने लगे, "देखो, हम ये सब नियम बना तो रहे हैं, किन्तु पहले हमे समझ लेना होगा कि इन नियमो के पालन का मूल लक्ष्य क्या है। हम लोगो का मूल उद्देश्य है—सभी नियमो से परे होना। तो भी, नियम बनाने का अर्थ यही है कि हममे स्वभावत बहुत से कुनियम हैं—सुनियमो के द्वारा उन कुनियमो को दूर कर देने के बाद हमे सभी नियमो से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। जैसे काँटे से काँटा निकालकर अन्त मे दोनो ही काँटों को फेंक दिया जाता है।"

उसके बाद स्वामी जी ने नियम लिखाने प्रारम्भ किये। प्रात काल और सायकाल जप-ध्यान, मध्याह्न विश्राम के बाद स्वस्थ होकर शास्त्र-ग्रन्थो का अध्ययन और अपराह्न सबको मिलकर एक अध्यापक के निकट किसी निर्दिष्ट शास्त्र-ग्रन्थ का श्रवण करना होगा—यह व्यवस्था हुई। प्रत्येक दिन प्रात और साय थोडा थोडा 'डेल्सर्ट' व्यायाम करना होगा, यह भी निश्चित हुआ। अन्त मे लिखाना समाप्त कर स्वामी जी ने कहा, "देख, इन नियमो को जरा देख-भालकर अच्छी तरह प्रतिलिपि करके रख ले—देखना, यदि कोई नियम negative (निषेधवाचक) भाव से लिखा गया हो, तो उसे positive (विधिवाचक) कर देना।"

इस अन्तिम आदेश का पालन करते समय हमे जरा कठिनाई मालूम हुई। स्वामी जी का उपदेश था कि किसीको खराब कहना, उसके विरुद्ध आलोचना करना, उसके दोष दिखाना, उससे 'तुम ऐसा मत करो, वैसा मत करो' कहकर negative (निषेधात्मक) उपदेश देना—इस सबसे उसकी उन्नति मे विशेष सहायता नही होती, किन्तु उसको यदि एक आदर्श दिखा दिया जाय, तो फिर उसकी उन्नति सरलता से हो सकती है, उसके दोष अपने आप चले जाते हैं। यही स्वामी जी का अभिप्राय था।

४

आज अपराह्न मे बडा कमरा लोगो से भरा हुआ है। स्वामी जी उनके बीच

अपूर्व शोभा धारण कर बैठे हुए हैं। अनेक प्रसंग चल रहे हैं। वहाँ हम लोगों के मित्र विजयकृष्ण बसु (मानिकतल्ला अलीपुर अदालत के विख्यात वकील) महाशय भी उपस्थित हैं। उस समय विजय बाबू समय समय पर अनेक सभाओं में और कभी कभी कांग्रेस में खड़े होकर अंग्रेजी में व्याख्यान दिया करते थे। उनकी इस व्याख्यान-शक्ति का उल्लेख किसीने स्वामी जी के समक्ष किया। इस पर स्वामी जी ने कहा, 'सो बहुत अच्छा है। अच्छा, यहाँ पर बहुत से लोग एकत्र हैं—जरा खड़े होकर एक व्याख्यान दो तो। soul (आत्मा) के सम्बन्ध में तुम्हारी जो idea (धारणा) है उसी पर कुछ कहो।" विजय बाबू अनेक प्रकार के बहाने बनाने लगे। स्वामी जी एवं और भी बहुत से लोग उनसे खूब आग्रह करने लगे। १५ मिनट तक अनुरोध करने पर भी जब कोई उनके संकोच को दूर करने में सफल नहीं हुआ, तब अन्ततोगत्वा हार मानकर उन लोगों की दृष्टि विजय बाबू से हटकर मेरे ऊपर पड़ी। मैं मठ में सम्मिलित होने से पूर्व कभी कभी धर्म के सम्बन्ध में बंगला भाषा में व्याख्यान देता था और हम लोगों का एक 'डिबेटिंग क्लब' (वाद-विवाद समिति) भी था—उसमें अंग्रेजी बोलने का अभ्यास करता था। मेरे सम्बन्ध में इन सब बातों का किसीने उल्लेख किया ही था कि बस मेरे ऊपर बाजी पलटी। पहले ही कह चुका हूँ मैं बहुत कुछ लापरवाह सा था। Fools rush in where angels fear to tread. (जहाँ देवता भी जाने में भयभीत होते हैं वहाँ मूर्ख घुस पड़ते हैं।) मुझसे उन्हें अधिक कहना नहीं पड़ा। मैं एकदम खड़ा हो गया और बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के अन्तर्गत आत्म तत्त्व को लेकर आत्मा के सम्बन्ध में लगभग आध घंटे तक जो मुँह में आया, बोलता गया। भाषा या व्याकरण की भूल हो रही है अथवा भाव का असामंजस्य हो रहा है, इस सबका मैंने विचार ही नहीं किया। दया के सागर स्वामी जी मेरी इस धृष्टता पर थोड़ा भी विरक्त न हो मुझे उत्साहित करने लगे। मेरे बाद स्वामी जी द्वारा अभी अभी संन्यासाश्रम में दीक्षित स्वामी प्रकाशानन्द[१] लगभग दस मिनट तक आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में बोले। वे स्वामी जी की व्याख्यान-शैली का अनुकरण कर बड़े गम्भीर स्वर में अपना वक्तव्य देने लगे। उनके व्याख्यान की भी स्वामी जी ने खूब प्रशंसा की।

---

१ ये सैन फ्रांसिस्को (यु० एस० ए०) की वेदान्त-समिति के अध्यक्ष थे। अमेरिका में इनका कार्य-काल १९०६ ई० से १९२७ ई० तक था। ८ जुलाई, सन् १८७४ को कलकत्ते में इनका जन्म हुआ था एवं १३ फरवरी, १९२७ ई० को सैन फ्रांसिस्को की वेदान्त-समिति में इनका देहान्त हुआ। स०

अहा ! स्वामी जी सचमुच ही किसीका दोष नही देखते थे। वे, जिसमे जो भी कुछ गुण या शक्ति देखते, उसीके अनुसार उसे उत्साह देकर, जिससे उसके भीतर को अव्यक्त शक्तियाँ प्रकाशित हो जायँ, इसीकी चेष्टा करते थे। किन्तु, पाठक, आप लोग इससे ऐसा न समझ बैठे कि वे सबको सभी कार्यों मे प्रश्रय देते थे। क्योकि अनेक बार देख चुका हूँ, लोगो के, विशेषत अपने अनुगामी गुरु-भ्राता और शिष्यो के, दोष दिखलाने मे समय समय पर वे कठोर रूप भी धारण करते थे। किन्तु वह हम लोगो के दोषो को हटाने के लिए—हम लोगो को सावधान करने के लिए ही होता था, हमे निरुत्साह करने या हम लोगो के समान केवल परछिद्रान्वेषण वृत्ति को सार्थक करने के लिए नही। ऐसा उत्साह और भरोसा देनेवाला हम अब और कहाँ पायेंगे ? कहाँ पायेंगे ऐसा व्यक्ति, जो शिष्यवर्ग को लिख सके, "I want each one of my children to be a hundred times greater than I could ever be Everyone of you must be a giant—*must*, that is my word"—'मैं चाहता हूँ कि तुम लोगो मे से प्रत्येक, मैं जितना हो सकू, तदपेक्षा सौगुना बडा होवे। तुम लोगो मे से प्रत्येक को आध्यात्मिक दिग्गज होना पडेगा—होना ही होगा, न होने से नही बनेगा।'

५

इसी समय स्वामी जी द्वारा इग्लैण्ड मे दिये गये ज्ञानयोग सम्बन्धी व्याख्यानो को लन्दन से ई० टी० स्टर्डी साहब छोटी छोटी पुस्तिकाओ के आकार मे प्रकाशित करने लगे। मठ में भी उनकी एक एक दो दो प्रतियाँ आने लगी। स्वामी जी उस समय दार्जिलिग से नही लौटे थे। हम लोग विशेष आग्रह के साथ अद्वैत तत्त्व के अपूर्व व्याख्यारूप, उद्दीपना से भरे उन व्याख्यानो को पढने लगे। वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द अग्रेजी अच्छी तरह नही जानते थे, किन्तु उनकी यह विशेष इच्छा थी कि नरेन्द्र ने वेदान्त के सम्बन्ध मे विलायत मे क्या कहकर लोगो को मुग्ध किया है, यह सुनें। अत उनके अनुरोध से हम लोग उन्हे उन पुस्तिकाओ को पढकर, उनका अनुवाद करके सुनाने लगे। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द नये सन्यासियो और ब्रह्मचारियो से बोले, "तुम लोग स्वामी जी के इन व्याख्यानो का बगला अनुवाद करो न।" तब हममे से कई लोगो ने अपनी अपनी इच्छानुसार उन पुस्तिकाओ मे से एक एक को चुन लिया और उनका अनुवाद करना आरम्भ कर दिया। इसी बीच स्वामी जी लौट आये। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द जी स्वामी जी से बोले, "इन लडको ने आपके व्याख्यानो का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है।" बाद मे हम लोगो को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोगो मे से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, यह स्वामी जी

को सुनाओ। तब हम लोगों ने अपना अपना अनुवाद लाकर स्वामी जी को थोड़ा थोड़ा सुनाया। स्वामी जी ने भी अनुवाद के बारे में अपने कुछ विचार प्रकट किये और अमुक शब्द का अमुक अनुवाद ठीक रहेगा इस प्रकार दो-एक बातें भी बतायीं। एक दिन स्वामी जी के पास केवल मैं ही बैठा था उन्होंने अचानक मुझसे कहा "राजयोग का अनुवाद कर न। मेरे समान अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामी जी ने इस प्रकार आदेश कैसे दिया? मैं उसके बहुत दिन पहले से ही राजयोग का अभ्यास करने की चेष्टा किया करता था। इस योग के ऊपर कुछ दिन मेरा इतना अनुराग हुआ था कि भक्ति ज्ञान और कर्मयोग को मानो एक प्रकार से अवज्ञा से ही देखने लगा था। सोचता था मठ के साधु लोग योग-याग कुछ भी नहीं जानते इसीलिए वे योग-साधना मे उत्साह नहीं देते। पर जब मैंने स्वामी जी का 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ा तो मालूम हुआ कि स्वामी जी केवल राजयोग मे ही पटु नहीं वरन् भक्ति ज्ञान प्रभृति अन्यान्य योगों के साथ उसका सम्बन्ध भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखलाया है। राजयोग के सम्बन्ध मे मेरी जो धारणा थी उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ मे मिला। स्वामी जी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश्य से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी भी आध्यात्मिक उन्नति मे सहायता पहुँचेगी उन्होंने मुझे इस कार्य मे प्रवृत्त किया? अथवा बंग देश मे यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया? उन्होंने एक प्रमदादास मित्र को एक पत्र मे लिखा था 'बंगाल मे राजयोग की चर्चा का बिलकुल अभाव है। जो कुछ है वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।

जो भी हो स्वामी जी की आज्ञा पा अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन मे न सोचकर उसका अनुवाद करने मे उसी समय लग गया।

६

एक दिन अपराह्न काल मे बहुत से लोग बैठे हुए थे। स्वामी जी के मन मे आया कि गीता-पाठ होना चाहिए। गीता लायी गयी। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें स्वामी जी गीता के सम्बन्ध मे क्या कहते हैं। गीता के सम्बन्ध मे उस दिन उन्होंने जो कुछ भी कहा था वह सब दो-चार दिन के बाद ही स्वामी प्रेमानन्द जी की आज्ञा से मैंने स्मरण करके यथासाध्य लिपिबद्ध कर लिया। वह पहले 'गीता-तत्त्व' के नाम से 'उद्बोधन' के द्वितीय वर्ष मे प्रकाशित हुआ और

बाद मे 'भारत मे विवेकानन्द' पुस्तक मे अन्तर्भूत कर दिया गया। अतएव उन बातों की पुनरावृत्ति कर प्रस्तुत लेख का कलेवर बढाने की इच्छा नही है, किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले मे स्वामी जी ने जो एक नयी ही भावधारा बहायी थी, उसीको यहाँ लिपिबद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषो की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिबद्ध तो करते हैं, किन्तु जिन भावो से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते हैं, वे प्राय लिपिबद्ध नही रहते। फिर एसे महापुरुषो के साक्षात् सस्पर्श मे आये बिना हज़ार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातो के भीतर का गूढ मर्म नही समझ सकते। तो भी, जिन्हे उन लोगो के साथ साक्षात् सम्पर्क मे आने का सौभाग्य नही मिला है, उनके लिए उन महापुरुषो के सम्बन्ध मे लिपिबद्ध थोडी सी भी बातें बहुत आदर की वस्तु होती हैं, और उनकी आलोचना एव ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठक-वर्ग! उन महापुरुष की जिस आकृति को मैं मानो आज भी अपनी आँखो के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्ही महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खडी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लघन कर मेरे साथ हमारे स्वामी जी के दर्शन करने की चेष्टा करें।

हाँ, तो जब उन्होंने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पडे। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र की लडाई आदि की ऐतिहासिकता के बारे मे सन्देह की कारण-परम्परा का विवरण जब वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से करने लगे, तब बीच बीच मे ऐसा बोध होने लगा कि इस व्यक्ति के सामने तो कठोर समालोचक भी हार मान जाय। यद्यपि स्वामी जी ने ऐतिहासिक तत्त्व का इस प्रकार तीव्र विश्लेषण किया, किन्तु इस विषय मे वे अपना मत विशेष रूप से प्रकाशित किये बिना ही आगे समझाने लगे कि धर्म के साथ इस ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क नही है। ऐतिहासिक गवेषणा मे शास्त्रोल्लिखित व्यक्ति यदि काल्पनिक भी ठहरे, तो भी उससे सनातन धर्म को कोई ठेस नही पहुँचती। अच्छा, यदि धर्म-साधना के साथ ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क न हो, तो ऐतिहासिक गवेषणा का क्या फिर कोई मूल्य नही है?—इसका उत्तर देते हुए स्वामी जी ने समझाया कि निर्भीक भाव से इन सब ऐतिहासिक सत्यानु-सन्धानो का भी एक विशेष प्रयोजन है। उद्देश्य महान् होने पर भी उसके लिए मिथ्या इतिहास की रचना करने का कोई प्रयोजन नही! प्रत्युत यदि मनुष्य सभी विषयो मे सत्य का सम्पूर्ण रूप से आश्रय लेने के लिए प्राणपण से यत्न करे,

तो वह एक दिन सत्यस्वरूप भगवान् का भी साक्षात्कार कर सकता है। उसके बाद उन्होंने गीता के मूल तत्त्व सर्वधर्मसमन्वय और निष्काम कर्म की संक्षेप में व्याख्या करके श्लोक पढ़ना आरम्भ किया। द्वितीय अध्याय के क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ इत्यादि में युद्ध के लिए अर्जुन के प्रति श्री कृष्ण के जो उत्तेजनात्मक वचन हैं उन्हें पढ़कर वे स्वयं सर्वसाधारण को जिस भाव से उपदेश देते थे वह उन्हें स्मरण हो आया—'नैतत्त्वय्युपपद्यते— यह तो तुम्हें शोभा नहीं देता'—तुम सर्वशक्तिमान हो तुम ब्रह्म हो तुममें जो अनेक प्रकार के विपरीत भाव देख रहा हूँ वह सब तो तुम्हें शोभा नहीं देता। भविष्यद्वक्ता के समान ओजस्विनी भाषा में इन सब तत्त्वों को समझाते समझाते उनके भीतर से मानो तेज निकलने लगा। स्वामी जी कहने लगे 'जब सबको ब्रह्म-दृष्टि से देखना है तो महापापी को भी घृणा-दृष्टि से देखना उचित न होगा। महापापी से घृणा मत करो।' यह कहते कहते स्वामी जी के मुख पर जो भावान्तर हुआ वह छवि आज भी मेरे मानसपटल पर अंकित है—मानो उनके श्रीमुख से प्रेम फव्वारा बन यह निकला। श्रीमुख मानो प्रेम से दीप्त हो उठा—उसमें कठोरता का लेशमात्र भी नहीं।

इस एक श्लोक में ही सम्पूर्ण गीता का सार निहित देखकर स्वामी जी ने अन्त में यह कहते हुए उपसंहार किया 'इस एक श्लोक को पढ़ने से ही समग्र गीता के पाठ का फल होता है।

७

एक दिन स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र लाने के लिए कहा। कहने लगे 'ब्रह्मसूत्र के भाष्य को बिना पढ़े इस समय स्वतन्त्र रूप से तुम सब लोग सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो।' प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्रों का पढ़ना प्रारम्भ हुआ। स्वामी जी शुद्ध रूप से संस्कृत उच्चारण करने की शिक्षा देने लगे कहने लगे संस्कृत भाषा का उच्चारण हम लोग ठीक ठीक नहीं करते। इसका उच्चारण तो इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सब लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम लोग बचपन से ही दूसरे प्रकार का उच्चारण करने के आदी हो गये हैं इसीलिए इस प्रकार का उच्चारण अभी हम लोगों को इतना नया और कठिन मालूम होता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्मा' न करके 'आत्ताँ' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं—'अपशब्द उच्चारण करनेवाला म्लेच्छ है।' अतः उनके मत से हम सब तो म्लेच्छ ही हुए। तब नवीन ब्रह्मचारी और संन्यासीगण एक एक करके जहाँ तक बन सका ठीक ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे। बाद में स्वामी जी यह उपाय बतलाने

लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के परिपोषक हैं? शकर अद्वैत-वादी थे, इसलिए उन्होने सभी सूत्रो की केवल अद्वैत मतपरक व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना—व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह समझने की चेष्टा करना। उदाहरण के रूप मे देखो —**अस्मिन्नस्य च तद्योग शास्ति**[1]—मेरे मतानुसार इस सूत्र की ठीक ठीक व्याख्या यह है कि यहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत, दोनो ही वाद भगवान् वेदव्यास द्वारा इगित हुए हैं।

स्वामी जी एक ओर जैसे गम्भीर प्रकृतिवाले थे, उसी तरह दूसरी ओर रसिक भी थे। पढते पढते **कामाच्च नानुमानापेक्षा**[2] सूत्र आया। स्वामी जी इस सूत्र को लेकर स्वामी प्रेमानन्द के निकट इसका विकृत अर्थ करके हँसने लगे। सूत्र का सच्चा अर्थ यह है—जब उपनिषद् मे, जगत्कारण के प्रसग मे 'सोऽकामयत' (उन्होने अर्थात् उन्ही जगत्कारण ने कामना की) इस तरह का वचन है, तब 'अनुमानगम्य' (अचेतन) प्रधान या प्रकृति को जगत्कारण रूप मे स्वीकार करने की कोई आव-श्यकता नही। जिन्होने शास्त्र-ग्रन्थो का अपनी अपनी अद्भुत रुचि के अनुसार कुत्सित अर्थ करके ऐसे पवित्र सनातन धर्म को घोर विकृत कर डाला है और ग्रन्थकार का जो अर्थ किसी भी काल मे अभिप्रेत नही था, ग्रन्थकार ने जिसे स्वप्न मे भी नही सोचा था, ऐसे सभी विषयो को जिन्होने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य बातें सिद्ध करते हुए धर्म को शिष्ट जनो से 'दूरात्परिहर्तव्य' कर डाला है, क्या स्वामी जी उन्ही लोगो का तो उपहास नही कर रहे थे? अथवा, वे जैसे कभी कभी कहा करते थे, कठिन शुष्क ग्रन्थ की धारणा कराने के लिए वे बीच बीच मे साधारण मन के उपयुक्त रसिकता लाकर दूसरो को अनायास ही उस ग्रन्थ की धारणा करा देते थे, तो सम्भवत कही वही चेष्टा तो नही कर रहे थे?

जो भी हो, पाठ चलने लगा। बाद मे **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्**[3] सूत्र आया। इस सूत्र की व्याख्या करके स्वामी जी स्वामी प्रेमानन्द की ओर देख-कर कहने लगे, "देखो, तुम्हारे ठाकुर[4] जो अपने को भगवान् कहते थे, सो ईसी भाव से कहते थे।" पर यह कहकर ही स्वामी जी दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने

---

१ ब्रह्मसूत्र ॥१।१।१९॥

२ वही, १८

३ वही, ३०

४ भगवान् श्री रामकृष्ण देव।

लगे "किन्तु उन्होंने मुझसे अपने अन्तिम समय में कहा था—'जो राम जो कृष्ण वही अब रामकृष्ण तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" यह कहकर दूसरा सूत्र पढ़ने के लिए कहा।

यहाँ पर इस सूत्र के सम्बन्ध मे कुछ व्याख्या करनी आवश्यक है। कौषीतकी उपनिषद् म इन्द्र प्रतर्दन संवाद नामक एक आख्यायिका है। उसमे लिखा है, प्रतर्दन नामक एक राजा ने देवराज इन्द्र को सन्तुष्ट किया। इन्द्र ने उसे वर देना चाहा। इस पर प्रतर्दन ने उनसे यह वर माँगा कि आप मानव के लिए जो सबसे अधिक कल्याणकारी समझते हैं वही वर मुझे दें। इस पर इन्द्र ने उसे उपदेश दिया—मां विजानीहि—'मुझे जानो। यहाँ पर सूत्रकार ने यह प्रश्न उठाया है कि 'मुझे' के अर्थ म इन्द्र ने किसको लक्ष्य किया है। सम्पूर्ण आख्यायिका का अध्ययन करने पर पाठक अनेक सन्देह होते है—'मुझे' कहने से स्थान स्थान पर ऐसा ज्ञात होता है कि उसका आशय 'देवता' से है, कहीं कहीं पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय 'प्राण' से है कहीं पर 'जीव' से तो कहीं पर 'ब्रह्म' से। यहाँ पर अनेक प्रकार के विचार द्वारा सूत्रकार सिद्धान्त करते हैं कि इस स्थल मे 'मुझे' पद का आशय है 'ब्रह्म' से। 'शास्त्रदृष्ट्या' इत्यादि सूत्र के द्वारा सूत्रकार ऐसा एक उदाहरण दिखलाते हैं जिससे इन्द्र का उपदेश इसी अर्थ मे सगत होता है। उपनिषद् के एक स्थल मे है कि वामदेव ऋषि ब्रह्मज्ञान लाभ कर बोले थे —मैं मनु हुआ हूँ मैं सूर्य हुआ हूँ। इन्द्र ने भी इसी प्रकार शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त कर कहा था—मां विजानीहि (मुझे जानो)। यहाँ पर 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही बात है।

स्वामी जी भी स्वामी प्रेमानन्द से कहने लगे 'श्री रामकृष्ण देव जो कभी कभी अपने को भगवान् कहकर निर्देश करते थे सो वह इस ब्रह्मज्ञान की अवस्था प्राप्त होने के कारण ही करते थे। वास्तव मे वे तो सिद्ध पुरुष मात्र थे अवतार नहीं। पर यह बात कहकर ही उन्होने धीरे से एक दूसरे व्यक्ति से कहा "श्री रामकृष्ण स्वय अपने सम्बन्ध मे कहते थे मैं केवल ब्रह्मज्ञ पुरुष ही नहीं हूँ मैं अवतार हूँ। अत जैसा कि हमारे एक मित्र कहा करते थे श्री रामकृष्ण को एक साधु या सिद्ध पुरुष मात्र नहीं कहा जा सकता यदि उनकी बातो पर विश्वास करना है तो उन्हें अवतार कहकर मानना होगा नहीं तो ढोंगी कहना होगा।

जो हो स्वामी जी की बात से मेरा एक विशेष उपकार हुआ। सामान्य अंग्रेजी पढ़कर चाहे और कुछ सीखा हो या न सीखा हो किन्तु सन्देह करना तो अच्छी तरह सीखा था। मेरी यह धारणा थी कि महापुरुषों के शिष्यगण अपने गुरु की बड़ाई कर उन्हें अनेक प्रकार की कल्पना और अतिरंजना का विषय बना

देते हैं। परन्तु स्वामी जी की अद्भुत अकपटता और सत्यनिष्ठा को देखकर, वे भी किसी प्रकार की अतिरजना कर सकते हैं, यह धारणा एकदम दूर हो गयी। स्वामी जी के वचन ध्रुव सत्य है, यही धारणा हुई। इसलिए उनके वाक्य मे श्री रामकृष्ण देव के सम्बन्ध मे एक नवीन प्रकाश पाया। जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण—यह बात उन्होंने स्वय कही है, अभी यही बात हम समझने की चेष्टा कर रहे हैं। स्वामी जी मे अपार दया थी, वे हम लोगो से सन्देह छोड देने को नही कहते थे, चट से किसीकी बात मे विश्वास कर लेने के लिए उन्होने कभी नही कहा। वे तो कहते थे, "इस अद्भुत रामकृष्ण-चरित्र की तुम लोग अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक हो सके, आलोचना करो, इसका अध्ययन करो—मैं तो इसका एक लक्षाश भी समझ न पाया। उनको समझने की जितनी चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उनमे डूब जाओगे।"

८

स्वामी जी एक दिन हम सबको पूजा-गृह मे ले जाकर साधन-भजन सिखलाने लगे। उन्होंने कहा, "पहले सब लोग आसन लगाकर बैठो, चिन्तन करो—मेरा आसन दृढ हो, यह आसन अचल-अटल हो, इसीकी सहायता से मैं ससार-समुद्र के पार होऊँगा।" सभी ने बैठकर कई मिनट तक इस प्रकार चिन्तन किया। उसके बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "चिन्तन करो—मेरा शरीर नीरोग और स्वस्थ है, वज्र के समान दृढ है, इसी देह की सहायता से मैं ससार को पार करूँगा।" इस प्रकार कुछ देर तक चिन्तन करने के बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "अब इस प्रकार चिन्तन करो कि मेरे निकट से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारो दिशाओ मे प्रेम का प्रवाह बह रहा है—हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिए शुभकामना हो रही है—सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ और नीरोग हो। इस प्रकार चिन्तन करने के बाद कुछ देर प्राणायाम करना, अधिक नही, तीन प्राणायाम करने से ही काफी है। इसके बाद हृदय मे अपने अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मन्त्र-जप लगभग आध घटे तक करना।" सब लोग स्वामी जी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार सामूहिक साधनानुष्ठान मठ मे दीर्घ काल तक होता रहा है, एव स्वामी जी की आज्ञा से स्वामी तुरीयानन्द नवीन सन्यासियो और ब्रह्मचारियो को लेकर बहुत समय तक, 'इस बार इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो,' इस तरह बतला बतलाकर और स्वय अनुष्ठान कर स्वामी जी द्वारा बतलायी गयी साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

९

एक दिन सवेरे ९।। बजे मैं एक कमरे में बैठकर कुछ कर रहा था उसी समय सहसा तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) आकर बोले 'स्वामी जी से दीक्षा लोगे ?" मैंने कहा 'जी हाँ। इसके पहले मैंने कुलगुरु या और किसीके पास किसी प्रकार मन्त्र-दीक्षा नहीं ली थी। एक योगी के पास प्राणायाम आदि कुछ योग-क्रियाओं का मैंने तीन वर्ष तक साधन किया था और उससे बहुत कुछ शारीरिक उन्नति और मन की स्थिरता भी मुझे प्राप्त हुई थी किन्तु वे गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करना अत्यावश्यक बतलाते थे और प्राणायाम आदि योग-क्रिया को छोड़कर ज्ञान भक्ति आदि अन्यान्य मार्गों को बिल्कुल व्यर्थ कहते थे। इस प्रकार की कट्टरता मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती थी। दूसरी ओर, मठ में कोई कोई संन्यासी और उनके भक्तगण योग का नाम सुनते ही बात को हँसी में उड़ा देते थे। 'उससे विशेष कुछ नहीं होता श्री रामकृष्ण देव उसके उतने पक्षपाती नहीं थे इत्यादि बातें मैं उन लोगों से सुना करता था। पर जब मैंने स्वामी जी का राजयोग पढ़ा तो समझा कि इस ग्रन्थ के प्रणेता जैसे योगमार्ग के समर्थक हैं वैसे ही अन्यान्य मार्गों के प्रति भी श्रद्धालु हैं अतएव कट्टर तो हैं ही नहीं अपितु इस प्रकार के उदार भावसम्पन्न आचार्य मुझे कभी दृष्टिगोचर नहीं हुए तिस पर वे संन्यासी भी हैं —अतएव उनके प्रति यदि मेरे हृदय में विशेष श्रद्धा हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या ? बाद में मैंने विशेष रूप से जाना कि श्री रामकृष्ण देव साधारणतया प्राणायाम आदि योग-क्रिया का उपदेश नहीं दिया करते थे। वे जप और ध्यान पर ही विशेष रूप से जोर देते थे। वे कहा करते थे 'ध्यानावस्था के प्रगाढ़ होने पर अथवा भक्ति की प्रबलता आने पर प्राणायाम स्वयमेव हो जाता है इस तरह दैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने से अनेक बार मन देह की ओर आकृष्ट हो जाता है। किन्तु अन्तरंग शिष्यों से वे योग के उच्च अंगों की साधना कराते थे उन्हें स्पर्श करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल से उन लोगों की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर देते थे एवं षट्चक्र के विभिन्न चक्रों में मन की स्थिरता की सुविधा के लिए समय समय पर शरीर के किसी विशिष्ट अंग में ऊँगली घुमाकर वहाँ मन को स्थिर करने के लिए कहते थे। स्वामी जी ने अपने पाश्चात्य शिष्यों में से बहुतों को प्राणायाम आदि क्रियाओं का जो उपदेश दिया था वह मैं समझता हूँ उनका अपना कपोलकल्पित नहीं था वरन् उनके गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग था। स्वामी जी एक बात कहा करते थे कि यदि किसीको सचमुच सन्मार्ग में प्रवृत्त करना हो तो उसीकी भाषा में उसे उपदेश देना होगा। इसी भाव का अनुसरण करके वे अर्थिउडिनेट अथवा अनिदारीविभाव को भिन्न भिन्न साधना

प्रणाली की शिक्षा देते थे और इस तरह सभी प्रकार की प्रकृतिवाले मनुष्यो को थोडी-बहुत आध्यात्मिक सहायता देने मे सफल होते थे।

जो हो, मैं इतने दिनो से उनका उपदेश सुन रहा हूँ, किन्तु उनके पास से मुझे अभी तक किसी प्रकार की प्रत्यक्ष आध्यात्मिक सहायता नही मिली, और उसके लिए मैंने चेष्टा भी नही की। चेष्टा न करने का कारण यह था कि मुझे करने का साहस नही होता था, और शायद मन के भीतर यह भी भाव था कि जब मैं इनके आश्रित हुआ हूँ, तो जो जो मेरे लिए आवश्यक है, सभी पाऊँगा। किस प्रकार वे मेरी आध्यात्मिक सहायता करेंगे, यह मैं नही जानता था। इस समय स्वामी निर्मलानन्द के ऐसे बिनमाँगे आह्वान से मन मे और किसी प्रकार की दुविधा नही रही। 'लूँगा' ऐसा कहकर उनके साथ पूजा-गृह की ओर बढ़ा। मैं नही जानता था कि उस दिन श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती भी दीक्षा ले रहे हैं। उस समय दीक्षा-दान समाप्त नही हुआ था, इसलिए, स्मरण है, पूजा-गृह के बाहर कुछ देर तक मुझे प्रतीक्षा करनी पडी थी। बाद मे शरत् बाबू बाहर आये, तो उसी समय तुलसी महाराज मुझे ले जाकर स्वामी जी से बोले, "यह दीक्षा लेगा।" स्वामी जी ने मुझसे बैठने के लिए कहा। पहले ही उन्होने पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार?"

मैंने कहा, "कभी साकार अच्छा लगता है, कभी निराकार।"

इसके उत्तर मे वे बोले, "वैसा नही, गुरु समझ सकते हैं, किसका क्या मार्ग है, हाथ देखूं।" ऐसा कहकर मेरा दाहिना हाथ कुछ देर तक लेकर थोडी देर जैसे ध्यान करने लगे। उसके बाद हाथ छोडकर बोले, "तूने कभी घट-स्थापना करके पूजा की है?" घर छोडने के कुछ पहले घट-स्थापना करके मैंने बहुत देर तक कोई पूजा की थी। वह बात मैंने उनसे बतायी। तब एक देवता का मन्त्र बताकर उन्होने उसे अच्छी तरह मुझे समझा दिया और कहा, "इस मन्त्र से तेरा कल्याण होगा। और घट-स्थापना करके पूजा करने से तेरा कल्याण होगा।" उसके बाद मेरे सम्बन्ध मे एक भविष्यवाणी करके, उन्होने सामने पडे हुए कुछ फलो को गुरु-दक्षिणा के रूप मे देने के लिए मुझसे कहा।

मैंने देखा, यदि मुझे भगवान् के शक्तिस्वरूप किन्ही देवता की उपासना करनी हो, तो मुझे स्वामी जी ने जिन देवता के मन्त्र का उपदेश दिया है, वे ही देवता मेरी प्रकृति के साथ पूर्णरूपेण मेल खाते हैं। सुना था—सच्चे गुरु शिष्य की प्रकृति को समझकर मन्त्र देते हैं। स्वामी जी मे आज उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला।

दीक्षा-दान के कुछ देर बाद स्वामी जी का भोजन हुआ। स्वामी जी की थाली मे से मैंने और शरच्चन्द्र बाबू ने प्रसाद ग्रहण किया।

उस समय श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित 'इण्डियन मिरर' नामक अंग्रेजी दैनिक मठ में बिना मूल्य दिया जाता था किन्तु मठ के सन्यासियों की ऐसी स्थिति नहीं थी कि उसका डाक-खर्च भी दे सकते। वह पत्र एक पत्रवाहक द्वारा बराहनगर तक वितरित होता था। बराहनगर में 'देवालय' के प्रतिष्ठाता सेवाव्रती श्री शशिपद बन्द्योपाध्याय द्वारा प्रतिष्ठित एक विधवाश्रम था। वहाँ पर इस आश्रम के लिए उक्त पत्र की एक प्रति आती थी। 'इण्डियन मिरर' का पत्रवाहक बस वहीं तक आता था इसलिए मठ का समाचारपत्र भी वहीं दे जाता था। वहाँ से प्रतिदिन पत्र को मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के ऊपर स्वामी जी की यथेष्ट सहानुभूति थी। अमेरिका-प्रवास में इस आश्रम की सहायता के लिए स्वामी जी ने अपनी इच्छा से एक व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकट बेचकर जो कुछ आय हुई, उसे इस आश्रम में दे दिया था। अस्तु, उस समय मठ के लिए बाजार करना पूजा का आयोजन करना आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करना पड़ता था। इस 'इण्डियन मिरर' पत्र को लाने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नवदीक्षित सन्यासी ब्रह्मचारी आ जुटे थे किन्तु तब भी मठ के सब कार्यों का भार सब पर नहीं बाँटा गया था। इसलिए स्वामी निर्भयानन्द को यथेष्ट कार्य करना पड़ता था। अतएव उनके भी मन में आता था कि अपने कार्यों में से थोड़ा थोड़ा कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें तो कुछ अवकाश मिले। इस उद्देश्य से उन्होंने मुझसे कहा "देखो जिस जगह 'इण्डियन मिरर' आता है उस स्थान को तुम्हें दिखला दूँगा —तुम वहाँ से प्रतिदिन समाचारपत्र ले आना।" मैंने उसे अत्यन्त सरल कार्य समझकर एवं इससे एक व्यक्ति का कार्य-भार कुछ हल्का होगा ऐसा सोचकर, सहज में ही स्वीकार कर लिया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद कुछ देर विश्राम कर लेने पर निर्भयानन्द जी ने मुझसे कहा चलो वह विधवाश्रम तुम्हें दिखला दूँ। मैं उनके साथ जाने के लिए तैयार हुआ। इसी बीच स्वामी जी ने मुझे देखकर वेदान्त पढ़ने के लिए बुलाया। मैंने कहा कि मैं अमुक कार्य से जा रहा हूँ। इस पर स्वामी जी कुछ नहीं बोले। मैं कन्हाई महाराज के साथ बाहर जाकर उस स्थान को देख आया। लौटकर जब मठ में आया तो अपने एक ब्रह्मचारी मित्र से सुना कि मेरे चले जाने के कुछ देर बाद स्वामी जी किसीसे कह रहे थे "यह लड़का कहाँ गया है? क्या स्त्रियों को तो देखने नहीं गया? इस बात को सुनकर मैंने कन्हाई महाराज से कहा 'भाई, मैं स्थान देख तो आया पर समाचारपत्र लाने के लिए अब वहाँ न जा सकूँगा।

शिष्यो के, विशेषत नवीन ब्रह्मचारियो के चरित्र की जिनसे रक्षा हो, उस विषय मे स्वामी जी विशेष सावधान थे। कलकत्ते मे विशेष प्रयोजन के बिना कोई साधु-ब्रह्मचारी रहे या रात बिताये—यह उन्हे बिल्कुल पसन्द न था, और विशेषत वह स्थान, जहाँ स्त्रियो के सस्पर्श मे आना होता था। इसके सैकडो उदाहरण देख चुका हूँ।

स्वामी जी जिस दिन मठ से रवाना होकर अल्मोडा जाने के लिए कलकत्ता गये, उस दिन सीढी के बगल के बरामदे मे खडे होकर अत्यन्त आग्रह के साथ नवीन ब्रह्मचारियो को सम्बोधन करके ब्रह्मचर्य के बारे मे उन्होंने जो बाते कही थी, वे मानो अभी भी मेरे कानो मे गूँज रही है। उन्होंने कहा—

"देखो बच्चो, ब्रह्मचर्य के बिना कुछ भी न होगा। धर्म-जीवन का लाभ करना हो, तो उसमे ब्रह्मचर्य ही एकमात्र सहायक है। तुम लोग स्त्रियो के सम्पर्क मे बिल्कुल न आना। मैं तुम लोगो को स्त्रियो से घृणा करने के लिए नही कहता, वे तो साक्षात् भगवतीस्वरूपा हैं, किन्तु अपने को बचाने के लिए तुम लोगो को उनसे दूर रहने के लिए कहता हूँ। मैंने अपने व्याख्यानो मे बहुत जगह जो कहा है कि ससार मे रहकर भी धर्म होता है, सो वह पढकर मन मे ऐसा न समझ लेना कि मेरे मत मे ब्रह्मचर्य या सन्यास धर्म-जीवन के लिए अत्यावश्यक नही है। क्या करता, उन सब भाषणो के सुननेवाले सभी ससारी थे, सभी गृही थे—उनके सामने पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात यदि एकदम कहने लगता, तो दूसरे दिन से कोई भी मेरा व्याख्यान सुनने न आता। ऐसे लोगो के लिए छूट-ढिलाई दिये जाने पर, वे क्रमश पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर आकृष्ट होते हैं, इसीलिए मैंने उस प्रकार के भाषण दिये थे। किन्तु अपने मन की बात तुम लोगो से कहता हूँ—ब्रह्मचर्य के बिना तनिक भी धर्मलाभ न होगा। काया, मन और वाणी से तुम लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना।"

१०

एक दिन विलायत से कोई पत्र आया। उसे पढकर स्वामी जी उसी प्रसग में, धर्म-प्रचारक मे कौन कौन से गुण रहने पर वह सफल हो सकेगा, यह बताने लगे। अपने शरीर के भिन्न भिन्न अवयवो की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि धर्म-प्रचारक का अमुक अग खुला रहना आवश्यक है और अमुक अग बन्द। अर्थात् उसका सिर, हृदय और मुख खुला रहना चाहिए, यानी उसे प्रबल मेधावी, सहृदय और वाग्मी होना चाहिए। और उसके अधोदेश के अगो का कार्य बन्द होगा, अर्थात् वह पूर्ण ब्रह्मचारी होगा। एक प्रचारक को लक्ष्य करके कहने लगे,

"उसमे सभी गुण है, केवल एक हृदय का अभाव है—ठीक है, क्रमशः हृदय भी बन जायगा।

उस पत्र मे यह समाचार था कि भगिनी निवेदिता (उस समय कुमारी नोबल) इंग्लैण्ड से भारत के लिए शीघ्र ही रवाना होगी। निवेदिता की प्रशंसा करने मे स्वामी जी शतमुख हो गये। कहने लगे, 'इंग्लैण्ड मे इस प्रकार की पवित्र चरित्र महानुभाव नारियाँ बहुत कम है। मैं यदि कल मर जाऊँ, तो वह मेरे काम को चालू रखेगी।' स्वामी जी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

११

स्वामी जी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अंग्रेजी अनुवादक तथा स्वामी जी की सहायता द्वारा मद्रास से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्मवादिन्' पत्र के प्रधान लेखक एवं मद्रास के प्रतिष्ठित अध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ भ्रमण के सिलसिले में शीघ्र ही कलकत्ता आयेंगे। स्वामी जी अपराह्न समय मुझसे बोले, 'पत्र लिखने के लिए कागज और कलम लाकर जरा लिख तो,' और देखा, थोड़ा पीने के लिए पानी भी लेता आ। मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामी जी को दिया और डरते हुए धीरे धीरे बोला, 'मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है।' मैंने सोचा था, शायद विलायत या अमेरिका के लिए कोई पत्र लिखना होगा। स्वामी जी इस पर बोले, 'कोई हरज नहीं, आ, लिख, foreign letter (विलायती पत्र) नहीं है।' तब मैं कागज-कलम लेकर पत्र लिखने के लिए बैठा। स्वामी जी अंग्रेजी मे बोलने लगे। उन्होंने अध्यापक रंगाचार्य को एक पत्र लिखाया और एक पत्र किसी दूसरे को, किसे—यह ठीक स्मरण नहीं है। मुझे याद है—रंगाचार्य को बहुत सी दूसरी बातों मे एक यह भी बात लिखायी थी, 'बंगाल मे वेदान्त की वैसी चर्चा नहीं है, अतएव जब आप कलकत्ता आ रहे हैं, तो कलकत्तावासियों को जरा हिलाकर जायें।' कलकत्ते मे जिससे वेदान्त की चर्चा बढ़े, कलकत्तावासी जिससे थोड़ा सचेत हों, उसके लिए स्वामी जी कितने सचेष्ट थे! स्वामी जी ने अस्वस्थ होने के कारण चिकित्सकों के साग्रह अनुरोध से कलकत्ते मे केवल दो व्याख्यान देकर फिर व्याख्यान देना बन्द कर दिया था, किन्तु तो भी जब कभी सुविधा पाते, कलकत्तावासियों की धर्म भावना को जाग्रत करने की चेष्टा करते रहते थे। स्वामी जी के इस पत्र के फलस्वरूप इसके कुछ दिन बाद कलकत्तावासियों ने स्टार रंगमंच पर उक्त पण्डित प्रवर का 'दि प्रीस्ट ऐण्ड दि प्रॉफेट' (पुरोहित और ऋषि) नामक सारगर्भित व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

१२

इसी समय, एक बगाली युवक मठ मे आया और उसने वहाँ साधु होकर रहने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी तथा वहाँ के अन्यान्य साधु उसके चरित्र से पहले ही से विशेषतया परिचित थे। उसको आश्रमवासी होने मे अनुपयुक्त समझकर कोई भी उसे मठ मे रखने के पक्ष मे नही था। पर उसके पुन पुन प्रार्थना करने पर स्वामी जी ने उससे कहा, "मठ के साधुओ का यदि मत हो, तो तुम्हे रख सकता हूँ।" यह कहकर पुराने साधुओ को बुलाकर उन्होने पूछा, "इसको मठ मे रखने के बारे मे तुम लोगो का क्या मत है?" उस पर सभी साधुओ ने उसे मठ मे रखने मे अनिच्छा प्रदर्शित की। अत उस युवक को मठ में नही रखा गया। इसके कुछ दिनो बाद सुना कि वह व्यक्ति किसी तरह विलायत गया, और पास मे पैसा-कौडी न रहने के कारण उसे 'वर्क-हाउस' मे रहना पडा।

१३

एक दिन अपराह्न काल मे स्वामी जी मठ के बरामदे मे हम लोगो को लेकर वेदान्त पढाने बैठे। सन्ध्या होने ही वाली थी। स्वामी रामकृष्णानन्द को इससे कुछ दिन पहले स्वामी जी ने प्रचार-कार्य के लिए मद्रास भेजा था। इसीलिए उस समय मठ मे पूजा-आरती आदि उनके एक दूसरे गुरुभ्राता सँभालते थे। आरती आदि मे जो लोग उनकी सहायता करते थे, उन्हे भी लेकर स्वामी जी वेदान्त पढाने बैठे थे। उसी समय उक्त गुरुभ्राता आकर नवीन सन्यासी-ब्रह्मचारियो से कहने लगे, "चलो जी, चलो, आरती करनी होगी, चलो।" उस समय एक ओर स्वामी जी के आदेश से सभी वेदान्त पढने मे लगे हुए थे, और दूसरी ओर इनके आदेश से ठाकुर जी की आरती मे सहयोग देना चाहिए। अतएव नवीन साधु लोग कुछ समय असमजस मे पड गये। तब स्वामी जी अपने गुरुभ्राता को सम्बोधित करके उत्तेजित होकर कहने लगे, "यह जो वेदान्त पढा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नही है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई वत्ती घुमाना और झांझ पीटना—मालूम होता है, इसीको तुम भगवान् की आराधना समझते हो! तुम्हारी बुद्धि बडी ओछी है।" इस तरह कहते कहते, जरा और भी अधिक उत्तेजित हो इस प्रकार वेदान्त-पाठ मे बाधा उपस्थित करने के कारण कुछ और भी अधिक कडे वाक्य कहने लगे। फल यह हुआ कि वेदान्त-पाठ बन्द हो गया। कुछ देर बाद आरती भी समाप्त हो गयी। किन्तु आरती के बाद उक्त गुरुभ्राता चुपके से कहीं चले गये। तब तो स्वामी जी भी अत्यन्त व्याकुल होकर बारम्बार "वह कहाँ गया, क्या वह मेरी गाली खाकर गगा मे तो नहीं

छूट गया। इस तरह कहने लगे और सभी लोगों को उन्हें ढूँढ़ने के लिए चारों ओर भेजा। बहुत देर बाद मठ की छत पर चिन्तित भाव से उन्हें बैठे हुए देखकर एक व्यक्ति उन्हें स्वामी जी के पास ले आये। उस समय स्वामी जी का भाव एकदम परिवर्तित हो गया। उन्होंने उनका कितना दुलार किया और कितनी मधुर वाणी से उनसे बातें करने लगे। हम लोग स्वामी जी का गुरुभाई के प्रति अपूर्व प्रेम देखकर मुग्ध हो गये। तब हम लोगों को मालूम हुआ कि गुरुभाइयों के ऊपर स्वामी जी का अगाध विश्वास और प्रेम है। उनकी आन्तरिक चेष्टा यही रहती थी कि वे लोग अपनी निष्ठा को सुरक्षित रखकर अधिकाधिक उन्नत एवं उदार बन सकें। बाद में स्वामी जी के श्रीमुख से अनेक बार सुना है कि स्वामी जी जिनकी अधिक भर्त्सना करते थे वे ही उनके विशेष प्रीति-पात्र थे।

१४

एक दिन बरामदे में टहलते-टहलते उन्होंने मुझसे कहा, 'देख मठ की एक डायरी रखना और प्रत्येक सप्ताह मठ की एक रिपोर्ट भेजना। स्वामी जी के इस आदेश का मैंने और बाद में अन्य व्यक्तियों ने भी, पालन किया था। अभी भी मठ की वह वार्षिक (छोटी) डायरी मठ में सुरक्षित है। उससे अभी भी मठ के क्रम-विकास और स्वामी जी के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य संग्रह किये जा सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर

१

(बेलूड मठ की डायरी से)

प्रश्न—गुरु किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।

प्रश्न—भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है?।

उत्तर—भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है—केवल उसके ऊपर काम-काचन का एक आवरण सा पडा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी।

प्रश्न—हमे आत्मनिर्भर होना चाहिए—इस कथन का सच्चा अर्थ क्या है?

उत्तर—यहाँ 'आत्म' का अर्थ है, चिरतन नित्य आत्मा। फिर भी, इस 'अनित्य अह' पर निर्भरता का अभ्यास भी हमे धीरे धीरे सच्चे लक्ष्य पर पहुँचा देगा, क्योकि जीवात्मा भी तो वस्तुत नित्यात्मा की मायिक अभिव्यक्ति ही तो है।

प्रश्न—यदि सचमुच एक ही वस्तु सत्य हो, तो फिर यह द्वैत-बोध, जो सदा-सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया?

उत्तर—किसी विषय के प्रत्यक्ष मे कभी द्वैत-बोध नही होता। प्रत्यक्ष के पुन उपस्थित होने मे ही द्वैत का बोध होता है। यदि विषय-प्रत्यक्ष के समय द्वैत-बोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप मे तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप मे रह सकता।

प्रश्न—चरित्र का सामजस्यपूर्ण विकास करने का सर्वोत्तम उपाय कौन सा है?

उत्तर—जिनका चरित्र उस रूप से गठित हुआ हो, उनका सग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न—वेद के विषय मे हमारा दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए?

उत्तर—वेदो के केवल उन्ही अशो को प्रमाण मानना चाहिए, जो युक्ति-विरोधी नही हैं। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वही तक ग्राह्य है, जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं। वेद के पश्चात् इस ससार मे जहाँ कही जो भी धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, उसे वेद से ही गृहीत समझना चाहिए।

प्रश्न—यह चार युगों का काल-विभाजन क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल कल्पित ही है?

उत्तर—वेदों में तो कहीं ऐसे विभाजन का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की निराधार कल्पना मात्र है।

प्रश्न—शब्द और भाव के बीच क्या सचमुच कोई नित्य सम्बन्ध है? अथवा मात्र संयोगज और कल्पित?

उत्तर—इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं, किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध है पर पूर्णतया नहीं जैसा भाषाओं की विविधता से सिद्ध होता है। हाँ कोई सूक्ष्म सम्बन्ध हो सकता है जिसे हम अभी नहीं पकड़ पा रहे हैं।

प्रश्न—भारत में कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिए?

उत्तर—पहले तो व्यावहारिक और शरीर से सबल होने की शिक्षा देनी चाहिए। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं परन्तु लाख-लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने कुछ हिन्दू प्रतीकों की अवनति का वर्णन किया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का भेद समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग आर्यों का था और इसलिए उसमें अधिकारी-विचार के इतने कड़े नियम थे। भक्तिमार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—आर्येतर जाति से हुई है इसलिए उसमें अधिकारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—भारत के इस पुनरुत्थान में रामकृष्ण मिशन क्या कार्य करेगा?

उत्तर—इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर देंगे। इसके साथ साथ दूसरे क्षेत्रों में भी पुनरुत्थान होगा। इस तरह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जाति का अभ्युदय होगा। शूद्र जाति का अस्तित्व समाप्त हो जायगा—वे लोग आज जो काम कर रहे हैं वे सब यंत्रों की सहायता से किये जायँगे। भारत की वर्तमान आवश्यकता है—क्षत्रिय-शक्ति।

प्रश्न—क्या मनुष्य के उत्क्रान्त अधोगामी पुनर्जन्म संभव है?

उत्तर—हाँ पुनर्जन्म कर्म पर निर्भर रहता है। यदि मनुष्य पशु के समान आचरण करे, तो वह पशु-योनि में खिंच जाता है।

एक समय (सन् १८९८ ई०) मे इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल मे स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति बौद्ध युग मे मानी थी। उन्होने कहा था—पहले बौद्ध चैत्य, फिर स्तूप, और तत्पश्चात् बुद्ध का मन्दिर निर्मित हुआ। उसके साथ ही हिन्दू देवताओ के मन्दिर खडे हुए।

प्रश्न—क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है?

उत्तर—श्री रामकृष्ण देव कहते थे, 'योगी जिन्हे पद्म कहते हैं, वास्तव मे वे मनुष्य के शरीर मे नही हैं। योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है।'

प्रश्न—क्या मूर्ति-पूजा के द्वारा मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मूर्ति-पूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती, फिर भी वह मुक्ति-प्राप्ति मे गौण कारणस्वरूप है—सहायक है। मूर्ति-पूजा की निन्दा करना उचित नही, क्योकि बहुतो के लिए मूर्ति-पूजा ही अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार कर देती है—और केवल इस अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

प्रश्न—हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए?

उत्तर—त्याग।

प्रश्न—बौद्ध धर्म ने अपने दाय के रूप मे भ्रष्टाचार कैसे छोडा?

उत्तर—बौद्धो ने प्रत्येक भारतवासी को भिक्षु या भिक्षुणी बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सब लोग तो वैसा नही हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से भिक्षु-भिक्षुणियो में क्रमश शिथिलता आती गयी। और भी एक कारण था—धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारो का अनुकरण करना। वे इन स्थानो मे धर्म-प्रचार के हेतु गये और इस प्रकार उनके भीतर उन लोगो के दूषित आचार प्रवेश कर गये। अन्त मे उन्होंने भारत मे इन सब आचारो को प्रचलित कर दिया।

प्रश्न—माया क्या अनादि और अनन्त है?

उत्तर—समष्टि रूप से अनादि-अनन्त अवश्य है, पर व्यष्टि रूप से सान्त है।

प्रश्न—ब्रह्म और माया का बोध युगपत् नही होता। अत उनमे से किसी-की भी पारमार्थिक सत्ता एक दूसरे से अद्भुत कैसे सिद्ध की जा सकती है?

उत्तर—उसको केवल साक्षात्कार द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जब व्यक्ति को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसके लिए माया की सत्ता नही रह जाती, जैसे रस्सी की वास्तविकता जान लेने पर सर्प का भ्रम फिर उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न—माया क्या है?

उत्तर—वास्तव में वस्तु केवल एक ही है—चाहे उसको चैतन्य कहो या जड़। पर उनमें से एक को दूसरे से नितान्त स्वतंत्र मानना केवल कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीको माया या अज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति क्या है?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की शृंखला भी शृंखला ही है और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्री रामकृष्ण देव कहते थे 'पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। इसी तरह सत्प्रवृत्ति के द्वारा असत् प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है।'

प्रश्न—भगवत्कृपा बिना क्या मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति तो पहले से ही वर्तमान है।

प्रश्न—हमारे भीतर जिसे 'मैं' या 'अहं' कहा जाता है वह देह आदि से उत्पन्न नहीं है, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अनात्मा की भाँति 'मैं' या 'अहं' भी देह-मन आदि से ही उत्पन्न होता है। वास्तविक 'मैं' के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है साक्षात्कार।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त किसे कह सकते हैं?

उत्तर—जिसके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सभी अवस्थाओं में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वही सच्चा ज्ञानी है। और सच्चा भक्त वह है जो परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभिन्न रूप से उपलब्धि कर यथार्थ ज्ञानसम्पन्न हो गया है, जो सबसे प्रेम करता है और जिसका हृदय सबके लिए रुदन करता है। ज्ञान और भक्ति में से किसी एक का पक्ष लेकर जो दूसरे की निन्दा करता है वह न तो ज्ञानी है, न भक्त—वह तो ढोंगी और मूर्ख है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यदि तुम एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेते हो तो उनकी सेवा करने के यथेष्ट कारण पाओगे। सभी शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है 'स्मरण'। यदि तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो, तो तुम्हारे जीवन में पग पग पर उनको स्मरण करने का हेतु सामने आयेगा।

प्रश्न—क्या मायावाद अद्वैतवाद से भिन्न है?

उत्तर—नही, दोनो एक ही हैं। मायावाद को छोड अद्वैतवाद की और कोई भी व्याख्या सम्भव नही।

प्रश्न—ईश्वर तो अनन्त हैं, वे फिर मनुष्य रूप धारण कर इतने छोटे किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त है। परन्तु तुम लोग अनन्त का जो अर्थ सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नही है। अनन्त कहने से तुम एक विराट् जड सत्ता समझ बैठते हो। इसी समझ के कारण तुम भ्रम मे पड गये हो। जब तुम यह कहते हो कि भगवान् मनुष्य रूप धारण नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक विराट् जड पदार्थ को इतना छोटा नही किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ मे अनन्त नही है। उसका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए मानव के आकार मे अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप को कुछ भी क्षति नही पहुँचती।

प्रश्न—कोई कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध वन जाओ, फिर तुम्हे कर्म करने का ठीक ठीक अधिकार होगा, परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना, दूसरो की सेवा करना उचित है। इन दो विभिन्न मतो का सामजस्य कि प्रकार हो सकता है?

उत्तर—तुम तो दो अलग अलग बातों को एक मे मिलाये दे रहे हो, इसी भ्रम मे पड गये हो। कर्म का अर्थ है मानव जाति की सेवा अथवा धर्म-प्रचार-क यथार्थ प्रचार-कार्य मे अवश्य ही सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त और किसीका अधि नही है, परन्तु सेवा मे तो सभी का अधिकार है, इतना ही नही, जब तक दूसरो से सेवा ले रहे हैं, तब तक हम दूसरो की सेवा करने को बाध्य भी हैं

२

(ब्रुकलिन नैतिक सभा, ब्रुकलिन, अमेरिका)

प्रश्न—आप कहते हैं कि सब कुछ मगल के लिए ही है, परन्तु देख आता है कि ससार सब ओर अमगल और दु ख-कष्ट से घिरा है। तो आपके मत के साथ इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले व्यापार का सामजस्य किस प्रक सकता है?

उत्तर—आप यदि पहले अमगल के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकें मैं इस प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा। परन्तु वैदान्तिक धर्म तो अमगल का अ ही स्वीकार नही करता। सुख से रहित अनन्त दु ख कही हो, तो उसे अवश्य अमगल कहा जा सकता है। पर यदि सामयिक दु ख-कष्ट हृदय की क

और महत्ता में वृद्धि कर मनुष्य को अनन्त सुख की ओर अग्रसर कर दे, तो फिर उसे अमंगल नहीं कहा जा सकता बल्कि उसे तो परम मंगल कहा जा सकता है। जब तक हम यह अनुसन्धान नहीं कर लेंगे कि किसी वस्तु का अनन्त के राज्य में क्या परिणाम होता है तब तक हम उसे बुरा नहीं कह सकते।

शैतान की उपासना हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। मानव जाति क्रमोन्नति के मार्ग पर चल रही है, परन्तु सब लोग एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं पहुँच सके हैं। इसीलिए पार्थिव जीवन में कोई कोई लोग अन्यान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महान् और पवित्र देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत बनाने के लिए अवसर विद्यमान है। हम अपना नाश नहीं कर सकते हम अपने भीतर की जीवनी शक्ति को नष्ट या दुर्बल नहीं कर सकते परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न—पार्थिव जड़ वस्तु की सत्यता क्या हमारे मन की केवल कल्पना नहीं है?

उत्तर—मेरे मत में बाह्य जगत् की अवश्य एक सत्ता है—हमारे मन के विचार के बाहर भी उसका एक अस्तित्व है। चैतन्य के क्रमविकास-रूप महान् विधान का अनुवर्ती होकर यह समग्र विश्व उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। चैतन्य का यह क्रमविकास जड़ के क्रमविकास से पृथक् है। जड़ का क्रमविकास चैतन्य की विकास-प्रणाली का सूचक या प्रतीकस्वरूप है किन्तु उसके द्वारा इस प्रणाली की व्याख्या नहीं हो सकती। वर्तमान पार्थिव परिस्थिति में बद्ध रहने के कारण हम अभी तक व्यक्तित्व नहीं प्राप्त कर सके हैं। जब तक हम उस उच्चतर भूमि में नहीं पहुँच जाते जहाँ हम अपनी अन्तरात्मा के परम लक्षणों को प्रकट करने के उपयुक्त यन्त्र बन जाते हैं तब तक हम प्रकृत व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं कर सकते।

प्रश्न—ईसा मसीह के पास एक जन्मान्ध शिशु को ले जाकर उनसे पूछा गया था कि शिशु स्वयं किये हुए पाप के फल से अन्धा हुआ है अथवा अपने माता पिता के पाप के फल से—इस समस्या की मीमांसा आप किस प्रकार करेंगे?

उत्तर—इस समस्या में पाप की बात को ले आने का कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। तो भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि शिशु की यह अन्धता उसके पूर्व जन्म कृत किसी कर्म का ही फल होगी। मेरे मत में पूर्व जन्म को स्वीकार करने पर ही ऐसी समस्याओं की मीमांसा हो सकती है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा क्या आनन्द की अवस्था को प्राप्त करती है?

उत्तर—मृत्यु तो केवल अवस्था का परिवर्तन मात्र है। देश-काल आपके ही भीतर वर्तमान है, आप देश-काल के अन्तर्गत नही है। बस इतना जानने से ही यथेष्ट होगा कि हम, इहलोक मे या परलोक मे, अपने जीवन को जितना पवित्र और महान् बनायेंगे, उतना ही हम उन भगवान् के निकट होते जायँगे, जो सारे आध्यात्मिक सौन्दर्य और अनन्त आनन्द के केन्द्रस्वरूप है।

२

(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब, बोस्टन, अमेरिका)

प्रश्न—क्या वेदान्त का प्रभाव इसलाम धर्म पर कुछ पडा है?

उत्तर—वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इसलाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इसलाम धर्म ससार के अन्यान्य देशो के इसलाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशो के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानो को फुसलाते है कि तुम विधर्मियो के साथ मिल-जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दगा-फसाद मचाते हैं।

प्रश्न—क्या वेदान्त जाति-भेद मानता है?

उत्तर—जाति-भेद वेदान्त धर्म का विरोधी है। जाति-भेद एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बडे बडे आचार्यो ने उसे तोडने के प्रयत्न किये है। बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायो ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढता गया, जाति-भेद की शृखला उतनी ही दृढ होती गयी। जाति-भेद की उत्पत्ति भारत की राजनीतिक सस्थाओं से हुई है। वह तो वश-परम्परागत व्यवसायो का समवाय (trade guild) मात्र है। किसी प्रकार के उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-भेद को अधिक मात्रा मे तोडा है।

प्रश्न—वेदो की विशेषता किस बात मे है?

उत्तर—वेदो की एक विशेषता यह है कि सारे शास्त्र-ग्रन्थो मे एकमात्र वेद ही बारम्बार कहते हैं कि वेदो के भी अतीत हो जाना चाहिए। वेद कहते है कि वे केवल बाल-बुद्धि व्यक्तियो के लिए लिखे गये हैं। इसलिए विकास कर चुकने पर वेदो के परे जाना पडेगा।

प्रश्न—आपके मत मे प्रत्येक जीवात्मा क्या नित्य सत्य है?

उत्तर—जीवात्मा मनुष्य की वृत्तियो की समष्टिस्वरूप है, और इन वृत्तियो का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह जीवात्मा अनन्त काल के

लिए कभी सत्य नहीं हो सकती। इस मायिक प्रपञ्च-प्रपंच के भीतर ही उसकी सत्यता है। जीवात्मा तो विचार और स्मृति की समष्टि है—वह नित्य सत्य कैसे हो सकती है?

प्रश्न—भारत में बौद्ध धर्म का पतन क्यों हुआ?

उत्तर—वास्तव में भारत में बौद्ध धर्म का लोप नहीं हुआ। वह एक विराट् सामाजिक आन्दोलन मात्र था। बुद्ध के पहले यज्ञ के नाम से तथा अन्य विभिन्न कारणों से बहुत प्राणिहिंसा होती थी और लोग बहुत मद्यपान एवं आमिष-आहार करते थे। बुद्ध के उपदेश के फल से मद्यपान और जीव-हत्या का भारत से प्राय लोप सा हो गया है।

४

(अमेरिका के हार्टफ़ोर्ड में 'आत्मा, ईश्वर और धर्म'[1] विषय पर स्वामी जी का एक भाषण समाप्त होने पर वहाँ के श्रोताओं ने कुछ प्रश्न पूछे थे। वे प्रश्न तथा उनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।)

दर्शकों में से एक ने कहा—अगर पुरोहित लोग नरक की ज्वाला के बारे में बातें करना छोड़ दें तो लोगों पर से उनका प्रभाव ही उठ जाय।

उत्तर—उठ जाय तो अच्छा ही हो। अगर आतंक से कोई किसी धर्म को मानता है, तो वस्तुत उसका कोई भी धर्म नहीं। इससे तो मनुष्य को उसकी पाशविक प्रकृति के बजाय उसकी दैवी प्रकृति के बारे में उपदेश देना कहीं अच्छा है।

प्रश्न—जब प्रभु (ईसा) ने यह कहा कि स्वर्ग का राज्य इस ससार में नहीं है तो इससे उनका क्या तात्पर्य था?

उत्तर—यह कि स्वर्ग का राज्य हमारे अन्दर है। यहूदी लोगों का विश्वास था कि स्वर्ग का राज्य इसी पृथ्वी पर है। पर ईसा मसीह ऐसा नहीं मानते थे।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि मनुष्य का विकास पशु से हुआ है?

उत्तर—मैं मानता हूँ कि विकास के नियम के अनुसार ऊँचे स्तर के प्राणी अपेक्षाकृत निम्न स्तर से विकसित हुए हैं।

प्रश्न—क्या आप किसी ऐसे व्यक्ति को जानते हैं, जो अपने पूर्व जन्म की बातें जानता हो?

उत्तर—हाँ कुछ ऐसे लोगों से मेरी भेंट हुई है, जो कहते हैं कि उन्हें अपने पिछले जीवन की बातें याद हैं। वे इतना ऊपर उठ चुके हैं कि अपने पूर्व जन्म की बातें याद कर सकते हैं।

---

१ यह भाषण 'विवेकानन्द साहित्य' द्वितीय खंड में प्रकाशित हुआ है। स

प्रश्न—ईसा मसीह के क्रूस पर चढने की बात मे क्या आपको विश्वास है ?

उत्तर—ईसा मसीह ईश्वर के अवतार थे। कोई उन्हे मार नही सकता था। देह, जिसको क्रूस पर चढाया गया, एक छाया मात्र थी, एक मृगतृष्णा थी।

प्रश्न—अगर वे ऐसे छाया-शरीर का निर्माण कर सके, तो क्या यह सबसे बडा चमत्कारपूर्ण कार्य नही है ?

उत्तर—चमत्कारपूर्ण कार्यों को मैं आध्यात्मिक मार्ग का सबसे बडा रोडा मानता हूँ। एक बार बुद्ध के शिष्यो ने उनसे एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा की, जो तथाकथित चमत्कार दिखाता था—वह एक कटोरे को बिना छुए ही काफ़ी ऊँचाई पर रोके रखता था। उन लोगो ने बुद्ध को वह कटोरा दिखाया, तो उन्होंने उसे अपने पैरो से कुचल दिया और कहा—कभी तुम इन चमत्कारो पर अपनी आस्था मत आधारित करो, बल्कि शाश्वत सिद्धान्तो मे सत्य की खोज करो। बुद्ध ने उन्हे सच्चे आन्तरिक प्रकाश की शिक्षा दी—वह प्रकाश, जो आत्मा की देन है और जो एकमात्र ऐसा विश्वसनीय प्रकाश है, जिसके सहारे चला जा सकता है। चमत्कार तो केवल मार्ग के रोडे हैं। उन्हें हमे रास्ते से अलग हटा देना चाहिए।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि 'शैलोपदेश' सचमुच ईसा मसीह के हैं ?

उत्तर—हाँ, मैं ऐसा मानता हूँ। और इस सम्बन्ध मे मैं अन्य विचारको की तरह पुस्तको पर ही भरोसा करता हूँ, यद्यपि मैं यह भी समझता हूँ कि पुस्तको को प्रमाण बनाना बहुत ठोस आधार नही है। पर इन सारी बातो के बावजूद हम सभी 'शैलोपदेश' को नि सकोच अपना पथप्रदर्शक मान सकते हैं। जो हमारी अन्तरात्मा को जँचे, उसे हमे स्वीकार करना है। ईसा के पाँच सौ साल पहले बुद्ध ने उपदेश दिया था और सदा उनके उपदेश आशीषो से भरे रहते थे। कभी उन्होंने अपने जीवन में अपने कार्यों अथवा अपने शब्दो से किसीकी हानि नही की, और न ज़रथुष्ट्र अथवा कन्फ्यूशस ने ही।

५

(निम्नलिखित प्रश्नोत्तर अमेरिका में दिये हुए विभिन्न भाषणों के अन्त में हुए थे। वहीं से इनका सग्रह किया गया है। इनमे से यह अमेरिका के एक सवाद-पत्र से सगृहीत है।)

प्रश्न—आत्मा के आवागमन का हिंदू सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर—वैज्ञानिको का ऊर्जा या जड-सधारण (conservation of energy or matter) का सिद्धान्त, जिस भित्ति पर प्रतिष्ठित है, आवागमन का सिद्धान्त भी उसी भित्ति पर स्थापित है। इस सिद्धान्त (conservation of energy or

matter) का प्रथम परीक्षण हमारे देश में एक दार्शनिक ने ही किया था। प्राचीन ऋषि 'सृष्टि' पर विश्वास नहीं करते थे। 'सृष्टि' शब्द से तात्पर्य निकलता है—'कुछ नहीं' में 'कुछ' का होना, अभाव से 'भाव' की उत्पत्ति। यह असम्भव है। जिस प्रकार काल का आदि नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि का भी आदि नहीं है। ईश्वर और सृष्टि मानो दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं—उनका न आदि है, न अन्त—वे नित्य पृथक् हैं। सृष्टि के बारे में हमारा मत यह है—'वह थी, है और रहेगी।' पाश्चात्य देशवासियों को भारत से एक बात सीखनी है—वह है परधर्म-सहिष्णुता। कोई भी धर्म बुरा नहीं है, क्योंकि सब धर्मों का सार एक ही है।

प्रश्न—भारत की स्त्रियाँ उतनी उन्नत क्यों नहीं हैं?

उत्तर—विभिन्न समयों में अनेक असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानतः उसीके कारण भारतीय महिलाएँ इतनी अनुन्नत हैं। किन्तु इसमें कुछ दोष तो भारतवासियों के निजी भी हैं।

किसी समय अमेरिका में स्वामी जी से कहा गया था कि हिन्दू धर्म ने कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी को अपने धर्म में नहीं मिलाया है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे पूर्व के लिए बुद्धदेव के पास एक विशेष सन्देश था, उसी प्रकार पश्चिम के लिए मेरे पास भी एक सन्देश है।"

प्रश्न—आप क्या यहाँ (अमेरिका में) हिन्दू धर्म के क्रियाकलाप अनुष्ठान आदि को चलाना चाहते हैं?

उत्तर—मैं तो केवल दार्शनिक तत्त्वों का ही प्रचार कर रहा हूँ।

प्रश्न—क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि यदि भावी नरक का डर मनुष्य के सामने से हटा दिया जाय, तो किसी भी रूप से उसे काबू में रखना असम्भव हो जायगा?

उत्तर—नहीं, बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि भय की अपेक्षा हृदय में प्रेम और आशा का संचार होने से वह अधिक अच्छा हो सकेगा।

२

(स्वामी जी ने २५ मार्च सन् १८९६ ई० को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'ग्रेजुएट दार्शनिक सभा' में वेदान्त दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए।)

प्रश्न—मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में दार्शनिक चिन्तन की वर्तमान अवस्था कैसी है? इन सब बातों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है?

उत्तर—मैंने पहले ही कहा है कि भारत मे अधिकाश लोग द्वैतवादी है। अद्वैतवादियो की सख्या बहुत अल्प है। उस देश मे (भारत मे) आलोचना का प्रधान विषय है मायावाद और जीव-तत्त्व। मैंने इस देश मे आकर देखा कि यहाँ के श्रमिक ससार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भली भाँति परिचित है, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'धर्म कहने से तुम क्या समझते हो, अमुक अमुक सम्प्रदाय का धर्म-मत किस प्रकार का है', तो उन्होने कहा, 'ये सब बातें हम नही जानते—हम तो बस चर्च मे जाते भर हैं।' परन्तु भारत मे किसी किसान के पास जाकर यदि मैं पूछूं कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात मैं नही जानता, मैं तो केवल टैक्स (कर) दे देता हूँ।' पर यदि मैं उससे धर्म के विषय मे पूछूं, तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी है, और माया तथा जीव-तत्त्व के सम्बन्ध मे वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जायगा। वे लिखना-पढना नही जानते, परन्तु इन बातो को उन्होने साधु-सन्यासियो से सीखा है, और इन विषयो पर विचार करना उन्हे बहुत अच्छा लगता है। दिन भर काम करने के पश्चात् पेड के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वो पर विचार किया करते है।

प्रश्न—कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू धर्म मे कट्टरता (orthodoxy) का क्या अर्थ है?

उत्तर—वर्तमान काल में तो खान-पान अथवा विवाह के विषय मे जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। फिर वह चाहे जिस किसी धर्म-मत मे विश्वास क्यो न करे, कुछ बनता-बिगडता नही। भारत मे कभी भी कोई नियमित धर्मसघ या चर्च नही था, इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए सघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नही हुई। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जो वेदो मे विश्वास रखते हैं, वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। पर वास्तव मे, देखने में यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायो मे से अनेक केवल वेद-विश्वासी न होकर पुराणो मे ही अधिक विश्वास रखते हैं।

प्रश्न—आपके हिन्दू दर्शन ने यूनानियो के स्टोइक दर्शन[1] पर किस प्रकार प्रभाव डाला था?

---

१ सम्भवत ईसा से ३०८ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिक जीनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत से, सुख-दु ख, भला-बुरा, सब विषयों मे समभावसम्पन्न रहना और अविचलित रहकर सबको सहना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। स०

उत्तर—बहुत सम्भव है कि उसने सिकन्दरिया निवासियों द्वारा उस पर कुछ प्रभाव डाला था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पाइथागोरस के उपदेशों में सांख्य दर्शन का प्रभाव विद्यमान है। जो हो, हमारी यह धारणा है कि सांख्य दर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्त्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे।'[1]

—जिन्होंने उस कपिल ऋषि को पहले प्रसव किया था।

प्रश्न—पाश्चात्य विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है?

उत्तर—विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद तथा आकाश और प्राण तत्त्व ठीक आपके आधुनिक दर्शनों के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग और सांख्य दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए—पतंजलि ने बतलाया है कि प्रकृति के आपूरण के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है—'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'। केवल इसकी व्याख्या के विषय में पतंजलि के साथ पाश्चात्य विज्ञान का मतभेद है। पतंजलि की परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है। वे कहते हैं—जब एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिए पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है तो वह बस पानी को रोक रखनेवाले द्वार को खोल भर देता है—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्'। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्त है केवल इन सब विभिन्न अवस्था-चक्ररूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी वह अनन्त शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। तिर्यक् योनि में मनुष्यत्व गूढ़ भाव से निहित है अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानव रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व विद्यमान है वह अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने को विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ विषय-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्य मत के साथ आधुनिक शरीर विज्ञान (Physiology) का बहुत ही थोड़ा मतभेद है।

प्रश्न—परन्तु आप लोगों की पद्धति भिन्न है।

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥५।२॥

उत्तर—हाँ, हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियो को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। वहिर्विज्ञान मे वाह्य विषयो पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान मे मन की गति को आत्माभिमुखी करना पडता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

प्रश्न—एकाग्रता की दशा मे क्या इन सव तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है?

उत्तर—योगी कहते है कि इस एकाग्रता शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के वल से ससार के सारे सत्य—वाह्य और अन्तर दोनो जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न—अद्वैतवादी सृष्टि-तत्त्व के विषय मे क्या कहते हैं?

उत्तर—अद्वैतवादी कहते है कि यह सारा सृष्टि-तत्त्व तथा इस ससार मे जो कुछ भी है, सव माया के, इस आपातप्रतीयमान प्रपच के अन्तर्गत है। वास्तव मे इस सवका कोई अस्तित्व नही है। परन्तु जव तक हम वद्ध हैं, तव तक हमे यह दृश्य जगत् देखना पडेगा। इस दृश्य जगत् मे घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु उसके परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति—सम्पूर्ण स्वाधीनता है।

प्रश्न—अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?

उत्तर—उपनिषद् प्रणालीबद्ध रूप से लिखित न होने के कारण जव कभी दार्शनिको ने किसी प्रणालीबद्ध दर्शनशास्त्र की रचना करनी चाही, तव उन्होने इन उपनिषदो मे से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रामाणिक वाक्यो को चुन लिया है। इसी कारण सभी दर्शनकारो ने उपनिषदो को प्रमाण रूप से ग्रहण किया है,—अन्यथा उनके दर्शन को किसी प्रकार का आधार ही नही रह जाता। तो भी हम देखते हैं कि उपनिषदो मे सव प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नही है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान मे पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमे से द्वैतवाद एक है। धर्म मे सर्वदा तीन सोपान देखने मे आते हैं। प्रथम—द्वैतवाद। उसके वाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था मे उपस्थित होता है—वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त मे उसे यह अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ अभिन्न है। यही चरम दशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनो मे परस्पर विरोध नही है, वल्कि वे आपस मे एक दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

प्रश्न—माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?

उत्तर—कार्य-कारण सघात की सीमा के बाहर 'क्यों' का प्रश्न नही पूछा जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्यायशास्त्र के अनुसार यह प्रश्न पूछ सका जाय तभी हम उसका उत्तर देंगे। उसके पहले उसका उत्तर देने का हमे अधिकार नही है।

प्रश्न—सगुण ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है?

उत्तर—हाँ पर यह सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परिदृश्यमान उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है। माया या प्रकृति के अधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप मे वही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नही पहुँचता तब तक वह सूर्य को क्रमश अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढेगा उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्यों को देख रहा है परन्तु वास्तव मे वह उसी एक सूर्य को देख रहा है इसमे सन्देह नही। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं सभी उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य है। इनमे से कोई भी मिथ्या नही है परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र है।

प्रश्न—उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौन सी है?

उत्तर—हमारे मत मे दो प्रणालियाँ है। उनमे से एक तो अस्तिभावद्योतक या प्रवृत्ति मार्ग है और दूसरी नास्तिभावद्योतक या निवृत्ति मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सारा विश्व चलता है—इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि प्रेम की परिधि अनन्त गुनी बढा दी जाय तो हम उसी विश्वप्रेम मे पहुँच जायँगे। दूसरे पथ मे 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नही 'यह नही' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना मे चित्त की जो कोई तरग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त मे मन ही मानो मर जाता है तब सत्य स्वय प्रकाशित हो जाता है। हम इसीको समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण ज्ञानावस्था कहते है।

प्रश्न—तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) मे डुबा देने की अवस्था हुई?

उत्तर—विषयी को विषय मे नही वरन् विषय को विषयी मे डुबा देने की। वास्तव मे यह जगत् विलीन हो जाता है केवल 'मैं' रह जाता है—एकमात्र 'मैं' ही वर्तमान रहता है।

प्रश्न—हमारे कुछ जर्मन दार्शनिको का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवत पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।

उत्तर—इस विषय मे मैं उनसे सहमत नही हूँ। इस प्रकार का अनुमान एक क्षण के लिए भी नही टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशो की भक्ति के समान नही है। भक्ति के सम्बन्ध मे हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमे भय का भाव बिल्कुल ही नही रहता—रहता है केवल भगवान् के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान बिल्कुल अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारी प्राचीनतम उपनिषदो तक मे विद्यमान हैं और ये उपनिषद् ईसाइयो की बाइबिल से बहुत प्राचीन हैं। सहिता मे भी भक्ति का बीज देखने मे आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नही है। वेद-मन्त्र मे 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसीसे क्रमश भक्तिवाद का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ईसाई धर्म के सम्बन्ध मे भारतवासियो की क्या धारणा है?

उत्तर—बडी अच्छी धारणा है। वेदान्त सभी को ग्रहण करता है। दूसरे देशो की तुलना मे भारत मे हमारी धर्म-शिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए, मेरे एक लडका है। मैं उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नही दूंगा, मैं उसे प्राणायाम सिखाऊँगा, मन को एकाग्र करना सिखाऊँगा और थोडी-बहुत सामान्य प्रार्थना की शिक्षा दूंगा, परन्तु वैसी प्रार्थना नही, जैसी आप समझते हैं, वरन् इस प्रकार की कुछ प्रार्थना—'जिन्होंने इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, मैं उनका ध्यान करता हूँ—वे मेरे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें।'[1] इस प्रकार उसकी धर्म-शिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिको एव आचार्यों के मत सुनता रहेगा। उनमे से जिनका मत वह अपने लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझेगा, उन्हीको वह गुरु रूप से ग्रहण करेगा और वह स्वय उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है, अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

हमारी मूल बात यह है कि आपका मत मेरे लिए तथा मेरा मत आपके लिए उपयोगी नही हो सकता। प्रत्येक का साधन-पथ भिन्न भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि मेरी लडकी का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, मेरे लडके का दूसरे प्रकार का, और मेरा इन दोनो से बिल्कुल भिन्न प्रकार का। अत प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न भिन्न हो सकता है,—और सब लोग अपने अपने साधन-मार्ग की बातें गुप्त रखते हैं। अपने साधन-पथ के विषय मे केवल

---

१ ॐ तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्।

मैं जानता हूँ और मेरे गुरु—किसी तीसरे व्यक्ति को यह नहीं बताया जाता क्योंकि हम दूसरों से वृथा विवाद करना नहीं चाहते। फिर, इसे दूसरों के पास प्रकट करने से उनका कोई काम नहीं होता क्योंकि प्रत्येक को ही अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसीलिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारणोपयोगी दर्शन और साधना प्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। एक दृष्टान्त लीजिए—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए, एक पैर पर खड़े रहने से शायद मेरी उन्नति में कुछ सहायता होती हो परन्तु इसी कारण यदि मैं सभी को एक पैर पर खड़े होने का उपदेश देने लगूँ तो क्या यह हँसी की बात न होगी? हो सकता है कि मैं द्वैतवादी होऊँ और मेरी स्त्री अद्वैतवादी। मेरा कोई लड़का इच्छा करे तो ईसा बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है वे उसके इष्ट हैं। हाँ यह अवश्य है कि उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है?

उत्तर—उन्हें बाध्य होकर जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। उनका भले ही उनमें विश्वास न हो पर तो भी वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।

प्रश्न—इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं?

उत्तर—हाँ पर कोई कोई लोग बहुत थोड़ा करते हैं—धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन न करने के लिए जितना करना पड़ता है, बस उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे तो कल ही सारे मन्दिर गायब हो जायें तो भी लोगों को उनका अभाव महसूस नहीं होगा। स्वर्ग की इच्छा से पुत्र की इच्छा से अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग मन्दिर बनवाते हैं। हो सकता है किसीने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी नियुक्त कर दिया पर मुझे वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि मेरा जो कुछ पूजा-पाठ है, वह मेरे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है, जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहते हैं। दीक्षा-ग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा सन्ध्या वन्दनादि। उसकी इस पूजा या उपासना का अर्थ है—प्राणायाम ध्यान तथा किसी मन्त्र विशेष का जप। और एक बात भी और विशेष ध्यान देना पड़ता है वह है—साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा

आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपना पूजा-पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी अपनी पूजा करके चले जाते है। कभी कभी एक ही कमरे मे तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते है, परन्तु उनमे से हर एक की उपासना-प्रणाली भिन्न भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा प्रतिदिन कम से कम दो बार करनी पडती है।

प्रश्न—आपने जिस अद्वैत-अवस्था के बारे मे कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है, अथवा उसे लोग प्राप्त भी करते है ?

उत्तर—हम कहते हैं कि वह यथार्थ है—हम कहते है कि वह अवस्था उपलब्ध होती है। यदि वह केवल थोथी बात हो, तब तो उसका कुछ भी मूल्य नही। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदो मे तीन उपाय बतलाये गये है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्म-तत्त्व के विषय मे पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा—आँखें मूँदकर विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार करके समझ-बूझकर उस पर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्यस्वरूप पर विचार करके उसके निरन्तर ध्यान मे नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार कर लेना धर्म का अग नही है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।

प्रश्न—यदि आप कभी इस समाधि अवस्था को प्राप्त कर लें, तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे ?

उत्तर—नही, परन्तु समाधि अवस्था या पूर्ण ज्ञान की अवस्था प्राप्त हुई है या नही, इस बात को हम जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते है। एक मूर्ख व्यक्ति जब सोकर उठता है, तो वह पहले जैसा मूर्ख था, अब भी वैसा ही मूर्ख रहता है, शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब कोई व्यक्ति समाधि मे स्थित होता है, तो वहाँ से व्युत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसीसे स्पष्ट है कि ये दोनो अवस्थाएँ कितनी भिन्न भिन्न है।

प्रश्न—मै प्राध्यापक—के प्रश्न का सूत्र पकडते हुए यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप ऐसे लोगो के विषय मे जानते हैं, जिन्होंने आत्म-सम्मोहन विद्या (self-hypnotism) का कुछ अध्ययन किया है ? अवश्य ही प्राचीन भारत मे इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखायी नही देती। मैं जानना चाहता हूँ कि जो लोग आजकल उसकी चर्चा और साधना करते हैं, उनका इस विद्या के विषय मे क्या कहना है, और वे इसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं।

उत्तर—आप पाश्चात्य देश में जिसे सम्मोहन-विद्या कहते हैं, वह तो असली व्यापार का एक सामान्य अंग मात्र है। हिन्दू लोग उसे आत्मापसम्मोहन (self de-hypnotisation) कहते हैं। वे कहते हैं आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotised) हैं—इस सम्मोहित-भाव को दूर करना होगा अपसम्मोहित (de-hypnotised) होना होगा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता चन्द्र तारक विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! उन्हीं के प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है।'[1]

यह तो सम्मोहन (hypnotism) नहीं है—यह तो अपसम्मोहन (de-hypnotisation) है। हम कहते हैं कि वह प्रत्येक धर्म जो इस प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देता है एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग कर रहा है। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे हैं जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही समझते हैं कि सभी प्रकार के द्वैतवाद से सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए अद्वैतवादी कहते हैं वेदों को भी अपरा विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ सगुण ईश्वर के भी परे चले जाओ सारे विश्वब्रह्माण्ड को भी दूर फेंक दो इतना ही नहीं अपने शरीर-मन आदि को भी पार कर जाओ—कुछ भी शेष न रहने पाये तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त होओगे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

—मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।'[2] यही अपसम्मोहन है।

---

१ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥
२ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥२।४।१॥

न पुण्य न पाप न सौख्य न दुखम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञा ।
अह भोजन नैव भोज्य न भोक्ता
चिदानन्दरूप शिवोऽह शिवोऽहम् ॥

—'मेरे न कोई पुण्य है, न पाप, न सुख है, न दुख, मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ वेद या यज्ञ कुछ भी नही है। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नही हूँ—मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मगलस्वरूप) हूँ।"[1]

हम लोग सम्मोहन-विद्या के सारे तत्त्व जानते हैं। हमारी जो मनस्तत्त्व-विद्या है, उसके विषय मे पाश्चात्य देशवालो ने हाल ही मे थोडा थोडा जानना प्रारम्भ किया है, परन्तु दुख की वात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नही जान सके हैं।

प्रश्न—आप लोग 'ऐस्ट्रल बॉडी' (astral body) किसे कहते हैं?

उत्तर—हम उसे लिंग-शरीर कहते है। जब इस देह का नाश होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है? जड-भूत को छोडकर शक्ति नही रह सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म-भूत का कुछ अश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ इस सूक्ष्म-भूत की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती है, क्योकि प्रत्येक ही अपनी अपनी देह बना रहा है—मन ही शरीर को तैयार करता है। यदि मैं साधु बनूं, तो मेरा मस्तिष्क साधु के मस्तिष्क मे परिणत हो जायगा। योगी कहते है कि वे इसी जीवन मे अपने शरीर को देव-शरीर मे परिणत कर सकते है।

योगी अनेक चमत्कार दिखाते हैं। कोरे मतवादो की राशि की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य अधिक है। अतएव मुझे यह कहने का अधिकार नही है कि अमुक अमुक बातें घटती मैंने नही देखी, इसलिए वे मिथ्या हैं। योगियो के ग्रन्थो मे लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के अति अद्भुत फलो की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल मे ही थोडे-बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमे कुछ कपट या धोखेबाजी नही है। और इन सब शास्त्रो मे जिन अलौकिक बातो का उल्लेख है, योगी वैज्ञानिक रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि ससार की सभी जातियो मे इस प्रकार के अलौकिक कार्यो का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया? जो व्यक्ति कहता है कि ये सब मिथ्या हैं, अत इनकी व्याख्या करने

---

१ निर्वाणषट्कम् ॥४॥

की कोई आवश्यकता नहीं उसे युक्तिवादी विचारक नहीं कहा जा सकता। जब तक आप उन बातों को भ्रमात्मक प्रमाणित नहीं कर सकते तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर, योगी कहते हैं कि ये सब व्यापार वास्तव में अद्भुत नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज भी अनेक अद्भुत घटनाएँ होती रहती हैं परन्तु उनमें से कोई भी किसी चमत्कार द्वारा नहीं घटती। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो यदि वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना करने के प्रयत्न को छोड़कर इस दिशा में अधिक और कुछ न हुआ हो तो भी इसका सारा श्रेय योगियों को ही देना चाहिए।

प्रश्न—योगी क्या क्या चमत्कार दिखा सकते हैं इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?

उत्तर—योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए जितने विश्वास की आवश्यकता होती है योग विद्या के निमित्त उससे अधिक विश्वास की जरूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है उससे अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं उनमें से निम्नतर कुछ कार्यों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है अत मैं इस पर अविश्वास नहीं कर सकता कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति कर उनकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना। मैं एक योगी को जानता हूँ जिन्हें एक बड़े विषैले सर्प ने काट लिया था। सर्पदंश होते ही वे बेहोश हो जमीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे होश में आये। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था तो वे बोले 'मेरे प्रियतम के पास से एक दूत आया था।' इन महात्मा की सारी घृणा क्रोध और हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध हो चुका है। कोई भी चीज उन्हें बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकती। वे सर्वदा अनन्त प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम की शक्ति से सर्वशक्तिमान हो गये हैं। बस ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ योगी है, और यह सब शक्तियों का विकास—अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना—गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो गुलाम हैं—खाने-पीने के गुलाम अपनी स्त्री के गुलाम अपने लड़के-बच्चों के गुलाम रुपये-पैसे के

गुलाम, स्वदेशवासियो के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जलवायु के गुलाम, इस ससार के हज़ारो विषयो के गुलाम! जो मनुष्य इन बन्धनो मे से किसीमे भी नही फँसें, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं—यथार्थ योगी है।

इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥[1]

—'जिनका मन साम्यभाव मे अवस्थित है, उन्होने यही ससार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है, इसलिए वे ब्रह्म मे अवस्थित हैं।'

प्रश्न—क्या योगी जाति-भेद को विशेष आवश्यक समझते हैं?

उत्तर—नही, जाति-विभाग तो उन लोगो को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।

प्रश्न—इस समाधि-तत्त्व के साथ भारत की गर्म जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नही है?

उत्तर—मैं तो ऐसा नही समझता। कारण, समुद्र-धरातल से पन्द्रह हज़ार फीट की ऊँचाई पर, सुमेरु के समान जलवायुवाले हिमालय मे ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ठण्डी जलवायु मे क्या योग मे सिद्धि प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, अवश्य हो सकती है। और ससार मे इसकी प्राप्ति जितनी सम्भव है, उतनी सम्भव और कुछ भी नही है। हम कहते है, आप लोग—आपमें से प्रत्येक, जन्म से ही वेदान्ती है। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त मे ससार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। जब कभी आपका हृदय ससार के कल्याण के लिए उन्मुख होता है, तभी आप अनजान मे सच्चे वेदान्तवादी हो जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं, पर यह नही जानते कि आप क्यो नीतिपरायण हो रहे हैं। एकमात्र वेदान्त दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेषण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वह सब धर्मों का सारस्वरूप है।

प्रश्न—आपके मत मे क्या हम पाश्चात्यो मे ऐसा कुछ असामाजिक भाव है, जिसके कारण हम इस तरह बहुवादी और भेदपरायण बन रहे हैं, और जिसके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं?

---

१. गीता ॥५।१९॥

उत्तर—मेरे मत में पाश्चात्य जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दयासम्पन्न हैं। परन्तु इसका कारण यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसीके स्वभाव को दयालु बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। आपमें शक्ति काफी है परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उस मात्रा में हृदय का विकास नहीं हो पा रहा है। विशेषकर मन संयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्त प्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा। पर भारतवासियों के प्रत्येक रक्त-बिन्दु में यह भाव प्रवाहित हो रहा है। यदि मैं भारत के किसी गाँव में जाकर वहाँ के लोगों को राजनीति की शिक्षा देनी चाहूँ तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि मैं उन्हें वेदान्त का उपदेश दूँ तो वे कहेंगे 'हाँ स्वामी जी अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं।' आज भी भारत में सर्वत्र यह वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है। आज हमारा बहुत पतन हो गया है परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक है कि राजा भी अपने राज्य को त्यागकर, साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा।

कहीं कहीं पर गाँव की एक साधारण लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—मुझे द्वैतवाद का उपदेश मत सुनाओ मेरा चरखा तक 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह रहा है। इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोऽहं' कहते हो तो फिर उस पत्थर को प्रणाम क्यों करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवाद मात्र है पर हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं। उनमें से कोई शायद कहेगा 'मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी होऊँगा जब सारा संसार मेरे सामने से अन्तर्हित हो जायगा जब मैं सत्य के दर्शन कर लूँगा। जब तक मैं उस स्थिति में नहीं पहुँचता तब तक मुझमें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि मैं प्रस्तर-मूर्ति की उपासना कर रहा हूँ मन्दिर में जाता हूँ जिससे मुझे प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। मैंने वेदान्त का श्रवण किया तो है, पर मैं अब उस वेदान्त प्रतिपाद्य आत्म-तत्त्व को देखना चाहता हूँ—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहता हूँ।

> वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
> वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥[1]

---

१ विवेकचूडामणि ॥५८॥

—'धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यो की योजना, शास्त्रो की व्याख्या करने के नाना प्रकार के कौशल—ये केवल पण्डितो के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्ति-लाभ की कोई सम्भावना नही है।' ब्रह्म के साक्षात्कार से ही हमे उस मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—आध्यात्मिक विषय मे जब सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता है, तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जाति-भेद का मानना मेल खाता है?

उत्तर—कदापि नही। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नही रहना चाहिए, इतना ही नही, बल्कि जो लोग भिन्न भिन्न जातियो के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई बहुत उच्च स्तर की चीज़ नही है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमे दो, तो हम इसे छोड देंगे। वे पूछते हैं कि तुम इसके बदले हमे क्या दोगे? जाति-भेद कहाँ नही है, बोलो? आप भी तो अपने देश मे इसी प्रकार के एक जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हैं। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ सग्रह कर लेता है, तो वह कहने लगता है कि 'मैं भी तुम्हारे चार सौ धनिको मे से एक हूँ।' केवल हमी लोग एक स्थायी जाति-विभाग का निर्माण करने मे सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जाति-विभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे सफल नही हो पा रहे है। यह सच है कि हमारे समाज मे काफी कुसस्कार और बुरी बाते है, पर क्या आपके देश के कुसस्कारो तथा बुरी बातो को हमारे देश मे प्रचलित कर देने से ही सब ठीक हो जायगा? जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड लोगो को खाने के लिए रोटी का एक टुकडा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमे अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी सस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मज़बूत दीवालो की सृष्टि हुई थी, जो शत शत बाहरी चढाइयो के बावजूद भी नही गिरी। आज भी वह प्रयोजन मिटा नही है, इसीलिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात सौ वर्ष पहले जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नही है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ होता गया। क्या आप यह नही जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रो पर विजय प्राप्त करने अपनी सीमा से बाहर कभी नही गया? महान् सम्राट् अशोक यह विशेष रूप से कह गये थे कि उनके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र विजय के लिए प्रयत्न न करें। यदि कोई अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारक भेजना चाहती है, तो भेजे, पर वह हमारी वास्तविक सहायता ही करे, जातीय सम्पत्ति-

स्वरूप हमारा जो धर्म-भाव है उसे क्षति न पहुँचावे। ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आयी? क्या हिन्दुओं ने अन्य जातियों का कुछ अनिष्ट किया था? बल्कि जहाँ तक सम्भव था उन्होंने संसार का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान दर्शन और धर्म की शिक्षा दी तथा संसार की अनेक असभ्य जातियों को सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में उनको क्या मिला?—रक्तपात! अत्याचार!! और दुष्ट 'काफिर' यह शुभ नाम!!! वर्तमान काल में भी पाश्चात्य व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर देखिए तथा यहाँ (भारत में) भ्रमण करने के लिए जो लोग गये थे उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को पढ़िए। आप देखेंगे उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन' कहकर गालियाँ दी हैं। मैं पूछता हूँ, भारतवासियों ने ऐसा कौन सा अनिष्ट किया है जिसके प्रतिशोध में उनके प्रति इस प्रकार की लाछनपूर्ण बातें कही जाती हैं?

प्रश्न—सभ्यता के विषय में वेदान्त की क्या धारणा है?

उत्तर—आप दार्शनिक लोग हैं—आप यह नहीं मानते कि रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यन्त्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या' का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है तो आप उसी समय उसका स्मारक बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। क्यों! क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी तो उससे क्या काम? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायामशाला के सदृश है—इसमें जीवात्माएँ अपने अपने कर्म के द्वारा अपनी अपनी उन्नति कर रही हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अत किस विषय में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिए। सभ्यता का अर्थ है, मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।

प्रश्न—क्या बौद्धो मे भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है?

उत्तर—बौद्धो मे कभी कोई विशेष जाति-विभाग नही था, और भारत मे बौद्धो की सख्या भी बहुत थोडी है। बुद्ध एक समाज-सुधारक थे। फिर भी मैंने बौद्ध देशो मे देखा है, वहाँ जाति-विभाग की सृष्टि करने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं, पर उसमे सफलता नही मिली। बौद्धो का जाति-विभाग वास्तव मे नही जैसा ही है, परन्तु मन ही मन वे स्वय को उच्च जाति मानकर गर्व करते हैं।

बुद्ध एक वेदान्तवादी सन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव मे बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे—उन्होने इन भावो मे शक्ति का सचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सदा से हमारे आचार्य रहे है। उपनिषदो मे से अधिकांश तो क्षत्रियो द्वारा रचे गये हैं, और वेदो का कर्मकाण्ड भाग ब्राह्मणो द्वारा। समग्र भारत मे हमारे जो बडे बडे आचार्य हो गये हैं, उनमे से अधिकाश क्षत्रिय थे, और उनके उपदेश भी बडे उदार और सार्वजनीन हैं, परन्तु केवल दो ब्राह्मण आचार्यों को छोडकर शेष सब ब्राह्मण आचार्य अनुदार भावसम्पन्न थे। भगवान् के अवतार के रूप मे पूजे जानेवाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।

प्रश्न—सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्त्व की उपलब्धि में सहायक हैं?

उत्तर—तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ छोड देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वही तक उपयोगिता है, जहाँ तक वे उस पूर्णत्व की अवस्था मे पहुँचने के लिए सहायक हैं। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नही मिल पाती, तब अवश्य उनमे परिवर्तन करना चाहिए।

> सक्ता. कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
> कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥
> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञाना कर्मसगिनाम्।
> जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरन् ॥[1]

—अर्थात् 'ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए और न उनकी अपनी अपनी साधन-प्रणाली मे उनके विश्वास

---

१ गीता ॥३।२५–६॥

को नष्ट ही करना चाहिए बल्कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको ठीक ठीक मार्ग प्रदर्शित करे, जिससे वे उस अवस्था में पहुँच जायँ जहाँ वह स्वयं पहुँचा हुआ है।

प्रश्न—वेदान्त व्यक्तित्व[1] (individuality) और नीतिशास्त्र की व्याख्या किस प्रकार करता है?

उत्तर—वह पूर्ण ब्रह्म यथार्थ अविभाज्य व्यक्तित्व ही है—माया द्वारा उसने पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का बोध हो रहा है पर वास्तव में वह सर्वदा वही पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में सत्ता एक है पर माया के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। यह समस्त भेद-बोध माया में है। पर इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की प्रवृत्ति चली हुई है। प्रत्येक राष्ट्र के समस्त नीतिशास्त्र और समस्त आचरणशास्त्र में यही प्रवृत्ति अभिव्यक्त हुई है क्योंकि यह तो जीवात्मा का स्वभावगत प्रयोजन है। यह उसी एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही है—और एकत्व लाभ के इस संघर्ष को हम नीतिशास्त्र और आचरणशास्त्र कहते हैं। इसीलिए हमें सर्वदा उन्हें अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—नीतिशास्त्र का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही लेकर नहीं है?

उत्तर—नीतिशास्त्र एकदम नहीं है। पूर्ण ब्रह्म कभी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

प्रश्न—आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्ण ब्रह्म है—मैं आपसे पूछनेवाला था कि इस 'मैं' या 'अहं' का कोई ज्ञान रहता है या नहीं?

उत्तर—यह 'अहं' या 'मैं' उसी पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और इस अभिव्यक्त दशा में उसमें जो प्रकाश-शक्ति कार्य कर रही है उसीको हम 'ज्ञान' कहते हैं। इसलिए उस पूर्ण ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि वह पूर्णावस्था तो इस सापेक्ष ज्ञान के परे है।

प्रश्न—वह सापेक्ष ज्ञान क्या पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत है?

---

१ अंग्रेजी के individual शब्द में 'अ-विभाज्य' और 'व्यष्टि' दोनों भाव निहित हैं। स्वामी जी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही यथार्थ individual है' तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् उपचय-अपचय-हीन अविभाज्यता को वे लक्ष्य करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। स

उत्तर—सुकृत द्वारा। सुकृत दो प्रकार के हैं सकारात्मक और नकारात्मक। 'चोरी मत करो'—यह नकारात्मक निर्देश है, 'परोपकार करो'—यह सकारात्मक है।

प्रश्न—परोपकार उच्च अवस्था मे क्यो न किया जाय, क्योंकि निम्न अवस्था मे वैसा करने से साधक भवबन्धन मे पड सकता है?

उत्तर—प्रथम अवस्था मे ही इसे करना चाहिए। आरम्भ मे जिसे कोई कामना रहती है, वह भ्रान्त होता है और बन्धन मे पडता है, अन्य लोग नही। धीरे धीरे यह बिल्कुल स्वाभाविक बन जायगा।

प्रश्न—स्वामी जी! कल रात आपने कहा था, 'तुममे सब कुछ है।' तब यदि मैं विष्णु जैसा वनना चाहूँ, तो क्या मुझे केवल इस मनोरथ का ही चिन्तन करना चाहिए अथवा विष्णु रूप का ध्यान करना चाहिए?

उत्तर—सामर्थ्य के अनुसार इनमे से किसी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है।

प्रश्न—आत्मानुभूति का साधन क्या है?

उत्तर—गुरु ही आत्मानुभूति का साधन है। 'गुरु बिनु होइ कि ज्ञान।'

प्रश्न—कुछ लोगो का कहना है कि ध्यान लगाने के लिए किसी पूजा-गृह मे बैठने की आवश्यकता नही है। यह कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—जिन्होने प्रभु की विद्यमानता का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इसकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन औरो के लिए है। किन्तु साधक को सगुण ब्रह्म की उपासना से ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर अग्रसर होना चाहिए, क्योकि सगुण या साकार उपासना से मोक्ष नही मिल सकता। साकार के दर्शन से आपको सासारिक समृद्धि प्राप्त हो सकती है। जो माता की भक्ति करता है, वह इस दुनिया मे सफल होता है, जो पिता की पूजा करता है, वह स्वर्ग जाता है, किन्तु जो साधु की पूजा करता है, वह ज्ञान तथा भक्ति लाभ करता है।

प्रश्न—इसका क्या अर्थ है **क्षणमिह सज्जन सगतिरेका** आदि—'सत्सग का एक क्षण भी मनुष्य को इस भवलोक के परे ले जाता है'?

उत्तर—सच्चे साधु के सम्पर्क मे आने पर सत्पात्र मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। सच्चे साधु विरले होते है, किन्तु उनका प्रभाव इतना होता है कि एक महान् लेखक ने लिखा है, 'पाखड वह कर है, जो दुप्टता सज्जनता को देती है।' दुप्ट जन सज्जन होने का ढोग करते है। किन्तु अवतार कपाल-मोचन होते हैं, अर्थात् वे लोगो का दुर्भाग्य पलट सकते हैं। वे सारे विश्व को हिला सकते

प्रश्न—क्या गीता में श्री कृष्ण के विश्व रूप में जिस दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया गया है, वह श्री कृष्ण के रूप में निहित अन्य सगुण उपाधियों के बिना गोपियों से उनके सम्बन्ध में व्यक्त प्रेम भाव के प्रकाश से श्रेष्ठतर है?

उत्तर—दिव्य ऐश्वर्य के प्रकाश की अपेक्षा निश्चय ही वह प्रेम हीनतर है जो प्रिय के प्रति भगवद्भावना से रहित हो। यदि ऐसा न होता तो हाड़-मांस के शरीर से प्रेम करनेवाले सभी लोग मोक्ष प्राप्त कर लेते।

८

(गुरु, अवतार, योग, जप सेवा)

प्रश्न—वेदान्त के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?

उत्तर—श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा। किसी सद्गुरु से ही श्रवण करना चाहिए। चाहे कोई नियमित रूप से शिष्य न हुआ हो, पर अगर जिज्ञासु सुपात्र है और वह सद्गुरु के शब्दों का श्रवण करता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—सद्गुरु कौन है?

उत्तर—सद्गुरु वह है, जिसे गुरु-परम्परा से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई है। अध्यात्म गुरु का कार्य बड़ा कठिन है। दूसरों के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेना पड़ता है। कम समुन्नत व्यक्तियों के पतन की पूरी आशंका रहती है। यदि शारीरिक पीड़ा मात्र हो, तो उसे अपने को भाग्यवान समझना चाहिए।

प्रश्न—क्या अध्यात्म गुरु जिज्ञासु को सुपात्र नहीं बना सकता?

उत्तर—कोई अवतार बना सकता है। साधारण गुरु नहीं।

प्रश्न—क्या मोक्ष का कोई सरल मार्ग नहीं है?

उत्तर—'प्रेम को पथ कृपाण की धारा'—केवल उन लोगों के लिए आसान है, जिन्हें किसी अवतार के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। परमहंस देव कहा करते थे, जिसका यह आखिरी जन्म है, वह किसी न किसी प्रकार से मेरा दर्शन कर लेगा।

प्रश्न—क्या उसके लिए योग सुगम मार्ग नहीं है?

उत्तर—(मजाक में) आपने खूब कहा समझा!—योग सुगम मार्ग! यदि आपका मन निर्मल न होगा और आप योगमार्ग पर आरूढ़ होंगे, तो आपको कुछ अलौकिक सिद्धियाँ मिल जायँगी, परन्तु वे रुकावटें होंगी। इसलिए मन की निर्मलता प्रथम आवश्यकता है।

प्रश्न—इसका उपाय क्या है?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नही, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पथ मे खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर जोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म मे हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं, किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस मे से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अत वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है?

उत्तर—जो मनुष्यो के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यो न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नही कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नही दिखायी पडता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमे कभी कभी इसकी धुँधली प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हे भगवान् के रूप मे जान लेने और साथ ही ससार से आसक्ति रखने मे सगति नही है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नों के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एव चद जिस समय कन्नौज मे स्वयवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किनका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नही आ रहा है?

उत्तर—दोनो ही भाट का वेष धारण कर गये थे।

---

१ ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र मे लिखे थे। स०

है। सबसे कम खतरनाक और पूजा का सर्वोत्तम तरीका किसी मनुष्य की पूजा करना है जिसने मानव में ब्रह्म के होने का विचार प्रतिष्ठित कर लिया उसने विश्व व्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार सन्यस्त जीवन तथा गृहस्थ जीवन दोनों ही श्रेयस्कर हैं। केवल ज्ञान आवश्यक वस्तु है।

प्रश्न—ध्यान कहाँ लगाना चाहिए—शरीर के भीतर या बाहर? मन को भीतर समेटना चाहिए अथवा बाह्य प्रदेश में स्थापित करना चाहिए?

उत्तर—हमें भीतर ध्यान लगाने का यत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन के इधर-उधर भागने का सवाल है मनोमय कोष में पहुँचने में लम्बा समय लगेगा। अभी तो हमारा सघर्ष शरीर से है। जब आसन सिद्ध हो जाता है तभी मन से सघर्ष आरम्भ होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर अग-प्रत्यग निश्चल हो जाता है—और साधक चाहे जितने समय तक बैठा रह सकता है।

प्रश्न—कभी कभी जप से थकान मालूम होने लगती है। तब क्या उसकी जगह स्वाध्याय करना चाहिए, या उसी पर आरूढ़ रहना चाहिए?

उत्तर—दो कारणों से जप में थकान मालूम होती है। कभी कभी मस्तिष्क थक जाता है और कभी कभी आलस्य के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। यदि प्रथम कारण है तो उस समय कुछ क्षण तक जप छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हठपूर्वक जप में लगे रहने से विभ्रम या विक्षिप्तावस्था आदि आ जाती है। परन्तु यदि द्वितीय कारण है तो मन को बलात् जप में लगाना चाहिए।

प्रश्न—कभी कभी जप करते समय पहले आनन्द की अनुभूति होती है लेकिन तब आनन्द के कारण जप में मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में क्या जप जारी रखना चाहिए?

उत्तर—हाँ वह आनन्द आध्यात्मिक साधना में बाधक है। उसे रसास्वादन कहते हैं। उससे ऊपर उठना चाहिए।

प्रश्न—यदि मन इधर-उधर भागता रहे तब भी क्या देर तक जप करते रहना ठीक है?

उत्तर—हाँ उसी प्रकार जैसे अगर किसी बदमाश घोड़े की पीठ पर कोई अपना आसन जमाये रखे तो वह उसे वश में कर लेता है।

प्रश्न—आपने अपने 'भक्तियोग' में लिखा है कि यदि कोई कमजोर आदमी योगाभ्यास का यत्न करता है तो घोर प्रतिक्रिया होती है। तब क्या किया जाय?

उत्तर—यदि आत्मज्ञान के प्रयास में मर जाना पड़े तो भय किस बात का। ज्ञानार्जन तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के लिए मरने में मनुष्य को भय नहीं होता और धर्म के लिए मरने में आप भयभीत क्यों हों?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है ?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नही, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पथ मे खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर जोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म मे हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना ?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है ?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं, किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस मे से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अत वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है ?

उत्तर—जो मनुष्यो के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यो न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नही कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नही दिखायी पडता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमे कभी कभी इसकी धुँधली प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हे भगवान् के रूप मे जान लेने और साथ ही ससार से आसक्ति रखने मे सगति नही है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नो के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एव चद जिस समय कन्नौज मे स्वयवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किनका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नही आ रहा है ?

उत्तर—दोनो ही भाट का वेष धारण कर गये थे।

---

१ ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र मे लिखे थे। स०

प्रश्न—क्या पृथ्वीराज ने संयुक्ता के साथ इसलिए विवाह करना चाहा था कि वह अलौकिक रूपवती थी तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी की पुत्री थी? संयुक्ता की परिचारिका होने के लिए क्या उन्होंने अपनी एक दासी को सिखा-पढ़ाकर वहाँ भेजा था? और क्या इसी बूढ़ी दासी ने राजकुमारी के हृदय में पृथ्वीराज के प्रति प्रेम का बीज अंकुरित किया था?

उत्तर—दोनों ही परस्पर के रूप-गुणों का वर्णन सुनकर तथा चित्र अव-लोकन कर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए थे। चित्र-दर्शन के द्वारा नायक-नायिका के हृदय में प्रेम का संचार भारत की एक प्राचीन रीति है।

प्रश्न—गोप बालकों के बीच में कृष्ण का प्रतिपालन कैसे हुआ?

उत्तर—ऐसी भविष्यवाणी हुई थी कि कृष्ण कंस को सिंहासन से च्युत करेंगे। इस भय से कि जन्म लेने के बाद कृष्ण कहीं गुप्त रूप से प्रतिपालित हों दुराचारी कंस ने कृष्ण के माता-पिता को (यद्यपि वे कंस की बहन और बहनोई थे) कैद में डाल रखा था तथा इस प्रकार का आदेश दिया कि उस वर्ष से राज्य में जितने बालक पैदा होंगे उन सबकी हत्या की जायगी। अत्याचारी कंस के हाथ से रक्षा करने के लिए ही कृष्ण के पिता ने उन्हें गुप्त रूप से यमुना पार पहुँचाया था।

प्रश्न—उनके जीवन के इस अध्याय की परिसमाप्ति किस प्रकार हुई थी?

उत्तर—अत्याचारी कंस के द्वारा आमन्त्रित होकर वे अपने भाई बलदेव तथा अपने पालक पिता नन्द के साथ राजसभा में पधारे। (अत्याचारी ने उनकी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा था।) उन्होंने अत्याचारी का वध किया। किन्तु स्वयं राजा न बनकर कंस के निकटतम उत्तराधिकारी को उन्होंने राजसिंहासन पर बैठाया। उन्होंने कभी कर्म के फल को स्वयं नहीं भोगा।

प्रश्न—इस समय की किसी नाटकीय घटना का उल्लेख क्या आप कर सकते हैं?

उत्तर—इस समय का जीवन अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण था। बाल्या-वस्था में वे अत्यन्त ही चपल थे। चपलता के कारण उनकी गोपिका माता ने एक दिन उन्हें दधिमन्थन की रस्सी से बाँधना चाहा था। किन्तु अनेक रस्सियों को जोड़कर भी वे उन्हें बाँधने में समर्थ न हुईं। तब उनकी दृष्टि खुली और उन्होंने देखा कि जिनको वे बाँधने जा रही हैं उनके शरीर में समग्र ब्रह्माण्ड अवस्थित है। डरकर काँपती हुई वे उनकी स्तुति करने लगीं। तब भगवान् ने उन्हें पुनः माया से आवृत किया और एकमात्र बालक उन्हें दृष्टिगोचर हुआ।

देवश्रेष्ठ ब्रह्मा को यह विश्वास न हुआ कि परब्रह्म ने ही गोप बालक का रूप धारण किया है। इसलिए परीक्षा के निमित्त एक दिन उन्होंने समस्त गायो को तथा गोप बालको को चुराकर एक गुफा मे निद्रित कर रखा। किन्तु वहाँ से लौटकर उन्होंने देखा कि वे ही गायें तथा गोप बालक कृष्ण के चारो ओर विद्यमान हैं। वे फिर उनको भी चुरा कर ले गये एव उन्हे भी छिपाकर रखा। किन्तु लौटने पर फिर उन्हे वे ही ज्यो के त्यो दिखायी देने लगे। तब उनके ज्ञान-नेत्र खुले, उन्होने देखा कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा सहस्र सहस्र ब्रह्मा कृष्ण की देह मे विराजमान हैं।

कालिय नाग ने यमुना के जल को विषाक्त कर डाला था, इसलिए उन्होने उसके फन पर नृत्य किया था। उनके रा इन्द्र की पूजा बन्द किये जाने के फलस्वरूप कुपित होकर इन्द्र ने जब इस प्रकार प्रबल वेग से जल बरसाना प्रारम्भ किया कि समस्त ब्रजवासी मानो उसमे डूबकर मर जायेंगे, तब कृष्ण ने गोवर्धन-धारण किया। कृष्ण ने एक अगुली से छत्र की तरह गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठाकर धारण किया, और उसके नीचे सभी ने आश्रय लिया।

बाल्यकाल से ही वे नाग-पूजा तथा इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। इन्द्र-पूजा एक वैदिक अनुष्ठान है। गीता मे सर्वत्र यह स्पष्ट है कि वे वैदिक अनुष्ठानो के पक्षपाती नही थे।

अपने जीवन मे इसी समय उन्होने गोपियो के साथ लीला की थी। उस समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी।

अनुक्रमणिका

फिर भी मैं आने की भरसक चेष्टा कर रहा हूँ हालाँकि तुम तो जानती हो कि एक महीना आने म और एक महीना वापस आने मे ही लग जाते है और वह भी केवल चद दिनो के आवास के लिए। और चिन्ता न करो मैं पूरी कोशिश कर रहा हूँ। मेरे अत्यधिक गिरे हुए स्वास्थ्य और कुछ कानूनी मामलो आदि के कारण थोडी देर अवश्य हो सकती है।

चिरस्नेहाबद्ध
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ, बेलूड हावडा
बगाल भारत

प्रिय 'जो'

तुम्हारे जिस महान् ऋण से मैं ऋणी हूँ उसे चुकाने की कल्पना तक मैं नही कर सकता। तुम कही भी क्यो न रहो मेरी मगलकामना करना तुम कभी भी नही भूलती हो। और तुम्ही एकमात्र ऐसी हो जो इन तमाम शुभेच्छाओ से ऊँची उठकर मेरा समस्त बोझ अपने ऊपर लेती हो तथा मेरे सब प्रकार के अनुचित आचरणो को सहन करती हो।

तुम्हारे जापानी मित्र ने बहुत ही दयाद्रतापूर्ण व्यवहार किया है किन्तु मेरा स्वास्थ्य इतना खराब है कि मुझे यह डर है कि जापान जाने का समय मैं नही निकाल सकूँगा। कम से कम केवल अपने गुणग्राही मित्रो के समाचार जानने के लिए मुझे एक बार बम्बई प्रेसीडेन्सी होकर गुजरना पडेगा।

इसके अलावा जापान यातायात मे भी दो महीने बीत जायेंगे केवल एक महीना वहाँ पर रह सकूँगा कार्य करने के लिए इतना सीमित समय पर्याप्त नही है — तुम्हारा क्या मत है ? अत तुम्हारे जापानी मित्र ने मेरे मार्गव्यय के लिए जो धन भेजा है उसे तुम वापस कर देना नवम्बर म जब तुम भारत लौटोगी उस समय मैं उसे चुका दूँगा।

आसाम मे मुझ पर पुन मेरे रोग का भयानक आक्रमण हुआ था क्रमश मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। बम्बई के लोग मेरी प्रतीक्षा कर हैरान हो चुके है अब की बार उनसे मिलने जाना है।

इन सब कारणो के होते हुए भी यदि तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि मेरे लिए जाना उचित है, तो तुम्हारा पत्र मिलते ही मैं रवाना हो जाऊँगा।

लन्दन से श्रीमती लेगेट ने एक पत्र लिखकर यह जानना चाहा है कि उनके भेजे हुए ३०० पौण्ड मुझे प्राप्त हुए है अथवा नही। उनका भेजा हुआ धन यथा-समय मुझे प्राप्त हुआ है तथा पूर्व निर्देश के अनुसार एक सप्ताह अथवा उससे भी पहले 'मोनरो एण्ड कम्पनी, पेरिस'— इस पते पर मैंने उनको सूचित कर दिया है।

उनका जो अन्तिम पत्र मुझे प्राप्त हुआ है, उस लिफाफे को न जाने किसने अत्यन्त भद्दे तरीके से फाड दिया है। भारतीय डाक विभाग मेरे पत्रो को थोडी शिष्टता के साथ खोलने का प्रयास भी नही करता!

तुम्हारा चिरस्नेहशील,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

मठ,
५ जुलाई, १९०१

प्रिय मेरी,

मैं तुम्हारे लम्बे प्यारे पत्र के लिए अत्यत कृतज्ञ हूँ, क्योकि इस समय मुझे किसी ऐसे ही पत्र की जरूरत थी, जो मेरे मन को थोडा प्रोत्साहन दे सके। मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब रहा है और अभी है भी। मैं केवल कुछ दिनो के लिए सँभल जाता हूँ, इसके बाद फिर ढह पडना जैसे अनिवार्य हो जाता है। खैर, इस रोग की प्रकृति ही ऐसी है।

काफी पहले मैं पूर्वी बगाल और आसाम मे भ्रमण करता रहा हूँ। आसाम काश्मीर के बाद भारत का सबसे सुन्दर प्रदेश है, लेकिन साथ ही बहुत अस्वास्थ्यकर भी है। पर्वतो और गिरि शृखलाओ मे चक्कर काटती हुई विशाल ब्रह्मपुत्र— जिसके बीच बीच मे अनेक द्वीप हैं, बस देखने ही लायक है।

तुम तो जानती ही हो कि मेरा देश नद-नदियो का देश है। किन्तु इसके पूर्व इसका वास्तविक अर्थ मैं नही जानता था। पूर्वी बगाल की नदियाँ नदियाँ नही, मीठे पानी के घुमडते हुए सागर हैं, और वे इतनी लम्बी हैं कि स्टीमर उनमे हफ्तो तक लगातार चलते रहते हैं। कुमारी मैक्लिऑड जापान मे हैं। वे उस देश पर मुग्ध हैं और मुझसे वहाँ आने को कहा है, लेकिन मेरा स्वास्थ्य इतनी लम्बी समुद्र-यात्रा गवारा नही कर सकता, अत मैंने इकार कर दिया है। इसके पहले मैं जापान देख भी चुका हूँ।

तो तुम वेनिस का आनन्द ले रही हो! यह वृद्ध पुरुष (नगर) अवश्य ही मजेदार होगा—क्योंकि शाइलॉक केवल वेनिस में ही हो सकता था है न?

मुझे अत्यन्त खुशी है कि सैम इस वर्ष तुम्हारे साथ ही है। उत्तर के अपने नीरस अनुभव के बाद यूरोप में उसे आनन्द आ रहा होगा। इधर मैंने कोई रोचक मित्र नहीं बनाया और जिन पुराने मित्रों को तुम जानती हो वे प्राय सबके सब मर चुके हैं—खेतड़ी के राजा भी। उनकी मृत्यु सिकन्दरा में सम्राट् अकबर की समाधि के एक ऊँचे मीनार से गिर पड़ने से हुई। वे अपने खर्चे से आगरे में इस महान् प्राचीन वास्तु-शिल्प के नमूने की मरम्मत करवा रहे थे कि एक दिन उसका निरीक्षण करते समय उनका पैर फिसला और वे सैकड़ों फुट नीचे गिर गये। इस प्रकार तुम देखती हो न कि प्राचीन के प्रति हमारा उत्साह ही कभी कभी हमारे दुःख का कारण बनता है। इसलिए मेरी ध्यान रहे कहीं तुम अपनी भारतीय प्राचीन वस्तुओं के प्रति अत्यधिक उत्साहशील न हो जाना!

मिशन के प्रतीक-चिह्न में सर्प रहस्यवाद (योग) का प्रतीक है सूर्य ज्ञान का उद्वेलित सागर कर्म का कमल भक्ति का और हंस परमात्मा का जो इन सबके मध्य में स्थित है।

सैम और माँ को प्यार कहना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—हर समय शरीर से अस्वस्थ रहने के कारण ही यह छोटा पत्र लिखना पड़ रहा है।

(भगिनी क्रिश्चिन को लिखित)

प्रिय क्रिश्चिन

बेलूड़ मठ,
६ जुलाई, १९ १

कभी कभी किसी कार्य के आवेश से मैं विवश हो उठता हूँ। आज मैं लिखने के नशे में मस्त हूँ। इसलिए मैं सबसे पहले तुमको कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। मेरे स्नायु दुर्बल हैं—ऐसी मेरी बदनामी है। अत्यन्त सामान्य कारण से ही मैं व्याकुल हो उठता हूँ। किन्तु प्रिय क्रिश्चिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में तुम भी मुझसे कम नहीं हो। हमारे यहाँ के एक कवि ने लिखा है हो सकता है कि पर्वत भी उड़ने लगे अग्नि में भी शीतलता उत्पन्न हो जाय किन्तु महान् व्यक्ति के हृदय में स्थित महान् भाव कभी दूर नहीं होता। मैं सामान्य

व्यक्ति हूँ, अत्यन्त ही सामान्य, किन्तु मैं यह जानता हूँ कि तुम महान् हो, तुम्हारी महत्ता पर सदा मेरा विश्वास है। अन्यान्य विषयो मे भले ही मुझे चिन्तित होना पड़े, किन्तु तुम्हारे बारे मे मुझे तनिक भी दुश्चिन्ता नही है।

जगज्जननी के चरणो मे मैं तुम्हे सौंप चुका हूँ। वे ही तुम्हारी सदा रक्षा करेगी एव मार्ग दिखाती रहेगी। मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि कोई भी अनिष्ट तुम्हे स्पर्श नही कर सकता—किसी प्रकार की विघ्न-बाधाएँ क्षण भर के लिए भी तुम्हे दबा नही सकती। इति।

भगवदाश्रित,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

१४ जुलाई, १९०१

प्रिय 'जो',

यह जानकर कि बोया कलकत्ता आ रहे हैं, मैं सतत प्रसन्न हूँ। उन्हे शीघ्र मठ भेज दो। मैं यहाँ रहूँगा। यदि सम्भव हुआ, तो मैं उन्हे यहाँ कुछ दिन रखूँगा और तब उन्हे फिर नेपाल जाने दूँगा।

आपका,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

बेलूड मठ,
हावडा, बगाल,
२७ अगस्त, १९०१

प्रिय मेरी,

मैं मनाता हूँ कि मेरा स्वास्थ्य तुम्हारी आशा के अनुरूप हो जाय, कम से कम इतना अच्छा कि तुम्हे एक लम्बा पत्र ही लिख सकूँ। पर यथार्थ यह है कि वह दिन-प्रतिदिन गिरता ही जा रहा है, इसके अतिरिक्त भी अनेक परेशानियाँ और उलझनें साथ लगी हैं। मैंने तो अब उन पर ध्यान देना ही छोड दिया है।

स्विट्ज़रलैण्ड के अपने सुन्दर काष्ठगृह मे सुख-स्वास्थ्य से परिपूर्ण रहो, यही मेरी कामना है। यदाकदा स्विट्ज़रलैण्ड अथवा अन्य स्थानो की प्राचीन वस्तुओ का हल्का अध्ययन—निरीक्षण करते रहने से चीजो का आनन्द थोडा और भी बढ़ जायगा। मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि तुम पहाडो की मुक्त-वायु मे साँस

रह रही हो। लेकिन सुना है कि तुम पूर्णत स्वस्थ नहीं है। और, इसमे कोई चिन्ता की बात नहीं उसकी काठी वैसे ही बड़ी अच्छी है।

स्त्रियो का चरित्र और पुरुषो का भाग्य स्वय ईश्वर भी नहीं जानता मनुष्य की तो बात ही क्या। चाहे यह मेरा स्त्रियोचित स्वभाव ही मान लिया जाय पर इस क्षण तो मेरे मन म यही आता है कि काश तुम्हारे भीतर पुरुषत्व का थोडा अश होता। ओह मेरी! तुम्हारी बुद्धि स्वास्थ्य सुन्दरता सब उस एक आवश्यक तत्त्व के बिना व्यर्थ जा रहे हैं और वह है—व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा! तुम्हारा दर्प तुम्हारी तेजी सब बकवास है केवल मजाक। अधिक से अधिक तुम एक बोर्डिंग-स्कूल की छोकरी हो—रीढहीन! बिल्कुल ही रीढहीन!

आह! यह जीवनपर्यन्त दूसरो को रास्ता सुझाते रहने का व्यापार! यह अत्यत कठोर है अत्यत क्रूर! पर मैं असहाय हूँ इसके आगे। मैं तुम्हे प्यार करता हूँ मेरी ईमानदारी से सच्चाई से मैं तुम्हे प्रिय लगनेवाली बातो से छल नहीं सकता। न ही यह मेरे वश का रोग है।

फिर मैं एक मरणोन्मुख व्यक्ति हूँ मेरे पास छल करने के लिए समय नहीं। अत ऐ बच्ची जाग! अब मैं तुमसे ऐसे पत्रो की आशा करता हूँ जिनमे चाकी धार जैसी तेजी हो उसकी तेजी बनाये रखो मुझे पर्याप्त रूप से जागृति की आवश्यकता है।

मुझे मैक्कीग परिवार के विषय मे अब तक यहाँ से कोई समाचार नहीं मिला। श्रीमती बुल या निवेदिता से कोई सीधा पत्र-व्यवहार न होने पर भी श्रीमती सेवियर से मुझे बराबर उनके विषय मे सूचना मिलती रही है और अब सुनता हूँ कि वे सब नार्वे मे श्रीमती बुल के अतिथि हैं।

मुझे नहीं मालूम कि निवेदिता भारत कब वापस आयेगी या कभी आयेगी भी या नहीं।

एक तरह से मैं एक अवकाशप्राप्त व्यक्ति हूँ आन्दोलन कैसा चल रहा है इसकी कोई बहुत जानकारी मैं नहीं रखता। दूसरे आन्दोलन का स्वरूप भी बडा होता जा रहा है और एक आदमी के लिए उसके विषय मे सूक्ष्मतम जानकारी रखना असभव है।

खाने-पीने सोने और शेष समय मे शरीर की शुश्रूषा करने के सिवा मैं और कुछ नहीं करता। विदा मेरी। आशा है इस जीवन मे कहीं न कहीं हम तुम अवश्य मिलेंगे। और न भी मिलें तो भी तुम्हारे इस भाई का प्यार तो सदा तुम पर रहेगा ही।

विवेकानन्द

(श्री एम० एन० वनर्जी को लिखित)

मठ, वेलूड, हावडा,
२९ अगस्त, १९०१

स्नेहाशी,

मेरा शरीर क्रमश स्वस्थ होता जा रहा है, यद्यपि अभी तक मैं अत्यन्त ही दुर्वल हूँ। 'शुगर' अथवा 'अलवुमिन' की कोई शिकायत नही है, यह देखकर सव कोई चकित हैं। वर्तमान गडवडी का एकमात्र कारण स्नायु सम्वन्धी दुर्वलता है। अस्तु, धीरे धीरे मैं ठीक होता जा रहा हूँ।

पूजनीया माता जी ने कृपापूर्वक जो प्रस्ताव किया है, उससे मैं विशेप कृतार्थ हूँ। किन्तु मठ के लोगो का कहना है कि नीलाम्वर वावू के मकान, यहाँ तक कि समूचे वेलूड गाँव मे भी अभी तथा आगामी महीने मे 'मलेरिया' छा जाता है। इसके अलावा किराया भी अत्यधिक है। अत पूजनीया माता जी यदि आना चाहे, तो मेरी राय यही है कि कलकत्ते मे एक छोटे से मकान की व्यवस्था की जाय। यदि हो सका, तो मैं भी कलकत्ते मे जाकर ही रहूँगा, क्योकि वर्तमान शारीरिक दुर्वलता मे पुन मलेरिया का आक्रमण होना कतई वाछनीय नही है। मैंने अभी इस वारे मे सारदानन्द या व्रह्मानन्द की राय नही ली है। वे दोनो ही कलकत्ते मे हैं। ये दो मास कलकत्ता अपेक्षाकृत स्वास्थ्यप्रद है और कम खर्चीला भी है।

मूल बात यह है कि प्रभु उन्हे जैसे चलायें, वैसे ही चलना उचित है। हमलोग केवल सलाह दे सकते हैं और वह सलाह भी एकदम निरर्थक ही है। यदि रहने के लिए उन्हे नीलाम्बर बाबू का मकान ही पसन्द हो, तो किराया आदि पहले से ही ठीक कर रखना। माता जी की इच्छा पूर्ण हो—मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ।

मेरा हार्दिक स्नेह तथा शुभकामना जानना।

सदा प्रभुचरणाश्रित,
विवेकानन्द

(श्री एम० एन० वनर्जी को लिखित)

मठ, वेलूड, हावडा,
७ सितम्वर, १९०१

स्नेहाशी,

व्रह्मानन्द तथा अन्यान्य सभी की राय जानना आवश्यक प्रतीक होने के कारण एव उन लोगो के कलकत्ते मे रहने के कारण तुम्हारे अन्तिम पत्र के जवाव देने मे देरी हुई।

पूरे एक वर्ष के लिए मकान लेने का विषय सोच-समझकर निश्चित करना होगा। इधर जैसे इस महीने बेलूड़ में 'मलेरिया' होने का डर है उसी प्रकार कलकत्ते में भी 'प्लेग' का भय है। फिर भी यदि कोई गाँव के भीतरी भाग में न जाने के प्रति सचेत रहे तो वह 'मलेरिया' से बच सकता है क्योंकि नदी के किनारे पर 'मलेरिया' बिल्कुल नहीं है। अभी तक नदी के किनारे पर 'प्लेग' नहीं फैला है और 'प्लेग' के आक्रमण के समय इस गाँव में उपलब्ध सभी स्थान मारवाड़ियों से भर जाते हैं।

इसके अतिरिक्त अधिक से अधिक तुम कितना किराया दे सकते हो उसका उल्लेख करना आवश्यक है तब कहीं हम तदनुसार मकान की तलाश कर सकते हैं। और दूसरा उपाय यह है कि कलकत्ते का मकान ले लिया जाय।

मैं स्वयं ही मानो कलकत्ते में विदेशी बन चुका हूँ। किन्तु और लोग तुम्हारी पसन्द के अनुसार मकान की तलाश कर देंगे। जितना शीघ्र हो सके निम्नलिखित दोनों विषयों में तुम्हारा विचार ज्ञात होते ही हम लोग तुम्हारे लिए मकान तलाश कर देंगे। (१) पूजनीया माता जी बेलूड़ रहना चाहती हैं अथवा कलकत्ते में? (२) यदि कलकत्ता रहना पसन्द हो तो कहाँ तक किराया देना अभीष्ट है एवं किस मुहल्ले में रहना उनके लिए उपयुक्त होगा? तुम्हारा जवाब मिलते ही शीघ्र यह कार्य सम्पन्न हो जायगा।

मेरा हार्दिक स्नेह तथा शुभकामना जानना।

भवदीय
विवेकानन्द

पुनश्च—हम लोग यहाँ पर कुशलपूर्वक हैं। मोती एक सप्ताह तक कलकत्ते में रहकर वापस आ चुका है। गत तीन दिनों से यहाँ पर दिन रात वर्षा हो रही है। हमारी दो गायों के बछड़े हुए हैं।

वि

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

मठ, बेलूड़
७ सितम्बर, १९०१

प्रिय निवेदिता,

हम सभी तात्कालिक आवेग में मग्न रहते हैं—खासकर इस कार्य में हम उसी रूप से संलग्न हैं। मैं कार्य के आवेग को दबाये रखना चाहता हूँ किन्तु कोई ऐसी घटना घट जाती है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं ही उठ उठता है और

इसीलिए तुम यह देख रही हो कि चिन्तन, स्मरण, लेखन—और भी न जाने कितना सब किया जा रहा है।

वर्षा के बारे मे कहना पडेगा कि अब पूरे ज़ोर से आक्रमण शुरू हो गया है, दिन-रात प्रबल वेग से जल बरस रहा है, जहाँ देखो वहाँ वर्षा ही वर्षा है। नदियाँ बढकर अपने दोनो तटो को प्लावित कर रही है, तालाब, सरोवर सभी जल से परिपूर्ण हो उठे है।

वर्षा होने पर मठ के अन्दर जो जल रुक जाता है, उसे निकालने के लिए एक गहरी नाली खोदी जा रही है। इस कार्य मे कुछ हाथ बँटाकर अभी अभी मैं लौट रहा हूँ। किसी किसी स्थल पर कई फुट तक जल भर जाता है। मेरा विशालकाय सारस तथा हस-हसिनी सभी पूर्ण आनन्द मे विभोर हैं। मेरा पाला हुआ 'कृष्ण-सार' मृग मठ से भाग गया था और उसे ढूँढ निकालने मे कई दिन तक हम लोगो को बहुत ही परेशानी उठानी पडी थी। एक हसी दुर्भाग्यवश कल मर गयी। प्राय एक सप्ताह से उसे श्वास लेने मे कष्ट का अनुभव हो रहा था। इन स्थितियो को देखकर हमारे एक वृद्ध रसिक साधु कह रहे थे, महाशय जी, इस कलिकाल मे जब सर्दी तथा वर्षा से हस को जुकाम हो जाता है, और मेढक को भी छीक आने लगती है, तो फिर इस युग मे जीवित रहना निरर्थक ही है।

एक राजहसी के पख झड रहे थे। उसका कोई प्रतिकार मालूम न होने के कारण एक पात्र मे कुछ जल के साथ थोडा सा 'कार्बोलिक एसिड' मिलाकर उसमे कुछ मिनट के लिए उसे इसलिए छोड दिया गया था कि या तो वह पूर्णरूप से स्वस्थ हो उठेगी अथवा समाप्त हो जायगी, परन्तु वह अब ठीक है।

त्वदीय,
विवेकानन्द

बेलूड,
८ अक्तूबर, १९०१

प्रिय—

जीवन-प्रवाह मे उत्थान-पतन के अन्दर होकर मैं अग्रसर हो रहा हूँ। आज मानो मैं कुछ नीचे की ओर हूँ।

भवदीय,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ, पोस्ट-बेलुड़ हावड़ा
८ नवम्बर, १९ १

प्रिय 'जो'

Abatement (कमी) शब्द की व्याख्या के साथ जो पत्र भेजा जा चुका है वह निश्चय ही अब तक तुम्हें मिल गया होगा। मैंने न तो स्वयं वह पत्र ही लिखा है और न 'तार' ही भेजा है। मैं उस समय इतना अधिक अस्वस्थ था कि उन दोनों में से किसी भी कार्य को करना मेरे लिए सम्भव नहीं था। पूर्वी बंगाल का भ्रमण करके लौटने के बाद से ही मैं निरन्तर बीमार पड़ा हूँ। इसके अलावा दृष्टि घट जाने के कारण मेरी हालत पहले से भी खराब है। इन बातों को मैं लिखना नहीं चाहता किन्तु मैं यह देख रहा हूँ कि कुछ लोग पूरा विवरण जानना चाहते हैं।

अस्तु, तुम अपने जापानी मित्रों को लेकर आ रही हो—इस समाचार से मुझे खुशी हुई। मैं अपने सामर्थ्यानुसार उन लोगों का आदर-आतिथ्य करूँगा। उस समय मद्रास में रहने की मेरी विशेष सम्भावना है। आगामी सप्ताह मैं कलकत्ता छोड़ देने का मेरा विचार है एवं क्रमशः दक्षिण की ओर अग्रसर होना चाहता हूँ।

तुम्हारे जापानी मित्रों के साथ उड़ीसा के मंदिरों को देखना मेरे लिए सम्भव होगा या नहीं यह मैं नहीं जानता हूँ। मैंने म्लेच्छों का भोजन किया है अतः वे लोग मुझे मन्दिर में जाने देंगे अथवा नहीं—यह मैं नहीं जानता। लॉर्ड कर्जन को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने दिया गया था।

अस्तु, फिर भी तुम्हारे मित्रों के लिए जहाँ तक मुझसे सहायता हो सकती है मैं करने को सदैव प्रस्तुत हूँ। कुमारी मूलर कलकत्ते में हैं यद्यपि वे हम लोगों से नहीं मिली हैं।

सतत स्नेहशील त्वदीय
विवेकानन्द

(स्वामी स्वरूपानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला,
वाराणसी छावनी,
९ फरवरी, १९०२

प्रिय स्वरूप,

चारु के पत्र के उत्तर मे उससे कहना कि ब्रह्मसूत्र का वह स्वय अध्ययन करे। उसका यह कहने से क्या अभिप्राय है कि ब्रह्मसूत्रो मे बौद्ध मत का सकेत है? निश्चय ही उसका मतलब भाष्य से होगा—होना चाहिए, और शकराचार्य केवल अन्तिम भाष्यकार थे, हाँ, बौद्ध साहित्य मे भी वेदान्त का कही कही उल्लेख है और बौद्धो का महायान मत अद्वैतवादी भी है। अमरसिह नाम के एक बौद्ध ने बुद्ध के नामो मे अद्वयवादी का नाम क्यो दिया था? चारु लिखता है कि ब्रह्म शब्द उपनिषद् मे नही आता है! वाह!!

बौद्ध धर्म के दोनो मतो मे मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् सहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'माया' शब्द का प्रयोग है, जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम से कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ।

बौद्ध धर्म के विषय मे मुझे कुछ दिनो से बहुत सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूँ कि—

(१) शिव-उपासना अनेक रूपो मे बौद्धमत से पहले स्थापित थी, और बौद्धो ने शैवो के तीर्थस्थानो को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल होने पर उन्होने उन्हीके निकट नये स्थान बनाये, जैसे कि बोधगया और सारनाथ मे पाये जाते हैं।

(२) अग्निपुराण मे गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नही है—जैसा कि डा० राजेन्द्रलाल मानते है—परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान एक कथा से है।

(३) बुद्ध देव गयाशीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था।

(४) गया पहले से ही पूर्वजो की उपासना का स्थान बन चुका था, और बौद्धो ने अपनी चरण-चिह्न उपासना मे हिन्दुओ का अनुकरण किया है।

(५) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिव-पूजा का बडा स्थान था, आदि आदि।

बोधगया से और बौद्ध साहित्य मे मैंने बहुत सी नयी बातें जानी है। चारु से कहना कि वह स्वय पढे तथा मूर्खतापूर्ण मतो से प्रभावित न हो।

मैं यहाँ वाराणसी में अच्छा हूँ और यदि मेरा इसी प्रकार स्वास्थ्य सुधरता जायगा, तो मुझे बड़ा लाभ होगा।

बौद्ध धर्म और नव-हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिए कदाचित् मैं जीवित न रहूँ, परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे भ्रातृगणों को उस पर काम करना होगा।

आशीर्वाद और प्रेमपूर्वक तुम्हारा
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
१ फरवरी, १९०२

प्रिय श्रीमती बुल,

आपका और पुत्री का एक बार पुनः भारतभूमि पर स्वागत है। मद्रास मेल की एक प्रति जो मुझे 'जो' की कृपा से प्राप्त हुई, उससे मैं अत्यन्त हर्षित हूँ। जो स्वागत निवेदिता का मद्रास में हुआ, वह निवेदिता और मद्रास दोनों ही के लिए हितकर था। उसका भाषण निश्चय ही बड़ा सुन्दर रहा।

मैं आशा करता हूँ कि आप और निवेदिता भी इतनी लम्बी यात्रा के पश्चात् पूरी तरह विश्राम कर रही होंगी। मेरी बड़ी इच्छा है कि आप कुछ घंटों के लिए पश्चिमी कलकत्ता के कुछ गाँवों में जायँ और वहाँ लकड़ी, बाँस, बेंत, अभ्रक तथा घास-फूस आदि से निर्मित पुराने किस्म के बंगाली मकानों को देखें। वास्तव में वे ही 'बंगला' कहलाने के अधिकारी हैं, जो अत्यन्त कलापूर्ण होते हैं। किन्तु आह! आजकल तो यह नाम 'बंगला' हर किसी भद्दे-सद्दे घृणित मकान को देकर उस नाम का मजाक बना दिया गया है। पुराने जमाने में जो कोई भी महल बनवाता, तो अतिथि-सत्कार के लिए इस प्रकार का एक 'बंगला' अवश्य बनवाता था। इसकी निर्माण-कला अब विनष्ट होती जा रही है। काश मैं निवेदिता की सारी पाठशाला ही इस शैली में बनवा सकता! फिर भी इस तरह के जो दो-एक नमूने शेष बचे हैं, उन्हें देखकर सुख होता है।

ब्रह्मानन्द सब प्रबन्ध कर देगा, आपको केवल कुछ घंटों की यात्रा भर करनी रहेगी।

श्री ओकाकुरा अपने अल्पकालीन दौरे पर निकल पड़े हैं। वे आगरा, ग्वालियर, अजन्ता, एलोरा, चित्तौड़, उदयपुर, जयपुर और दिल्ली आदि जगहे जाना चाहते हैं।

बनारस का एक अत्यत सुशिक्षित धनाढ्य युवक, जिसके पिता से हमारी पुरानी मित्रता थी, कल इस नगर में वापस आ गये हैं। उनकी कला मे विशेष रुचि है और नष्टप्राय भारतीय कला के पुनरुत्थान के सदुद्देश्य से बहुत सा धन व्यय कर रहे है। वे श्री ओकाकुरा के जाने के पश्चात् ही मुझसे मिलने आये। भारत की कला जो कुछ भी शेष रह गयी है, उसका श्री ओकाकुरा को दर्शन कराने के लिए ये ही उपयुक्त व्यक्ति हैं, और मुझे विश्वास है, इनके सुझावो से श्री ओकाकुरा लाभान्वित होंगे। अभी ही श्री ओकाकुरा ने टेराकोटा की एक सुराही यहाँ से प्राप्त की है, जिसे नौकर इस्तेमाल कर रहे थे। उसकी गठन और उसकी मुद्राकित डिज़ाइन पर वे मुग्ध रह गये। किन्तु चूँकि वह सुराही मिट्टी की थी और यात्रा मे उसके टूट जाने का भय था, अत उन्होने मुझसे उसे पीतल मे ढलवा लेने को कहा। मैं तो किंकर्तव्यविमूढ सा था कि क्या करूँ! कुछ घटे बाद तभी यह युवक आये और न केवल उन्होने इस कार्य के करने का ज़िम्मा ले लिया, वरन् मुझे ऐसे सैकडो मुद्राकित टेराकोटा भी दिखाये, जो श्री ओकाकुरावाले से असख्यगुना श्रेष्ठ हैं।

उन्होने उस अद्भुत प्राचीन शैली के पुराने चित्रो को सिखाने का भी प्रस्ताव रखा। वाराणसी मे केवल एक परिवार ऐसा बचा है, जो अब भी उस प्राचीन शैली मे चित्र बना सकता है। उनमे से एक ने तो मटर के एक दाने पर आखेट का सपूर्ण दृश्य ही चित्रित कर डाला है, जो बारीकी और क्रियाकन मे पूर्णत निर्दोष है। मुझे आशा है कि लौटते समय ओकाकुरा इस नगर मे आयेंगे और इन भद्रपुरुष के अतिथि बनकर भारत के कलावशेषो का दर्शन करेंगे।

निरजन भी श्री ओकाकुरा के साथ गया है और एक जापानी होने से किसी मदिर मे आने-जाने से उसे कोई मना नही करता। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तिब्बती और दूसरे उत्तर प्रान्तीय बौद्ध शिव की उपासना के लिए यहाँ बराबर आते रहे हैं। यहाँ वालो ने उसे शिवलिंग का स्पर्श करने तथा पूजा आदि करने की अनुमति दे दी थी। श्रीमती एनी बेसेंट ने भी ऐसी ही चेष्टा एक बार की थी, पर बेचारी! उन्हे मदिर के प्रागण तक मे प्रवेश नही करने दिया गया, यद्यपि उन्होंने जूते उतार दिये थे और साड़ी पहनकर पुरोहितो के चरणो की धूलि भी माथे लगा चुकी थी। बौद्ध हमारे यहाँ के किसी भी बड़े मदिर मे अहिन्दू नही समझे जाते।

मेरा कार्यक्रम कोई निश्चित नहीं है मैं बहुत शीघ्र ही यह स्थान बदल सकता हूँ।

निश्चयानन्द और लड़के आप सबको अपना स्नेह-आदर प्रेषित करते हैं।

चिरस्नेहाबद्ध
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
१२ फ़रवरी १९०२

कल्याणीय

तुम्हारे पत्र से सविशेष समाचार जानकर खुशी हुई। निवेदिता के स्कूल के बारे में मुझे जो कुछ कहना था मैंने उनको लिख दिया है। इतना ही कहना है कि उनकी दृष्टि में जो अच्छा प्रतीत हो तदनुसार वे कार्य करें।

और किसी विषय में मेरी राय न पूछना। उससे मेरा दिमाग खराब हो जाता है। तुम मेरे लिए केवल यह कार्य कर देना—बस इतना ही। रुपये भेज देना क्योंकि इस समय मेरे समीप दो-चार रुपये ही शेष हैं।

कन्हाई मधुकरी के सहारे जीवित है घाट पर जप-तप करता रहता है तथा रात में यहाँ आकर सोता है नेदा गरीब आदमियों का कार्य करता है रात में आकर सोता है। चाचा[1] (Okakura) तथा निरंजन आ गये हैं आज उनका पत्र मिलने की सम्भावना है।

प्रभु के निर्देशानुसार कार्य करते रहना। दूसरों के अभिमत जानने के लिए भटकने की क्या आवश्यकता है? सबसे मेरा स्नेह कहना तथा बच्चों से भी। इति।

सस्नेह आशीष
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

वाराणसी
१२ फरवरी १९ २

प्रिय निवेदिता

सब प्रकार की शक्तियाँ तुममें उद्बुद्ध हों महामाया स्वयं तुम्हारे हृदय तथा

---

१ ओकाकुरा (Okakura) को प्रेमपूर्वक ऐसा सम्बोधित किया गया है। 'कुरा' शब्द का उच्चारण बंगला 'खुड़ो' (अर्थात् चाचा) के निकट है इसीलिए स्वामी जी मजाक में उनको चाचा कहते थे। स

भुजाओ मे अधिष्ठित हो। अप्रतिहत महाशक्ति तुम्हारे अन्दर जाग्रत हो तथा यदि सम्भव हो, तो इसके साथ ही साथ तुम शान्ति भी प्राप्त करो—यही मेरी प्रार्थना है।

यदि श्री रामकृष्ण देव सत्य हो, तो उन्होने जिस प्रकार मेरे जीवन मे मार्ग प्रदर्शन किया है, ठीक उसी प्रकार अथवा उससे भी हज़ार गुना स्पष्ट रूप से तुम्हे भी वे मार्ग दिखाकर अग्रसर करते रहे।

विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला,
वाराणसी छावनी,
१८ फरवरी, १९०२

अभिन्नहृदय,

रुपये प्राप्ति के समाचार के साथ कल मैंने जो तुमको पत्र लिखा है, अब तक वह निश्चय ही तुमको मिल गया होगा। आज यह पत्र लिखने का मुख्य कारण है कि इस पत्र के देखते ही तुम उनसे मिल आना। तदनन्तर क्या बीमारी है, कफ आदि किस प्रकार का है, यह देखना है, किसी अत्यन्त सुयोग्य चिकित्सक के द्वारा रोग का अच्छी तरह से निदान करा लेना। राम बाबू की बडी लडकी विष्णु-मोहिनी कहाँ है?—वह हाल ही मे विधवा हुई है।

रोग से चिन्ता कही अधिक है। दस-बीस रुपये जो कुछ आवश्यक हो दे देना। यदि इस ससाररूपी नरककुण्ड मे एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त मे थोडा सा आनन्द एव शान्ति प्रदान की जा सके, तो उतना ही सत्य है, आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ—बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।

अत्यन्त शीघ्र इस पत्र का जवाब देना। चाचा (Okakura या अक्रूर चाचा) तथा निरजन ने ग्वालियर से पत्र लिखा है। अब यहाँ पर दिनो दिन गर्मी बढ रही है। बोधगया से यहाँ पर ठण्ड अधिक थी। निवेदिता के श्री सरस्वती पूजन सम्बन्धी धूम धाम के समाचार से बहुत ही खुशी हुई। शीघ्र ही वह स्कूल खोलने की व्यवस्था करे। जिससे सब कोई पाठ, पूजन तथा अध्ययन कर सकें, इसका प्रयास करना। तुम लोग मेरा स्नेह ग्रहण करना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
२१ फरवरी १९०२

प्रिय राखाल,

अभी अभी मुझे तुम्हारा एक पत्र मिला। अगर माँ और दादी यहाँ आने को इच्छुक हैं, तो उन्हें भेज दो। अब कलकत्ते में ताऊन फैला हुआ है तो वहाँ से दूर रहना ही अच्छा है। इलाहाबाद में भी व्यापक रूप से ताऊन का प्रकोप है, नहीं जानता कि इस बार वाराणसी में भी फैलेगा या नहीं।

मेरी ओर से श्रीमती बुल से कहो कि एलोरा तथा अन्य स्थानों का भ्रमण करने के लिए एक कठिन यात्रा करनी होगी, जब कि इस समय मौसम बहुत गर्म हो गया है। उनका शरीर इतना क्लान्त है कि इस समय यात्रा करना उनके लिए उचित नहीं। कई दिन हुए मुझे 'बाबा' का एक पत्र मिला था। उनकी अंतिम सूचना के अनुसार वे कलकत्ता गये हुए थे। महन्त ने भी उत्तर नहीं दिया, शायद वे राजा प्यारीमोहन को पत्रोत्तर देते समय मुझे लिखेंगे।

नेपाल के मंत्री के मामले के बारे में मुझे विस्तार से लिखो। श्रीमती बुल, कुमारी मैक्लिऑड तथा अन्य लोगों से मेरा विशेष प्यार तथा आशीर्वाद कहना। तुम्हें, बाबूराम और अन्य लोगों को मेरा प्यार तथा आशीर्वाद। क्या गोपाल दादा को पत्र मिल गया? कृपया उनकी बकरी की थोड़ी देखभाल करते रहना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—यहाँ के सब लड़के तुम्हें अभिवादन करते हैं।

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
२४ फरवरी १९०२

प्रिय राखाल,

आज प्रातःकाल तुम्हारा भेजा अमेरिका से आया हुआ एक छोटा सा पार्सल मिला। पर मुझे न कोई पत्र मिला, न तो वह रजिस्ट्री ही जिसकी तुमने चर्चा की है और न ही कोई दूसरी। मैं नेपाली सज्जन आये थे अथवा नहीं या क्या कुछ घटित

हुआ, यह मैं बिल्कुल भी नही जान सका हूँ। एक मामूली सी चिट्ठी लिखने मे इतना कष्ट और विलम्ब! अब मुझे यदि हिसाब-किताब भी मिल जाय, तो मैं चैन की साँस लूंगा। पर कौन जानता है, उसके मिलने मे भी कितने महीने लगते हैं!

सस्नेह,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ,
२१ अप्रैल, १९०२

प्रिय 'जो',

ऐसा लगता है जैसे मेरे जापान जाने की योजना निष्फल हो गयी है। श्रीमती बुल जा चुकी हैं, और तुम जा रही हो। मैं जापानी सज्जन से पर्याप्त रूप से परिचित नही हूँ।

सारदानद जापानी सज्जन और कन्हाई के साथ नेपाल गया है। क्रिश्चिन शीघ्र नही जा सकी, क्योकि मार्गट इस महीने के अन्त से पूर्व नही जा सकती थी।

मैं भली भाँति हूँ—ऐसा ही लोग कहते हैं, पर अभी बहुत दुर्बल हूँ और पानी पीने की मनाही है। खैर रासायनिक विश्लेषण के अनुसार तो काफी सुधार परिलक्षित हुआ है। पैरों की सूजन और अन्य शिकायतें सन दूर हो गयी हैं।

श्रीमती बेटी तथा श्री लेगेट, अल्बर्टा और हॉली को मेरा अनन्त प्यार कहना—शिशु हॉली को तो जन्म-पूर्व से ही मेरा आशीर्वाद प्राप्त है और वह सदा मिलता भी रहेगा।

तुम्हें मायावती कैसा लगी? उसके बारे मे मुझे लिखना।

चिर स्नेहाबद्ध,
विवेकानन्द

मेरी समझ मे नही आता कि वहाँ बडे बडे सन्यासी और सन्यासिनियाँ कैसे हो सकते हैं। जैसा कि आप अब समझने लगी हैं कि जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य है, उसी तरह जनता के लिए इस बडे धर्म-सस्कार की आवश्यकता—जिससे कुछ शक्तिसम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियो की उत्पत्ति हो—मेरी भी समझ मे आने लगी है।

मैं बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ, परन्तु शरीर दुर्बल है 'जो मेरी जिस मनोकामना से पूजा करता है, मैं उसको उसी रूप मे मिलता हूँ।'[1]

विवेकानन्द

---

१ ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ॥ गीता ॥४।११॥

अनुक्रमणिका